हिन्दी साहित्य

(१९२६-१९४७ ई०)

(प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फ़िल्० की उपाधि के लिये स्वीकृत)

डॉ० भोलानाथ, एम० ए०, डी० फ़िल्०

प्रयाग विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद्
१९५४

प्रकाशक
हिन्दी परिषद्
प्रयाग विश्वविद्यालय
प्रयाग

मूल्य ८)

मुद्रक
सदन लाल गुप्त, बी० एस-सी०
टेकनिकल प्रेस
इलाहाबाद

मेरी यह कृति

उन सबको सर्मापत है

जिन्होंने एक अनाथ बालक को

अपना-अपना सहयोग दे-दे कर इस योग्य बना दिया

कि वह कुछ कर सके।

—भोला

प्रस्तावना

१९२६ ई० से १९४७ ई० तक के हिन्दी-साहित्य का यह अध्ययन हिंदी पाठकों के सामने जा रहा है। यह दो वर्षों के परिश्रम का फल है। इन दो वर्षों के अन्दर मेरे अध्ययन में अनेक प्रकार की बाधायें उपस्थित हुईं। इन बाधाओं के रहते हुए भी इतने बड़े साहित्य का जो अध्ययन उपस्थित कर रहा हूँ उसमें व्यापकता, सम्पूर्णता एवं त्रुटि-हीनता का दावा करना धृष्टता है। मैं केवल इतना कह सकता हूँ कि मैंने विवेच्य काल के साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों को उपस्थित कर दिया है। हिन्दी साहित्य के भिन्न-भिन्न अंगों के विद्वानों को मेरे इस अध्ययन के भिन्न-भिन्न अध्याय हल्के और उथले लग सकते हैं। किन्तु जिन विषयों पर अलग-अलग भी उपाधियों के लिए अनुसंधान कार्य किए जा सकें उन सब का एक ही कृति में सम्यक् और सूक्ष्म विवेचन यदि असंभव नहीं, तो अत्यंत कठिन अवश्य होता।

ऊपर यह कहा ही जा चुका है कि मेरा यह अध्ययन साहित्य की प्रवृत्तियों का है। फलतः किसी विशेष साहित्यकार अथवा किसी विशेष पुस्तक की— चाहे उसका कितना ही महत्त्व क्यों न हो—स्वतंत्र रूप से आलोचना का इसमें कोई भी स्थान नहीं है। पाठकों को यह मोह छोड़ना पड़ेगा। 'कुरुक्षेत्र', 'कामायनी', 'गोदान' अथवा प्रसाद, पंत, निराला, प्रेमचन्द, इत्यादि की विशद और स्वतंत्र आलोचना इसमें न मिलेगी। उदाहरण मैंने महत्त्वपूर्ण लेखकों की पुस्तकों से अवश्य लिये हैं। इन महान कृतियों एवं साहित्यिकों पर स्वतंत्र रूप से पर्याप्त पुस्तकें निकली हैं और निकल रही हैं। आवश्यकता और अवसर के अनुसार मैं भी लिख सकूँगा, ऐसा मेरा विश्वास है। शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रवृत्तियों के अध्ययन का अर्थ मैंने यही समझा है। अस्तु, नवीनतम हिन्दी साहित्य के समस्त अंगों की सामान्य प्रवृत्तियों का एक निश्चित क्रम और व्यवस्था के साथ एक स्थान पर किया गया यह प्रथम अध्ययन है।

इस अध्ययन की भाषा-शैली भी वह नहीं है जो सामान्यतः आलोचना-पुस्तकों में प्रायः पाई जाती है। हिन्दी की प्रकृति का ही ध्यान रखने की कोशिश की गई है।

इसी संबंध में एक बात का और उल्लेख कर देना चाहता हूँ। मैंने अध्ययन का जो विषय चुना था वह वाद-विवादों से भरा है। उसमें भ्रान्तियों के लिय बहुत काफी गुंजाइश है। इस संबंध में मेरा यही निवेदन है कि न मैं किसी संस्था का सदस्य हूँ और न किसी साहित्यिक से मेरा कोई व्यक्तिगत एवं संस्थागत संबंध है। अपनी तरफ़ से यही कह सकता हूँ कि श्रद्धा मेरी बुद्धि को कभी भी पंगु नहीं कर सकी है। कहने का तात्पर्य यह है कि पार्टियों और संस्थाओं के आधनिक वातावरण में रह कर भी मैंने यह अध्ययन स्वतंत्र रूप से किया है।

अध्ययन, मनन और चिन्तन की जो पृष्ठभूमि मुझे अपने इस विद्यार्थी जीवन में मिली है उसी के बल पर मैंने यह अध्ययन उपस्थित किया है।

मेरे इस अध्ययन-कार्य को डॉ० श्रीकृष्ण लाल की पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' (१९००-१९२५ ई०) ने बहुत सरल कर दिया। अध्ययन की रूपरेखा, विषयों का क्रम एवं अन्य अनेक बातों, यहाँ तक कि कुछ निष्कर्षों तक के लिये भी मैं डॉ० श्रीकृष्ण लाल की प्रतिभा का ऋणी हूँ और उन्हें अपनी श्रद्धा समर्पित करता हूँ। इसके अतिरिक्त आलोचना-संबंधी अन्य पुस्तकें भी मेरे काम आई हैं। डॉ० नगेन्द्र, डॉ० देवराज, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० रामरतन भटनागर, डॉ० सुधींद्र, आदि की प्रतिभा के प्रति भी मेरी श्रद्धा समर्पित है।

एक अन्य बात का भी स्पष्टीकरण आवश्यक है। मैंने अपना अध्ययन १९२६ ई० से क्यों आरंभ किया और १९४७ ई० तक करके क्यों समाप्त कर दिया, यह प्रश्न कई लोगों ने किया है। मेरा अध्ययन १९२६ ई० से इसलिये प्रारंभ हुआ कि उसके पहले तक के आधुनिक हिन्दी साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत किया जा चुका था। डॉ० श्रीकृष्ण लाल के अध्ययन का उल्लेख हो चुका है। १९४७ ई० पर मैंने इसलिये समाप्त कर दिया कि इस वर्ष भारत की सदियों पुरानी राजनीतिक परतंत्रता की श्रृंखलायें टूटी थीं। यह स्वाधीनता हमारे साहित्य में एक परिवर्तन ला रही है जो सर्वतोमुखी है। मेरा अनुमान है कि १९४७ ई० से आगे के पंद्रह वर्षों के हिन्दी साहित्य का इतिहास, जब कि हिन्दी भारत की राजभाषा हो जायगी, कोई दूसरा अध्येता लिखेगा। १९४७ ई० ही पर समाप्त करने का दूसरा कारण यह था कि मैंने १९४९ ई० में अध्ययन का विषय चुना था। तब तक १९५० ई० आया नहीं था। वह आया तब जब मेरा अध्ययन आधा समाप्त हो चला था और तब मैं अध्ययन-काल में कोई परिवर्तन कर नहीं सकता था। परिशिष्ट में इन चार वर्षों का एक अध्ययन दिया जा सकता था, किन्तु मेरा विश्वास है कि वह अध्ययन न हो कर पुस्तकों का उल्लेख मात्र रह जाता।

पुस्तकों के उल्लेखों और उद्धरणों के विषय में भी अपनी कठिनाई बता देना चाहता हूँ। कुछ पुस्तकें ऐसी होती हैं जिन पर प्रकाशक प्रकाशन का वर्ष कहीं भी नहीं देते। ऐसी पुस्तकों की सही-सही तिथियाँ नहीं दी जा सकीं। दूसरी कठिनाई यह आई है कि कुछ तिथियाँ वस्तुतः 'तिथियों' के रूप में ही होती हैं। यदि चैत का प्रारंभ जनवरी के प्रारंभ से ही होता तब तो कोई कठिनाई न होती। किन्तु छः महीने का यह अंतर विक्रम संबंत से ५७ घटाने पर गड़बड़ी कर देता है। मैंने पुस्तकों के प्रकाशन की जो तिथियाँ दी हैं उनके स्रोत तीन हैं:—१. डॉ० माता प्रसाद गुप्त की 'हिन्दी पुस्तक साहित्य' नामक पुस्तक, २. शिक्षा संचालक के दफ्तर की कुछ फाइलें, और, ३. हिन्दी साहित्य सम्मेलन की पुस्तकों का सूचीपत्र।

निष्कर्षों को पुष्ट करने के लिये मैंने प्रायः कुछ चुने हुए लेखकों के ही ग्रंथ लिये हैं। वे लेखक अपने-अपने विषय के सर्वमान्य प्रतिनिधि मात्र हैं क्योंकि मेरे अध्ययन में व्यक्तियों को नहीं, साहित्य की प्रवृत्तियों को महत्त्व दिया गया है क्योंकि उद्धरणों के विषय में एक दूसरी मनोरंजक बात यह है कि कुछ रचनायें लिखी बहुत पहले गईं, समाचार पत्रों में काफ़ी बाद में छपीं और पुस्तक रूप में और भी बाद में आईं। इनका उद्धरण डॉ० श्रीकृष्ण लाल ने भी दिया है और मैंने भी। निराला की 'जूही की कली' ऐसी ही रचनाओं के उदाहरण स्वरूप उपस्थित की जा सकती है। वस्तुतः ये किसके अध्ययन-काल की हैं, यह तै करने के लिये समझौता करना पड़ेगा।

पारिभाषिक शब्दों की कोई सूची नहीं दी जा रही है। हिन्दी आलोचना इस स्थिति में आ गई है कि वह पारिभाषिक शब्दों के विषय में अंग्रेजी का सीधा सहारा छोड़ना प्रारम्भ कर सके। इसके बहुत से शब्द प्रचलित हो चले हैं। जहाँ आवश्यकता पड़ी है वहाँ अंग्रेजी के शब्दों का भी उल्लेख कर दिया गया है।

आज का युग गद्यात्मक है। हिन्दी साहित्य भी गद्यप्रधान हो रहा है इसलिये मैंने कविता का अध्ययन अंत में रक्खा है।

अब एक बात और रह जाती है—'धन्यवाद'। इसके विषय में मेरी कठिनाई दोहरी है। कृतज्ञता से आकंठ भर जाने पर मेरे कंठ से धन्यवाद नहीं छलक पाता। विचार आता है कि धन्यवाद दे कर मैं मानवीय संवेदनाओं की गहनता एवं मानवता का अपमान कर दूँगा। दूसरी कठिनाई यह है कि एक अपने को छोड़ कर अन्य सभी का मैं आभारी हूँ। रिसर्च करने का स्वप्न छः-सात साल पुराना था और उसकी पृष्ठभूमि और भी पुरानी। तब से जिन्होंने मेरा साथ दिया उन सबका मैं आभारी हूँ। अब उनके नाम गिनाने लगूँ तो पढ़ने वाले ऊब जायेंगे। मेरी यह कृति उन सबको समर्पित है जिन्होंने एक अनाथ बालक को अपना-अपना सहयोग दे-दे कर इस योग्य बना दिया कि वह कुछ कर सके। अपना यह अध्ययन उसी महान ऋण के ब्याज के रूप में उपस्थित कर रहा हूँ।

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने १८५० ई० से १९०० ई० तक के और डॉ० श्रीकृष्ण लाल ने १९०० ई० से १९२५ ई० तक के आधुनिक साहित्य का अध्ययन उपस्थित कर रक्खा था। मेरे इस अध्ययन के साथ १८५० ई० से लेकर १९४७ ई० तक के विशाल आधुनिक हिन्दी साहित्य का अध्ययन पूर्ण हो रहा है। संतोष, कृतज्ञता एवं उत्साह के साथ यह अध्ययन प्रस्तुत है।

भोलानाथ

विषय-सूची

पृष्ठ

भूमिका

१९२६ ई० के पहले का साहित्य

हिन्दी साहित्य का प्रारंभ जिस युग से होता है वह भारतीय इतिहास और हिन्दू संस्कृति का अधोमुखी काल था। चक्रवर्तीत्व समाप्त हो चुका था। अंतिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज के आखिरी दिन दूर नहीं थे। तत्पश्चात् भारत में अशांति और अराजकता का युग आया। संकुचित स्वाभिमान और अदूरदर्शी दृष्टिकोण ने हिन्दुओं की शक्ति समाप्तप्राय कर दी। रूढ़ि और अंधविश्वास से भी हिन्दू राजशक्ति को हानि पहुँची। आल्हखंड उस समय की राजनैतिक और सामाजिक परिस्थिति का एक धुँधला चित्र उपस्थित करता है। अदृश्य शक्ति पर लोगों का विश्वास था। उसके साथ ही साथ देवी-देवताओं की भी पूजा-प्रतिष्ठा होती थी। जन भावना का विकास उस समय संसार में कहीं भी नहीं हुआ था। भारतीय साहित्य और हिन्दी साहित्य भी इसका अपवाद नहीं। फिर भी मालिन, सौदागर सिपाही आदि के रूप में जनता के जीवन की हल्की झाँकी हिन्दी में मिल जाती है। सुस्पष्ट, सुपरिष्कृत और प्रौढ़ साहित्यिक भाषा अभी विकसित नहीं हो पाई थी। इतने पर भी अभिव्यक्ति निर्जीव नहीं। वर्णनात्मकता पर्याप्त मात्रा में थी। सामान्यतः अलंकारों का भी प्रयोग होता था। अत्युक्ति तो आल्हखंड की अपनी विशिष्टता हो गई है। कलात्मकता नहीं थी। शब्द प्रायः अनगढ़ थे। वीर, श्रृंगार और भक्ति की ऐसी अभिव्यक्तियों में हिन्दी का प्रारंभिक स्वरूप मिलता है।

हिन्दी साहित्य का आदिकाल

कला की दृष्टि से सर्वथा प्रौढ़ न होने पर भी उस समय एवं उसके कुछ बाद का साहित्य उपेक्षणीय नहीं। इसका कारण यह है कि साहित्य अभिव्यंजना मात्र नहीं। विषय वस्तु का महत्त्व कम नहीं। और, हिन्दी के कवि अपनी गौरव-पूर्ण पृष्ठभूमि से भली-भांति परिचित थे। संस्कृत साहित्य और भारतीय दर्शन—जिसमें भक्तिवाद की मान्यता व्यावहारिक दृष्टि से अधिक थी—समस्त भारतीयों के सम्पूर्ण जीवन में नहीं, तो मस्तिष्क में तो सदैव मौजूद रहता था। संस्कृत एवं अरबी-फारसी जानने वाले हिन्दी-प्रेमी साहित्यिकों के सम्मुख हिन्दी भाषा को साहित्यिक बनाने का ही प्रश्न था। तत्त्व के लिये हिन्दुओं और मुसलमानों के अपने-अपने किंतु महान एवं महत्त्वपूर्ण जीवन-दर्शन थे। कला के लिये संस्कृत एवं फारसी की उच्चकोटि की परंपरायें थीं। साहित्य-रचना को पवित्र कार्य समझा जाता था। समाज में साधुओं एवं फकीरों की प्रतिष्ठा थी। उन्हीं का ज़माना था। उनकी पवित्रता में कोई संदेह कर ही नहीं सकता था। धर्मपरायण युग था और उस युग को प्रतिबिंबित करने वाला साहित्य भक्ति-प्रधान हो गया।

भक्ति काल

ऐसे संत साहित्यिकों के दो ही कार्य थे—पूजा-पाठ और साहित्य-सृजन। साहित्य और पूजा-पाठ में भी संबंध था अर्थात् कीर्तन आदि के लिए पदों की रचना आदि। भाषा और भाव दोनों ही दृष्टि से हिन्दी साहित्य खूब फूला-फला। इस युग में हमें प्रौढ़तम कलात्मक अभिव्यक्तियां मिल जाती हैं। शैली और विषय की विविधता की दृष्टि से इस युग का साहित्य काफ़ी समृद्ध था। शैली की दृष्टि से पद, दोहे-चौपाइयों में महाकाव्य, नीति के दोहे, कवित्त, सवैये, वीररस की कुंडलियाँ, कूट, उल्टवांसियाँ आदि द्रष्टव्य हैं। विषय की विविधता की दृष्टि से कबीर का निर्गुण-भाव-प्रधान साहित्य, तुलसी का राम-साहित्य, सूर का कृष्ण-साहित्य, जायसी का सूफी साहित्य, तथा नीति-साहित्य आदि महत्वपूर्ण हैं। जीवन और परिवार का सूक्ष्म, मनोवैज्ञानिक एवं सुन्दर चित्रण मिलता है। कृष्ण की बाललीला में आभीर जाति के ग्राम्य जीवन के विविध रूपों की मार्मिक झाँकियाँ हैं। युद्ध हैं। दर्शन की काव्यात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। बाह्य और आंतरिक प्रकृति एवं परिस्थितियों के चित्रण हैं। मंजुल भाषा है। आलंकारिक छटा है। जीवन के प्रति स्वस्थ और आस्तिक दृष्टिकोण है। बिखरे समाज को एक सूत्र में बांध कर व्यवस्थित कर सकने की शक्ति है। मानव को संतोष एवं विश्वास देने वाली बातें हैं। सशक्त संबल है।

रीतिकाल

सूक्ष्म की प्रतिक्रिया हुई। साहित्यिक तत्कालीन भारतीय जीवन के स्थूल रूप की ओर लौटा। महाकाव्यों का समय गया। युद्धों का वह वातावरण नहीं रह गया। साधु-संत ही एक मात्र साहित्यिक हों, यह बात भी नहीं रह गई। ब्रह्म के निर्गुण रूप का ध्यान छूट गया। 'मीरा के प्रभु गिरिधर नागर' यानी 'सूरदास के श्याम सलोने' के रूप-चित्रण एवं सौंदर्य-चित्रण ने भक्त के अंदर उसके अवचेतन मन में निष्क्रिय पड़ी हुई इस प्रवृत्ति को जगा दिया था जिसका न जगना ही भगवान के भक्तों के लिये अच्छा समझा जाता है। रीतिकाल के कवियों को शृंगारिक भावनाओं की अभिव्यक्ति राधा और कृष्ण के नाम पर हुई। आर्या सप्तशती और गाथा सप्तशती की परंपरा भी शृंगारिक वृत्तियों की वैसी अभिव्यक्ति के लिये उत्तरदायी है। मुगल साम्राज्य का कलापूर्ण युग और दरबारी दृष्टिकोण उन कवियों को इसी ओर प्रेरित कर रहा था। लीला की भावना ने काफी छूट दे रक्खी थी, और उन कवियों का विचार यह प्रतीत होता है कि साहित्य और भगवान की लीला श्लीलता एवं अश्लीलता दोनों से ऊपर है। रीतिकाल के साहित्य में जीवन की एक प्रधान और कल्याणकारी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति है; और वह प्रवृत्ति यह है कि भगवान और लौकिकता का समन्वय ठीक होता है। यह भी प्रतिबिंबित है कि जाति के चेतन और अचेतन मन का संघर्ष-विश्वास और जीवन का समन्वय-क्या होता है। सो, रीतिकाल की कविता में मानव-जीवन प्रतिबिंबित है। हां, यह प्रतिबिंब

सम्पूर्ण जीवन का नहीं, उसके कुछ अंशों का है। आलंकारिकता को हटा कर यदि हम देख सकें तो बहुत कुछ दिखाई पड़ेगा। पद्माकर के युद्धवर्णनों में, भूषण के कवित्तों में, विभिन्न प्रदेश के नारियों के देव-कृत चित्रण में, बिहारी के कुछ दोहों में जहां वे नीति की बात करते हैं, या ऐसे ही अन्य स्थलों में हमें जीवन की छोटी-मोटी झांकियां मिल जाती हैं। वहाँ आज का सा जीवन-चित्रण नहीं। रीतिकाल के इन कवियों का क्षेत्र बहुत सीमित था। इस सीमित क्षेत्र में उन्होंने अपनी कला को खूब निखारा है। बहुत दिनों के प्रयोग ने ब्रजभाषा को परिष्कृत कर दिया था। इस युग के अन्दर उसमें कलात्मकता आई। अभिव्यक्ति में प्रौढ़ता आई। संक्षिप्ति आई। 'गागर में सागर' भर सकने का सामर्थ्य आया। अलंकारों के प्रयोग ने भाषा को कहीं का कहीं कर दिया। भक्ति और रीतिकाल का यह साहित्य हिंदी जनता के जीवन में बिल्कुल घुल-मिल गया।

इसके बाद हिन्दी जनता के जीवन में भी और हिन्दी साहित्य में भी महान क्रांति हुई। भारतवर्ष की पुरानी संस्कृति को यूरोप की आधुनिक संस्कृति से मुठभेड़ हुई।

आधुनिक काल

प्राचीनता पर आधारित विश्वासों, मान्यताओं एवं आदर्शों का नवीन विश्वासों, मान्यताओं एवं आदर्शों से मुकाबला पड़ा। श्रद्धा का बुद्धि से संघर्ष हुआ। पराजित जाति का विजयी जाति से सामना हुआ। सारा जीवन बदल गया। जीवन का सब कुछ परिवर्तित हो गया।

विकृत और अव्यावहारिक रूप में सहस्राब्दियों पूर्व की मान्यताएं और आदर्श परंपरा के बल पर आज भी भारतीय जीवन में पाए जाते हैं। किन्तु दिन-प्रति-दिन

सांस्कृतिक संघर्ष

का जीवन उसे छोड़ चुका है। नवीन वैज्ञानिक आविष्कार और नवीनतम परिस्थितियाँ जीवन के स्वरूप को ही नहीं बदल रही हैं, उसके मूल विश्वास और दृष्टिकोण को भी बदलने पर तुली हुई हैं। इस महान परिवर्तन का साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा है। मुद्रण कला, समाचार पत्र, यातायात के सर्वसुलभ साधन, पाश्चात्य देशों के धर्म, दर्शन और साहित्य के अध्ययन, वहां के साहित्य की जीवन से निकटता का ज्ञान, राजनीतिक आन्दोलन, देशभक्ति की भावना का प्रसार, यथार्थवादी प्रवृत्ति, बुद्धिवादी दृष्टिकोण, विदेशियों के सम्पर्क, जनता की चेतना, सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना, आदि ने हिंदी साहित्य का कायापलट कर दिया।

सब से बड़ा परिवर्तन यह हुआ कि हिंदी साहित्य राज-दरबारों और कवि-दरबारों से बाहर निकल आया। हिंदी की कविताओं, कहानियों एवं लेखों आदि को जनता का सामान्य मध्यम वर्ग काफी अधिक संख्या में पढ़ने लगा। इस प्रकार हिंदी साहित्य अपेक्षाकृत एक विस्तृत क्षेत्र में सामान्य लोगों के बीच आ गया। यह कार्य समाचार पत्रों ने और पत्रिकाओं ने किया। इस प्रकार साहित्य का

जीवन से कुछ अधिक सम्पर्क स्थापित हुआ। जीवन पद्यात्मक कम और गद्यात्मक अधिक है। इसलिये साहित्य में गद्य को भी प्रतिष्ठा हुई। आज हिन्दी साहित्य में गद्य अधिक और पद्य कम होता जा रहा है।

परिवर्तन

कुछ अनिवार्य कारणों से ब्रजभाषा गद्य में प्रयुक्त न हो सकी। खड़ी बोली उसकी भाषा हो गई। फिर, इसमें पद्य लिखने की बात उठी। प्रारंभ में इस विचार का बड़ा विरोध हुआ। बहुत दिनों तक वाद-विवाद हुए। किन्तु समय की गति, समाज का मनोविज्ञान और परिस्थितियाँ एवं आवश्यकताएँ खड़ी बोली के पक्ष में थी। इस संघर्ष में खड़ी बोली की जीत रही। आज परिस्थिति यह है कि ब्रजभाषा की कविता पिछले युग की चीज हो गई है। जन साधारण के सम्पर्क में आजाने के कारण हिन्दी के ललित साहित्य में जन साधारण के जीवन और उसके हृदय के विभिन्न स्वरूपों को भी स्थान मिला। कविता भक्ति और शृंगार एवं नीति की सामान्य बातों तक ही सीमित न रह सकी। साहित्य में विविधता आई। नये-नये विषयों को स्थान मिला। उच्चकोटि के कलापूर्ण वर्णन मिलने लगे। बुद्धिवाद की प्रतिष्ठा हुई। तथ्यों की ओर साहित्यिकों का ध्यान गया। बाह्य के स्थान पर आन्तरिक का अधिक ध्यान रक्खा जाने लगा। कल्पना को स्वच्छंदता मिली। यथार्थवाद को स्थान मिला। प्राचीन साहित्यिक आदर्श एवं रूढ़ियों से मुक्ति ली गई। इस संबंध में श्रीकृष्ण लाल ने लिखा है:—

"किन्तु पचीस वर्षों में ही एक अद्भुत परिवर्तन हो गया। मुक्तकों के बनखंड के स्थान पर महाकाव्य, खंड काव्य, आख्यानक काव्य (बैलेड), प्रेमाख्यानक काव्य (मिट्रिकल रोमांसेज़), प्रबंध काव्य, गीति काव्य, और गीतों से सुसज्जित काव्योपवन का निर्माण होने लगा। गद्य में घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, भाव-प्रधान, ऐतिहासिक तथा पौराणिक उपन्यास और कहानियों की रचनायें हुईं। समालोचना और निबंधों की अपूर्व उन्नति हुई। नाटकों की भी संतोषजनक उन्नति हुई। यद्यपि इनके विकास के लिये यह आधुनिक काल —साहित्यिक नियमों और विधानों का विरोधी काल—अत्यन्त अनुपयुक्त था क्योंकि नाटकों की स्थिरता और प्रभाव इन्हीं विधानों पर निर्भर है। केवल पचीस वर्षों में ही भाषा इतनी समृद्ध और शक्तिशालिनी हो गई कि उसमें उत्कृष्ट श्रेणी के गद्य और पद्य सरलतापूर्वक ढाले जाने लगे।" [१]

इसके अतिरिक्त इस काल की एक अन्य महत्वपूर्ण बात उपयोगी साहित्य के सृजन की प्रवृत्ति है। भारत के प्राचीन काल के उपयोगी साहित्य, जैसे दर्शन, तर्क, धर्म, आदि पर पुस्तकें लिखी गईं। भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र, राज-नीति, मनोविज्ञान आदि विषयों की पुस्तकों के लिये प्रधानतः यूरोप और

१ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ २

अमरीका के साहित्य का आधार लिया गया। इतिहास, भूगोल, भाषा-शास्त्र, लिपि, आदि पर भी वैज्ञानिक अनुसंधानपूर्ण पुस्तकें निकलीं।

उपयोगी साहित्य के अतिरिक्त अनुवादित साहित्य भी लिखा जाने लगा। उपयोगी साहित्य की पुस्तकों के अनुवाद के अतिरिक्त ललित साहित्य की महत्वपूर्ण पुस्तकों के अनुवाद भो प्रकाशित हुए। संस्कृत, फारसी, उर्दू, अंग्रेजी, बंगला और गुजराती आदि भाषाओं के साहित्य की उत्तमोत्तम पुस्तकें अनुवादित हुईं। रवीन्द्र नाथ टैगोर, शेक्सपियर, शरतचंद्र चटर्जी, बंकिमचन्द्र चटर्जी, टालस्टाय, मैक्सिम गोर्की आदि सुप्रसिद्ध लेखकों की पुस्तकों के अनुवाद हुए।

इस आधुनिक काल की प्रवृत्तियों के संबंध में श्रीकृष्ण लाल का निम्नलिखित अवतरण द्रष्टव्य है––

"सारांश यह है कि बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हिन्दी साहित्य का विकास प्रयोग (एक्स्पेरिमेंट) से प्रारंभ होकर निश्चित् सिद्धांतों की ओर, प्राचीन संस्कृत साहित्य के प्रतिवर्तन (रिवाइवल) से पाश्चात्य साहित्य के अनुकरण, और रूपान्तर की ओर, मुक्तक और प्रबंध काव्यों से गीति–काव्यों की ओर, इतिवृत्तात्मक और असमर्थ कविता से प्रभावशाली और भावपूर्ण कविता की ओर, करुणा, वीर और प्रकृति-वर्णन के सहजोद्रेक भावों से प्रारम्भ हो कर चित्र-भाषा-शैली में कलापूर्ण रचनाओं की ओर, अलंकार, गुण और रस से ध्वनि और व्यंजना की ओर, और साधारण प्रेम, वीरता और त्याग की भावना से मानव-जीवन को उच्च वृत्तियों और भावनाओं की व्यंजना की ओर हुआ।" [१]

यह संक्षेप में हिन्दी के आदिकाल से १९२५ ई० तक के साहित्य के विकास की सामान्य रूपरेखा है। स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य ने दो महान उथल-पुथल देखे हैं:––(अ) इस्लामी संस्कृति का आगमन; और (ब) पाश्चात्य संस्कृति का आगमन। इस्लाम पूरे हिन्दी साहित्य को बदल न सका। हिन्दी साहित्य संस्कृत-साहित्य के प्रभाव में पलता रहा। कुछ मुसलमानों ने हिन्दी में कविताएँ लिखीं। उर्दू के कुछ शब्दों की वृद्धि, या 'प्रेम की पीर' आदि कुछ भाव-धारायें भी हिन्दी को मिलीं किन्तु हिन्दी की आत्मा नहीं बदली। पाश्चात्य संस्कृति ने हिन्दी साहित्य की आत्मा ही बदल दी। कोई अंग्रेज हिन्दी का प्रसिद्ध साहित्यिक तो नहीं हो सका. किन्तु हिन्दी साहित्य की भाषा-शैली, विचार धारा, प्रवृत्ति आदि सब में आमूल परिवर्तन हो गया। इस परिर्वतन को हमने स्वीकार कर लिया है। आत्मा में अभी कुछ पुरानापन बाकी है, किन्तु साहित्यिकगण उसे व्यवहार में लाने का हठ नहीं करते। तर्क और बुद्धि के आगे विश्वास अधिक ठहर नहीं पाता। सभी नवीनता को मान्यता दे रहे हैं।

---

१ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' पृ० २५-२६

१९२६ ई० से १९४७ ई० तक का साहित्य

इस अवधि के हिन्दी साहित्य की सब से अधिक उल्लेखनीय बात हिन्दी का विस्तार और उसकी प्रौढ़ता है। विस्तार का संबंध विषय से है, और प्रौढ़ता का संबंध भाषा-शैली एवं विषय-प्रतिपादन से। उपयोगी साहित्य वाले अध्याय से यह बात भली-भांति स्पष्ट हो जायगी कि इस अवधि में ज्ञान-विज्ञान की लगभग सभी महत्त्वपूर्ण शाखाओं-प्रशाखाओं पर हिन्दी में पुस्तकें लिखी गई हैं। उनमें से बहुत सी पुस्तकें सामान्य स्तर की अर्थात् छोटे दर्जे के विद्यार्थियों के लिये हैं, किन्तु बहुत सी ऐसी भी हैं जो उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के काम भी आ सकती हैं। ललित साहित्य के क्षेत्र में भी कुछ उल्लेखनीय बातें हैं। एकांकी नाटकों के स्वरूप और उनके कला-विस्तार, उनके अनेक भेदों के जन्म, उनकी प्रौढ़ता एवं उनकी वर्तमान लोकप्रियता मूल रूप से इसी अवधि की चीज़ है। छोटे-छोटे समालोचनात्मक लेखों की अधिकता भी इसी युग की विशेषता है। विश्वविद्यालयों में हिन्दी से संबंध रखने वाले उच्चकोटि के गवेषणात्मक निबंध (थीसिस) इसी अवधि में लिखे गये हैं। प्राचीन साहित्य के वैज्ञानिक संपादन भी इसी युग में प्रौढ़ता को पहुंचे हैं।

विस्तार एवं प्रौढ़ता का युग

इस अवधि के अन्दर हमारी भाषा काफी प्रौढ़ अथवा कलात्मक हो गई है। उसकी अभिव्यंजना शक्ति में वृद्धि हुई है। भाषा में लिंग, क्रिया के स्वरूप आदि की भद्दी भूलें अब नहीं होतीं। 'करा' और 'करी' या 'करौ' आदि शब्द लोग बोल तो लेते हैं किन्तु लिखने में इनका प्रयोग नहीं होता। बीच-बीच में अंग्रेज़ी के शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति भी कम हो गई है। यदि कभी कोई शब्द प्रयुक्त होता भी है, तो उस परिस्थिति में, जहां मजबूरी हो। कुछ थोड़े से दोष अब भी मौजूद हैं, जैसे शब्दों के दो रूप ('कौआ' और 'कौवा' या 'गए' और 'गये'), निरर्थक प्रयोग ('जब कि'), असावधानी के कारण होने वाली अशुद्धियां ('प्रक्रति', 'उपरोक्त', 'बृजभाषा' आदि) आदि। परन्तु भाषा का बाह्य स्वरूप, उसका शरीर, दोषों से बहुत कुछ मुक्त हो चुका है।

भाषा की आन्तरिक शक्ति भी बढ़ी है। आन्तरिक शक्ति से तात्पर्य उस सामर्थ्य से है जिसके अनुसार अभिव्यक्ति होती है। यदि भाषा में इतना सामर्थ्य हो कि वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों की अभिव्यक्ति, गंभीरतम व्याख्यायें, उच्चकोटि की आलोचनायें तथा रहस्यमय भावनाओं एवं मन की सूक्ष्म क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं की ऐसी अभिव्यंजना कर सके जिसमें अशुद्धियाँ न हों और भाषा की असमर्थता के कारण पैदा होने वाली भ्रांतियों की संभावना न रहे, तो यह कहा जा सकता है कि भाषा की आन्तरिक शक्ति पूर्ण है। ध्यान रखने की बात यह है कि इस शक्ति

का आधार व्याकरण नहीं, प्रयोग है। इस प्रकार के साहित्य का सृजन करने वाले जिस भाषा का जितना अधिक प्रयोग करेंगे, उस भाषा में उतनी ही अधिक आन्तरिक शक्ति बढ़ेगी। ऊपर बताया जा चुका है कि इस अवधि में हिन्दी के क्षेत्र की परिधि बढ़ी है। काव्य, उपन्यास, कहानी, समालोचना आदि के अतिरिक्त उपयोगी साहित्य के भी तमाम विषयों पर हिन्दी में पुस्तकें लिखी गई हैं। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी भाषा की आन्तरिक शक्ति बढ़ती ही गई। इतना अवश्य है कि ज्ञान-विज्ञान की भाषा अभी उतनी जोरदार नहीं हो पाई जितनी ललित-साहित्य की।

कविता, कहानी और उपन्यास अधिक लिखे गये हैं, नाटक उनसे कम, निबंध उनसे कम, और समालोचनाएँ उनसे भी कम। ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकें सब से कम लिखी गई हैं। अतएव प्रथम तीन विषयों की भाषा में जितना निखार है, निबंध और समालोचनाओं की भाषा में उतना नहीं, और निबंध तथा समालोचनाओं की भाषा में जितनी शक्ति है, ज्ञान-विज्ञान की भाषा में उतनी भी नहीं। इन विषयों से संबंध रखने वाले आगे के अध्यायों में भाषा की शक्ति और स्वरूपों की तथा उसकी विशेषताओं की विवेचना है। कार्य, परिस्थिति एवं स्थान आदि के वास्तविक एवं पूर्ण वर्णन कर सकने की क्षमता, रूप, भाव, मनोभाव, आवेश एवं आवेग, मानसिक द्वन्द्व-प्रतिद्वन्द्व, उनकी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के सजीव चित्र उपस्थित कर देने की शक्ति, वातावरण की प्रभावपूर्ण अवतारणा हिन्दी भाषा की विशेषताएं हैं। कभी अलंकार से सजे, कभी सजीवता एवं माधुर्य से पूर्ण, कभी गंभीरता एवं विद्वत्ता की गरिमा से युक्त और कभी सरलता से उत्पन्न हल्कापन लिये हुये स्वरूपों में हिन्दी दिखाई पड़ती है। क्लिष्टता और दुरूहता से सरलता और स्पष्टता की ओर जाने की उसकी प्रवृत्ति स्पष्ट है।

अपनी प्रयोगात्मक अवस्था को पार कर के खड़ी बोली कलात्मक और सृजनात्मक अवस्था में आई। इस युग में खड़ी बोली दो प्रधान रूपों में दिखाई पड़ी:—(१) संस्कृतनिष्ठ, और (२) व्यावहारिकता के निकट। पहला रूप प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी वर्मा आदि की कविताओं और रामचन्द्र शुक्ल, महादेवी वर्मा, श्यामसुन्दर-दास आदि के समालोचनात्मक लेखों में मिलता है। दूसरा रूप सुभद्रा कुमारी चौहान, गुरुभक्त सिंह आदि की तथा 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' आदि कविताओं में, और प्रेमचन्द्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि के गद्य में मिलता है। मान्यता पहले रूप को अधिक मिली है; झुकाव दूसरे रूप की ओर अधिक है।

इस युग का साहित्य पिछले युग के साहित्य की अपेक्षा जीवन के स्थूल रूप के कुछ अधिक निकट आ गया है। आज के साहित्यिक को जीवन की अमूर्त्त समस्याएँ या अमूर्त्त निर्णय—निष्कर्ष—या अमूर्त्त मान्यतायें केवल परम्परा के बल पर ही मान्य नहीं हैं। यदि वे हमारे प्रत्यक्ष जीवन से संबंधित नहीं हैं तो साहित्यिक उनकी उपेक्षा कर जायगा। जीवन की अमूर्त्त मान्यताओं में से कुछ ये हैं:—ईश्वर या ब्रह्म,

देवता, धर्म, मूर्ति-पूजा, तीर्थ-यात्रा, पुण्य आदि। ये अमूर्त्त इसलिये हैं कि आज के जीवन की जो प्रत्यक्ष समस्यायें हैं उनसे इनका प्रत्यक्ष संबंध कोई नहीं। इसलिये आज के साहित्य में इनका महत्त्व प्रायः नहीं के बराबर रह गया है। अभी तक ये मान्यतायें हमारे विश्वास-श्रद्धा—कभी-कभी क्या, प्रायः—अंधविश्वास के बल पर हमारे बीच प्रतिष्ठित रहीं। चेतन के अस्वीकार कर देने पर भी अचेतन जल्दी अस्वीकार कर नहीं पाता। क्योंकि चेतना का संबंध बुद्धि से होता है और अचेतन का, परम्परा से पड़ने वाले या किसी ज़बरदस्त प्रभाव से। धर्म के विषय में उसकी बुद्धि नहीं, श्रद्धा बलवती होती है। यही कारण है कि सीता और लक्ष्मण से सामान्य भाभी-देवर-सा परिहास कराने वाले, राम से समाज का सुधार कराने वाले तथा वशिष्ठ और हनुमान की अलौकिक क्रियाओं को मानवीय योग समझने वाले मैथिली शरण गुप्त भी राम को विशुद्ध मानव के रूप में न देख सके। गोवर्द्धन पर्वत उठाये जाने की बात को लोक-कथा की बात के रूप में कहने वाले अयोध्या सिंह उपाध्याय भी कृष्ण को विशुद्ध मानव न मान सके। बड़े आश्चर्य से कवि पूछता है—

अमूर्त्त मान्यताओं की उपेक्षा

'राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या ?'

अतएव साहित्य की गति इन्हें उपेक्षित कर देने की है। नवीन शिक्षा-दीक्षा पाये हुये तरुण मस्तिष्क में इतना साहस आ गया है कि वह इस प्रवृत्ति के दोहरेपन को छोड़ सके। अतएव नवीनतम साहित्य ईश्वर, धर्म आदि के बारे में मौन सा धारण किये चल रहा है। साहित्य का आधार धर्म का परम्परित रूप है ही नहीं। छायावादी और रहस्यवादी कविताओं ने तो प्रकृति के रम्य रूप और निर्गुण आराध्य को ही अपनाया है। प्रगतिवाद में धर्म और ईश्वर दकियानूसी बातें हैं। अमूर्त्त सौन्दर्य भी अग्राह्य है, क्योंकि पंत की 'ग्राम्या', अंचल की 'लाल चूनर' आदि में मूर्त्त सौंदर्य ही है। मानवीयकरण आज के साहित्य की एक प्रधान प्रवृत्ति कही जा सकती है। यह मानवीयकरण प्रकृति का भी होता है, और ईश्वर का भी। ईश्वरत्व गौण—मनुष्य प्रधान है।

इस प्रकार साहित्य से ईश्वर, धर्म, श्रद्धा और आस्था की भावनायें लुप्त हुईं। इनके स्थान पर बुद्धि की प्रधानता हुई। इसका एक रूप हमें वहाँ दिखाई पड़ता है, जहाँ साहित्यिक प्राचीन की नवीन व्याख्या करने लगता है। प्राचीनता के अनुरागियों को प्राचीनता के प्राचीन रूप की शाश्वत उपयोगिता पर कदाचित् विश्वास नहीं रह गया। बुद्धिवाद के आगे प्राचीन काल की कथायें या घटनायें हास्यास्पद लगने लगती हैं। महाभारत की घटनाओं की नवीन व्याख्या करने वाली एक पुस्तक में एक बार पढ़ा था कि जब दुर्योधन ने द्रौपदी को भरी सभा में वस्त्रहीन किये जाने का आदेश दिया, तो द्रौपदी ने कृष्ण का नाम लिया। इतने बड़े राजनीतिज्ञ के नामोच्चारण ने लोगों के मन पर यह प्रभाव डाला कि वह जिसकी

ओर है उसके प्रति इतना घोर अपमान किसी भयानक कलह का कारण होजायगा। गुरु, पितामह आदि उपस्थित सज्जनों ने द्रौपदी को अपने अपने उत्तरीयों की आड़ में कर लिया। सभा में वस्त्र ही वस्त्र दिखाई पड़ने लगा। यह कृष्ण के नाम का प्रभाव था कि इतना अधिक चीर समाज में आ गया। कृष्ण के नाम से संबंधित यह घटना आज रूपक बन कर हमारे सामने आ गई है। हनुमान अयोध्या से लंका जाते समय जब उड़े थे, तो योग की शक्ति के आधार पर (मैथिली शरण गुप्त)। गोविन्ददास के 'कर्तव्य' नामक नाटक में इस प्रकार की व्याख्याएं भरी पड़ी हैं। इस प्रकार प्राचीनता की नवीन व्याख्या इस युग की एक पद्धति सी बन गई है।

प्राचीन की नवीन व्याख्यायें

बुद्धिवाद यहीं तक नहीं रुका। उसने साहित्य का दृष्टिकोण और उसका स्वरूप बदल दिया। अब साहित्य मानव-जीवन की प्रत्यक्ष एवं स्थूल समस्याओं को ले कर चल रहा है। इन समस्याओं को दो प्रधान भागों में बांट सकते हैं:—(१)शरीर की समस्यायें, और(२)मन की समस्याएँ। शरीर की समस्याओं में प्रमुख दो हैं:—(अ) भूख, और (ब) वस्त्र। मन की समस्यायें हैं प्यार और साथ। शरीर और मन की समस्याओं के मध्य के किसी विन्दु पर यौन समस्या और इनके कुछ ऊपर उठकर ज्ञानार्जन की समस्या है। बंगाल के काल के ऊपर लिखी गई कविताएं, कहानियां, उपन्यास आदि जैसे, बच्चन की 'बंगाल का काल' (कविता), अमृतलाल नागर का 'महाकाल' (उपन्यास) आदि भूख और उसके परिणाम पर ही प्रकाश डालते हैं। वस्त्र का संबंध साहित्य से उतना नहीं है, जितना भूख का। वह मन को उस जगह नहीं छूता जो साहित्य का उत्स है। प्यार और साथ की समस्याओं से तो सारा साहित्य भरा है। पहाड़ी का 'यथार्थवादी रोमांस' यौन क्षुधा का नंगा और कुत्सित सामाजिक रूप चित्रित करता है। जैनेंद्र की कहानियां प्यार के मर्यादित रूप को दिखाती हैं। तात्पर्य यह है कि यौन आकर्षण, क्षुधा और प्यार की प्रत्यक्ष, सरल और दुरूह क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं को आज के साहित्य में स्थान मिल रहा है। इनमें कुछ समस्यायें वास्तविकता के समीप हैं और कुछ का संबंध अस्वस्थ भावुकता अथवा चेतन-अचेतन मन की विकृत क्रिया-प्रतिक्रिया से है। लक्ष्मीनारायण मिश्र और इलाचंद जोशी के नायक-नायिकाओं की समस्यायें कुछ ऐसी ही हैं। नई परिस्थितियों में जन्म लेने वाली इन अधिकांश समस्याओं का चित्रण मात्र ही हो सका है। बुद्धिवाद इन समस्याओं का समाधान नहीं निकाल सका है। इन समस्याओं का समाधान हमें नहीं मिल सका है। राजनीति भी इनका पूर्ण समाधान नहीं कर सकी है। पुराना समाधान हमें भाता नहीं। अतएव आज के साहित्य में हम अपने समाज और मनुष्य के जीवन की समस्याओं का चित्रण ही विशेष रूप से पाते हैं। सफल चित्रण ही कला की कसौटी मानी जाने लगी है।

समस्या प्रधान साहित्य

तो मनुष्य की समस्यायें प्रायः दो प्रकार की हुईं:—(१) आंतरिक, और (२) बाह्य। आंतरिक का संबंध मानस प्रदेश से है और बाह्य का संबंध समाज अर्थात् अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क और शरीर को स्वस्थ रखने के लिये आवश्यक वस्तुओं से है। इन दोनों क्षेत्रों के लिये आजकल हिन्दी की जो विचार-धारा है उसको देखते हुये ऐसा लगता है कि वह पश्चिम के चिन्तकों से बहुत प्रभावित है। मानस-क्षेत्र से संबंध रखने वाली विचार-धारा पर फ्रायड का प्रभाव है और समाज से संबंध रखने वाली बातों पर मार्क्स की चिन्तन-पद्धति से विचार किया जाता है। मन के द्वन्द्वों और अंतर्मन के कारण व्यवहार में आने वाली विचित्रताओं पर आधारित साहित्य की, जिसके प्रणेताओं में से इलाचंद जोशी का नाम निश्चय-पूर्वक लिया जा सकता है, प्रेरणा फ्रायड की विचारधारा ही है। जीवन की विषमताओं—गरीबी-अमीरी, रोटी-कपड़े, जोर-जुल्म आदि—के प्रति असंतोष आदि की भावना पर मार्क्स की विचार-धारा का प्रभाव है।

दो प्रमुख प्रेरणा-स्रोत

समाज में ये समस्यायें पहले भी थीं, किन्तु तब उन पर उस ढंग से विचार नहीं किया जाता था जिस ढंग से आज किया जा रहा है। आज जब हम इन समस्याओं पर विचार करने बैठते हैं तब यह पहले ही तय हो जाता है कि 'सब विधि अगम अगोचर' अथवा धर्म की दुहाई और पूर्व जन्म के कर्मों के प्रभाव की बातें न सोची-विचारी जाएँगी। जैसे पहले इनका होना निश्चित रूप से मान लिया जाता था, वैसे ही आज इनका न होना—या होना भी तो निरर्थक होना—निश्चित मान लिया जाता है। कारण यह है कि ये विश्वास के बिना टिक नहीं सकेंगे और विश्वास करने के लिये हम बहुत कम तैयार हैं। हमारा दृष्टिकोण यथार्थवादी हो गया है। थोथा आदर्शवाद समय के पीछे की चीज़ सिद्ध हो रहा है। तात्पर्य यह है कि बुद्धि और तर्क के आधार पर ही वस्तु के यथार्थ स्वरूप और उनसे संबंधित बातों पर आज विचार किया जा रहा है। उदाहरण के लिये आज की एक प्रधान समस्या नारी को ले लीजिये। पहले नारी की कोई समस्या ही नहीं थी। पातिव्रत धर्म को मानने वाली भारतीय नारी के लिये कोई समस्या हो ही नहीं सकती। अंधे, लूले, लंगड़े, काने, अत्याचारी या व्यभिचारी आदि कैसे ही पुरुष की पत्नी का महान आदर्श था पति के व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व को समाप्त कर देना। चल सम्पत्ति की तरह द्रौपदी जुए के दाँव पर लगा दी जाती है। वह इस अत्याचार से पीड़ित होकर रोयेगी, कृष्ण से सहायता मांगेगी, मगर तन कर, सर ऊंचा उठा कर, एक बार विद्रोह नहीं कर सकती। ऐसे नारी-समाज की क्या समस्या? अपाहिज पति मारता है तो भी सह लो! लेकिन चंद्रकिरण सौनरिक्सा की वसंती न सहेगी। वह अपने पति कलुआ को ऐसे झाड़ू मारेगी कि वह तिलमिला कर रह जाय ('कमीनों की जिन्दगी' नामक कहानी, १९४२ ई०)। विधवा गर्भवती होती है। आज की चिन्तना प्रश्न करती

यथार्थवादी दृष्टिकोण या कम्युनिस्ट विचारधारा

है कि जब अपराध पुरुष और नारी दोनों का है, तब समाज केवल नारी ही को क्यों सताता है। १६ वर्षीया पत्नी का ६० वर्षीय पति मर जाता है। पहले इसे कर्मों का दोष समझ कर चुप रह जाया जाता था। आज प्रश्न होगा कि क्या आवश्यकता थी बुड्ढे बाबा को शादी करने की। प्रेमचंद का होरी पुकार-पुकार कर कहता है कि यदि हम गरीब हैं तो इसका कारण पूर्वजन्म आदि न होकर पटवारी, जमींदार, साहूकार, पंडित, पुरोहित आदि की शोषण-प्रवृत्ति है। हमने चोरी की है। पहले की व्यवस्था हमें पापी ठहरा कर नरक में शायद हमारे हाथ कटवा देगी। आज प्रश्न उठेगा—हमें अभाव था तभी हमने चोरी की। हमें अभाव में डाल कर चोरी करने के लिये विवश करने वाला कौन है? प्राचीन व्यवस्था से सब से अधिक दो वर्ग पिसा है:— (१) नारी, और (२) गरीब। साहित्य में दोनों आज क्रांति का स्वर उठाते हैं। छायावादी का रहस्यमय सौंदर्य हमें न लुभा सका। अंचल, नरेंद्र आदि शारीरिक सौंदर्य की ओर भी मुड़े। 'कायाकल्प' में पुनर्जन्म था। 'गोदान' सामन्तवादी व्यवस्था पर व्यंग्य करता है। 'दिव्या' का मारिश कम्युनिस्ट विचारधारा का प्रतीक है। यह विचारधारा साहित्य में फैलती जा रही है। प्राचीनता के कुछ हिमायती इसे देखकर चिंतित हो रहे हैं।

इतना होने पर भी हिन्दी के साहित्यिक अपने प्राचीन गौरव को नहीं भूले हैं। प्राचीन विश्वास, प्राचीन विचारधारा, तथा प्राचीन चिन्तन-पद्धति से कुछ अलग हटते हुए भी हम अपने महान अतीत को विस्मृत नहीं कर सके हैं। यह प्रवृत्ति हमें दो रूपों में दिखाई पड़ती है। प्रथम स्वरूप हमें उन कृतियों में मिलता है, जिनका आधार प्राचीन काल की कथायें हैं। बुद्ध-पत्नी यशोधरा, रामचंद्र की क्रीड़ा-भूमि साकेत, लीलामय कृष्ण की ब्रज-लीला, तथा महाभारत की अनेक कथायें आदि जिन कृतियों के कथानक का निर्माण करती हैं, वे इन प्राचीन कथाओं की महत्ता और उपयोगिता सिद्ध करती हैं। इन कृतियों में आजकल की समस्यायें भी चित्रित हो जाती हैं। यह लेखक की कला है। प्राचीन गौरव के स्मरण का सुन्दरतम स्वरूप हमें ऐतिहासिक कृतियों में मिलता है। अशोक, चंद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, हर्ष, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, विराटा की पद्मिनी, गढ़कुंडार, रानी शारदा, पृथ्वीराज, विक्रमादित्य, शिवाजी तथा राणा प्रताप आदि पर लिखे गये नाटक, उपन्यास, कहानियाँ और कविता-पुस्तकें हमारे प्राचीनकाल के गौरव की याद दिलाती हैं। जयशंकर प्रसाद, वृन्दावन लाल वर्मा, मैथिली शरण गुप्त, प्रेमचंद और चतुरसेन शास्त्री आदि की ऐतिहासिक कृतियाँ इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करती हैं। इन ऐतिहासिक कृतियों से आज के भी जीवन को प्रेरणा मिलती है।

स्वर्णिम अतीत का चित्रण

अस्तु, आज के साहित्य में जीवन के स्थूल रूप और प्रत्यक्ष समस्याओं की प्रधानता हो चली है। जीवन की परिस्थितियाँ अर्थात् हमारी आजकल की समस्यायें बहुत विषम हो चली हैं। कठोर यथार्थ ने हमारे जीवन को इस तरह जकड़ रक्खा है

कि हमारी दृष्टि इससे हट नहीं पाती। समस्यायें इतनी जटिल हैं कि हम अपनी पूरी शक्ति से उनको सुलझाने में लगे हैं और वे हैं कि सुलझती ही नहीं। मन और मस्तिष्क उन्हीं में लगा है। भावुकता के लिये कोई जगह नहीं। जीवन का दृष्टिकोण बौद्धिक होता जा रहा है। यहाँ तक कि कविता भी बुद्धि के सांचे में ढलती जा रही है। कविता में भी चिन्तन की प्रधानता हो गई है। रसवादी दृष्टिकोण नहीं रह गया है। प्रधानता चित्रण और व्यंजना की होती जा रही है। समाज की समस्याएँ इसमें प्रतिबिंबित होती हैं। सियारामशरण गुप्त के 'एक फूल की चाह' की समस्या सामाजिक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कविता में भी गद्यात्मकता की प्रधानता होती जा रही है। इतना ही नहीं, कविता का महत्त्व भी कम होता जा रहा है। कवि मजाक और परिहास की बात होते जा रहे हैं। कविता प्रदर्शन की वस्तु होती जा रही है। आत्मा गद्यमय होती जा रही है। सृजन गद्य का अधिक होता है। उपन्यास, कहानी, निबंध, तथा नाटक आदि में काव्यात्मक तत्त्वों का वहिष्कार होता जा रहा है। समालोचना आदि गद्यके विभिन्न अंगों की ही सर्जना अधिक हो रही है। पत्र-पत्रिकाओं में भी गद्य की प्रधानता हो रही है। छोटी-छोटी कवितायें गंभीर लेखों के बाद इसलिए दे दी जाती हैं कि थका मस्तिष्क थोड़ी देर के लिये बहल जाय, जैसे एक मिनट की गुदगुदी। उपयोगी साहित्य के विभिन्न अंगों, जैसे इतिहास, भूगोल तथा विज्ञान आदि पर लिखी जाने वाली पुस्तकों को यदि ले लें, तो गद्य के सामने कविता का परिमाण बिल्कुल नगण्य हो जायगा। अतएव इस युग को गद्य का युग कह सकते हैं और कह सकते हैं कि इस युग की आत्मा गद्यात्मक है।

गद्य-युग या गद्यात्मक आत्मा

भारत में साहित्य स्रष्टा की दृष्टि बहुत ऊँची मानी जाती थी। उसका क्षेत्र संकुचित नहीं था। वह छोटी-मोटी बातों—व्यक्तिगत सुख-दुख एवं क्षणिक स्वार्थों—को साहित्य में स्थान नहीं देना चाहता था। व्यक्ति का अपना कोई महत्व नहीं। वह अपूर्ण है। ब्रह्म का एक अंश है। उसकी वास्तविक गति ब्रह्म है। उसकी पूर्णता उसी में है। यही कारण था कि भारत का दार्शनिक कवि अपने व्यक्तित्व की एवं अपनी व्यक्तिगत बातों की अथवा अपने सामान्य जीवन की साहित्यिक अभि-व्यक्ति के विषय में सर्वथा उदासीन रहा। संस्कृत के साहित्यिकों की यह प्रवृत्ति हिन्दी के साहित्यिकों में भी आ गई थी। वीरगाथा काल में आश्रयदाता के वंश, उसके जीवन की कुछ महत्त्वपूर्ण बातें एवं उसके व्यक्तित्त्व की अतिस्थूल रेखायें मात्र दे दी जाती थीं। उनसे व्यक्तित्व बहुत कम उभरने पाता था। भक्ति काल में भक्त के पास इतना अवकाश कहाँ कि वह भगवान को छोड़ कर अपनी बातें करे! जब 'कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लगत पछताना', तब मनुष्य के व्यक्तित्व की बात ही खतम हो जाती है!

हिन्दी साहित्य और वैयक्तिकता या व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति

रीतिकाल में युगों से चली आती हुई परम्पराओं, कवि-श्रुतियों, एवं रूढ़ियों के आधार पर चित्रण होता था। सो, जब जीवन का स्पन्दन नहीं, तब व्यक्तित्व का विकास कैसा ! खड़ीबोली कविता की प्रारम्भिक अवस्था में भाषा में इतना बल नहीं था कि वह व्यक्तित्व की सफल, सूक्ष्म अभिव्यक्ति कर सकती। पौराणिक आख्यायिकाओं अथवा ऐतिहासिक एवं प्रचलित कथाओं के छंदोबद्ध स्वरूप में व्यक्तित्व के उभरने की अधिकांश गुंजाइश रहती भी नहीं। हिन्दी के अन्दर मानव-व्यक्तित्व की अभिव्यंजना करने का सर्व प्रथम प्रयास छायावादी कविताओं में हुआ। छायावादी कविताओं में अभिव्यक्त व्यक्तित्व प्रायः समाजनिरपेक्ष ऐकांतिक होता था। व्यक्तित्व के सुख-दुःख, आशा-अभिलाषा, आकांक्षा—महत्वाकांक्षा आदि को कविता में स्थान मिला। इस प्रकार का व्यक्तित्व मन और मस्तिष्क पर एक गहरा प्रभाव छोड़ जाता है। भौतिक एवं बौद्धिक विश्लेषण उसके रम्यरूप को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। सुमित्रानन्दन पंत की 'ग्रन्थि' के नायक का व्यक्तित्व कुछ ऐसा ही है। राष्ट्रीय कविताओं में अभिव्यक्त व्यक्तित्व त्याग, बलिदान, एवं साहस का उज्ज्वल स्वरूप सामने रखता है। रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' का व्यक्तित्व ऐसी ही छाप छोड़ जाता है ! 'कुणाल-गीत' का व्यक्तित्व चारित्रिक दृढ़ता, त्याग, शांति और अहिंसा के गुणों से समन्वित है। आंतरिक द्वंद्वों के चित्रण से यह व्यक्तित्व-चित्रण और भी निखर आता है। व्यक्तित्व की ये सभी विशेषतायें व्यक्तिगत हैं। आगे चल कर इस दृष्टिकोण में विस्तार हुआ। अब जिस व्यक्ति की अवतारणा होने लगी उसकी विशिष्टतायें व्यक्तिगत न रह कर सामाजिक हुईं। तात्पर्य यह है कि समाज की प्रवृत्तियां ही पात्र के स्वभाव की विशेषताएँ बनीं। पात्र उन प्रवृत्तियों के प्रतीक बने। 'गोदान' के अधिकांश पात्र ऐसे ही हैं। 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में ऐसे ही व्यक्तित्वों की अवतारणा हुई है। परिणाम यह हुआ है कि साहित्यिक कृतियाँ—विशेष रूप से उपन्यास—युग की प्रवृत्तियां, उनके संघर्ष एवं उनकी क्रियाएँ—प्रतिक्रियाएँ प्रतिबिंबित करती हैं। इन कृतियों में युग मानव का व्यक्तित्व स्पष्ट हुआ है। यदि हम समाज को एक पुरुष मान लें तो इनमें उसका व्यक्तित्व झलकता है अर्थात् यह कि उसकी आत्मा किस प्रकार प्राचीन और नवीन के बीच झोंके खाती है तथा आदर्शों की टक्करें किस प्रकार उसे झकझोरे हुए हैं, 'स्वार्थ और शोषण ने जीवन को किस प्रकार दयनीय कर दिया है, आदि।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल अर्थात् वीरगाथा काल में शूर, राजाओं एवं वीर सामंतों के जीवन का चित्रण होता था। भक्तिकाल में ब्रह्म के सगुण रूप का चित्रांकन तथा लीला का वर्णन होता था। रीतिकाल में कृष्ण और राधा के व्यक्तित्वों की आड़ में सामान्य नायक-नायिकाओं की वृत्तियों का चित्रण होता था। खड़ी बोली कविता के आदि युग में भक्ति-भावना और

वर्ण्य विषय में प्रगति

निर्गुण भावना के आधार पर क्रमश: भक्तिपरक और रहस्यवादी कविताओं की सृष्टि हुई। इसे भी प्रकारांतर से भगवान का चित्रण कह सकते हैं। राष्ट्रीय कविताओं में भारत माता तथा महान नेताओं के चित्रण मिलते हैं। अब दलित, करुण एवं विपन्न वर्ग का चित्रण होने लगा है। अतएव चित्रण के आधार की प्रगति यों हुई :—

अन्तर और उसके कारण

भाषा
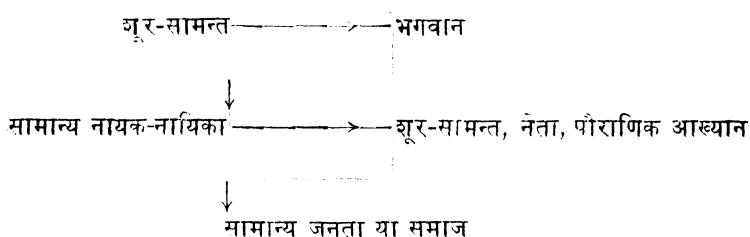
सब से बड़ा अन्तर भाषा में दिखाई पड़ता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय तक ब्रजभाषा का प्राधान्य था। उस समय तक हिन्दी साहित्य में काव्य ही प्रमुख था। काव्य की भाषा ही साहित्य की भाषा थी। महावीर प्रसाद द्विवेदी तक आते-आते खड़ी बोली में भी कविता लिखी जानी प्रारम्भ हुई। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने खड़ी बोली की कविता को बहुत प्रोत्साहन दिया और खड़ी बोली गद्य का परिष्कार एवं परिमार्जन किया। जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', रामकुमार वर्मा, हरिवंश राय 'बच्चन', रामधारी सिंह 'दिनकर', तथा रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' आदि ने कविता में प्रयुक्त होने वाली खड़ी बोली को विकसित करने और उसमें कलात्मकता का समावेश करने में अपना-अपना महत्वपूर्ण योग दिया। कविता के अध्याय में इसका विस्तृत विवेचन दिया जायगा। इसके दो प्रधान रूप हैं:—(१) संस्कृतनिष्ठ हिन्दी, जो तत्सम शब्दों एवं संधि और समास आदि के द्वारा निर्मित हुई है, और (२) संधि और समास आदि से मुक्त व्यावहारिकता के कुछ समीप आने वाली हिन्दी, जिसके शब्द-भंडार में तत्सम शब्दों की अधिकता और तद्भव एवं अन्य आवश्यक शब्दों का भी समुचित प्रयोग होता रहता है। गद्य के क्षेत्र में रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द, महादेवी वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि के नाम उल्लेखनीय है। संस्कृतनिष्ठता से व्यावहारिकता की ओर भाषा का विकास हुआ है। प्रयत्न यह रहा है कि उसकी बाह्य और आंतरिक शक्तियों में वृद्धि हो।

कारण

इस अंतर का सब से पहला कारण खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग कहा जा सकता है। भाषा जितनी ही अधिक प्रयोग में लायी जाती है उसमें उतनी ही अधिक शक्ति और सौंदर्य बढ़ता है। एक समय था जब खड़ी बोली का साहित्य में प्रयोग होता ही नहीं था। अब साहित्य के सभी अंगों का सृजन उसी के द्वारा होने लगा। भिन्न-भिन्न रुचि के शिल्पियों के हाथ में पड़ कर भाषा भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्ति और सौंदर्य से युक्त हो गई। प्रयोगकाल ज्यों ज्यों बढ़ता गया, त्यों त्यों भाषा की शक्ति

व्यवहार और प्रयोग

बढ़ी। अस्तु, १९२६ ई० तक उसके प्रयोग को जितने दिन हुये थे, १९४७ ई० में पहुँच कर उनमें इक्कीस वर्ष के दिन और भी बढ़ गये। वे दिन चुप बैठने के नहीं थे। उन दिनों साहित्य खूब लिखा गया। परिणामतः भाषा की शक्ति बढ़ी।

गद्य और पद्य की शैली में साम्य की प्रवृत्ति

जिन कारणों ने ब्रजभाषा को अपदस्थ करके खड़ी बोली को काव्य भाषा बनाया, उन्हीं ने संधि तथा समास आदि से युक्त तत्सम शब्द-प्रधान क्लिष्ट भाषा की अपेक्षा सरल एवं व्यावहारिक हिन्दी को अधिक मान्यता देने पर मजबूर किया। गद्य और पद्य की भाषा में एकरूपता लाने की भावना शब्दों के रूपों तक ही सीमित न रह सकी। यह प्रवृत्ति कुछ अधिक सूक्ष्म तत्त्वों की ओर बढ़ी। समासयुक्त पदावली-प्रधान गद्य, जैसे गोविन्द नारायण मिश्र का, पुराना और अनावश्यक सिद्ध हो चुका था। प्रेमचन्द का गद्य बहुत अच्छा माना जाता था। इस गद्य में सीधे-साधे वाक्य, तद्भव एवं देशज शब्दों से भी युक्त पदावली, मुहावरों एवं कहावतों का प्रयोग और बोलचाल के तत्त्व प्रधान थे। कविता की भाषा भी धीरे धीरे इसी ओर बढ़ी। कविता की भाषा बोलचाल की भाषा के अधिक समीप तो न आ सकी। हाँ, संधियों और समासों का उपयोग लगभग समाप्तप्राय है। 'अनामिका' में निराला की भाषा थी—

> "गाते खग नव जीवन परिचय, तरु मलय—मलय—
> ज्योतिः प्रभात स्वर्गीय—ज्ञात छवि प्रथम स्वीय—
> जानकी नयन कमनीय प्रथम कंपन तुरीय।"

उस समय साहित्य में ऐसी ही भाषा का प्राधान्य था। अब ऐसी भाषा का प्रयोग कम होगया है। प्रधानता इसकी है—

> "प्रलय की रात में सोचे
> प्रणय की बात क्या कोई,
> मगर पड़ प्रेम बंधन में
> समझ किसने नहीं खोई,

किसी को राह में पलकें बिछाये कौन बैठा है ?
अँधेरी रात में दीपक जलाये कौन बैठा है ?" [१]

क्लिष्टता से सरलता की ओर या संयोगात्मकता से वियोगात्मकता की ओर बढ़ना ही भाषा की स्वाभाविक गति है। भाषा की संयोगावस्था से मेरा तात्पर्य है संधियों और समासों से भरी हुई भाषा। उदाहारण लीजिये :—

"कान्ता कान्ति-निकेतनातिसरसा दिव्या सुधासिंचिता"। [२]

वियोगावस्था से मेरा तात्पर्य भाषा के निम्नलिखित स्वरूप से है :—

"देव मैं अब भी हूँ अज्ञात !
एक स्वप्न बन गई तुम्हारे प्रेम मिलन की बात।
तुमसे परिचित होकर भी मैं,
तुमसे इतनी दूर !
बढ़ना सीख-सीख कर मेरी
आयु बन गई क्रूर !
मेरी साँस कर रही मेरे जीवन पर आघात। देव मैं........." [३]

अयोध्यासिंह उपाध्याय की भाषा में शब्द एक दूसरे से संयुक्त हैं। संधि और समास के द्वारा सटे-मिले हैं। इसीलिये संयोगावस्था में हैं। रामकुमार वर्मा में प्रत्येक शब्द का अपना अलग व्यक्तित्व है। इसीलिये वियोगावस्था कही गई है।

आज का जीवन समस्याओं एवं विषमताओं से इतना आक्रान्त है कि दुरूह या क्लिष्ट भाषा को समझने में शक्ति लगाने को हम शक्ति का अपव्यय समझते हैं।

विषय एवं समस्याओं से भरा जीवन और मानसिक झुकाव

हम साहित्य में उलझना नहीं चाहते। अतः सीधी-सादी शैली में लिखी गई अच्छी चीज ही हमें पसन्द आती है। अतः क्लिष्ट भाषा की जगह सरल भाषा लोगों को अधिक रुचिकर हुई। कविता में पाई जाने वाली सरलता की प्रवृत्ति का उल्लेख हो चुका है। गद्य में भी यह बात स्पष्ट है। चंडीप्रसाद 'हृदयेश' और जयशंकर 'प्रसाद' की शैली बहुत दिनों तक प्रचलित न रह सकी। प्रेमचन्द की भाषा का एक रूप साहित्य में अधिक प्रतिष्ठित हुआ। क्लिष्ट गद्य की सीमाएँ निर्धारित सी हो गईं, जैसे आलोचना या गंभीर एवं सूक्ष्म विवेचना के समय या प्राचीन काल की संस्कृति का चित्रण करते समय उसका प्रयोग हो, इत्यादि।

साहित्य को अधिकाधिक जनता का विषय बनाने की भावना साहित्य की भाषा को सरलता की ओर ले गई। प्रयत्न यह रहा है कि अधिक से अधिक लोग

---

१. बच्चन : 'सतरंगिनी'
२. अयोध्या सिंह उपाध्याय : 'पारिजात'
३. रामकुमार वर्मा : 'चित्ररेखा'

साहित्य पढ़ें और समझें । यह भावना दो कारणों से पैदा हुई । पहला कारण यह था कि जनता अधिक से अधिक मात्रा में सुसंस्कृत हो और उसका दृष्टिकोण परिष्कृत एवं उदात्त हो । दूसरा कारण यह था कि अधिक से अधिक पुस्तकें बिकें जिससे लेखक और प्रकाशक दोनों को काफ़ी रुपये मिलें ।

साहित्य में जनता का ध्यान

आज का अधिकांश साहित्य पहले समाचार पत्रों या पत्रिकाओं में प्रकाशित होता है । कहानियाँ और कवितायें, निबंध और समालोचनायें, एकांकी नाटक एवं अन्य छोटे-मोटे लेख तो पत्र-पत्रिकाओं में छपाये जाते ही हैं, बड़े-बड़े नाटक और उपन्यास भी उनकी विभिन्न प्रतियों में क्रमशः छपते हैं । ये पत्र-पत्रिकायें जनता की मनोवृत्ति का अधिक ध्यान रखती हैं । इसका ध्यान न रक्खें तो वे बिकें ही न, और न बिकें तो बन्द हो जाँय और उनके सम्पादक को आजीविका का साधन समाप्त हो जाय । जनता क्लिष्ट या दुरूह रचनायें पसन्द नहीं करती । कवि-सम्मेलनों में पढ़ी जाने वाली दुरूह कवितायें जनता का सम्मान नहीं पातीं । अस्तु, इस विचार ने भी साहित्य की भाषा को धीरे-धीरे सरलता की ओर प्रेरित कर दिया ।

पत्र-पत्रिकाओं की प्रवृत्ति और उसका प्रभाव

सूक्ष्म की अभिव्यक्ति करते समय भाषा कुछ कठिन हो जाती है और स्थूल का चित्रण करते समय सरल । द्विवेदी युग में जब इतिवृत्तात्मक अभिव्यक्ति की अधिकता थी, तब भाषा सरल थी । व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध, परिमार्जित थी । कुछ कठिनाई संस्कृत के तत्सम के शब्दों अर्थ जानने में पड़ सकती थी किन्तु वह प्रायः नहीं के बराबर थी । छायावाद के युग में जब सूक्ष्म एवं अमूर्त्त की अभिव्यंजना होने लगी, तब शैली दुरूह हो गई । भाषा की शक्ति और सौंदर्य में विकास हुआ । भाषा माधुर्य आदि गुणों से सम्पन्न हो गई । सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी वर्मा आदि की भाषा इसका उदाहरण है । इसके पश्चात् जब यथार्थ-वाद या प्रगतिवाद की प्रवृत्ति आई तो भाषा से क्लिष्टता और दुरूहता हटने लगी । राष्ट्रीयता की भावना से पूर्ण कविता यदि दुरूह होती तो उसका उद्देश्य नष्ट हो जाता । गरीबों, किसानों, मजदूरों एवं दलितों के चित्रण में यदि क्लिष्ट भाषा का प्रयोग हो, तो उसका कुछ प्रभाव ही न पड़े । समस्याओं के प्रभाव-पूर्ण चित्रण के लिये वैसी भाषा की आवश्यकता नहीं । इसीलिये भाषा की सामान्य प्रवृत्ति सरलता की ओर हो गई ।

सूक्ष्म और स्थूल की अभिव्यक्ति तथा भाषा पर पड़ने वाला उसका प्रभाव

इन्हीं कारणों से भाषा में सरलता एवं स्पष्टता आई, यद्यपि पहले के उसके अन्य गुणों को बनाये रखने का यथासंभव प्रयत्न किया जाता रहा । इसके पश्चात् उल्लेख-नीय तत्त्व हैं यथार्थवादी प्रवृत्ति, बौद्धिक दृष्टिकोण, समस्या-प्रधान साहित्य और

जीवन की अमूर्त्त मान्यताओं के स्थान पर मूर्त्त की प्रतिष्ठा। इसके पहले कल्पनात्मकता, भावनात्मकता, आदर्शवादी दृष्टिकोण एवं अमूर्त्त की प्रधानता थी। बुद्धि की अपेक्षा श्रद्धा का सहारा अधिक लिया जाता था। सच कहा जाय तो १९२६ ई० के पहले का हिन्दी साहित्य भावनात्मक स्तर पर था। अब धीरे-धीरे बौद्धिकता प्रधान होती जा रही है।

बुद्धिवाद

इसका प्रधान कारण है युग की प्रवृत्ति। हम जिससे श्रद्धा करते थे, जिस पर अपनी सारी समस्याओं को ढाल कर निश्चिन्त बैठ जाते थे, जिनको अपने जीवन का प्रधान लक्ष्य बना लिया था, वे अयोग्य सिद्ध हो गये। बात एक बार भूली जा सकती है, दो बार भूली जा सकती है, तीन बार भूली जा सकती है, कई बार भूली जा सकती है किन्तु जब बार-बार वही हो और ऐसा लगे कि यह होता ही रहेगा तो प्रकाश्य या अप्रकाश्य रूप से मनुष्य या जाति की अन्तर्प्रवृत्तियाँ विद्रोह करने लगती हैं। सोमनाथ के मंदिर के ध्वंस से हिन्दू धर्म और देवताओं की व्यर्थता का जो उदाहरण मिलने लगा तो अलाउद्दीन खिलजी, अकबर, औरंगज़ेब, और अंग्रेज़ आदि के लाखों कृत्य इसके उदाहरण में सामने आ गये। हिन्दू जिसको अपनाता है, आसानी से नहीं छोड़ता। यह हिन्दू जाति के ही विश्वास की सीमा थी कि उसका जो देवता यवन-आक्रमण के डर के मारे कुयें में कूद पड़े उसकी भी पूजा होती रहे, उसी जोर-शोर से, उसी धूम-धाम से, उसके बाद भी! किन्तु हर एक की सीमा होती है। अंग्रेज़ों के अत्याचारों पर भी भगवान की चुप्पी विचारकों को खल गई। उन पर से पहले का सा विश्वास हटने लगा। कोई दूसरा आधार न मिलने के कारण या सहस्राब्दियों से बने विश्वास को तोड़ सकने की अक्षमता के कारण भले ही उसके विरुद्ध हम कुछ न कहें! आर्य समाज, और ब्रह्म समाज का बढ़ता हुआ प्रचार इसका उदाहरण है।

श्रद्धेय की अक्षमता

यह प्रवृत्ति चल ही रही थी कि मार्क्स, एंजिल और लेनिन आदि ने जीवन का नवीन दर्शन उपस्थित किया। यह दृष्टिकोण आध्यात्मिक नहीं, भौतिक था। फ्रांस की राज्यक्रांति के समय समता, बन्धुत्त्व और स्वाधीनता का जो नारा उठा था उसका व्यापक स्वरूप हमें यहाँ मिलता है। इस विचार-धारा में धर्म और ईश्वर के लिये जगह नहीं। आर्थिक विषमता को दूर करने की इसकी आयोजना अभी तक काफी सफल रही। संसार में या समाज में अधिकांश वर्ग दलितों, शोषितों या पीड़ितों का है। भगवान यदि इनकी कठिनाइयाँ नहीं दूर कर सकता है, तो इनके लिए व्यावहारिक दृष्टि से बेकार है। मार्क्स की व्यवस्था का आर्थिक पक्ष कुछ ऐसा प्रबल है कि विश्व की समस्त पीड़ित जनता उसे अपनाने को विकल है। ऐसा कदाचित् इसलिए भी है कि यह नवीन है, अभी सफल है। युगों की कसौटी पर कसी नहीं जा सकी, अतएव इसके दोष सामने आ नहीं पाये और जनता प्राचीन व्यवस्था के दोषों से

आस्तिकता की समाप्ति या साम्यवाद का प्रभाव

अकुला उठी है। अतएव आले में भगवान को प्रतिष्ठित करके भी लोग साम्यवाद के आर्थिक पक्ष को अपनाने के लिए तैयार हैं। इस भौतिकवादी दृष्टिकोण ने आस्तिकता समाप्त कर दी। श्रद्धा की जगह बुद्धि का प्राधान्य हो गया।

पाश्चात्य साहित्य और दर्शन के अध्ययन एवं मनन से भी हमारे दृष्टिकोण में बुद्धि की प्रधानता हुई। उन्नीसवीं शताब्दी को पाश्चात्य देशों के विजय और प्रभुत्व की शताब्दी कहते हैं। संसार के अन्य भाग उसके उपनिवेश हो गये। विजेता की संस्कृति का विजित पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। सारा हिन्दुस्तान अंग्रेज होने लगा था। पढ़े-लिखे होने का एक मात्र अर्थ था अंग्रेज़ी पढ़ा लिखा होना। अंग्रेज़ी के माध्यम से हम पाश्चात्य दर्शन और साहित्य के सम्पर्क में आये। उच्च वर्ग के व्यावहारिक जीवन और उसकी सभ्यता के ऊपर पश्चिम के भौतिकवाद का ही रंग चढ़ गया था। अस्तु, जीवन और अध्ययन दोनों पश्चिम के भौतिकवाद के समीप आ गये। तब दृष्टिकोण को बदलते कितनी देर लगती! यह धीरे-धीरे और अप्रकाश्य रूप से हो गया। नये-नये आविष्कारों ने जीवन की काया-पलट कर दी। वे आविष्कार, जिनका संबंध जन-जीवन के प्रत्यक्ष रूप से था, भौतिक विज्ञान के थे। इन आविष्कारों से सम्पन्न जीवन उनका था जो धार्मिक नहीं। धार्मिक व्यक्तियों की दान-भिक्षा भीख और टुकड़े या लूट के स्वरूप में आ चुकी थी। वे दृष्टि से गिर रहे थे। सबल व्यक्तित्त्व ही जीवन को प्रभावित करता है, दयनीय नहीं। इसलिये हम विज्ञान और वैज्ञानिकों की ओर मुड़े। विज्ञान के चमत्कारों ने हमें आकृष्ट किया। हम उसका अध्ययन करने लगे। विज्ञान श्रद्धा को नहीं, बुद्धि को लेकर चलता है। अस्तु, हमारा दृष्टिकोण बौद्धिक हो चला।

पाश्चात्य साहित्य और दर्शन का अध्ययन

और, जब हमने बुद्धि की दृष्टि से देखा तो हमें अपने जीवन, धर्म और समाज में समस्यायें दिखाई पड़ीं। अभी तक समस्यायें जो इतनी नहीं उभरी थीं या जो उन्हें साहित्य में स्थान नहीं मिला था, उसके कई कारण थे :—

समस्याओं की प्रधानता

१. पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार, जीवन में जो कुछ हो रहा है, वह पूर्वजन्म में किए अपने ही कर्मों का फल है। उनको भोगना ही पड़ेगा। फिर, असंतोष कैसा! चुपचाप सहते जाओ।

२. अध्यात्मपरक आदर्शवादी साहित्य प्रत्यक्ष जीवन की इन भौतिक समस्याओं को कोई विशेष महत्त्व नहीं देता। प्रकारान्तर से इनका चित्रण हो जाय, तो बात दूसरी है।

३. साहित्य का संबंध आभिजात्य वर्ग से था। बड़े आदमियों की ही समस्यायें बड़े आदमियों के ही द्वारा साहित्य में चित्रित होती थीं। इस युग के पहले तक इन बड़े आदमियों के जीवन पर विषमता की खरोंचें प्रायः

नहीं लगती थीं। निधन जन समुदाय ही इनसे त्रस्त था; और उनकी तरफ से लिखने वाला कोई था नहीं। आज जब परिस्थितियों से मध्यवर्ग त्रस्त एवं आक्रान्त हो रहा है, तब इन समस्याओं का चित्रण खूब होने लगा है।

अस्तु, आज परिस्थितियाँ बिल्कुल बदल गईं। जिन समस्याओं को बिल्कुल नगण्य समझा जाता था, साहित्य में उन्हीं का चित्रण प्रधान हो गया। पाश्चात्य साहित्य में चित्रण ही लक्ष्य होता है। वही हमारे यहां भी हुआ। भाषा में बल आते ही राजनीतिक स्वतन्त्रता की समस्या, नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व की समस्या, गरीबों के सम्मान और जीवन की समस्या, नारी और पुरुष के आकर्षण एवं परस्पर संबंध की समस्या, समाज और व्यक्ति की समस्या एवं ऐसी ही सैकड़ों समस्यायें सामने आ गईं।

यथार्थ का चित्रण

इस युग में प्रधानता या ध्येय इन समस्याओं के चित्रण का है; उनके समाधान का नहीं। चित्रण-कार्य केवल कल्पना से नहीं हो सकता। उसके लिये वास्तविकता का सही-सही, यथार्थ ज्ञान बहुत आवश्यक है। ये समस्यायें उन्हीं की हैं जिन्हें यह साहित्य पढ़ना है, क्योंकि अब साहित्य सब की सम्पत्ति हो रहा है। अतएव यदि चित्रण में पूर्णता न हुई, केवल कल्पनाओं से ही काम लिया गया, तो पहले तो वे निर्जीव रहेंगी, और दूसरे, पढ़ने वालों को संतुष्ट न कर सकेंगी। फिर, साहित्य लिखने वाले अधिक लोग ऐसे भी हैं जिनका इन समस्याओं से बराबर सामना पड़ता है। वे इनके अंग-प्रत्यंग से परिचित होते हैं। अतएव यथार्थ-चित्रण की प्रधानता हो गई। ध्येय यह रहता है कि पढ़ने वाले के मस्तिष्क पर वही प्रभाव पड़े जो प्रत्यक्ष देखने या भोगने वाले के ऊपर पड़ता है। इस यथार्थ में आदर्श का पुट कुछ दूसरा, अर्थ-लाभ का ध्येय कुछ दूसरा, एवं साहित्यिकता का पुट कुछ दूसरा रंग ला देता हैं। फिर भी, सब के भीतर से यथार्थ अपने किसी न किसी रूप में प्रतिबिंबित अवश्य होता है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण या गद्यात्मकता

राजनीतिक परिस्थितियों ने हमारे साहित्य में कोरी कल्पना या रूढ़ि की कल्पना अथवा शास्त्रीय कल्पना के महत्त्व को और भी कम कर दिया। रहस्यमय की सूक्ष्म कल्पनायें भी अधिक दिनों तक हमारी अपनी न रह सकीं। छायावाद की कल्पना-प्रधान शैली भी इसी कारण अधिक दिनों तक लोकप्रिय न रह सकी। ये राजनीतिक परिस्थितियाँ मुख्य रूप से दो हैं। सब से पहली बात भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता की थी। देश के शासन-सूत्र को अंग्रेज़ों के हाथ से ले लेने की समस्या थी। स्वतंत्रता की भावना की वृद्धि के साथ-साथ अंग्रेज़ों की दमन नीति प्रखर से प्रखरतर होती जा रही थी। हमारी चेतना बढ़ती थी; उनकी यातना बढ़ती थी। इसका प्रभाव हमारे दिन-प्रति-दिन के जीवन पर पड़ने लगा। यह परिस्थिति

१९४५ ई० तक रही। दूसरी उल्लेखनीय बात पिछला महायुद्ध है। प्रथम महायुद्ध ने भी हिंदी साहित्य पर अपना प्रभाव डाला था। होता यह है कि इन महायुद्धों के पश्चात् जन-जीवन की कठिनाइयाँ बहुत बढ़ जाती हैं। १९३९ ई० के महायुद्ध से हम आज तक त्रस्त हैं। उस समय जो कठिनाइयाँ पैदा हुईं, वे आज तक बढ़ती ही चली जा रही हैं। मध्य वर्ग मिटा जा रहा है। महँगाई ने सब को खोखला कर दिया है। ऐसी स्थिति में कल्पना से तबीयत नहीं भरती। काम नही चलता। इसलिये दृष्टिकोण यथार्थवादी होता जा रहा है। इसलिये भी शुद्ध साहित्यिक कल्पना का महत्त्व कम हो गया। काव्य में भी गद्यात्मकता आ गई। न पहले की सी कल्पनायें हैं, न पहले का सा शृंगार-सजाव। ललित साहित्य में गद्य वाले अंग विशेष रूप से पुष्ट हुए।

व्यवहार-क्षेत्र का विस्तार और उसका प्रभाव

सामान्य वर्ग की जाग्रत होती हुई चेतना ने साहित्य की ओर भी अपनी दृष्टि फेरी। राजनीति में जन साधारण का महत्त्व बढ़ा और साहित्य में भी। जन-पद साहित्य आन्दोलन उसी का एक स्वरूप है। बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ दशक में यह आन्दोलन बहुत महत्त्वपूर्ण हो गया। मतभेद सभी जगह पाये जाते हैं, किन्तु इतना तो निश्चित हो गया है कि हिन्दी केवल तथाकथित साहित्यिकों की ही भाषा नहीं है। वह अब जनसाधारण की भाषा होती जा रही है। उसमें अनेक वर्गों के जीवन और उसकी समस्याओं का चित्रण हो रहा है। उसके माध्यम से अनेक आवश्यकताएँ एवं आकांक्षाएँ व्यक्त हो रही हैं। लोक गीतों के अध्ययन और संकलन का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। इस दृष्टि से पं० राम नरेश त्रिपाठी और देवेन्द्र सत्यार्थी के नाम उल्लेखनीय हैं। जनता में सभी दार्शनिक समस्याओं में नहीं उलझते। उनके लिए जीवन की सूक्ष्म मान्यतायें मानने की बातें हैं, सोचने-विचारने की नहीं। साहित्य में चित्रित हो रहा है मध्यम या कृषक वर्ग एवं उसकी समस्यायें, और दृष्टिकोण है बौद्धिक एवं चिन्तन प्रधान। तो निश्चित है कि जीवन की अमूर्त्त मान्यताओं की उपेक्षा हो जायगी। सामान्य पाठकों की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर चलने के कारण ही हिन्दी में उपयोगी साहित्य की भी पुस्तकें निकलने लगी हैं।

वैयक्तिकता

वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति एक अन्य प्रधान अन्तर है। पहले का साहित्यिक अपने व्यक्तित्त्व को बहुत हो उपेक्षा करता था। आज के साहित्यिक की रचनाओं में उसका व्यक्तित्त्व ही प्रधान होता है। पहले साहित्यिक दृश्य जगत से परे किसी रहस्यमय अदृश्य की अभिव्यंजना करता था। उसके स्थान पर अब मानव की प्रतिष्ठा हुई। मानव की अभिव्यक्ति हो, अभिव्यक्ति का माध्यम हो प्रगीतात्मकता, दृष्टि हो सूक्ष्मता की ओर, तब निश्चय है कि जो कुछ अभिव्यक्त होगा वह होगा मानव की अभिलाषायें, आकांक्षायें एवं उसका सुख-दुख। फिर, छायावाद के गायकों को इतना विरोध

सहना पड़ा था कि उनका दृष्टिकोण सामाजिक कम, ऐकांतिक अधिक हो गया था। युग की करुणा एवं निराशा से वे भी अभिभूत थे। अस्तु, उन्होंने जो कुछ कहा, वह अधिकतर उन्हीं की वैयक्तिकता की अभिव्यंजना हो गई। आगे चल कर जब परिस्थितियाँ बदलीं और साम्यवादी दृष्टिकोण का प्रभाव पड़ने लगा, राष्ट्रीयता का आन्दोलन ज़ोर पर आया, जनता के बीच में साहित्यिक आ कर खड़े हो गये, तो उनमें से अधिकांश ने निरपेक्ष होकर जनता का चित्रण करना आरंभ किया। अपना दृष्टिकोण जनता के दृष्टिकोण में बदल दिया। प्रतीक या टाइप का चित्रण प्रारंभ हुआ।

सांस्कृतिक पुनर्जागरण का प्रभाव

भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग का चित्रण भी इस अवधि की एक विशेषता है। इसके पूर्व यह बहुत ही कम मिलता है। इतिहास ही लिखने का रिवाज नहीं था, साहित्य में इतिहास की अवतारणा क्या होती? किन्तु यह अवधि सांस्कृतिक पुनर्जागरण की अवधि है। इसी कारण हमारी दृष्टि अपने गौरवपूर्ण अतीत की ओर गई। उस युग में भी आज की समस्याओं का दर्शन और उनके परिणामों के आधार, इन पर विचार-विनिमयवाली तथा प्राचीन रूपकों तथा घटनाओं की नवीन व्याख्या वाली प्रवृतियाँ इसी तत्त्व के कारण हैं। राष्ट्रीयता के प्रचार ने भी इस दृष्टिकोण को प्रोत्साहन दिया। सुधारवादी दृष्टिकोण भी इसी विचारधारा का फल है। तत्सम शब्दों का प्राधान्य, प्राचीन, बौद्ध या राजपूत युग का चित्रण करते समय संस्कृतनिष्ठ भाषा, हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का आन्दोलन, हिन्दी का प्रचार, पारिभाषिक शब्दावलियों के लिये संस्कृत के शब्दशास्त्र या शब्दभंडार की ओर बढ़ने आदि की प्रवृत्तियाँ इसी सांस्कृतिक पुनरुद्धार की भावना के परिणाम स्वरूप हैं।

परिवर्तन

इन कारणों से हिन्दी साहित्य में परिवर्तन हुए। उसके जितने स्वरूप १९२६ ई० से १९४७ ई० के बीच की अवधि में मिलते हैं, वे १९२६ ई० के पहले के और १९०० ई० के बाद के स्वरूप से भिन्न हैं। १९०० ई० के पहले के हिन्दी साहित्य और हमारे अध्ययन काल के हिन्दी साहित्य में तो बहुत ही अन्तर है। अब भाषा, शैली, आत्मा आदि सभी दृष्टियों से यह परिवर्तन उल्लेखनीय है। आधुनिक काल में होने वाला यह परिवर्तन कुछ वैसा ही है जैसा किसी नवीन मस्तिष्क में तब होता है, जब वह प्रौढ़त्व एवं विकास की ओर अग्रसर हो। यह परिवर्तन दो प्रकार से हुआ। पहला इस प्रकार कि नये साहित्यिक अपने नये मस्तिष्क, नये अध्ययन एवं नवीन विचारों को लेकर आये और अपना नवीन मार्ग चलाया। इसके उदाहरण के लिये हरिवंश राय 'बच्चन' को लिया जा सकता है। यह कवि हालावाद को लेकर हिन्दी में उतरा और विरोधों के बीच चलता हुआ अब वैयक्तिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति

के द्वारा जीवन की अभिव्यंजना कर रहा है। दूसरा इस प्रकार हुआ कि प्राचीन साहित्यिक नयी प्रवृत्तियों के अनुसार अपने को बदल लिये। इसके उदाहरण हैं मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय इत्यादि। मैथिलीशरण गुप्त ने इतिवृत्तात्मक कवितायें लिखीं, छायावादी शैली पर भी गीत लिखे, यथार्थवादी दृष्टिकोण से भी जीवन को देखा, आदि। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने खड़ी बोली में भी कविता की और ब्रजभाषा में भी। इस प्रकार हिन्दी के अनेक साहित्यिक आधुनिक युग के हिन्दी साहित्य के दोनों भागों में रहे और रचनायें कीं। सैंतालीस वर्षों का समय इतना अधिक नहीं होता कि इसे किसी व्यक्ति के जीवन का समय न कहा जा सके। यद्यपि यह एक सत्य है कि अधिकांश लेखकों की प्रतिभा का चमत्कार कुछ ही वर्षों में समाप्त हो जाता है, किन्तु फिर भी कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनकी प्रतिभा इतने काल तक नष्ट न हो। मैथिलीशरण गुप्त और अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्यामसुन्दरदास आदि के नाम ऐसे ही प्रतिभावान साहित्यिकों में लिए जा सकते हैं। जयशंकर प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल आदि ऐसे समर्थ साहित्यिक हैं जो १९०० ई० से १९२५ ई० तक के साहित्य के भी सफल कृती हैं और १९२६ ई० से १९४७ ई० तक के साहित्य के भी। इन्हीं प्रौढ़ दरवाज़ों के बीच से हो कर आधुनिक साहित्य एक अवस्था से दूसरी अवस्था में गया है।

गतिवर्द्धक शक्तियाँ

इस अवधि में जिन-जिन शक्तियों के सहारे हिन्दी आगे बढ़ी है उनमें प्रमुख स्थान संस्थाओं का है। अकेले चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। अकेला व्यक्ति विचार दे सकता है, भावनायें दे सकता है, उपाय बता सकता है, प्रेरणायें दे सकता है, जोश या उत्साह पैदा कर सकता है, किन्तु इतने विस्तृत प्रदेश में अकेले, बिना किसी के सहारे, वह प्रचार नहीं कर सकता। करेगा, तो उस प्रचार का स्वरूप व्यापक न होगा। प्रभावपूर्ण कार्य या तो सरकार कर सकती है, या जन संस्थायें। अंग्रेज़ी सरकार से हिन्दी को उत्साह या प्रेरणा नहीं मिली। १९०० ई० से १९२५ ई० के बीच हिन्दी सम्बन्धी महत्वपूर्ण कार्यों के सम्पादन का श्रेय नागरी प्रचारिणी सभा को था।

संस्थायें और प्रचार

१९२६ ई० के बाद जिस संस्था का इतिहास ही हिन्दी के विकास का इतिहास हो गया, वह संस्था है हिन्दी साहित्य सम्मेलन। पुरुषोत्तम दास टंडन इस संस्था के प्राण हैं। यह हिन्दी के साहित्यकारों का सम्मेलन है। राष्ट्रीय आन्दोलनों के साथ-साथ इसका भी उत्तरोत्तर विकास हुआ है। इसके अधिवेशनों में नागरी वर्णमाला पर विचार (चौथे अधिवेशन में), हिन्दी संबंधी सामग्रियों का प्रदर्शन,

हिन्दी शब्दों के लिंगभेद पर विचार, सम्मेलन की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने वाले परीक्षार्थियों को प्रमाणपत्र देना (पांचवें अधिवेशन में), हिन्दी एवं नागरी को राष्ट्रभाषा एवं राष्ट्रलिपि स्वीकार कराने की युक्तियां (आठवें अधिवेशन में), हिन्दी का एक संग्रहालय स्थापित करने का विचार (तेरहवें अधिवेशन में), ग्रामों में हिन्दी प्रचार की बात (३१वें अधिवेशन में), हिन्दी में ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकें लिखाने की बात, टाइप राइटर को दृष्टि में रखते हुए हिन्दी-लिपि-सुधार की आवश्यकता पर विचार, प्रकाशकों के द्वारा लेखकों के शोषण की समस्या पर विचार (३५वें अधिवेशन में) और इसी प्रकार हिन्दी साहित्य की वृद्धि एवं हिन्दी प्रचार के विभिन्न पहलुओं पर विचार-विनिमय होते रहे हैं।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन

सम्मेलन के तत्त्वावधान में प्रथमा, द्वितीया, मध्यमा, विशारद एवं राष्ट्रभाषा स्नातक नाम की परीक्षायें होती हैं। इन परीक्षाओं के पाठ्यक्रम आदि के विषय में सम्मेलन की अपनी स्वतंत्र नीति है। सरकार की तत्संबंधी नीति या नियम का सम्मेलन की नीति या नियम पर कोई बन्धन नहीं है।

साहित्यरत्न, साहित्योपाध्याय, साहित्य महोपाध्याय तथा साहित्य वाचस्पति सम्मेलन की ऊँची-ऊँची उपाधियाँ हैं। उत्तमा परीक्षा पास करने वाले को साहित्य-रत्न की उपाधि मिलती है। साहित्योपाध्याय और साहित्य महोपाध्याय डाक्ट्रेट की डिगरियाँ हैं और वे अभी किसी को नहीं मिलीं। साहित्य वाचस्पति सम्मानित उपाधि है (आनरेरी डाक्ट्रेट की तरह), और यह विशिष्ट स्नातकों को ही प्रदान की जाती है।

सम्मेलन के पुरस्कारों में हिन्दी का नोबल पुरस्कार अर्थात् मंगला प्रसाद पारितोषिक, सेक्सरिया महिला पारितोषिक, मुरारका पारितोषिक, नारंग पुरस्कार, रत्न कुमारी पुरस्कार, नेमिचंद पंड्या पुरस्कार और गोविन्द राम सेक्सरिया विज्ञान पुरस्कार हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रौढ़ विकास में इस संस्था का बड़ा महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। १९२५ ई० के दिसम्बर के महीने में अर्थात् हमारे अध्ययन-काल के प्रारम्भ होने के लगभग एक ही महीने पहले बनारस के पंडित यज्ञ नारायण उपाध्याय ने स्थानीय लेजिस्लेटिव कौंसिल में हिन्दी-उर्दू की ट्रांसलेशन ब्यूरो खोलने का प्रस्ताव रक्खा था। २२ जनवरी, १९२७ ई० के यूनाइटेड प्राविसेन्ज़ गज़ेट में हिन्दुस्तानी एकेडेमी वाला प्रस्ताव छपा और २९ मार्च, १९२७ ई० को यहाँ के गवर्नर विलियम मारिस ने लखनऊ में इसका उद्घाटन किया। उस समय सरकार ने इसके सदस्यों को नियुक्त कर दिया था और फिर शिक्षा-मंत्री राय राजेश्वर बली ने इसके स्वतंत्र संस्था

हिन्दुस्तानी एकेडेमी (उत्तर प्रदेश, प्रयाग)

होने की घोषणा की। यद्यपि उसका उद्‌घाटन लखनऊ में हुआ था किन्तु इसका कार्यालय प्रारंभ से ही प्रयाग में रहा।

यह संस्था अपने जन्मकाल से ही बड़े-बड़े विद्वानों की संस्था रही। इसके सदस्य और पदाधिकारी हिन्दी प्रदेश के अथवा अपने-अपने विषय के मान्य विद्वान एवं हिन्दी के स्वनामधन्य कृती रहे हैं। उस वर्ष इसके सदस्यों में से कुछ के नाम ये हैं:—अयोध्यासिंह उपाध्याय, शिवाधार पांडे, ताराचन्द, धनपतराय (प्रेमचन्द), रामप्रसाद त्रिपाठी, बेनीप्रसाद, काशी विश्वविद्यालय के आचार्य ध्रुव, धीरेंद्र वर्मा, पं० बद्रीनाथ भट्ट, जगन्नाथ दास 'रत्नाकर,' श्रीधर पाठक, अमरनाथ झा, श्यामबिहारी मिश्र, रामनारायण मिश्र, श्यामसुन्दर दास आदि इन्हीं में से कुछ लोग कार्यकारिणी में भी थे। आजकल की कौंसिल के पदाधिकारियों में माननीय कमला कान्त वर्मा (प्रधान), खानबहादुर ए० काज़मी (मंत्री और कोषाध्यक्ष), धीरेंद्र वर्मा (सहायक मंत्री, हिन्दी विभाग) और एम० एच० फारूकी (सहायक मंत्री, उर्दू विभाग) हैं।

इस संस्था ने हिन्दी साहित्य के विकास के लिये निम्नलिखित कार्य किये :—

(अ) अपने-अपने विषय के मान्य विद्वानों को बुला कर यह संस्था महत्त्वपूर्ण विषयों पर व्याख्यान दिलवाती है और उन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित कर के स्थायी रूप दे देती है। व्याख्यानों में से कुछ ये हैं:—गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' (१९२८ ई०), गंगानाथ झा का 'कवि रहस्य' (१९२९ ई०), ताराचन्द का 'हिन्दू सभ्यता पर मुसलमानों का प्रभाव' (१९२९ ई०), भगवानदास का 'दर्शन का प्रयोजन' (१९३० ई०) पद्मसिंह शर्मा का 'हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी' (१९३२ ई०), एन० सी० मेहता का 'भारतीय चित्रकला' (१९३२ ई०), आदि।

(आ) साहित्यिक एवं वैज्ञानिक पुस्तकों के लिये इस संस्था ने समय-समय पर पुरस्कार भी दिये हैं। विभिन्न विषयों की उच्चकोटि की पुस्तकों पर ५०० रूपये का एक पुरस्कार प्रतिवर्ष दिया जाता रहा है। १०० रूपये का एक पुरस्कार विद्यार्थियों को भी दिया जाता रहा। आर्थिक संकट के कारण इन्हें बन्द कर देना पड़ा। 'रंगभूमि,' 'गंगावतरण', 'तर्कशास्त्र', 'मानव-शरीर-रहस्य,' 'स्वप्न,' 'स्कन्दगुप्त,' रामचंद्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', 'परख,' 'साकेत,' 'तुलसी के चार दल' आदि पुस्तकें तथा 'विनय पत्रिका का स्वरूप निरूपण', 'अर्जुन की उग्र साधना,' 'कर्तव्य', 'रामचरित-मानस का कथा भाग' आदि निबंध पुरस्कृत हो चुके हैं।

(इ) एकेडेमी ने प्रकाशन की भी व्यवस्था की। १९३१ ई० से 'हिन्दुस्तानी' नामक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ हुआ था। इसमें विभिन्न विषयों पर अधिकारी विद्वानों के लेख छपे। रामचन्द्र टंडन और मौ० सईद अन्सारी इसके सम्पादक रहे हैं।

एकेडेमी ने उच्चकोटि की पुस्तकों का भी प्रकाशन किया है। व्याख्यानों एवं पुरस्कृत पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें भी छपी हैं। उपयोगी साहित्य, अनुवाद और सम्पादित ग्रंथ आदि भी प्रकाशित किये हैं। हिन्दी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट, 'घाघ और भड्डरी,' 'राजस्व,' 'यूरोप की सरकारें,' 'ग्रामीय अर्थशास्त्र', 'जीव वृत्ति विज्ञान', 'सौर परिवार,' 'जन्तु जगत' आदि अनेक पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है।

(ई) एकेडेमी की एक अपनी लाइब्रेरी भी है जिसमें उच्चकोटि की लगभग ५००० हिन्दी पुस्तकें हैं। इसके अतिरिक्त एकेडेमी ने समय-समय पर साहित्यिक अधिवेशनों की भी आयोजना की है।

हिन्दी प्रचार एवं हिन्दी साहित्य को लोक य बनाने वाली दूसरी महत्त्वपूर्ण संस्था प्रयाग महिला विद्यापीठ है। इसका कार्यक्षेत्र एवं इसकी गतिविधि हिन्दी साहित्य सम्मेलन की तुलना में कम है। यह संस्था हिन्दी प्रदेश के नारी वर्ग को सुशिक्षित करती है। हिन्दी साहित्य के अध्ययन की प्रधानता रहती है। अस्तु, इसका कार्यक्षेत्र नारी वर्ग तक सीमित है और गतिविधि अध्ययन वं परीक्षण तक। अध्ययन का केन्द्र केवल प्रयाग में है। सुदूर स्थानों में इससे संबंधित विद्यापीठ नहीं खुले। प्रयत्न करने पर यह संस्था हाई स्कूल और इंटरमीडियट बोर्ड के रूप में आ सकती है। क्षेत्र नारी-वर्ग तक ही सीमित रहेगा। परीक्षाओं के केन्द्र अनेक जिलों में खुल चुके हैं और खुलते जा रहे हैं। नारी-क्षेत्र में इस संस्था का कार्य स्तुत्य है।

प्रयाग-महिला विद्यापीठ-महत्त्व

इस संस्था की परीक्षायें ये हैं:—प्रवेशिका, विद्याविनोदिनी, विदुषी (साधारण), विदुषी (आनर्स), सरस्वती, और भारती। भारती की डिगरी इस संस्था की डाक्ट्रेट है; सरस्वती की, एम० ए०। विदुषी को बी० ए०, विद्याविनोदिनी को इंटरमीडियट और प्रवेशिका को हाई स्कूल के बराबर समझ सकते हैं। इस संस्था की डिगरियों को विश्वविद्यालय और हाई स्कूल तथा इंटरमीडियट परीक्षा बोर्ड धीरे-धीरे मान्यता प्रदान कर रहे हैं। इसका दीक्षा-समारोह प्रतिवर्ष प्रायः बसन्त के दिन होता है। पहले परीक्षार्थियों की संख्या १००० के लगभग थी; अब बढ़ कर १८००० के लगभग हो गई है।

परीक्षायें

इस संस्था की नींव १९२२ ई० में पड़ी थी। उस समय प्रयाग म्युनिसिपल बोर्ड की बिल्डिंग में इसकी व्यवस्था की गई थी। १९३० ई० में यह अपने नवीन भवन में चली आई। तब से इसमें है। इसके प्रथम प्रधान पुरुषोत्तम दास टंडन थे। संगमलाल अग्रवाल इसके उपप्रधान बनाये गये थे। १९२७ ई० में प्रधान बदल गये। तब से आज तक यह पद कैलाशनाथ काटजू सुशोभित कर रहे हैं। १९२५ ई० में रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल इसके रजिस्ट्रार नियुक्त हुए। तब से आज तक

वे ही यह कार्य कर रहे हैं। १९३४ ई० में महादेवी वर्मा इसकी प्रिंसिपल नियुक्त हुईं। आज तक वे ही इस कार्यभार को संभाले हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य छोटी-मोटी संस्थायें हैं जो हिन्दी के लिये गतिवर्द्धक सिद्ध हुई हैं। इनमें से कुछ वे हैं जो अहिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों में हैं। ये कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के द्वारा निर्मित होती हैं। इन्हें संस्था न कह कर गोष्ठी कहना अधिक उपयुक्त होता, किन्तु चूंकि इनके नियम-उपनियम होते हैं, प्रधान मंत्री, कोषाध्यक्ष आदि पदाधिकारी होते हैं, अतएव इन्हें संस्था मान लिया जाता है। इन्हें परिषद् कहना अधिक युक्तिसंगत होता है। ये परिषदें यदा-कदा हिन्दी साहित्य के मान्य विद्वानों को आमंत्रित करती हैं और उनसे साहित्य के विभिन्न अंगों पर व्याख्यान दिलवाती हैं। उन व्याख्यानों को सुविधानुसार छपवा भी देती हैं। कलकत्ता के हिंदी-प्रेमियों की संस्था अर्थात् बंगीय हिंदी परिषद्, कलकत्ता, ऐसी ही संस्था है। हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं रामकुमार वर्मा आदि के व्याख्यान इसमें हो चुके हैं और पुस्तिकाओं के रूप में छप भी चुके हैं।

अन्य संस्थायें

अहिंदी भाषा भाषी प्रदेशों की परिषदें

हिन्दी प्रदेशों में भी हिन्दी प्रेमी ऐसी संस्था बना लेते हैं। ये संस्थायें समय-समय पर व्याख्यानों की आयोजनाएं, जयंतियों या वसंत आदि के अवसर पर उत्सवों की आयोजनाएं (जिनमें संगीत, नाटक व्याख्यान आदि की व्यवस्था होती है) और कभी-कभी प्रकाशन की भी आयोजनाएं कर लेती है। प्रयाग विश्व-विद्यालय के कुछ विद्यार्थियों द्वारा स्थापित 'परिमल' नामक संस्था ऐसी ही है। उसने व्याख्यान आदि के अतिरिक्त 'हरसिंगार' नामक उच्चकोटि का कहानी-संग्रह भी छपवाया है। काशी की प्रसाद परिषद् भी ऐसी ही संस्था है। ये संस्थायें भी हिन्दी साहित्य के विकास में सहायक हैं।

हिन्दी-प्रदेश की परिषदें

कुछ संस्थायें बहुत बड़े एवं महत्त्वपूर्ण उद्देश्य को लेकर बनाई जाती हैं। प्रयाग की साहित्यकार संसद नामक संस्था ऐसी ही है। यह संस्था गरीब साहित्यिकों की सहायता एवं आवश्यकता पड़ने पर उनके लिए समुचित सुविधाओं की व्यवस्था कर देने के लिये है। महादेवी वर्मा इसकी मंत्री हैं। मैथिली-शरण गुप्त इसके प्रधान हैं। इस संस्था ने उच्चकोटि के प्रकाशन का कार्य भी आरम्भ कर दिया है। 'निराला' की 'अपरा' यहीं से प्रकाशित हुई है। इस संस्था ने पुरस्कार देने की भी व्यवस्था कर ली है। इनके अतिरिक्त मथुरा का ब्रज-साहित्य-मंडल, मुज़फ्फरपुर (बिहार) की 'सुहृद संघ', आगरा की नागरी प्रचारिणी सभा आदि संस्थाएं भी महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही हैं। इन संस्थाओं की संख्या बहुत अधिक है। उदाहरण के लिए ही कुछ का परिचय दे दिया गया है। सब का नामोल्लेख निरर्थक और अरुन्तुद होगा।

साहित्यकार संसद

कुछ संस्थाओं का संबंध विद्यालयों एवं विद्यापीठों से होता है । प्रायः प्रत्येक इंटरमीडियट कालिज, डिगरी कालेज या विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभागों में हिन्दी संस्थायें बनी होती हैं । इनका कार्यक्षेत्र प्रायः विद्यार्थियों या अध्यापकों तक ही रहता है । कुछ व्याख्यानों, प्रतियोगिताओं, कवि-सम्मेलनों आदि की आयोजना करने, और मैगजीनों के हिन्दी-विभाग में लेखों, कविताओं एवं कहानियों को प्रकाशित करा देने से ही इनका ध्येय पूरा हो जाता है । किन्तु इनमें कुछ संस्थायें ऐसी भी हैं जो प्रकाशन का कार्य भी करती हैं । प्रयाग विश्वविद्यालय की हिन्दी परिषद् उन्हीं कुछ में है । इसने श्रीकृष्ण लाल और लक्ष्मी सागर वार्ष्णय के द्वारा पथक-पृथक लिखे गए आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास, माता प्रसाद गुप्त के 'तुलसीदास' और 'अर्ध कथा' ब्रजेश्वर वर्मा का 'सूरदास', उमाशंकर शुक्ल का 'कवित्त रत्नाकर' आदि उच्चकोटि के आलोचनात्मक एवं सम्पादित ग्रंथ छपवाये हैं । प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से ही संबंधित एक अन्य संस्था का नाम साहित्य-समिति है । इस समिति में एम० ए० की कक्षाओं और खोज के विद्यार्थी ही सम्मिलित हो सकते हैं । इसके अधिवेशनों में खोज से संबंधित उच्चकोटि के विचारात्मक निबंध पढ़े जाते हैं और उन पर विचार-विनिमय होता है । प्रसिद्ध साहित्यिकों के व्याख्यानों की भी आयोजना होती है । भारतीय विश्वविद्यालयों के हिन्दी अध्यापकों तथा कुछ चुने हुए हिन्दी विद्वानों की एक तीसरी संस्था है, जिसे भारतीय हिन्दी परिषद् कहते हैं । यह परिषद् हिन्दी की महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार-विनिमय करती है और उन पर अपने विचार प्रकट करती है । इसका वार्षिक अधिवेशन होता है जिसमें देश के मान्य विद्वान और नेतागण भाग लेते हैं । आचार्य नरेन्द्र देव और सम्पूर्णानन्द आदि विद्वान इनमें भाग ले चुके हैं । इसी के तत्त्वावधान में 'हिन्दी अनुशीलन' नाम की एक त्रैमासिक पत्रिका भी निकलती है जिसमें बड़े-बड़े विद्वानों के लेख छपते हैं । इस संस्था को हिन्दी के सभी विद्वानों का सहयोग प्राप्त है । हिन्दी विभाग के अन्दर खोज सम्बन्धी जो कार्य हो रहे हैं उनका उल्लेख आगे किया जायगा । इन समस्त संस्थाओं के द्वारा व्यवस्थित रूप से हिन्दी का जो कार्य हो रहा है उसका श्रेय धीरेन्द्र वर्मा को है । प्रायः स्वतन्त्र एवं सार्वजनिक संस्थायें उतना कार्य नहीं कर पातीं जितना धीरेन्द्र वर्मा के संरक्षण में हिन्दी की ये छोटी-छोटी संस्थायें कर रही हैं । हिन्दी साहित्य के विकास में इन कार्यों का बहुत बड़ा महत्त्व है ।

विद्यालयों से संबंधित संस्थायें

विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों की उच्चतम कक्षाओं में हिन्दी के अध्ययन एवं अध्यापन की व्यवस्था ने आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास में बहुत सहायता पहुँचाई । पहले विश्वविद्यालयों में हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन की कोई व्यवस्था नहीं होती थी । हिन्दी विभाग भी नहीं थे । उच्च कक्षाओं में हिन्दी के अध्ययन की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी । वह समय अब धीरे-धीरे इतिहास की वस्तु

बनता जा रहा है। १९२०-२१ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय की उच्च कक्षाओं में हिन्दी के पढ़ाने की व्यवस्था हुई। बनारस विश्वविद्यालय में श्यामसुन्दर दास की नियुक्ति

उच्च कक्षाओं में हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन

१९२१ ई० में हो गई थी और १९२२ ई० की जुलाई में एफ० ए० और बी० ए० में हिन्दी की पढ़ाई की व्यवस्था हुई। १९२४-२५ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय में भी उच्च कक्षाओं में इसका प्रबन्ध हुआ। लखनऊ विश्वविद्यालय में १९२८ ई० से बी० ए० और १९३९ ई० से एम० ए० में हिन्दी पढ़ाई जाने लगी। १९४७ ई० से पहले यहाँ हिन्दी विभाग संस्कृत-विभाग का एक भाग था। १९४७ ई० से यह एक स्वतन्त्र विभाग हो गया। लंदन, रोम, बर्लिन तक में हिन्दी का अध्ययन होने लगा है। इन सब का प्रभाव यह हुआ कि हिन्दी को अनेक ऐसे विद्वान मिले जिनके चिन्तन और अध्ययन में वैज्ञानिकता होती है, और जिन्हें हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के साहित्य का भी ज्ञान होता है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य अन्य साहित्यों से तुलना करता हुआ आगे बढ़ने लगा। कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष ललिता प्रसाद सुकुल, लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष दीनदयाल गुप्त, प्रसिद्ध विद्वान रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', रामकुमार वर्मा, और भगवती चरण वर्मा आदि प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में धीरेन्द्र वर्मा के प्रारम्भ के शिष्य रहे हैं। हिन्दी को प्रयाग विश्वविद्यालय और धीरेन्द्र वर्मा की यह देन बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष नन्द दुलारे वाजपेयी, प्रसिद्ध विद्वान पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल आदि श्यामसुन्दर दास के शिष्य थे। ये हिन्दी-विभाग डी० फिल० या पीएच० डी० और डी० लिट० उपाधियों के लिये आलोचनात्मक प्रबंध अर्थात् थीसिस भी प्रस्तुत करवाते हैं। १९२१ ई० में लंदन विश्वविद्यालय ने एफ० ई० के के प्रबंध 'कबीर और उनके अनुयायी' पर डी० लिट० की उपाधि दी थी। उसी वर्ष बाबूराम सक्सेना को प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० लिट० की उपाधि मिली। कोनिग्सवर्ग विश्वविद्यालय ने १९३४ ई० में 'सूरदास का धार्मिक काव्य' पर जनार्दन मिश्र को डी० फिल० की उपाधि दी। १९३९ ई० में पंजाब विश्वविद्यालय ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' नामक प्रबंध पर इन्द्रनाथ मदन को डी० फिल० की उपाधि दी। इस प्रकार हिन्दी विश्व विद्यालयों की उच्चतम कक्षाओं तक पहुँच गई। अब तो उस्मानिया विश्वविद्यालय भी 'उर्दू में हिन्दी शब्द' पर थीसिस लिखवा रहा है।

उच्च कक्षाओं में हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन की इस व्यवस्था ने हिन्दी साहित्य के विकास में जो सहायता पहुँचाई है उसे कुछ निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है:—

(अ) हिन्दी साहित्य को समझने और समझाने वाले सैकड़ों व्यक्ति प्रति वर्ष निकल रहे हैं। यह भ्रांति, कि हिन्दी में अध्ययन के लिये कुछ है ही नहीं, समाप्त होती जा रही है।

(आ) अंग्रेज़ी की शिक्षा-व्यवस्था के ढंग पर हिन्दी की शिक्षा की भी व्यवस्था करनी पड़ी। अतएव हिन्दी के अंगोपांगों का वैज्ञानिक वर्गीकरण हो गया।

(इ) अंग्रेज़ी की आलोचना शैली के ढंग पर हिन्दी की आलोचना-शैली का भी विकास हुआ।

(ई) सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य की वैज्ञानिक विवेचना एवं सम्यक् आलोचना हो गई और अब तक होती चली जा रही है।

(उ) पढ़ने-पढ़ाने के लिये उच्चकोटि की पुस्तकों की आवश्यकता पड़ी। परिणाम यह हुआ कि प्राचीन या मध्यकाल की पुस्तकों का वैज्ञानिक ढंग से सम्पादन किया गया; जैसे, उमाशंकर शुक्ल का 'नन्ददास' या 'कवित्त रत्नाकर, या रामचन्द्र शुक्ल का 'जायसी ग्रंथावली', या माता प्रसाद गुप्त का 'रामचरितमानस', आदि।

(ऊ) भाषा विज्ञान के अध्ययन के द्वारा हिंदी भाषा का भी वैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ हो गया।

(ए) थीसिसों के रूप में हिन्दी के विषयों का व्यापक, सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत होता जा रहा है।

खोज आदि कार्य में संलग्न अन्य संस्थायें

इन विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से भी कुछ संस्थायें खोज संबंधी कार्य करवा रही हैं, या खोज कार्य में निरत विद्यार्थियों को यथासंभव सुविधायें दिलाने का प्रयत्न कर रही हैं। इस प्रकार खोज कार्य में सहायता देकर वे हिन्दी के उच्चकोटि के अध्ययन को प्रगति देती हैं। इन संस्थाओं में विश्वभारती, शांतिनिकेतन, (बंगाल) का हिन्दी भवन उल्लेखनीय है। यह खोज-कार्य जनवरी, १९४५ ई० से प्रारम्भ हुआ था। इसके खोज-कार्य की चार धारायें हैं:—१. अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन, २. हिन्दी साहित्य के आविर्भाव काल की सांस्कृतिक परिस्थिति पर प्रकाश ३. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का अध्ययन, और ४. भक्ति युग के साहित्य में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दों के कोष का निर्माण। इसके अतिरिक्त रवीन्द्र-

१. हिन्दीभवन, शांतिनिकेतन

साहित्य के अध्ययन और अनुसंधान तथा हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में हिन्दी साहित्य की जानकारी प्रस्तुत करने के प्रयत्न भी हिन्दी भवन के सामने हैं। इसी हिन्दी-भवन में रह कर रामसिंह तोमर ने अपभ्रंश साहित्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया है। आविर्भाव काल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर भदन्त शांति भिक्षु ने 'महायान' नामक ग्रंथ प्रस्तुत किया है। इन्हीं ने 'बोधिचर्यावतार' नामक ग्रंथ का संपादन भी किया है।

प्रयाग विश्वविद्यालय का भारतीय हिन्दी परिषद् प्रधानतया धीरेन्द्र वर्मा के सम्पादकत्व में हिन्दी साहित्य के एक वृहद् इतिहास के प्रस्तुत कराने की आयोजना कर चुका है। इसके प्रत्येक अध्याय का लेखक उस विषय का प्रसिद्ध विद्वान है; जैसे,

'हिन्दी प्रदेश का कलात्मक इतिहास' के लिये वासुदेव उपाध्याय, 'नाटक साहित्य' के लिये रामकुमार वर्मा, 'कृष्ण भक्ति साहित्य' के लिये दीनदयाल गुप्त, 'संत साहित्य' के लिये रामकुमार वर्मा एवं 'नाथ साहित्य' के लिये हजारीप्रसाद द्विवेदी, आदि ।

भारतीय हिन्दी परिषद् का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य 'वैज्ञानिक शब्द कोष' (१९५० ई०) है । इसके प्रधान संपादक हैं डा० सत्य प्रकाश । इस कोष में भौतिक, रसायन, गणित, वनस्पतिशास्त्र, जीवन विज्ञान और ज्योतिष विज्ञान के ३०,००० शब्द दिये गये हैं ।

'हिन्दी अनुशीलन' इसका प्रमुख पत्र है, जो त्रैमासिक है । इसमें वे खोजपूर्ण निबंध प्रकाशित होते हैं जो या तो परिषद् के वार्षिक अधिवेशनों में पढ़े जाते हैं या इस परिषद् के तत्त्वावधान में लिखे जाते हैं

इसके अतिरिक्त अन्य संस्थायें भी हिन्दी साहित्य के विकास एवं प्रचार में लगी हैं । ब्रज-साहित्य-मंडल ब्रजभाषा साहित्य एवं ब्रज प्रदेश के लोक-गीतों के उद्धार में लगा है । कांकरोली का विद्या-विभाग एवं ऐसी ही अन्य संस्थायें, जो राजस्थान में चल रही हैं, पृथ्वीराज रासो एवं डिंगल साहित्य के अन्य अंगों पर महत्वपूर्ण कार्य करवा रही हैं । इस प्रकार की अनेक छोटी और बड़ी स्वतन्त्र एवं सार्वजनिक अथवा किसी के अन्तर्गत निर्मित अनेक संस्थाओं ने हिन्दी साहित्य के विकास में अपना-अपना योग दिया है ।

विश्वविद्यालयों की एम० ए० और डाक्ट्रेट की डिगरियों ने भी हिन्दी साहित्य के अंग को पुष्ट किया है । हिन्दी में एम० ए० करके अनेक उत्साही व्यक्तियों ने अपनी

डिगरियां

शक्ति और योग्यता के अनुसार आलोचना संबंधी पुस्तकें लिखी हैं । बनारस विश्वविद्यालय में एम० ए० में हिन्दी के किसी अंग पर एक छोटी सी थीसिस देनी पड़ती है । यह थीसिस भी पर्याप्त परिश्रम के पश्चात् लिखी जाती है । इसलिये छोटी-मोटी एक पुस्तक का स्वरूप धारण कर लेती है । थोड़े से परिवर्तन एवं परिवर्द्धन के अनंतर वह बड़ी अच्छी पुस्तक बन सकती है । रामचन्द्र श्रीवास्तव की 'हिन्दी काव्य में प्रकृति' नामक पुस्तक इनकी एम० ए० की थीसिस का ही परिवर्तित रूप है । पीएच० डी० एवं डी० फिल० और डी० लिट० की डिगरियों ने विद्यार्थियों को आकृष्ट किया । इन खोज कार्यों से निम्नलिखित लाभ हुए :—

(अ) प्राचीन एवं मध्ययुगीन साहित्य की खोज हुई और उस पर नवीन दृष्टिकोण से अध्ययन प्रस्तुत किया गया ।

(आ) आधुनिक युग के साहित्य की विशेषताएं सामने आईं । उनका विश्लेषण हुआ और भ्रमों एवं भ्रांतियों का यथासंभव निराकरण किया गया ।

(इ) कई वर्षों तक निरंतर खोज-कार्य में लगे रहने एवं थीसिस लिखने के कारण विद्यार्थी हिन्दी के सेवक एवं लेखक बन कर ही निकलते हैं ।

हिन्दी की अधिकतर थीसिसें अंग्रेज़ी में लिखी गई हैं। धीरेन्द्र वर्मा की थीसिस फ्रांसीसी में है। अब हिन्दी की थीसिसों को हिन्दी भाषा में लिखने की अनुमति मिल गई है और वे लिखी जा रही हैं। ये सभी थीसिसें हिन्दी विभाग के ही अन्तर्गत नहीं लिखी गई हैं। उदाहरण के लिये जयकांत मिश्र की थीसिस प्रयाग विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी विभाग के अंतर्गत और शीलवती मिश्र की थीसिस इसी विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के अंतर्गत लिखी गई है। अंग्रेज़ी भाषा में लिखी गई थीसिसों को हिन्दी भाषा में रूपांतरित करके छपाया जा सकता है। छपाते समय आवश्यकतानुसार परिवर्द्धन एवं कमी-बेशी की जा सकती है। विश्वविद्यालय की अनुमति मिल जाने पर ये थीसिसें कहीं से भी छपाई जा सकती हैं। इन थीसिसों पर अथवा विभिन्न विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों के द्वारा गृहीत विषयों पर एक सामान्य दृष्टि डालने से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि इसके द्वारा समस्त हिन्दी साहित्य का व्यापक, गम्भीर, सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक अध्ययन कुछ ही दिनों में सामने आ जायगा। ये विषय हिंदी साहित्य की पृष्ठभूमि, कवियों, प्रवृत्तियों, लोक-साहित्यों एवं जनपदीय भाषाओं से संबंध रखते हैं।

थीसिसें

हिन्दी की गतिवर्द्धक शक्तियों में पुरस्कारों का स्थान बहुत ही ऊँचा है। सम्पन्न व्यक्ति प्रायः किसी की स्मृति बनाये रखने के लिये या साहित्य-सृजन को प्रेरणा देने के लिये पुरस्कार देते हैं। ये पुरस्कार किसी व्यवस्थित संस्था के माध्यम से दिलाये जाते हैं। इन पुरस्कारों की अपनी-अपनी समिति होती है जो पुरस्कारों के लिये नियम-उपनियम बनाती है। यही समिति निर्णायकों का चुनाव करती है और स्वीकृत पुस्तक के लेखक को प्रमाण-पत्र और पुरस्कार देने की व्यवस्था करती है। ये पुरस्कार भिन्न-भिन्न विषयों एवं वर्गों के लेखकों को दिये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि साहित्य-विज्ञान आदि विषय नारी अथवा पुरुष वर्ग, बंगाली, उड़िया, आसामी, ब्रज आदि भाषा में, पंजाब आदि प्रदेश, वीर आदि रस, या ऐसे ही किसी आधार को लेकर इन पुरस्कारों की आयोजना की जाती है।

पुरस्कार

मंगला प्रसाद पारितोषिक, सेक्सरिया महिला पारितोषिक, रत्न कुमारी पुरस्कार, नेमिचन्द पुरस्कार, राधामोहन गोकुल पुरस्कार, नारंग पुरस्कार, मुरारका पारितोषिक, देव पुरस्कार, रत्नाकर पुरस्कार, ठाकुर छन्नू लाल पुरस्कार, श्री बटुक प्रसाद पुरस्कार, श्री बिरला पुरस्कार, श्री योधा सिंह पुरस्कार, चंद्रधर पुरस्कार एवं श्री हरजीमल डालमियाँ पुरस्कार तथा इनके अतिरिक्त अन्य छोटे-मोटे पदक एवं पुरस्कार हिन्दी के लेखकों को उत्साह एवं प्रेरणाएँ देते चले आ रहे हैं। हरजीमल डालमियाँ पुरस्कार ५००० रुपये का है। यह सब से बड़ा पुरस्कार है; मंगला प्रसाद पारितोषिक और देव पुरस्कार की मान्यता बहुत अधिक है।

सिरीज़ या पुस्तकमालायें

सिरीज़ों, पुस्तकमालाओं एवं ग्रंथावलियों की व्यवस्थायें भी हिन्दी के लेखकों को बहुत उत्साह देती हैं। ये प्रायः दान के धन से चलाई जाती हैं। शुद्ध व्यवसाय की दृष्टि से भी इनकी आयोजना होती है। इनमें से कुछ के विवरण देखिये :—

सूर्यकुमारी पुस्तकमाला

यह स्वर्गीय श्रीमती सूर्यकुमारी की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिये आयोजित की गई है। ये जयपूर राज्य के अंतर्गत शेखावाटी प्रान्त के खेतड़ी राज्य के श्री अजीत सिंह की पुत्री और शाहपुरा के युवराज श्री उमेद सिंह की पत्नी थीं। विवेकानन्द साहित्य के प्रकाशन और हिन्दी में प्रकाशन के लिये एक अक्षयनिधि की व्यवस्था उनके जीवन की दो बड़ी इच्छाएं थीं। इनकी मृत्यु के पश्चात् नागरी प्रचारिणी सभा को २०,००० रुपये मिले कि उनकी इच्छा-पूर्ति हो सके। सूर्यकुमारी पुस्तकमाला इसी का परिणाम है। रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पुस्तक इसी के अंतर्गत छपी है।

देव पुरस्कार ग्रंथावली

इस का आयोजन हिन्दी साहित्य-सम्मेलन ने १००० रूपये से किया है। १९३७ ई० में कोई भी पुस्तक देव पुरस्कार के योग्य न ठहरी। तब ओरछा नरेश ने १००० रूपये हिन्दी साहित्य सम्मेलन को उक्त पुस्तकमाला निकालने के लिये दिये। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने 'आधुनिक कवि माला' निकालने की व्यवस्था की। इसमें आधुनिक काल के उच्चकोटि के कवियों की पुस्तकें निकालने का निश्चय हुआ। इन पुस्तकों में कवि की हस्तलिपि का नमूना, उसका पेंसिल स्केच, कवि का अपनी कविताओं के विषय में अपना दृष्टिकोण, एवं स्वयं कवि के ही द्वारा चुनी हुई कवितायें रहती हैं। अब तक इसमें महादेवी वर्मा, सुमित्रानन्दन पंत, रामकुमार वर्मा, गोपाल शरण सिंह एवं अयोध्यासिंह उपाध्याय की कृतियां छप चुकी हैं।

देव सुकवि सुधा ग्रंथमाला

इसकी व्यवस्था प्रथम देव पुरस्कार विजेता दुलारेलाल भार्गव की उदारता से हो सकी। उन्होंने अपना पुरस्कार इसी कार्य के लिये दे दिया। महाकवि देव की चुनी हुई रचनाओं की एक पुस्तक 'देव सुधा' एवं बिहारी की कविताओं का एक संकलन 'बिहारी सुधा' इसी ग्रंथमाला में है।

इसी प्रकार वियोगी हरि के मंगला प्रसाद पुरस्कार के धन से हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने बाल साहित्यमाला का प्रकाशन प्रारम्भ किया था। इंडियन प्रेस की सरस्वती सिरीज़ और मनोहर कहानियाँ सिरीज़ में भी पुस्तकें छपी हैं। हाँ, ये बहुत उच्चकोटि की नहीं सिद्ध हुईं। इसी प्रकार अन्य बहुत सी छोटी-मोटी सिरीज़ें या पुस्तकमालाएँ हैं जिनके द्वारा हिन्दी साहित्य आगे बढ़ रहा है।

अन्य साहित्यों का अध्ययन

आधुनिक हिन्दी साहित्य की गतिवर्द्धक शक्तियों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान हिन्दी के अतिरिक्त अन्य साहित्यों के अध्ययन का भी है। उच्च कक्षाओं के विद्यार्थी हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेज़ी का भी अध्ययन करते थे। यह एक प्रकार से अनिवार्य था क्योंकि बिना अंग्रेज़ी पढ़े लोगों की आजीविका का ठिकाना तो नहीं ही लगता था, लोग सभ्य और सुसंस्कृत भी नहीं समझे जाते थे। हिन्दी साहित्य का प्रणयन एवं अध्ययन तो गौण। और अंग्रेज़ी भाषा ऐसी है जिसमें संसार के प्रायः सभी साहित्यों की मूल्यवान सम्पत्तियां किसी न किसी रूप में अवश्य पाई जाती हैं। इस प्रकार अंग्रेज़ी के माध्यम से लोग फ्रांस, रूस, इटली, स्पेन, अमेरिका आदि देशों के साहित्यों से तो परिचित हो ही गए, अरबी-फारसी, और संस्कृत के साहित्यों का ज्ञान भी उसी माध्यम से होने लगा। अन्य साहित्यों के इस अध्ययन ने तुलनात्मक दृष्टि दी। हम अपने साहित्य का मूल्यांकन इस नवीन एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से करने लगे। आलोचनात्मक साहित्य के अतिरिक्त हमारे सृजनात्मक साहित्य को भी इस प्रकार अध्ययन से प्रेरणा मिली है। फिट्ज़ेराल्ड द्वारा अंग्रेज़ी में अनुवादित उमर खैयाम की रुबाइयों ने 'बच्चन' को मधु-साहित्य या हालावाद की प्रेरणा दी। मैटरलिंक, बर्नार्ड शा आदि के अध्ययन ने नाट्य-साहित्य को नवीन दृष्टिकोण दिया। एमिल ज़ोला, ड्यूमा, डिकेंस, गोर्की, चेखव आदि ने कथा साहित्य को गति दी। संस्कृत साहित्य के अध्ययन और उसके प्रभाव से हिन्दी साहित्य का अधिकांश भाग विनिर्मित है। शब्द-भंडार, काव्य के रूप, कथानक आदि पर इसका अमित प्रभाव है। उपयोगी साहित्य का तो निर्माण ही अंग्रेज़ी के उपयोगी साहित्य के आधार पर हो रहा है।

अपनी संस्कृति और साहित्य के प्रति आदर

सांस्कृतिक पुनरुद्धार की भावना ने भी हिन्दी साहित्य के विकास में बहुत महत्त्वपूर्ण योग दिया है। अंग्रेज़ी साहित्य एवं अंग्रेज़ी संस्कृति की तुलना में हिन्दी और उर्दू संस्कृति की हीनता की जो भावना राजनीतिक दासता के कारण भारतीयों में पैदा हो गई थी, वह धीरे-धीरे समाप्त हो गई। पश्चिम से आने वाली राष्ट्रीयता की भावना से हमें प्रेरणा मिली। हमारे अन्दर अपने देश, भाषा और जाति के प्रति पूज्य भावना पैदा हुई। हिन्दी मातृभाषा हुई और उसमें लिखना पवित्र कर्त्तव्य हुआ। इसी कारण प्राचीन हिन्दू धर्म, संस्कृति तथा संस्कृत साहित्य के प्रति हमने उत्सुकता दिखाई। उसका अध्ययन किया। फिर कृष्ण, राधा, राम, सीता, अर्जुन, दुर्योधन, रावण, कंस, गोपी, रहस्यवाद आदि के अतिरिक्त चंद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त और राजपूतों की गौरवपूर्ण कहानियाँ आदि साहित्य के विषय हो चले। प्राचीन सिद्धांतों एवं घटनाओं की नवीन दृष्टिकोण से व्याख्या भी प्रारम्भ हुई। उनकी नवीन अवतारणा हुई। सूर, तुलसी, कबीर, जायसी आदि का नए सिरे से और पूज्य भावना के साथ अध्ययन किया गया। पाश्चात्य विद्वानों ने उनकी जो प्रशंसा की थी, उससे हमारी आंखें भी

खुलीं। मानस के चरित्रों की तुलना पाश्चात्य साहित्य के उच्चकोटि के चरित्रों से की जाने लगी। अस्तु, अपनी संस्कृति के प्रति आदर के दृष्टिकोण से भी हमारा आधुनिक साहित्य बना।

अपनी संस्कृति के प्रति हमारा जो यह दृष्टिकोण बना उसका प्रधान कारण देश की राजनीतिक चेतना थी। अपने राष्ट्र के लिये आदर या प्रेम की भावना और उसकी स्वतंत्रता के लिये बड़े से बड़ा त्याग करने की तत्परता सारे देश में फैल गई थी। उसके दो स्वरूप थे:—(१) अहिंसात्मक, और (२) हिंसात्मक या क्रांतिकारी। दोनों प्रकार के आन्दोलनों में बहुत से लोगों के प्राण गये और बहुत से अनेक प्रकार के कष्ट सहते रहे। इसमें भाग लेने वाले सभी आयु, सभी जाति, एवं सभी वर्ग के थे। राष्ट्रीयता की इस भावना से हमारा राष्ट्रीय साहित्य लिखा गया। इस राष्ट्रीय साहित्य के भी दो भाग किये जा सकते हैं। पहले भाग में वे रचनायें आती हैं जो राष्ट्र के प्रति त्याग-उत्साह बढ़ाने वाली, तथा भारत माता के प्रति आदर, और जागरण आदि की भावनाओं से परिपूर्ण हैं। दूसरे प्रकार की रचनायें वे हैं जिनका आधार अंग्रेजों के अत्याचार, जेल के कष्टों के वर्णन, फाँसी आदि की रोमांचक कथायें हैं। मनोविज्ञान एवं मानसिक द्वन्द्व को भी साथ-साथ लेकर इस भावना ने हिन्दी में बड़ी अच्छी-अच्छी कृतियों को जन्म दिया है। राजनीतिक आन्दोलनों के विस्तार एवं माहात्म्य के साथ-साथ भी हिन्दी साहित्य आगे बढ़ा है। उसकी नवीनतम प्रवृत्ति अर्थात् समाजवादी या साम्यवादी विचारधारा भी एक नवीन राजनीतिक चेतना के साथ-साथ ही फैली है। इसने प्रगतिवादी या यथार्थवादी साहित्य को प्रेरणा दी है। १९४२ ई० के आन्दोलन का प्रभाव उसके कई वर्षों के बाद, जब खुल कर कहने-सुनने को आजादी मिली, तब स्पष्ट हुआ। पुष्पा भारतीय का 'इन्किलाब' नामक कहानी संग्रह, एवं दमन के ऊपर कई पुस्तकें निकलीं, जिनमें से कुछ ऐतिहासिक विवरण के रूप में हैं। सुभाष बोस की आजाद हिंद सेना ने भारत में आकर जो वातावरण बना दिया था उसके कारण हिन्दी में सैकड़ों कवितायें आदि लिखी गईं। अस्तु, राजनीतिक आन्दोलन आधुनिक हिन्दी साहित्य को विकास के पथ पर चलानेवाले हुए।

राजनीतिक आन्दोलन

१९३८ ई० से लेकर १९४५ ई० तक का महायुद्ध विश्व की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उसने विश्व और विश्व-साहित्य में बड़ी उथल-पुथल मचाई। भारत का और विशेष कर हिन्दी का साहित्य भी उससे अछूता न बच सका। इस युद्ध का भारत के ऊपर सीधा प्रभाव कम पड़ा। यहाँ लड़ाइयाँ हुईं नहीं। अतएव यहाँ वाले युद्ध के प्रत्यक्ष भीषण स्वरूप से अपरिचित रहे। जो लोग लड़ने गये उनमें लिखने की शक्ति नहीं थी और सुनी-सुनाई गाथाओं से सप्राण साहित्य की रचना हो नहीं सकती। हम पर और हमारे साहित्य पर युद्ध का प्रभाव परोक्ष रूप से पड़ा है। राष्ट्रीय आन्दोलन, चोरबाजारी और महँगाई

युद्ध

आदि ने जन-जीवन को आहत कर दिया। बाद में चल कर ये ही हमारे साहित्य के प्रधान विषय हो गये। परमाणु बम आदि वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानव के मन पर बड़ा प्रभाव डाला। इसका एक चित्र इलाचंद जोशी के उपन्यास 'निर्वासित' में मिलता है। उन्होंने हमारे दृष्टिकोण को परिवर्तित कर दिया। १९३२ ई० के बाद से हिन्दी में चलने वाली छायावादी भावुकता को समाप्त कर दिया। अशरीरी रोमांसवाद एवं कृत्रिम रहस्यवाद के स्थान पर ठोस यथार्थवाद की अभिव्यक्ति प्रारम्भ हुई। मांसल व्यक्तिवाद चला। दृष्टिकोण बौद्धिक हो गया। छायावाद के प्रसिद्ध कवि पंत भी बदल चले। इलाचंद जोशी ने साप्ताहिक 'संगम' की अपनी एक लेखमाला में सिद्ध किया है कि उनकी नवीन काव्यकृतियों में अन्तर्मन की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का भी आधार लिया गया है। नारी संबंधी दृष्टिकोण भी बदला। वह अब पराश्रिता छुई-मुई न रह कर अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व की घोषणा करती हुई सामने आने लगी। युद्ध के समय में उसने जो कुछ दिया, उससे उसके अन्दर आत्मविश्वास की भावना पैदा हुई। प्रगतिवाद का विकृत एवं अस्वस्थ यौन दृष्टिकोण भी समाप्तप्राय हो गया। यशपाल की 'दिव्या' और चंद्रकिरण सौनरिक्सा की कौशिल्या जैसी नारियां साहित्य-कृतियों में अवतरित हुईं। युद्ध-प्रेरित साहित्य युद्धजन्य कठिनाइयों एवं बौद्धिक दृष्टिकोण को लेकर चला है। युद्ध काल में ही पाश्चात्य साहित्य के नये रूप रिपोटार्ज का हिन्दी में प्रवेश हुआ। रांगेय राघव, शिवदान सिंह चौहान और अमृतराय आदि को इसमें विशेष सफलता मिली।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के इस युग के अंतिम भाग को अकाल से भी प्रेरणा मिली। यह अकाल ब्रिटिश सरकार और लीगी मंत्रिमंडल के माथे का अमिट कलंक है।

बंगाल का अकाल

नीति, उत्तरदायित्वहीनता, पाशविक स्वार्थ आदि के कारण बंगाल की पन्द्रह लाख जनता भूख से मर गई। मनुष्य की दयनीयता एवं दानवीयता दोनों का अबाध नृत्य देखने को मिला। इसकी वास्तविक यथार्थता ही कल्पना से परे की चीज थी। वहां जो-जो हो गया, उसे हम सोच भी नहीं सकते। महादेवी वर्मा की 'बंग-भू शत वंदना ले' नामक कविता इसी अकाल पर लिखी गई है। महादेवी वर्मा के द्वारा संपादित 'बंग-दर्शन' में हिन्दी के उच्चकोटि के कवियों की ऐसी ही रचनायें हैं। इसकी आय अकाल पीड़ितों को भेजी गई थी। 'सुमन', 'मुकुल', चिरंजीत और चंद्रकिरण सौनरिक्सा की कृतियाँ बड़ी ही अच्छी हैं। 'शस्य श्यामला भूख उगाती' एक सुन्दर रचना है। 'बंगाल का काल' प्रसिद्ध हालावादी कवि 'बच्चन' की कविता-पुस्तक है।

अवरोधक शक्तियाँ

जहाँ उपर्युक्त शक्तियों के कारण हिन्दी साहित्य आगे बढ़ा है, वहाँ कुछ शक्तियाँ ऐसी भी थीं जिनके कारण विकास की गति वैसी न हो सकी, जैसी इनके अभाव में होती।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की गति में अवरोध उपस्थित करने वाली बातों में एक प्रमुख बात है आज के जीवन की विषमता। हिन्दी के साहित्यिकों की समस्याओं का अंत नहीं है। यह ठीक है कि द्वन्द्वों और संघर्षों के बीच साहित्य निखरता है, किन्तु उसकी भी एक सीमा होती है। हिन्दी वालों के कष्टों की कोई सीमा नहीं। सबसे अधिक उल्लेखनीय बात है रुपये-पैसे की कमी। जब प्रेमचन्द जैसा साहित्यिक अपने अंतिम दिनों तक भी इन मुसीबतों से छुटकारा न पा सका, तब छोटे-मोटे साहित्यिकों की बात क्या की जाय ! तुलसीदास जैसे त्यागी और 'निराला' जैसे बलिदानी सभी नहीं हो सकते। सब कुछ स्वाहा करके साहित्य की सेवा करना सब के बस की बात नहीं। भूख से मर जाना या फटे-नंगे घूमना अंतिम सीमा है। उसके पहले की दशायें भी मस्तिष्क ेर देती हैं। लेखक अपने बीबी-बच्चों की दुबली-पतली देह, मुरझाये हुए पीले चेहरे और फटे-पुराने वस्त्र देखता है; और देखता है उसकी अपनी ही रचनाओं के बल पर मौज उड़ाने वाले प्रकाशक को। दिल बैठ जाता है। लिखना कम हो जाता है। उतनी उच्चकोटि का नहीं रह जाता, जैसा होना चाहिये। कभी-कभी बिल्कुल बंद भी हो जाता है। इस विषमता का एक दूसरा प्रभाव भी पड़ता है। हर एक की शक्ति की सीमा होती है। बुभुक्षित मस्तिष्क विकास तो क्या करेगा, पोषक तत्त्वों के अभाव में क्षीण भी होने लगता है। चिन्तायें रहीं, तो साहित्य संबंधी अन्य बातों का या अन्य साहित्यों का अध्ययन भी समाप्त हो जाता है। यही कारण है कि इधर हमारी साहित्यिक आयु बहुत कम हो चली है। साधना, निष्ठा, एवं संयम अधूरा रह जाता है। योरप का साहित्यिक दूर-दूर के प्रदेश देखता है, जीवन के नये-नये पहलुओं को देखता है, विभिन्न मस्तिष्क वालों के संपर्क में आता है, और इसका परिणाम यह होता है कि उसके साहित्य में नवीनता रहती है। हिन्दी के साहित्यिक का जीवन केवल एक छोटे से घेरे तक रहता है और वह प्रायः 'मातृभू', 'देश', 'अनन्त', 'जीवन', 'आकाश', 'हृदय', एवं 'तुम' आदि के इर्द-गिर्द ही चक्कर काटता रह जाता है। उसमें विविधता तथा तज्जन्य नवीनता नहीं। गंभीरता, बौद्धिक सूक्ष्मता, दीर्घप्राणता एवं बड़ी साहित्यिक आयु नहीं।

जीवन की विषमताएँ

जीवन की यही विषमता उसको प्रायः ऊपर नहीं उठने देती। इन बाधाओं को पार करके यदि वह 'कुछ' हो गया, तो गलत ढंग का अहं पैदा हो जाता है। फिर वह अपने विचारों को इतनी मान्यता देने लगता है कि अपनी रुचि-भावना के अतिरिक्त किसी और को मानता ही नहीं। अचेतन मन की प्रतिक्रिया यह होती है कि पहले-पहल उसे जैसी कुछ कठिनाइयां उठानी पड़ी थीं, उसी से मिलती-जुलती वह औरों के लिये पैदा कर देता है। ऐसी मनोवृत्ति के लोग जब सम्पादक हो जाते हैं तब जो कुछ होता है, उसका न कहना ही अच्छा है। अपनों का अनुचित ख्याल दूसरों का

सीमित दृष्टिकोण एवं संकुचित स्वार्थ

उचित अधिकार भी समाप्त कर देता है। सीमित दृष्टिकोण एवं संकुचित स्वार्थ की भावना जब संस्थाओं में पहुँच जाती है, तब अनेक पार्टियां बनती हैं। संस्था का प्रधान उद्देश्य रक्खा रह जाता है। जो संस्थाएं संसार में भाषा और साहित्य की सेवा का अपूर्व आदर्श उपस्थित कर सकती हैं, वे कुछ प्रस्तावों, प्रकाशनों, अधिवेशनों, पुस्तक-संग्रहों, परीक्षाओं एवं पुरस्कारों आदि तक ही रह जाती हैं। यह प्रवृत्ति पुरस्कारों एवं सहायताओं का वास्तविक उद्देश्य भी नष्ट कर देती है। समस्त क्रियाशीलता एक छोटे से घेरे में रह जाती है। और, कदाचित यही कारण है कि इस आधुनिक साहित्य का क्षेत्र कुछ शहरों से आगे बढ़कर देहातों आदि तक भी नहीं विस्तृत नहीं हो पाता।

इस प्रकार जनता की मनोवृत्ति दूसरी हो रही है और साहित्यिकों की कुछ दूसरी। उदाहरण के लिये बड़े-बड़े कुछ शहरों के हिन्दी जानने वाले वर्ग की बात

जनता और साहित्यिक

छोड़ दीजिये तो हिन्दी प्रेमी सामान्य जनता आज भी ब्रजभाषा के कवित्तों एवं सवैयों के स्तर से ऊपर नहीं उठ पाई है। खड़ी बोली के गीतों को वह कविता समझ ही नहीं पाती। उर्दू के गजल जितनी जल्दी जबान पर चढ़ जाते हैं, प्रसाद, पंत, एवं निराला के गीत उतनी नहीं। सामूहिक जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों, जनता के विभिन्न वर्गों के व्यक्तिगत जीवन के अनेक मोड़ों एवं अवसरों के लिये आधुनिक हिन्दी साहित्य के पास कुछ नहीं है। मन, प्राण, आत्मा से होता हुआ हिन्दी साहित्य परमात्मा तक तो बढ़ता है, किन्तु जीवन की सामान्य हंसी-खुशी, पीड़ा-आंसू, चोट-कसक, भूख-प्यास, आशाओं-अभिलाषाओं आदि तक नहीं उतर पाता। सामान्य जनता यह भी चाहती है। हिन्दी उन्हें नहीं दे पाती। सामान्य जनता हिन्दी की भाषा-शैली नहीं समझ पाती। वह सुनती है और चुप हो जाती है। साहित्यिक इसे अपनी सफलता समझता है। वह अपनी भाषा को जनता की भाषा से अच्छी समझता है। उच्चता का गर्व लेकर वह सुधारक बन कर जनता के सम्मुख आता है। जनता उसे कुछ भी नहीं समझती; और वह प्रयोग पर प्रयोग करता हुआ चला जाता है। वे प्रयोग पुस्तकालयों में बंद हो जाते हैं। परीक्षा के पुस्तकों की बात दूसरी है। ध्यान रहे कि यह बात भाषा-शैली की दृष्टि से कही जा रही है। यह भी हिन्दी साहित्य के बढ़ने में बाधक हुई।

भाषा-शैली की दृष्टि से साहित्यिक जनता के पास जहां इस भावना से आता है, चित्रण की दृष्टि से वहां कुछ लोग बहुत ही हल्का दृष्टिकोण लेकर सामने आते

जनता की कमजोरी और साहित्य

हैं। स्वार्थी प्रकाशकों एवं पत्रिकाओं का साथ मिल जाता है। बस, जनता की कमजोरी से फायदा उठाया जाता है। बैंक में रूपये जमा होते जाते हैं। सामान्य जनता की भावना बड़ी जल्दी उभरती है। ज्यों-ज्यों उसकी खूराक मिलती है, त्यों-त्यों वह और भड़कती है, और ज्यों-ज्यों वह भड़कती है, त्यों-त्यों और उसे खूराक चाहिये। इस भावना के विशेषतः दो क्षेत्र हैं:—१. यौन वासना (हंसी-मजाक, हल्का रोमांस

आदि), और २. कौतूहल। साहित्यिक इन्हीं दोनों का बेजा फायदा उठाते हैं। तो, एक ओर 'सजनी', 'साजन', 'माया', और 'मनोहर कहानियां' को इस तरह की कहानियां हैं और दूसरी ओर अंग्रेज़ी की जासूसी कथाओं की चोरी या अनुवाद। कला के क्षेत्र में इसकी तुलना भारतीय चित्रपट के चित्रों से की जा सकती है। भारत के कला और साहित्य के क्षेत्र में ऐसी प्रवृत्ति वालों को आगे आने वाली पीढ़ी क्या कहेगी, इसे ये लोग नहीं सोचते। 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्'। इस हल्के साहित्य ने गम्भीर साहित्य के सृजन में बड़ी बाधा पैदा कर दी। अच्छे साहित्यिक भी रूपयों के लिये हल्की चीज़ें लिखने को बाध्य हो जाते हैं।

सिनेमा

इधर सिनेमा ने भी हमारे साहित्य के विकास में गतिरोध उपस्थित किया है। सिनेमा वाले गीत-लेखकों, संवाद-लेखकों एवं कहानी-लेखकों को खूब रूपये मिलते हैं। नाम अथवा धन के लोभ से साहित्यिक उधर खिंच जाता है। किन्तु, वहां वह कला के लिये बहुत अवसर नहीं पाता। साथ ही डाइरेक्टर महोदय हिन्दी के प्रति काफी उपेक्षा भी दिखलाते हैं। अतएव, हिन्दी वाला या तो सिनेमा के क्षेत्र को छोड़ कर चला आता है या अपने हिन्दी-प्रेम को समाप्त कर देता है। अधिकाधिक आर्थिक लाभ के ही उद्देश्य को लेकर चलने वाला साहित्यिकता पर अधिक ध्यान दे भी नहीं सकता। दृष्टिकोण की कलात्मकता समाप्त हो जाती है। प्रेमचंद साहित्य के लिये बड़े से भी बड़ा त्याग कर सकते थे। वे गये और चले आये। सभी ऐसा नहीं कर सकते।

भ्रांत दृष्टिकोण

प्रगतिवाद के गलत अर्थ ने भी गम्भीर साहित्य की रचना की गति को कुछ रोका। साहित्य में जन-भावना एवं साहित्य में स्पष्टता एवं सरलता का अर्थ लोगों ने सस्ता एवं हल्का साहित्य समझ लिया। 'कला कला के लिये' वाले सिद्धांत ने विषयों पर से प्रतिबंध हटा दिया। व्यक्तिवाद की भावना ने आज समाज की उपयोगिता का दृष्टिकोण समाप्त कर दिया। बस, कुछ कवितायें ऐसी लिखी गईं जिनमें अनुभूति कम और सिद्धांतवाद अधिक है। सुन्दर भाषा और शैली में ये सिद्धांतों की पद्य-बद्ध अभिव्यक्ति लगती हैं। कुछ छोटे व्याख्यान की तरह लगती हैं। 'यथार्थवादी रोमांस' की कहानियां समाज के अन्दर के गुंडापने को या गृहस्थी की चहारदीवारी के भीतर के व्यभिचार को दिखाती हैं। प्रगतिवाद का ऐसा अर्थ निकाला गया कि ऐसी रचनाओं में बलात्कार, गुंडाशाही, चारित्रिक पतन का अभिधात्मक वर्णन अनिवार्य सा हो गया। जन-भावना की सहानुभूति बहुत हल्के स्तर पर रह गई। घृणा, द्वेष या राजनीति की समस्याओं को लेकर लिखा जाने वाला साहित्य हल्का एवं अस्थायी हो ही जाता है। हिन्दी के साहित्यिक उसके अपवाद नहीं।

युद्ध ने हमारे साहित्य को जहां एक ओर प्रेरणा दी है, वहां दूसरी ओर कुछ समय तक हमारी गति रोक भी दी थी। गंभीर साहित्य का सृजन रुक गया। उसके

स्थान पर प्रचारात्मक साहित्य की भरमार हो गई। ट्रैक्टों एवं पैंफलेटों से बाजार ठस हो गया। 'युद्ध समाचार' आदि पत्रों का एक मात्र ध्येय युद्ध-समाचार देना ही हो गया। इन पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांक भी निकलते थे। कवितायें, कहानियां और लेख आदि सब उसी से संबंधित रहते थे। इन सब का महत्त्व महायुद्ध काल तक ही था। आज वे सब असामयिक हो गई हैं। पैंफलेट या युद्ध-संबंधी पत्र-पत्रिकायें बड़े ही आकर्षक ढंग से छापी जाती थीं। अनेक चित्रों से सुसज्जित वर्णनों एवं संदेशों से भरी रहती थीं। बड़े-बड़े कवियों, कहानीकारों आदि ने भी इस ओर अपनी-अपनी लेखनी उठाई थी। सोहनलाल द्विवेदी, देव पुरस्कार विजेता हरदयालु सिंह, दया शंकर दूबे, जगमोहन मिश्र, श्रीमती शांति भटनागर, व्यथित हृदय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। 'अफ्रीका की विजय' नामक पैंफलेट में अफ्रीका की लड़ाई की सूचनायें एवं तत्संबंधी विवरण हैं। 'युद्ध-समाचार' के १९३४ ई० के वर्षांक में 'क्या जापान की वायुशक्ति स्थिर रह सकेगी', 'महान उद्योगी अमेरिका', 'वर्तमान महासागर के विक्टोरिया क्रास विजेता भारतीय वीर' आदि लेख हैं। 'विजय-निनाद' नामक कविता पैंफलेट से देव पुरस्कार विजेता हर दयालु सिंह की एक कविता देखिए:—

युद्ध

बांकुरे वीर विलाइत के
अरु लाल कमीच के धारनवारे।
मैनिक ऐसन होवर के
जम के गनहूं जिन सों लरि हारे।
भारती जोधन के वल सों
महाकाल को जे रन में ललकारे।
युद्ध में केहरि लौं समुहाय कै
नाजी गयंदनि के सिर फारे।

इस प्रकार युद्ध ने काफी हल्के स्तर के साहित्य की रचना को प्रेरणा और उत्साह दिया। यह अनिवार्य था भी।

इन सब के अतिरिक्त एक अन्य तत्त्व ने भी आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास को धीमा कर रक्खा है। नवीनता और प्राचीनता, पूर्वी और पश्चिमी, भावात्मकता और बौद्धिकता, अध्यात्मवाद और भौतिकवाद, कृषि एवं हस्त-कला-युग और मशीनयुग के इस संघर्ष के आधुनिक युग में भारतीय संस्कृति का व्यावहारिक रूप अनिश्चित सा हो गया है। विचारक का झुकाव कभी एक ओर हो जाता है और कभी दूसरी ओर। कोई कुछ कहता है; कोई कुछ। इस संघर्ष में जीवन का हमारा आदर्श एवं लक्ष्य कहीं खो गया। दफ्तर में हम दूसरे ढंग से पहनते-रहते-बोलते हैं और घर में दूसरे ढंग से। राजनीतिक स्वाधीनता हिन्दी प्रदेश में अब नये युग के आगमन की सूचना दे रही है।

संस्कृति का संक्रान्ति काल

उस युग की रूपरेखा हमीं लोग बनायेंगे। प्रेरणा के लिये इस युग की सामान्य प्रवृत्तियां हैं ही। अतएव आधुनिक युग हिन्दी जनता एवं हिन्दी साहित्य के जीवन का संक्रान्ति काल है। अभीष्ट की खोज है। उसके लिये नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। अभी कुछ निश्चित कह सकना कठिन है।

———

गद्य

पृष्ठभूमि

श्रीकृष्ण लाल ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' में लिखा है:—"बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हिन्दी गद्य का इतिहास उसके अव्यवस्थित होने और पुन: व्यवस्थित और विकसित होने का इतिहास है।" वे लिखते हैं कि प्रचार के द्वारा लोगों का ध्यान हिन्दी की ओर आकृष्ट किया गया। आत्मत्याग समझ कर लोग हिन्दी में लिखते थे और मातृ-भाषा समझ कर उसे सीखने की आवश्यकता बिल्कुल ही नहीं समझते थे। अतएव भाषा में अराजकता आ गई। भाषा और भाव पर संस्कृत, बंगला, मराठी, उर्दू और अंग्रेज़ी के भाषा और भाव की प्रत्यक्ष छाया पड़ने लगी। लेखक व्याकरण की अशुद्धियां प्राय: किया करते थे। हिन्दी का शब्द-भंडार इतना अपर्याप्त था कि उसमें सभी भावों की व्यंजना नहीं हो सकती थी। हिन्दी-उर्दू-संघर्ष भी उस युग की एक गंभीर और जटिल समस्या थी। इस संघर्ष ने हिन्दी गद्य की एकरूपता को नष्ट कर दिया था। पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी के अथक प्रयत्नों ने गद्य को भाषा को स्थिरता प्रदान की और गद्य साहित्य की एक नई परम्परा चलाई जो आधुनिक काल में निरंतर विकसित होती जा रही है। उस युग में हिन्दी की जातीय शैली में "अंग्रेज़ी साहित्य की स्पष्ट भाव-व्यंजकता, बंगला की सरलता और मधुरता, मराठी की गंभीरता, उर्दू गद्य का प्रवाह और संस्कृत का वर्णन नैपुण्य मिलता है"। व्यक्तिगत शैली का उत्थान दो रूपों में हुआ। प्रथम उत्थान में शैली के निम्नलिखित स्वरूप थे :—

१९०० ई० से १९२५ ई० तक का इतिहास

स्वरूप	उदाहरण
(अ) कहानी कहने की-सी कला	महावीर प्रसाद द्विवेदी के गद्य में
(आ) आचार्यों की गुरु-गंभीरता	रामचन्द्र शुक्ल " "
(इ) भाषण-कला	श्यामसुन्दर दास " "
(ई) संभाषण-कला की मनोमुग्धकारी विशेषताएं	चन्द्रधर शर्मा गुलेरी " "
(उ) वक्तृत्व कला	पूर्ण सिंह " " गणेश शंकर विद्यार्थी " "
(ऊ) अलंकृत शैली	शिव पूजन सहाय " " चंडी प्रसाद 'हृदयेश' " "

हिन्दी गद्य के द्वितीय उत्थान काल के अंदर गद्य में कला की विजय स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती है। गद्य-लेखक कलाकारों की भांति चित्र-चित्रण तथा नाद-संगीत अथवा लय के द्वारा कलात्मक गद्य की सृष्टि करते हैं।

वर्णनात्मक गद्य

१. प्रेमचन्द वर्णनात्मक शैली के प्रमुख लेखक हैं। वे मनोवैज्ञानिक भावों के अत्यन्त सूक्ष्म और स्पष्ट चित्रण करते हैं।

२. 'प्रसाद' की उपमाएं, रूपक, और भाषा की व्यंजनाशक्ति आदि उनके चित्रण को सुन्दर और सुस्पष्ट बना देती है।

३. चतुरसेन शास्त्री कलात्मक गद्य में संवाद शैली के सर्वोत्तम लेखक हैं।

४. 'उग्र' की शैली में वर्णनात्मक और अलंकृत शैली का सम्मिश्रण मिलता है।

अध्यांतरिक गद्य

इस प्रकार के गद्य के सौंदर्य और प्रभाव का आधार लेखक की अन्तर्निहित सत्य और सुन्दर भावनाएं तथा उसकी भावुकता है। इन कलाकारों के द्वारा गद्य में गीति काव्य की सृष्टि होती है। ये एक प्रकार के गद्य गीत होते हैं। लय और संगीत इनकी विशेषताएं हैं। इस गद्य में गद्य-कलाकारों के स्वप्न, ध्यानावस्था के विचार और भाव, तथा उनके स्वगत भाषण ही अधिकांश मिलते हैं। स्वगत भाषण की नाटकीय शैली का सौंदर्य इन रचनाओं में हैं। गद्य में काव्य, नाटक और कला का यह संयोग अपूर्व है और गद्य साहित्य के चरम विकास का द्योतक है।

आज का गद्य

उपर्युक्त वर्णन श्री कृष्ण लाल के लगभग ४२ पृष्ठों की व्याख्या का संक्षिप्त उद्धरण है। यदि ध्यानपूर्वक और सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो १९२६ ई० से १९४७ ई० के अन्दर लिखे गए गद्य के भी स्वरूप और परिस्थिति की लगभग यही अवस्था रही हैं। ऊपर का खुरदरापन मिट-सा गया है। भीतरी कमजोरियां वैसी की वैसी ही हैं। लेखक प्रयत्नशील हैं। खामियां हटती-मिटती जा रही हैं। कमियां पूरी होती जा रही हैं। विकास होता जा रहा है। २२ वर्षों के अंदर इससे अधिक की आशा भी नहीं की जा सकती, और विशेष रूप से तब, जब हम देखते हैं कि यह काल संक्रान्ति काल---राजनीतिक संघर्षों का काल—रहा है।

स्वरूप और परिस्थिति

परिस्थितियां:— १. हिन्दी जनता और गद्य

किसी भी साहित्य---विशेषतः उसके गद्य-भाग---की उन्नति के लिए उस भाषा में लिखी गई पुस्तकों की खपत बहुत आवश्यक है। यह खपत दो प्रकार से होती है। सर्व प्रथम क्षेत्र है जनता का। जनता का स्तर जितना ही ऊंचा होगा, उतनी ही वह अच्छी-अच्छी पुस्तकें पढ़ेगी और जितनी ही वह अच्छी-अच्छी पुस्तकें पढ़ेगी, उतना ही लेखक अच्छी से अच्छी पुस्तकें लिखने के लिए प्रोत्साहित होगा। इस दृष्टि से हिन्दी गद्य का स्तर जनता का स्तर रहा है। हिन्दी जनता कम लिखी-पढ़ी है; हिन्दी गद्य कम लिखा गया है (यद्यपि पहले की अपेक्षा अधिक ही लिखा गया है, किन्तु यह उतना अधिक नहीं, जितना लिखा जाना चाहिए)। ज्ञान-विज्ञान की बातों की हिन्दी जनता के

जीवन में कम उपयोगिता है; हिन्दी गद्य में ज्ञान-विज्ञान की बातें कम लिखी गई हैं। पुस्तकों की खपत का दूसरा क्षेत्र है शिक्षा-विभाग। वहां पूर्ण रूप से अंग्रेज़ी का बोल-बाला रहा है। इसी काल में आकर हिन्दी एम० ए० में अध्ययन का एक विषय हुई है; और भाषा विज्ञान आदि महत्त्वपूर्ण विषयों के अध्ययन की व्यवस्था हुई है। इससे हिन्दी गद्य के लिए क्षेत्र कुछ विस्तृत हुआ तो अवश्य, किन्तु उतना नहीं हो सका, जितना होना चाहिए। यह तब होता, जब ज्ञान-विज्ञान के अन्य विषय भी हिन्दी भाषा में पढ़ाए जाते। यदि जीवन और साहित्य को ऊँचे उठना है तो यह आवश्यक है कि ज्ञान-विज्ञान की नवीनतम खोजों के सम्पर्क में रहा जाय। जीवन और सत्य की नवीनतम प्रवृत्तियों को समझा जाय। संकुचित भावनाओं और सीमित क्षेत्र को छोड़ कर मुक्त मस्तिष्क और विशाल हृदय होकर विस्तृत क्षेत्र में आना चाहिए। हिन्दी जनता में—और शायद इसीलिए हिन्दी में भी—अभी यह बात नहीं आ पाई। वह कल्पना प्रधान, भावुकता प्रधान है।

प्रचार

सांस्कृतिक पुनरुत्थान अथवा यों कहें कि राष्ट्रीयता की भावना के प्रचार के साथ हिन्दी के भी दिन फिरे। धीरे-धीरे लोग हिन्दी को अपनाना और उसका प्रचार करना अपना कर्तव्य समझने लगे। इसका श्रेय व्यक्तिगत प्रयत्नों को भी है और सामूहिक प्रयत्नों को भी। व्यक्तिगत प्रयत्नों में अपने बच्चों को स्कूलों में हिन्दी पढ़वाना, स्वयं हिन्दी पढ़ने-लिखने की कोशिश करना, साहित्यिकों की सुन्दर-सुन्दर रचनाएँ, और उन रचनाओं पर मिलने वाले प्रोत्साहन, जैसे पुरस्कार इत्यादि हैं। सामूहिक प्रयत्नों के कुछ स्वरूप ये हैं:—विशेष अवसरों अथवा तिथियों पर सभाओं और उत्सवों जैसे कविसम्मेलन, प्रतियोगिता या तुलसी-जयंती और भारतेंदु-जयन्ती आदि, प्रेस और पत्र-पत्रिकाएँ, हिन्दी साहित्य सम्मेलन और प्रयाग महिला विद्यापीठ आदि के तत्त्वावधान में आयोजित परीक्षाएँ आदि हैं। यह प्रचार हिन्दी को हिन्दी जनता के जीवन में लाने में कुछ सफल हुआ। पहले परिस्थिति यह थी कि हिन्दी जनता के जीवन से निकल चुकी थी। नवीन शिक्षापद्धति में पला हुआ व्यक्ति, जो प्रायः मध्यम वर्ग या उच्च वर्ग का प्रतिनिधि है, अंग्रेज़ी अपना रहा था और अपने-अपने घरों में नन्हें-मुन्ने बच्चों से अंग्रेजी ही में बातचीत करके उनको अंग्रेज़ी भाषा का स्वाभाविक वातावरण देने का प्रयत्न कर रहा था। जिसका जितना ही छोटा बच्चा जितनी ही साफ़ अंग्रेज़ी बोल लेता था, वह उतना ही अधिक फूल उठता था। धार्मिक वर्गों में से हिन्दुओं का धार्मिक व्यक्ति (अधिकतर ब्राह्मण) संस्कृत अथवा संस्कृतनिष्ठ हिन्दी को, और मुसलमानों का धार्मिक व्यक्ति अरबी, फारसी या अरबी-फारसी युक्त हिन्दी को अपना रहा था। लिखने-पढ़ने की तो बात ही क्या, यह कृत्रिमता दो भले आदमियों की परस्पर वातचीत तक में आने लगी थी! असली हिन्दी जो बोलता था, उस साधन और शक्तिहीन वर्ग को लोग गंवार कहते थे। उसके हाथ

में कलम थी भी तो नहीं। सो, प्रचार और चेतना ने हिन्दी को जीवन के कुछ पास ला दिया। धीरे-धीरे यह जीवन के और अधिक निकट आती गई और इसके गद्य में प्रौढ़ता और समृद्धता एवं विविधता आती गई।

उन्नति करने की अवस्था में प्रतिद्वन्द्वियों से संघर्ष होना अनिवार्य हो जाता है। हिन्दी का जब प्रचार और प्रसार होने लगा, उसकी उन्नति होने लगी, तब उसे भी इस स्थिति का सामना करना पड़ा। अंग्रेज़ी को तो कोई डर न था क्योंकि उसका साहित्य इतना समृद्ध है, वह इतनी सशक्त एवं विश्व-मान्य है कि उसके सामने खड़े होने के लिए हिन्दी को अभी सदियों तपस्या करनी पड़ेगी। हां, उर्दू से संघर्ष अनिवार्य हो गया। प्रारम्भिक अवस्था में हिन्दी और उर्दू में कोई विशेष अन्तर नहीं था। विकास काल में वे एक दूसरे से अलग हो गई। एक में फारसी-अरबी-शब्दों की प्रधानता हो गई और दूसरे में संस्कृत के शब्दों की। उर्दू का पोषण इस्लामी वातावरण में हुआ और हिन्दी का हिन्दू वातावरण में। अतएव दोनों का विकास अपने-अपने ढंग पर हुआ। अंग्रेज़ों ने उर्दू को संरक्षता दी थी। आर्य-समाज एवं कांग्रेस ने हिन्दी को अपनाया। और, जब साम्प्रदायिक विद्वेष की आग जली तो भाषा भी उसकी आंच में आ गई। दोनों के पालन-पोषण के वातावरण की अपनी-अपनी पृष्ठभूमि थी ही। उर्दू मुसलमानों की चीज़ हो गई, हिन्दी हिन्दुओं की। दोनों ने एक दूसरे की विशेषताएँ भुला दीं। इसी संघर्ष के कारण हिन्दी वालों ने उर्दू भाषा की लोच, उसकी शक्ति, उसकी मिठास एवं उसकी शैली से अपने को वंचित कर रक्खा। उर्दू वालों ने हिन्दी भाषा की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एवं भारतीय वातावरण, उसकी गरिमा, उसकी संजीदगी, उसकी दार्शनिकता आदि को न अपनाया। सो, इस धार्मिक विद्वेष ने वास्तविक हिन्दी के विकास में बड़ी अड़चन पैदा कर दी।

हिन्दी-उर्दू संघर्ष

किन्तु भाषा जनता की चीज़ होती है और साहित्यिक उससे भाग नहीं सकता। हिन्दी जिसकी भाषा है, वह संस्कृत के शब्द भी बोलता है और अरबी-फारसी के शब्द भी। हां, शब्दों के रूप अवश्य बिगड़ गए हैं। देवरिया जिले में कुशीनगर के निकट परासखांड़ नामक एक गांव है। वहां की बे पढ़ी-लिखी और सदैव परदे में रहने वाली नारियों तक के मुख से मैंने 'दूनौ बेकत', 'अमरख', 'खोसा-परिहास', और 'कुफुत' शब्द सुने हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन शब्दों के शुद्ध रूप क्रमशः 'दोनों व्यक्ति', 'अमर्ष', 'किस्सा-परिहास' और 'कोफ़्त' हैं। समस्त हिन्दी भाषी जनता का शब्द भंडार इसी प्रकार के तत्सम एवं तद्भव शब्दों से भरा पड़ा है। साहित्यिक इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता था। अतएव उस समय के हिन्दी साहित्यिकों की रचनाओं में भी अरबी फारसी आदि के और उर्दू के साहित्यिकों की रचनाओं में संस्कृत आदि के भी शब्द मिल जाते हैं। रामचन्द्र

जनता की प्रवृत्ति और उसका प्रभाव

शुक्ल के गद्य में 'इन्कार' और 'इज़हार' जैसे शब्द और उर्दू में 'संगीत', और 'प्रेम' जैसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

एक के गद्य में दूसरे के शब्दों का प्रयोग होता था अवश्य, किन्तु बहुत कम। साथ ही इन शब्दों का महत्त्व इतना कम होता था कि वे अपनी पृथक सत्ता खोकर उस गद्य के सामान्य वातावरण में घुल-मिल जाते थे। यह परिस्थिति बदली और शब्दों के अनुपात में वृद्धि हुई। इसका कारण था कांग्रेस या गांधी जी की नीति। चाहे जनता की प्रकृति को सामने रखकर हुआ हो और चाहे मुसलमानों के साथ न्याय दिखाने के लिये हुआ हो, गद्य और पद्य दोनों की भाषा में शब्दों का अनुपात लगभग बराबर रखने का प्रयत्न किया जाने लगा। इस प्रकार उस भाषा की नींव पड़ी जिसे हिन्दुस्तानी कह कर पुकारा गया। इसके पीछे तर्क यही था कि हमारी भाषा ऐसी होनी चाहिए, जिसे सभी लोग समझ लें, जो सारी जनता की भाषा हो, इत्यादि। यह बात सुनने और देखने में बड़ी अच्छी लगती है किन्तु व्यवहार में यह मुसीबतें ला देती है। 'जनता की भाषा' सुन कर प्रश्न उठता है कि किस प्रदेश की जनता की भाषा, किस स्तर की जनता की भाषा, किस वातावरण की जनता की भाषा, आदि। भारतवर्ष बोलियों और भाषाओं का अजायबघर है। स्वयं उत्तरप्रदेश में पांच प्रधान बोलियां हैं:—खड़ी, ब्रज, अवधी, भोजपुरी और बघेली। ये बोलियां भी कई रूपों में पाई जाती है और प्रत्येक रूप एक दूसरे से भिन्न है। है ये भी जनता की भाषा। शहर की बे पढ़ी-लिखी जनता और देहात की जनता की बोलियों में अन्तर है। ताराचन्द की बोली और धीरेन्द्र वर्मा की बोलियों में अन्तर अवश्य मिलेगा। कालेज होटलों की बोली और ही ढंग की है। इन सभी बोलियों में हिन्दी साहित्य लिखा नहीं जायगा। इनमें से कोई भी एक बोली अन्य सभी बोली वालों की अपनी भाषा न ठहरेगी। सीखना पड़ेगा। गलतियां करेंगे, ठीक उसी प्रकार, जैसे भोजपुरी प्रदेश के किसी पढ़े-लिखे आदमी ने लिखा हो—'दो चिट्ठी भेज दिया हूँ।' जनसाधारण की शैली और साहित्यिक शैली में अन्तर होता है। जन साधारण की ही शब्दावली में यदि साहित्यिक शैली के लंबे-लंबे मिश्र एवं संयुक्त वाक्य लिख दिये जांय तो जनता को उसे समझने के लिये लोहे के चने चबाने पड़ेंगे। फिर, हल्की-फुल्की चीज़ें, जैसे किस्से-कहानियां, कोई जन समूह की भाषा में भले ही सफलतापूर्वक लिख ले, किन्तु जब ज्ञान-विज्ञान की गंभीर विवेचनाएँ की जायंगी, दर्शन और धर्म के गम्भीर तत्त्व अभिव्यक्त किए जायंगे, 'दि डिस्कवरी आफ इंडिया' का अनुवाद किया जायगा, तब तो उस सरल सुबोध भाषा से काम नहीं चल सकेगा। भाषा आप से आप कठिन हो जायगी। शैली स्वतः उदात्त स्वरूप धारण कर लेगी। जनता न उतनी गहराई तक सोचती है और न वे बातें बोलती है। जब बोलती नहीं, तब उन भावों की अभिव्यक्ति के लिए उसके पास शब्द भी नहीं होंगे। 'जनता की भाषा' वाले इन भावों को प्रकट करने के लिये कहां से शब्द लेंगे?

होता यह था कि जब कोई हिन्दुस्तानी में कुछ गम्भीर बात लिखने बैठता था तब जिस वातावरण में, जिस शिक्षा दीक्षा में, और जिन विश्वासों में लेखक बचपन से पलता आ रहा था, उसी के अनुकूल शब्दों का चयन करता था। जैसे जब फारसी-अरबी-मिश्रित उर्दू का कोई विद्वान लिखने बैठता था, तब उसकी भाषा में फारसी-अरबी आदि के शब्द बहुतायत से आ जाते थे। यह लेखक की अपनी विवशता होती थी। जिस लेखक ने, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, अलिफ बे-पे से शुरुआत की हो और सदैव कठिन उर्दू के ही शब्दों के सुनने का अभ्यस्त रहा हो, जिसके कानों में 'अमृत' पड़ा ही न हो, उसे 'लफ़्ज़' 'सैयाह' तो क्या, 'हकीकत', 'मुतलक', 'मुस्तनद' आदि यदि सरल, प्रचलित और जन समूह की भाषा के शब्द लगें, तो आश्चर्य नहीं। 'अमृत', 'संस्कृत', 'सत्य' उसे ज़रूर कठिन लगेगा। 'अमरित', 'संस्कीरत' और 'सत्त' भी वह मुश्किल से अपनायेगा।

लेखक और हिन्दुस्तानी का स्वरूप

इस प्रकार लेखकों की व्यक्तिगत विशिष्टताओं के अनुसार हिन्दुस्तानी गद्य के कई रूप हो गए। मौलबी अब्दुलहक़ की हिन्दुस्तानी का नमूना यह है :—

"ज़बान के मानों में हिन्दुस्तानी का लफ़्ज़ हमारे किसी मुस्तनद शायर या अहले ज़बान ने कभी इस्तेमाल नहीं किया है। यह यूरप वालों की उपज है। यूरप में सैयाहों ने जो सत्रहवीं सदी में इस मुल्क में आने शुरू हुए, इस ज़बान को जो शुमाली हिन्द में आम तौर से बोली जाती थी, इन्दुस्तान, इन्दुस्तानी और बाद अज़ां हिन्दुस्तानी के नाम से मौसूम किया है।"[1]

हिन्दुस्तानी के रूप:—(१) मौ० अब्दुल-हक की भाषा

उपर्युक्त गद्य में प्रयुक्त शब्द, उनके रूप, उनकी पद-योजना आदि को सामान्य जनता का बिल्कुल ही नहीं कहा जा सकता, किन्तु मौलवी साहब ने जोर देकर कहा था कि यह हिन्दुस्तानी है। तो फिर इस हिन्दुस्तानी की परिभाषा 'कुछ हल्की उर्दू' क्यों न हो! इसलामी वातावरण एवं अरबी-फारसी की शिक्षा-दीक्षा ही इस प्रवृत्ति का कारण है।

उसी शिक्षा-दीक्षा में पले हुए एक हिन्दू विद्वान की भाषा देखिये :—

"जब रूह यानी हकीकत अपनी इस बेगानगी को जान जाती है तो खयाल और प्रकृति को एकजा करती है, रूठों को मिलाती है, बिछड़ों को मनाती है। खयाल और नेचर, पुरुष और प्रकृति, दोनों का मरकज़ आत्मा है, जहां दोनों का मेल होता है। आखिर रूह उस जगह पहुँच जाती है जहां वह अपनी असलियत को पहचान लेती है। मगर उस जगह तक पहुँचने के लिए उसे तीन सीढ़ियां चढ़नी पड़ती हैं। पहली सीढ़ी दाख़ली शऊर की है; दूसरी खारजी शऊर की और तीसरी कामिल या मुतलक शऊर की। इन तीनों शऊरों को आदमी की पिंडी बुद्धि, समाजी बुद्धि और परा या पूरन बुद्धि कहा

(२) ताराचंद की भाषा

---

१. धीरेन्द्र वर्मा : 'विचारधारा'

जा सकता है। इसीलिए दाखली शऊर से हीगल की मुराद उस शख्सी अकल से है जो हर आदमी को अपनी-अपनी अलग अकल और अमली दुनिया बनाने पर मजबूर करती है और उसे इस नतीजे पर लाती है कि आदमी अपने ही शऊर, अपनी ही समझ, और अपने ही इरादे का बंदा है।"[१]

इस और इसके पूर्व वाले हिन्दुस्तानी अवतरणों की तुलना कीजिए। इसमें अभिव्यक्त विचार पहले में अभिव्यक्त विचार से सूक्ष्म एवं गम्भीर हैं। निश्चित है कि इसकी भाषा कुछ अधिक कठिन होनी चाहिए। इतने पर भी इसकी भाषा पहले से अधिक कठिन नहीं। 'रूठों को मनाती है', 'बिछड़ों को मिलाती है' आदि सरल, सुन्दर और साफ-सुथरी अभिव्यक्तियों के अतिरिक्त 'पुरुष और प्रकृति', 'परा', 'बुद्धि' आदि संस्कृत के तत्सम शब्द भी मिल जाते हैं। यह भी उर्दू है लेकिन काफी हल्की—कम से कम, पहले अवतरण के उर्दूपने से काफी कम—उर्दू। यह अन्तर वातावरण के कारण ही संभव हो सका।

अब उक्त वातावरण से बिल्कुल पृथक वातावरण में रहे-पले विद्वानों की भाषा देखिए :—

(३) पं० सुन्दरलाल की भाषा

"सुमेरियों ने इराक में एक ऐसी सभ्यता को जन्म दिया था जो अपने जन्म देने वालों के खत्म हो जाने के बाद भी पूरे १५०० बरस तक फलती-फूलती रही। बाबुल और निनेवेह (असुरिया की राजधानी) दोनों में बड़े-बड़े साम्राज्य कायम किए। मिश्र जैसे दुनिया के बड़े-बड़े देशों ने उनके चरणों पर सर झुका दिए। लेकिन अपने साम्राज्यों के जरिये भी इन्होंने दूर-दूर के मुल्कों में सुमेरी सभ्यता ही को फैलाया।"[२]

उपर्युक्त अवतरण पं० सुन्दरलाल के एक लेख से है। पंडित जी का जीवन एक महात्मा का सा है। प्रयत्नों में सच्चाई रहती है। मन में एक लगन है। हृदय साफ है—द्वेष आदि से मुक्त। अच्छी उर्दू भी जानते हैं, अच्छी हिन्दी भी। गीता और कुरान दोनों से परिचय है। खुला हुआ दिमाग है। यही बात इस गद्य में भी है। आडम्बर का अभाव है। हिन्दी भाषा के किसी शब्द से नफरत नहीं। जबान पर चढ़ी हुई भाषा है, जिसमें बनावट की बू नहीं। तो, इनकी भाषा में 'सभ्यता', 'जन्म', 'राजधानी', 'साम्राज्य', 'देशों', 'चरणों' आदि को स्थान मिल गया है। 'खत्म', 'कायम' 'जरिए', 'मुल्क' आदि शब्दों का भी प्रयोग है। हम मानते हैं कि ये शब्द सर्वप्रचलित हैं। इस भाषा में वह उर्दूपन नहीं है जो पहले दोनों अवतरणों में पाया जाता है।

अब हिन्दुस्तानी के समर्थक एक अन्य विद्वान की भाषा देखिए :—

---

१. ताराचंद: 'विश्ववाणी' (नवम्बर, १९४६ ई०) में एक लेख
२. पं० सुंदरलाल: 'विश्ववाणी' (फरवरी, १९४६ ई०) में एक लेख

"इस प्रकार विद्यार्थी जीवन समाप्त हुआ। संसार में प्रविष्ट होने का समय आ गया। जब उन दिनों का स्मरण आता है तो मालूम होता है मानो वह सुख का युग था। कभी-कभी अफसोस होता है तो इसी का कि उसका जितना अच्छा प्रयोग हो सकता था, नहीं किया गया। मुझे इस बात की सुविधा तो मिली थी कि भाई पथ-प्रदर्शक रहे। जितने अच्छे विचार और प्रवृत्तियां दिल में उठीं, सब के बीज उन्होंने बोए थे। पढ़ने के समय किसी प्रकार का कष्ट मैं अनुभव न करूँ, इसका प्रबन्ध वह बराबर करते रहे।"[1]

(४) राजेन्द्र प्रसाद की भाषा

राजेन्द्र प्रसाद की परिस्थितियों और उनके आसपास के वातावरण ने ही उनको 'विद्यार्थी जीवन समाप्त', 'संसार', 'प्रविष्ट', 'स्मरण', 'सुविधा', 'पथ-प्रदर्शक' 'प्रवृत्तियां', 'कष्ट' आदि शब्दों के प्रयोग में कोई झिझक नहीं होने दी। इस प्रकार हिन्दुस्तानी की किसी निश्चित शैली का विकास न हो सका। इस भावना को लेकर हिन्दी में जिस गद्य का सृजन हुआ वह इस प्रकार अव्यवस्थित रहा। हिन्दुस्तानी कुछ सरल उर्दू मात्र होकर रह गई। न वह जनता की भाषा हो सकी और न विद्वानों की ही।

हिन्दुस्तानी गद्य की कुछ कमियां:—

हिन्दुस्तानी गद्य के निर्माण की सनक में बड़े-बड़े विद्वान तक कुछ हास्यास्पद भूलें कर गए हैं। उनमें से कुछ का दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है।

१—हास्यास्पद पारिभाषिक शब्द

ताराचन्द ने एक जगह लिखा है:—

"अगर हमने विद्यायों की प्रिय भाषाएँ उर्दू और हिन्दी में एकसां कर दीं तो आगे चलकर यह नतीजा होगा कि इनके साहित्यों की जबान भी इकसां हो जायगी।"[2]

उक्त अवतरण में ध्यान देने वाला शब्द है 'प्रिय भाषाएँ'। बहुत माथा-पच्ची करने के बाद भी इस 'प्रिय भाषाएँ' का अर्थ समझ में तब तक न आएगा जब तक इस गद्य-भाग को कुछ और न पढ़ा जाय। आगे चल कर स्पष्ट होता है कि यह 'प्रिय भाषाएँ' 'परिभाषाएँ' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। आश्चर्य होता है कि इतना बड़ा विद्वान क्या सोचकर 'परिभाषाएँ' के स्थान पर 'प्रिय भाषाएँ' लिखने का साहस कर सका।

एक दूसरे स्थान पर ताराचन्द ने लिखा है:—

"लेकिन सच यह है कि संस्कृत में सैकड़ों अनारिया लफ्ज़ भरे हैं। ध्यान दीजिये कि यह 'अनारिया' कैसे बना। इसका शुद्ध रूप है 'अनार्य'। उर्दू लिपि में इसे 'अनारिया' (انارية) लिखेंगे। 'रिया' (رية) को 'र्य' की भांति पढ़ना

१. राजेन्द्र प्रसाद: 'आत्मकथा' (१९४७ ई०)

२. धीरेन्द्र वर्मा: 'विचारधारा'

२—अशुद्ध उच्चारण के कारण शब्दों के विकृत रूप

केवल उर्दू लिपि जानने-समझने वालों के लिए नितांत असंभव है। अब, यदि हिन्दी लिपि जानने वाला भी इसे 'रिया' करके ही पढ़े तो सिवा इसके और क्या कहा जा सकता है कि जबान उस ढर्रे पर इतनी घिस गई है कि 'र्य' का उच्चारण कर सकना असंभव हो गया है। सो, जिस प्रकार 'ब्राह्मण' बिगड़ कर 'बरहमन' हो गया है उसी प्रकार 'अनार्य' 'अनारिया' हो गया और 'महानता' घट कर 'महान्ता' मात्र रह गई।

हिन्दुस्तानी का एक और वाक्य देखिए :—

"अपनी सांस्कृतिक परम्परा के लिए हम हिन्दी या उर्दू या हिन्दुस्तानी जो भी इस्तेमाल करें, हम यह देखेंगे कि पुराने जमाने में समन्वय के लिए यहां एक भीतरी प्रेरणा रही है और हमारी तहजीब और कौम के विकास का आधार, खास कर हिन्दुस्तान का, फिलसफियाना रुख रहा है।"[1]

३—शब्दों की असंगति

उपर्युक्त वाक्य के कुछ इन टुकड़ों को देखिए:—'पुराने जमाने में समन्वय के लिए', 'तहजीब और कौम के विकास का आधार'। मेरा अनुमान है कि कुछ ऐसा ही लग रहा होगा जैसे तब लगेगा जब कोई सत्यनारायण बाबा की कथा बांचने वाले पंडित को पंडिताऊ वेशभूषा में और नमाज़ पढ़ाने वाले मौलवी साहब को मौलवियाना वेशभूषा में एक साथ बैठा हुआ देखे। शब्दों की यह योजना उनकी समरूपता—स्तर की एकता—को नष्ट कर देती है। असंगति का दोष आ जाता है। प्रयत्न की कृत्रिमता स्पष्ट हो जाती है।

४—सीखने-सिखाने की व्यर्थ की कठिनाइयां और तीतर-बटेर की स्थिति

एक प्रश्न और उठता है। यह एक निश्चित बात है कि सामान्य जनता न 'सांस्कृतिक परम्परा' समझती है और न 'फिलसफियाना रुख'। उसे 'सांस्कृतिक परम्परा' भी समझनी है और 'फिलसफियाना रुख' भी। सोचता यह हूँ कि यदि 'सांस्कृतिक परम्परा' को सिखाने का उद्योग करना है, तो 'दार्शनिक दृष्टिकोण' ही क्यों न सिखाया जाय क्योंकि 'सांस्कृतिक परम्परा' का मेल 'दार्शनिक दृष्टिकोण' से ही बैठेगा; और यदि 'फिलसफियाना रुख' ही समझाना है, तो 'रवायात तहज़ीबी' ही समझाया जाय। एकरूपता तो रहे। वैसे, जो 'सांस्कृतिक परम्परा' समझता है वह 'दार्शनिक दृष्टिकोण' ज़रूर समझ लेगा। हां, 'फिलसफियाना रुख' समझने में उसे ज़रूर दिक्कत पड़ेगी। इस प्रकार की भाषा लिखकर समझने और न समझने वालों—दोनों—के लिए समस्याएँ खड़ कर दी जाती हैं। एक के सामने सैकड़ों नए शब्द सीखने की समस्या खड़ी हो जाती है; दूसरा आधा तीतर और आधा बटेर की स्थिति में आ जाता है।

---

१. रामचन्द्र टंडन : 'हिन्दुस्तान की कहानी'

'हिन्दुस्तान की कहानी' से जो अवतरण लिया गया है उसमें एक पद है 'भीतरी प्रेरणा'। इस 'भीतरी' का प्रयोग 'आन्तरिक' के स्थान पर हुआ है। 'भीतर' शब्द का व्यावहारिक उपयोग 'घर' या 'इमारत' या 'देश' आदि के भीतरी हिस्से के लिए होता है। यहां तक कि 'दिल के भीतर' की जगह 'दिल के अंदर' ही अधिक पसंद किया जाता है। 'भीतर' शब्द का प्रयोग 'प्रेरणा' के साथ, जिसका मानस, ज्ञान या चेतना से संबंध है, बहुत हल्का पड़ता है। यहां जो शब्द-चित्र 'आन्तरिक' शब्द देगा, 'भीतरी' नहीं दे पा रहा है। इसी प्रकार ताराचन्द के एक वाक्य का कुछ भाग यों है:—"खयाल और नेचर, पुरुष और प्रकृति दोनों का मरकज आत्मा है ....।" इसी वाक्य के पहले उक्त विद्वान ने 'प्रकृति' के साथ 'खयाल' का प्रयोग किया है। तात्पर्य यह हुआ कि उन्होंने 'खयाल' को पुरुष, और नेचर को 'प्रकृति' माना है। ध्यान देने की बात यह है कि क्या 'खयाल' 'पुरुष' का भावचित्र दे सकता है। 'ध्यान' के अर्थ में 'खयाल' का प्रयोग तो प्रायः देखा जाता है, किन्तु क्या 'पुरुष' के अर्थ में भी उसका प्रयोग हो सकता है ? कम से कम हम तो नहीं जानते। यह हमारी अज्ञानता हो सकती है। किन्तु यदि हम सामान्य जनता में गिने जा सकते हैं, और हिन्दुस्तानी हमारे लिए भी है, तो 'खयाल' का खयाल रखना चाहिए। इस प्रकार शब्दों को सरल करने या हिन्दी-उर्दू-शब्दों के औसत को बराबर रखने के प्रयत्न में हिन्दुस्तानी गद्य के लेखक प्रायः शब्दों के भावचित्रों की गहराई और हलकेपन को ध्यान में नहीं रख पाते।

५—शब्दों के भाव-चित्रों के विषय में असावधानी

भावचित्रों की यह गड़बड़ी अनुवाद में भी कठिनाई पैदा कर देती है। सुरेश शर्मा के सहयोग में रामचन्द्र टंडन ने जवाहर लाल नेहरू की विश्वविख्यात पुस्तक 'दि डिस्कवरी ऑफ इंडिया' का हिन्दुस्तानी शैली में अनुवाद किया है। अनुवाद की हुई पुस्तक का नाम है 'हिन्दुस्तान की कहानी'। तात्पर्य यह है कि 'डिस्कवरी' का अर्थ हुआ 'कहानी'। थोड़ी-बहुत अंग्रेज़ी जानने वाला भी यह भलीभांति समझता है कि 'डिस्कवरी' का अर्थ होता है 'खोज', 'अनुसंधान', आदि। क्या 'डिस्कवरी' और 'कहानी' एक ही बात है ? नहीं ! तो जवाहरलाल नेहरू ने मूल पुस्तक का नाम 'टेल ऑफ इंडिया' क्यों न रक्खा ? दो वर्ष बीते कि आठवें दरजे के एक लड़के ने मुझसे यह प्रश्न किया था कि 'डिस्कवरी ऑफ अमेरिका' का क्या अर्थ है। मैंने उत्तर दिया—"अमेरिका की खोज"। चट उसने प्रश्न किया—"तब 'हिन्दुस्तान की कहानी' का अंग्रेज़ी रूप 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' कैसे हो सकता है ?"

६—अनुवाद में कठिनाइयां

उक्त पुस्तक के अनुवाद की बानगी देखिए:—

"लेकिन आधुनिक सभ्यता की यह कमज़ोरी है कि वह दिन-ब-दिन जिन्दगी देने वाले सोतों से अलहदा होती जा रही है। आधुनिक पूंजीवादी समाज की प्रतियोगिता

और अपहरण की विशेषताओं से, संपति को सब चीज़ों से ऊपर जगह देने की वजह से दिमागी तन्दुरुस्ती खराब होती है और एक ऐसी हालत हो जाती है कि नाड़ियों में एक अस्वाभाविक उत्तेजना आ जाती है ।"

पहला वाक्य देखिए। इस वाक्य में 'जिन्दगी देने वालों सोतों से' का प्रयोग है। मूल पद अंग्रेज़ी में यह है:—'फ़राम दि लाइफ़ गिविंग एलीमेंट्स ।' 'लाइफ़ गिविंग' का अनुवाद 'जीवनप्रद' या 'संजीवनी' आदि कुछ न कर के यदि 'जिन्दगी देने वाले' किया गया है तो कुछ नहीं कहना है, । ठीक ही है। किन्तु 'एलीमेंट' का अनुवाद 'तत्त्व' है, न कि 'सोता'। शायद लेखक ने 'जिन्दगी देने वाले' के साथ 'तत्त्व' का मेल ठीक नहीं समझा। उसने यह भी सोचा होगा कि 'तत्त्व' को जानने वाले कम और 'सोतों' को जानने वाले अधिक हैं। शायद लेखक ने यह नहीं सोचा कि जो लोग 'सोतों' को जानते हैं, उन्होंने सोतों से पानी फूटते तो देखा है किन्तु 'जिन्दगी' फूटते कभी नहीं देखा। 'जीवन' या 'ज़िन्दगी' से जितनी विराट कल्पना—अमूर्त्त भावचित्र—मस्तिष्क में आती है, 'सोतों' से उसको संगति कभी नहीं बैठ सकती। 'सोता' तो एक मूर्त्त और प्रायः अपरिष्कृत भावचित्र देता है। मूल है:—'ऐंड टु दि इल हेल्थ आफ़ दि माइंड ऐंड प्रोड्यूस न्यूरोटिक स्टेट्स'। इसका अनुवाद है :—"दिमागी तन्दुरुस्ती खराब होती है और एक ऐसी हालत हो जाती है कि नाड़ियों में एक अस्वाभाविक उत्तेजना आ जाती है"। 'ऐंड टु दि इल हेल्थ' का भाव यह है कि 'इल हेल्थ' यानी अस्वस्थता पहले से ही है, उसमें और अधिकता हो जाती है। यह भी कहा जा सकता है कि अस्वस्थता की स्थिति लाने वालों में से है। अनुवाद से अर्थात् 'दिमागी तन्दुरुस्ती खराब होती है' से यह भाव प्रकट नहीं होता। 'ऐंड प्रोड्यूस न्युरोटिक स्टेट्स' का अनुवाद है—'और एक ऐसी हालत हो जाती है कि नाड़ियों में एक अस्वाभाविक उत्तेजना आ जाती है।' लगता है कि 'न्यूरोटिक स्टेट्स' का वास्तविक भाव 'नाड़ियों में एक अस्वाभाविक उत्तेजना' से कदापि नहीं व्यक्त हो पाया है। 'अस्वाभाविक उत्तेजना' के पहले जो 'एक' लगा है वह अवस्था को बिल्कुल अनिश्चित कर देता है; और 'न्यूरोटिक स्टेट्स' एक निश्चित—नियत—अवस्था है। इस प्रकार यह हिन्दुस्तानी अनुवाद करने में भी अधिक सहायता नहीं देती। जितनी ही गंभीरता के साथ विचार करते हैं उतनी ही कमियां मिलती हैं। यह ठीक है कि किसी भाषा का किसी अन्य भाषा में बिल्कुल ठीक-ठीक अनुवाद नहीं हो सकता, किन्तु जितना हो सकना संभव है, हिन्दुस्तानी शैली में उतना भी संभव नहीं। इसका मूल कारण यह है कि लेखक संस्कृत या फारसी-अरबी के तत्सम शब्दों से या तो नफरत करता है या फिर संस्कृत के कुछ शब्दों और अरबी-फारसी के कुछ शब्दों को एक दूसरे के निकट इसलिए रखना चाहता है कि कोई उसे किसी एक का पक्षपाती न कह दे। एक ही अर्थ वाले अनेक शब्द प्रायः एक ही भावचित्र नहीं देते। इसलिए प्रयत्न करने पर भी हम 'पिंडी बुद्धि' (ताराचन्द

के एक लेख में प्रयुक्त शब्द) का वह अर्थ नहीं सोच पाते जो उक्त विद्वान लेखक ने समझ रक्खा है।

हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं को मिला कर एक भाषा विकसित करने या यों कहें कि सामान्य जनता की भी समझ में आ सकने वाली साहित्यिक भाषा की नींव डालने के इस प्रयत्न से हिन्दी गद्य का एक लाभ भी हुआ है। हिन्दी गद्य विकसित होकर उस स्थिति में आ गया है कि उसे थोड़ी पढ़ी-लिखी जनता भी समझ ले। संधियों और समासों से बनी हुई पदावलियां और संस्कृत की कठिन तत्सम शब्दावलियों का मोह बहुत-कुछ छूट गया है। उनके स्थल पर सामान्य जनता में प्रचलित शब्दों को भी स्थान मिलने लगा है। शैली सरल, सीधी और सुस्पष्ट हो चली है। इस शैली का सुन्दर रूप कहानियों और उपन्यासों में अधिकतर मिलता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों में भी यह शैली मिल जाती है। साहित्य के अन्य अंगों में इसका प्रयोग कम हुआ है। किन्तु मेरा विचार है कि आलोचना-जैसे विषय में भी इसका सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है। इस गद्य का एक नमूना देखिए :—

सरल हिन्दी और हिन्दुस्तानी

"...........................यह खून वह नहीं है। यह खून जहां गिरेगा, वहां तो सिर्फ़ गुलामों का मरघट होगा, और गुलामों का कब्रिस्तान, जहां मुर्दा रूहों को भी भटकटैया के सैकड़ों कांटे हर वक्त चुभते रहेंगे।..................लानत है ऐसी मौत पर और लानत है उस हाथ पर जिसने इसलिए वार किया कि युग-युग से पोसा हुआ आजादी का सपना भाई के खून में डूब जाय। और लानत है उस हाथ पर जिसने इसलिए वार किया कि आसमान की तरह वसीह गुलामी की सिल के नीचे कराहता हुआ पाकिस्तान मिले, जिसका चप्पा-चप्पा गुलाम है, जिसके गोशे-गोशे में सड़ांद के फौवारे छूटते हैं और जहां इस्लाम की आजाद रूह पर हैवानों की संगीनों का साया है।"[1]

यहां यह नहीं कहा जा रहा है कि यदि हिन्दुस्तानी का आन्दोलन न उठा होता, तो हिन्दी की इस शैली का विकास न हुआ होता। कारण यह है कि इस आन्दोलन के काफी पहले, या इस आन्दोलन से काफी दूर रहने वालों की शैली में भी इस शैली के विकास का प्रयत्न मिलता है। रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों में कहीं-कहीं यह शैली मिल जाती है। राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की कहानियों में भी यह शैली मिल जाती है। दैनिक समाचार पत्रों ने भी इस शैली के विकास में मदद दी है क्योंकि उन पत्रों के पढ़ने वाले शुद्ध साहित्यिक शैली पसंद नहीं कर सकते थे क्योंकि उनमें सभी साहित्यिक नहीं होते थे। फिर, दिन-प्रति-दिन के समाचार यदि उसी साहित्यिक शैली में छापे जाते तो उनकी स्वाभाविकता नष्ट हो जाती। साम्यवादी विचारधारा के प्रसार ने भी इस शैली के विकास में काफी योग दिया है क्योंकि साम्यवादी विचार-

१. अमृतराय : 'इतिहास' नामक कहानी (१९४७ ई०)

धारा जनसाधारण और उसकी भाषा को बहुत महत्त्व देती है। फिर, भाषा का ज्यों-ज्यों विकास होता जाता है, त्यों-त्यों वह सरलता की ओर बढ़ती जाती है, यह एक सर्वस्वीकृत सिद्धांत है; और खड़ी बोली हिन्दी अपवाद नहीं हो सकती। फिर भी इतना मानना पड़ता है कि संस्कृतनिष्ठ शैली का मोह सब के मन से अभी नहीं छूटा है। प्रायः लोग कहानियों तक में उसका प्रयोग करते हैं। इतना अवश्य है कि समय की प्रगति के पड़ने वाले प्रभाव को वे रोक नहीं पाते और उनकी भाषा में भी उर्दू के दो-चार शब्द और सामान्य जनता के दो-चार शब्द आ ही जाते हैं। उषादेवी मित्रा ने 'मेघ मल्लार' (१९४६ ई०) में लिखा है :—

"कदाचित् गगन के उस लोभनीय अंश को वे अपने बाहुओं में बन्दी करना चाहती हों—अनंत काल के लिए।"

इस अवतरण का 'लोभनीय अंश' उसी प्रवृत्ति का द्योतक है; यद्यपि "सिर नवाए खड़ी थीं" में "नवाए" दूसरी प्रवृत्ति की शक्ति का प्रतीक है।

तो, जन-भाषा और साहित्य की भाषा को एक स्तर पर लाने का प्रयत्न भाषा के इतिहास और भाषा-विज्ञान दोनों ही दृष्टियों से ठीक नहीं था। जनभाषाओं

कुछ तथ्य

अर्थात् बोलियों में से कोई एक साहित्य की भाषा का स्थान पाती है। वह स्थान खड़ी बोली को मिला। साहित्यिक खड़ी बोली और मेरठ-दिल्ली के आस-पास बोली जाने वाली खड़ी बोली में अन्तर पाया जाता है। जनता साहित्यिक भाषाएँ सीखा करती है। साहित्यिक खड़ी बोली भी सीखी जाती है। इतना अवश्य है कि इसकी कृत्रिमताएं धीरे-धीरे दूर होती जाती हैं। अस्वाभाविकताएं कम होती जा रही हैं। सीधी, जोरदार, समर्थ, स्पष्ट और सुन्दर शैली का विकास हो रहा है। जिन भावों की अभिव्यक्ति के लिए बोली में शब्द नहीं हैं, उनके लिए हम संस्कृत, पाली आदि प्राचीन भाषाओं का भंडार खोजते हैं, नहीं तो अपनी शब्द-निर्माण-पद्धति पर शब्द बनाने का प्रयत्न करते हैं। पहले हिन्दी भाषा में उर्दू शब्दों और उर्दू भाषा में हिन्दी शब्दों को स्थान देने का प्रयत्न किया जाता था। अब यह बात वहुत साधारण हो चली है। प्रयत्न अब इस बात का हो रहा है कि हिन्दी और उर्दू की शैलियों को मिला कर एक शैली का विकास किया जाय। इसके साथ ही एक तथ्य और है और वह यह है कि हिन्दी के नए अनुरागी संस्कृत-निष्ठ हिन्दी लिखने में ही अपनी सफलता समझते हैं। १९४७ ई० के बाद एक प्रवृत्ति यह भी चली है। इस प्रयत्न की कृत्रिमता इसे कहां तक सफल होने देगी, यह भविष्य वतलाएगा।

हिन्दी गद्य के विकास में पारिभाषिक शब्दावलियों की समस्या का भी काफी हाथ है। हुआ यह है कि ज्यों-ज्यों हिन्दी वालों का मानसिक और बौद्धिक स्तर उठता गया, ज्यों-ज्यों ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में विस्तार होता गया और ज्यों-ज्यों उसकी अभिव्यक्ति की आवश्यकता पडती गई, त्यों-त्यों पारिभाषिक शब्दों की

समस्या सामने आती गई। समझने को तो लोग अंग्रेज़ी से समझ लेते थे, किन्तु जब मातृभाषा में उन्हीं भावों की अभिव्यक्ति की बातें उठीं, तब कठिनाई इसलिए सामने आई कि इसके पहले कोई ऐसी बात थी ही नहीं। न हमारे यहां वे विचार थे, न हमारी चिन्तन शैली उस ढंग की थी, और इसलिए न उनके लिखे जाने का सवाल पैदा होता था। यही कारण है कि हमारी भाषा में वैसे शब्द नहीं थे। कविता, कहानी, उपन्यास और नाटक लिखते समय यह चीज़ सामने नहीं आती थी। निबंध और आलोचना, दर्शन और विज्ञान आदि पर लिखते समय यह समस्या विकट रूप में सामने आती थी। इस समस्या को हल करने के लिए कई उपाय किए गए।

पारिभाषिक शब्दों की समस्या और हिन्दी गद्य

पहला उपाय था अंग्रेज़ी के शब्दों को वैसे का वैसा ही प्रयुक्त कर देना। शांतिप्रिय द्विवेदी के वाक्य देखिए :—

"समाजवाद में व्यक्ति का सब्जेक्टिव पहलू आब्जेक्टिव बन जाता है, गांधीवाद में आब्जेक्टिव भी सब्जेक्टिव ही बना रहता है।"[१]

"शरद् जैसे कलाकारों की कला बच्चों के लिए किंडरगार्टन की तरह है।"[१]

"......................उसके साथ लैंटर्न लेक्चर को भी सम्मिलित कर दिया है।"[१]

इसी पुस्तक की भूमिका में सम्पूर्णानन्द ने इस पुस्तक में प्रयुक्त अंग्रेज़ी के शब्दों में से कुछ यों गिनाए हैं:—" 'माडर्न', 'थीम', 'रिमार्क', 'आइडियल', 'मैटर आफ फैक्ट', 'फिल्टर', 'मेटिरियालिज्म', 'फिलासफी को डील किया', कहने से भाषा में न तो ओज आता है, न सौष्ठव।"

दूसरा उपाय था अंग्रेज़ी के शब्दों के अर्थ वाले संस्कृत के शब्दों का या नए गढ़े हुए शब्दों का प्रयोग। ऐसे शब्दों के आगे कोष्ठ के अन्दर अंग्रेज़ी के मूल शब्द लिखे जाते थे। गोरखप्रसाद का यह वाक्य देखिए :—

"इसलिए वहां करबन द्विओषद (Carbon Dioxide) जिससे पौधे इत्यादि बढ़ते और मोटे होते हैं; ओषजन (oxygen) जिससे मनुष्य, जानवर इत्यादि जीते हैं; और नत्रजन (Nitrogen), जिसके रहने से................"[२]

"परन्तु अब कोपरनिकस (Copernicus) के मतानुसार सूर्य स्थिर समझा जाता है, पृथ्वी गृह मानी जाती है और चन्द्रमा ग्रह (planet) के बदले उपग्रह (Satellite) माना जाता है। शेष पुराने ग्रहों के अतिरिक्त दो नए ग्रहों का भी पता लगा है, वारुणी (uranus, यूरेनस) और वरुण (Neptune, नेपच्यून)।"[२]

तीसरा उपाय था पुस्तक के अंत में एक परिशिष्ट में उन समस्त हिन्दी पारिभाषिक शब्दों को उनके अंग्रेज़ी रूपों के साथ लिख देना जो पुस्तक के अन्दर प्रयुक्त हुए हैं।

१. शांतिप्रिय द्विवेदी: 'सामयिकी', द्वितीय संस्करण (१९४८ ई०)

२. गोरखप्रसाद: सौर परिवार (१९३१ ई०)

हिन्दी की ये पारिभाषिक शब्दावलियां अंग्रेज़ी की पारिभाषिक शब्दावलियों के अनुवाद या उनके हिन्दी-रूपांतर द्वारा निर्मित होती थीं। ये शब्दावलियां हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल होती थीं और उसकी मान्य शैली में घुल-मिल जाती थीं। श्री कृष्णलाल ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' (१९४२ ई०) में यह दिया है। पुस्तक के अन्त में 'परिशिष्ट' में 'पारिभाषिक शब्द-कोष' शीर्षक के अंतर्गत अंग्रेज़ी से हिन्दी और हिन्दी से अंग्रेज़ी में पारिभाषिक शब्दावलियां दी हैं। पुस्तक में है :—

"संबोध गीतियों का मुख्यतम अंग कवि की कल्पना है।"[१]

"परन्तु क्रमशः ज्यों-ज्यों सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक आवश्यकताएँ बढ़ती गईं, त्यों-त्यों हिन्दी के पक्षपातियों की समझ में यह बात आने लगी कि इस 'गोष्ठी साहित्य' से काम न चलेगा।"[१]

"काव्यरूप की दृष्टि से स्वच्छंदवाद आन्दोलन का द्वितीय चरण प्रधान रूप से गीतिवाद का युग था।"[१]

और पुस्तक के अन्त में पारिभाषिक शब्द कोष के अन्दर लिखा है :—

गोष्ठी साहित्य — Drawing-room-literature
संबोध गीति — Odes
स्वच्छंदवाद — Romanticism

इस प्रकार हिन्दी गद्य के ये तीन रूप भी मिलते हैं। ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि ये प्रयत्न विकास की अवस्थाएँ बतलाते हैं। दूसरा रूप पहले रूप का विकास था; और तीसरा रूप, दूसरे का। अब कदाचित् वह स्थिति आयेगी कि हम पारिभाषिक शब्दावलियों को आवश्यकतानुसार लिखते चले जाएँगे। उनके अंग्रेज़ी रूपों को न तो विवेचना के बीच में देना पड़ेगा और न अन्त में परिशिष्ट के अंदर। समझने वाले ऐसे ही समझ लेंगे। हां, विज्ञान आदि में इस विकास की दूसरी अवस्था का उपयोग ही ठीक है।

हिन्दी गद्य के विकास में उर्दू का काफी हाथ रहा है। जनता में प्रचलित उर्दू के शब्दों के प्रयोग से भाषा में जो सजीवता आ जाती है, उसका अपना महत्त्व है।

हिन्दी गद्य पर उर्दू का प्रभाव : शब्द के क्षेत्र में

यह ठीक है कि इन प्रयोगों से शैली की गंभीरता—विद्वत्ता का रोब—नहीं रह जाता, किन्तु उससे भाषा में एक वक्रता—तड़प—आ जाती है। शब्दों के प्रयोग की संकीर्णता ज्यों-ज्यों छूटी है, त्यों-त्यों हिन्दी गद्य में एक नया सौन्दर्य निखरता आया है। प्रेमचन्द की कहानियों और उपन्यासों की भाषा इसका उदाहरण है। इलाचन्द जोशी के निबंधों की भाषा से कहीं जोरदार भाषा हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों की है। भावावेश की अभिव्यक्ति के लिए तो संस्कृतनिष्ठ शैली नितांत

१. श्री कृष्णलाल: 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास'

अनुपयुक्त है। वियोगी हरि या दिनेशनंदिनी के भाव प्रधान गद्यों की भाषा इसके उदाहरण के लिए है।

उर्दू ने अपने लेखकों के द्वारा भी हिन्दी गद्य पर प्रभाव डाला है। हिन्दी में कुछ ऐसा आकर्षण रहा है कि इंशा अल्ला खां के समय से लेकर कृष्ण चन्दर, ख्वाजा अहमद अब्बास और अहमद नदीम कासिमी के समय तक (यानी आज तक) उर्दू के लेखक हिन्दी में लिखने को लालायित होते रहे हैं। उर्दू के लेखकों ने हिन्दी में भी काफी लिखा है। ये लिखने वाले दो तरह के हैं :--

१. वे जो उर्दू से आकर हिन्दी के हो गए और जिनका उर्दू में लिखना लगभग बंद हो गया, जैसे प्रेमचन्द आदि; और
२. वे जो उर्दू से हिन्दी में आये तो, मगर उर्दू में लिखना बंद नहीं किया, जैसे उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि।

इन लोगों ने अधिकतर कहानियां और उपन्यास लिखे हैं और इनके द्वारा हिन्दी गद्य की सेवा की है। इनके गद्य में व्यावहारिकता, सरलता, सुस्पष्टता, और उर्दू की-सी सफाई है। इन लेखकों का मस्तिष्क वाक्य-रचना, पद-योजना और शैली आदि के संबंध में एक विशेष ढंग का अभ्यस्त रहता है। यह ढंग वही है जिसने उर्दू के गद्य में---और पद्य में भी---एक अनोखी लोच, व्यावहारिकता का सौंदर्य, पैदा कर दिया है। हिन्दी में लिखते समय भी इन लेखकों का पहले से अभ्यस्त मस्तिष्क उर्दू गद्य वाली विशेषताएँ नहीं छोड़ पाता। परिणामतः हिन्दी गद्य में भी वह बात थोड़ी-बहुत आ ही जाती है।

संस्कृतनिष्ठ गद्य का सौंदर्य

हिन्दी गद्य से पंडिताऊपने का छूटना बहुत पहले से आरम्भ हो चुका था। पंडिताऊपने का भी एक अपना सौंदर्य होता है। बाण भट्ट की गद्य-शैली, और उन्हीं के अनुकरण पर निर्मित हिन्दी गद्य-शैली का भी, जिसके उदाहरण चंडी प्रसाद 'हृदयेश' की कहानियों और जयशंकर 'प्रसाद' के 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' नामक पुस्तक तथा उनकी अन्य साहित्यिक कृतियों में बहुतायत से मिलते हैं, एक सौंदर्य है। महादेवी वर्मा ने एक स्थान पर लिखा है :--

"कल्पना का यह ऐश्वर्य लोक गीतों में भी ऐसा ही निरंतर क्रम रखता है। सुदूर अतीत के कवि ने आंसू को मोती के समान माना है पर आज की ग्रामीणा माता भी गाती है, 'मोती ढरकें जब लालन रोवैं फुलझरियन जैसी किलकनियां'। मोती ढुलकते हैं जब उसका शिशु रोता है और फुलझड़ियों जैसी उसकी किलकारियां हैं। कोई ऐसा जीवन गीत नहीं जिसमें ग्राम वधू सोने के थाल में भोजन परोस कर और सोने की झारी में गंगा जल भर कर अपने पति का सत्कार नहीं करती। इन कल्पनाओं के पीछे जो संस्कार हैं वह किसी भी प्रकार विदेशीय नहीं।"[१]

१. महादेवी वर्मा: 'छायावाद' नामक निबंध

उन्हीं से एक अन्य उदाहरण भी लीजिए :—

"व्यावहारिक जगत में हमने पहले पहल खाद्य, आच्छादन, छाया आदि की समस्याओं को जिन मूल रूपों में सुलझाया था, उन्हें यदि आज के व्यंजन, वस्त्राभूषण और भवन के ऐन्द्रजालिक विस्तार में रखकर देखें, तो वे कला के स्थूल और सूक्ष्म उपयोग से भी अधिक रहस्यमय हो उठेंगे। जो बाह्य जगत में सहज था, वह अंतर्जगत में भी स्वाभाविक हो गया, अतः उपयोग संबंधी स्थूलता सूक्ष्म होते-होते एक रहस्यमय विस्तार में हमारी दृष्टि से ओझल हो गई और तब हम उसका निकटवर्ती छोर पकड़ कर दूसरे को अस्तित्त्वहीन कह-कह कर खोजने की चिन्ता से मुक्त होने लगे।"[1]

"बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद कहा गया। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पद योजना असफल रही।"[2]

इस शैली में लिखे गए गद्य का भी एक सौंदर्य होता है, इससे कोई भी इनकार न कर सकेगा। इस गद्य में प्रौढ़ता है, गंभीरता है, भाव-व्यंजकता है, और अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता है। ऐसे गद्य के विरोध में केवल एक ही बात कही जा सकती है और वह यह है कि यह सामान्य जनता की समझ में न आयेगा। ठीक है, किन्तु थोड़ा आगे बढ़कर मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि इस गद्य में जो-कुछ कहा गया है, वह चाहे जैसी भाषा में कहा जाय, जन समूह की समझ में नहीं ही आयेगा। यह विषय जिनकी समझ में आने वाला है, वे गद्य की इस शैली को भली-भांति समझते हैं। जब तक हम इससे भी सरल शैली में ये ही बातें अभिव्यक्त करके दिखा न दें, तब तक इस शैली का विरोध उचित नहीं। अभी तो जब कभी ऐसा गंभीर विषय उठाया जाता है, तब जनवादी विचार धारा के समर्थक प्रकाशचन्द गुप्त, शिवदान सिंह चौहान, राम विलास शर्मा आदि की भी शैली कुछ इसी ढंग की हो जाती है।

संस्कृत की इस शैली को छोड़ देने पर गद्य में कुछ भोंडापन आ सकता है। गंभीर विचारों की संक्षिप्ति के साथ अभिव्यक्ति में कठिनाई हो सकती है। उर्दू से हिन्दी में आने वाले लेखक इस समस्या के हल का रास्ता बना रहे हैं।

नई शैली और उसका सौंदर्य

नवीन शैली का विकास दस-बीस वर्षों के ही अन्दर नहीं हो सकता। कहानी, उपन्यास, नाटक और कुछ-कुछ कविता के लिए वह शैली निकल-सी आई है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क', अमृतराय, जहूर बख्श, रांगेय राघव आदि का गद्य काफी जोरदार होता है। पीछे अमृतराय की एक कहानी से सरल गद्य का एक अवतरण दे आए हैं। उसके सौंदर्य से भी मुंह नहीं मोड़ा जा सकता। साहित्यिकता का भी सौंदर्य होता है और व्यावहा-

---

१. महादेवी वर्मा : 'काव्यकला' नामक निबंध

२. जयशंकर प्रसाद : 'यथार्थवाद और छायावाद' नामक निबंध

रिकता का भी। संभव है कि विकसित होकर यही शैली गम्भीरतम विचारों को भी अभिव्यक्त कर सके।

हिन्दी गद्य पर पड़ने वाले प्रभाव

इस हिन्दी गद्य का विकास स्वतन्त्र रूप से नहीं हो रहा है। परिस्थितियां और आवश्यकताओं के अनुसार इस पर कई दिशाओं से प्रभाव पड़ रहे हैं। इनमें से कुछ का वर्णन पहले हो चुका है किन्तु प्रसंगवश यहां भी उनका उल्लेख कर दिया जाया करेगा। हिन्दी बहुत समृद्ध भाषा नहीं है। इसका कारण यह है कि अपनी वर्तमान स्थितियों में हिन्दी या हिन्दू जाति बहुत समृद्ध या विकसित नहीं है। एक दो व्यक्तियों के आधार पर समस्त जाति को उन्नत या विकसित नहीं कहा जा सकता। आधुनिक युग में ज्ञान-विज्ञान की जितनी शाखाएँ-प्रशाखाएँ दिखाई पड़ती हैं या आज जीवन में जिन-जिन वस्तुओं का हम उपयोग करते हैं, उनमें से बहुत हिन्दी प्रदेश वालों के लिए नई हैं। उनकी अभिव्यक्ति के लिए नए पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता पड़ी। हिन्दी में वे शब्द थे नहीं। अंग्रेज़ी के मूल शब्दों का ही प्रयोग कर दिया जाने लगा था। इस प्रकार हिन्दी में आये हुए विदेशी शब्दों में से कुछ ये हैं:—'टेकनीक', 'रेडियो', 'सर्कस', 'सिनेमा', 'प्रूफ', 'टाइप', (इन दोनों शब्दों का संबंध मुद्रणकला से है), 'प्रेस', 'प्रोपेगैंडा', 'गेस्टापो' (जर्मनी की गुप्त पुलिस) 'यूनिवर्सिटी', 'कालेज', 'गेटकीपर', 'लान', 'मीटिंग', 'वोट', इत्यादि। स्वास्थ्य, विज्ञान, औषधि आदि उपयोगी विषयों की हिन्दी भाषा से यदि इस सूची को पूर्ण करने का प्रयत्न किया जाय तो वह सूची बहुत ही लंबी हो जायगी। उपर्युक्त शब्द ऐसे हैं जिनका हिन्दी भाषा में निःसंकोच प्रयोग होता है।

२—अंग्रेज़ी का प्रभाव

अंग्रेज़ी का हिन्दी के ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा है। यह प्रभाव कई प्रकार से पड़ा है। हम यह पहले कह आये हैं कि हिन्दी गद्य में बहुत से ऐसे नए शब्द पारिभाषिक शब्दों के रूप में या व्यवहार में आने वाले शब्दों के रूप में घुल-मिल गए हैं जो हिन्दी के नहीं थे। इन शब्दों में सबसे अधिक संख्या अंग्रेज़ी शब्दों की है। कुछ शब्द ऐसे भी हैं, जिनके अर्थ में, अंग्रेज़ी शब्दों के अनुसार प्रयोग होने के ही कारण, कुछ नवीनता आ गई है। संस्कृत का एक शब्द है 'शक्ति'। अंग्रेज़ी के प्रभाव के कारण अब यह 'सैन्यशक्ति' में भी आता है, 'प्रेरक शक्ति' में भी, और कभी-कभी 'सामर्थ्य' के स्थान पर भी इसका प्रयोग हो जाता है। 'प्रजातन्त्र', 'जनतन्त्र', 'पूंजीवाद', 'समाजवाद', 'साम्यवाद', 'नौकरशाही', आदि शब्दों का निर्माण अंग्रेज़ी भावों को लेकर ही हुआ है। इसके अतिरिक्त कुछ साहित्यिक शब्द भी इसी प्रकार बन गए हैं; जैसे, 'गोल्डेन एज' के भाव पर 'स्वर्णयुग', 'गोल्डेन फ्यूचर' के लिए 'स्वर्णिम भविष्य', 'ग्रैंड सक्सेज' के लिए 'शानदार सफलता', और 'गोल्डेन रेज़' की जगह 'स्वर्ण किरण' आदि। एक उपन्यास में तो 'गुडमार्निंग' के साम्य पर 'सुप्रभात' प्रातःकाल के नमस्कार

के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'एकाकी पथ' आदि पदों के निर्माण में अंग्रेज़ी से प्रभावित मस्तिष्क का ही चिन्तन प्रतीत होता है। यह प्रभाव कभी-कभी मुहावरों और कहावतों की सृष्टि करने लगता है; जैसे, 'टु लेट ग्रास ग्रो अंडर दि फीट' के लिए 'पैर के नीचे घास उगने देना'। किन्तु चूंकि कहावतों और मुहावरों का निर्माण और उनकी मान्यता इस प्रकार होती नहीं, अतएव ऐसे प्रयत्न हास्यास्पद होकर रह गये। इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन न मिला। अंग्रेज़ी का प्रभाव वाक्य-निर्माण पर भी पड़ा है। 'श्याम ने राम से कहा कि वह चला जाय' या 'लड़के ने मुझसे कहा कि घर जाना है' जैसे वाक्यों पर अंग्रेज़ी का प्रभाव स्पष्ट है। ये वाक्य अंग्रेज़ी के इंडाइरेक्ट नैरेशन के आधार पर बनाये गये हैं। इसी प्रकार 'उन कविताओं को, जो कल लिखी गई थीं, आज सुबह मैंने नष्ट कर डाला' पर भी अंग्रेज़ी का प्रभाव है। इसका हिन्दी रूप होगा--'जो कविताएँ कल लिखी गई थीं, उनको आज सुबह मैंने नष्ट कर डाला।' विराम चिन्हों का प्रयोग और परिच्छेदों एवं अनुच्छेदों में विभाजन भी अंग्रेज़ी से ही लिया गया है।

अंग्रेज़ी के अतिरिक्त उर्दू का प्रभाव भी हिन्दी गद्य पर पड़ा है। इसका थोड़ा सा दिग्दर्शन पीछे कराया जा चुका है, परन्तु वस्तुतः यह विशेष अध्ययन का विषय है।

साहित्यिक उर्दू का प्रभाव

संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि उर्दू में प्रयुक्त फारसी-अरबी के वे शब्द जो हिन्दी जनता में प्रचलित हो गए, हिन्दी में ले लिए गए। तुलसीदास तक ने 'गरीब-नेवाज़' शब्द का प्रयोग 'रामचरित मानस' में किया है। इन शब्दों के जनता में प्रचलित होने का कारण ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक है। दो महान संस्कृतियों के संघर्ष और उनके अनुयायियों का लड़ते-भिड़ते हुए भी एक ही जगह साथ-साथ रहने, हिन्दुओं का फारसी-अरबी पढ़ने और मुसलमानों का संस्कृत और हिन्दी सीखने, आदि के कारण आज ऐसा हुआ। आठ-नौ सौ वर्षों का यह पारस्परिक संघर्ष, जिसमें परस्पर लड़ना-भिड़ना भी है और मिलना-जुलना भी, इतना भी न कर सकता तो आश्चर्य होता। दूसरा प्रभाव यह है कि साहित्यिक उर्दू की कुछ विशेषताओं को लेकर हिन्दी की एक नई शैली का विकास हुआ। इसका उल्लेख पीछे हो चुका है। 'ज़' 'ग़' आदि ध्वनियों का निर्माण फारसी ध्वनियों के आधार पर ही हुआ है। इसके अतिरिक्त और बातें भी हैं, किन्तु वे गम्भीर अध्ययन एवं स्वतन्त्र पुस्तक की चीज़ें हैं। यहां इतना ही पर्याप्त है।

हिन्दी संस्कृत की ऋणी है। शब्द-समूह, पद-रचना, व्याकरण की अन्य बातें जैसे संधि-समास आदि, भाव, अलंकार, शैली आदि कई दृष्टियों से हिन्दी के ऊपर संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट है। हिन्दी साहित्य का तीन-चौथाई से भी अधिक संस्कृत के आधार पर है। अब संस्कृत का यह प्रभाव कुछ कम हो चला है। परिस्थितियों ने संस्कृत का कुछ स्थान अन्य भाषाओं को देने के लिए हिन्दी को विवश कर दिया

है। फिर भी, जो कुछ शेष रह जाता है वह भी बहुत है। लेखकों का अधिकतर प्रयत्न यही रहा है कि यदि भावाभिव्यंजना में किसी प्रकार का दोष न आए, तो यथासंभव संस्कृत के तत्सम शब्दों का ही प्रयोग किया जाय। इसी प्रवृत्ति के कारण लोग देशज अथवा जनता में प्रचलित अन्य भाषाओं के शब्दों को छोड़ दिया करते थे। 'लुभावने' की जगह 'लोभनीय' का प्रयोग कुछ ऐसा ही लगता है। इसके कारण भाषा में एक प्रकार की कृत्रिमता आ जाती है। बोलचाल की भाषा का सौंदर्य, उसकी लोच और तड़प भाषा में नहीं आ पाती। सानुनासिक शब्दों का बार-बार प्रयोग, मधुर वर्णों की अनेक बार आवृत्ति और संस्कृत की तत्सम शब्दावली, आदि तत्त्व तत्सम शैली के हिन्दी गद्य में कभी-कभी तो जयदेव की शैली का आनन्द ला देते हैं। इस शैली से मान्य माधुर्य और मर्यादा बनी रह जाती है। इतना अवश्य है कि इसका आनन्द लेने के लिए अभिरुचि को वैसा ही संस्कृत भी करना पड़ता है। पारिभाषिक शब्दावलियां अधिकतर या तो संस्कृत से ली जाती हैं या संस्कृत शब्दों के ढंग पर बनाई जाती हैं, जैसे 'पोयटिक जस्टिस' के लिए 'काव्य-न्याय', 'निगेटिव ऐट्रिब्यूट' के लिए 'नकारात्मक उपाधि', 'सेटिंग' के लिए 'परिपार्श्व', इत्यादि।

४—संस्कृत का प्रभाव

हमारे अध्ययन की अवधि के अन्दर इनके अतिरिक्त अन्य भाषाओं के गद्य का प्रभाव हिन्दी गद्य पर या तो बिल्कुल ही नहीं पड़ा; और यदि पड़ा भी, तो बिल्कुल नगण्य। कारण यह है कि इस युग में आते-आते हिन्दी गद्य में शक्ति, सामर्थ्य और व्यक्तित्त्व आ गया था। वह या तो उनका प्रभाव स्वीकार कर सकता है जो अभिन्न हैं या उनका, जो बहुत महान हैं या जो पूर्वज हैं। उर्दू, अंग्रेज़ी, या संस्कृत का प्रभाव इसीलिए अब तक पड़ता आया है। सो, इन प्रभावों के साथ-साथ हिन्दी गद्य का विकास हो रहा है।

हिन्दी गद्य का एक अन्य रूप हमें 'बाबू हिन्दी' या 'होस्टली हिन्दी' में दिखाई पड़ता है। विश्वविद्यालयों या कालेजों से सम्बन्धित हम विद्यार्थियों या हमारे अध्यापकों की बोली का एक नया रंग होता है। अंग्रेज़ी हम लोगों की ज़बान पर इतनी चढ़ी हुई है, हम लोगों का मस्तिष्क उसका इतना अभ्यस्त है कि हम अपने विचारों की अभिव्यक्ति शुद्ध हिन्दी में कर ही नहीं पाते। बात उठाने पर अपनी विवशता प्रकट करके रह जाते हैं। यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ गई है कि सामान्य व्यवहार की बातों के लिए भी हमें अंग्रेज़ी के शब्दों की आवश्यकता पड़ जाती है। 'टेकनिकल में तो ऐडमिशन बहुत मुश्किल है', 'हेड आफ दि डिपार्टमेंट को एप्रोच करो, अगर वह रेकमेंड कर दें, तो इसकी पासिबिलिटी है कि तुम्हें साइज़रशिप मिल जाय' 'एजुकेशन के एक्सपैंशन के साथ-साथ अन-एम्लॉयमेंट बढ़ता जा रहा है', 'नाइन्टीन थर्टी वन की-सी कंडीशन आने वाली है और शायद गवर्नमेंट का इस ओर अटेंशन ही नहीं जाता' आदि वाक्यों

'होस्टली हिंदी'

से इन शिक्षालयों का वातावरण गूंजा करता है। यहां तक तो गनीमत थी, किन्तु एक दिन एक महाशय कह रहे थे:—'दू मर्द! एडमिट काहे नैखे करत। केऊ आब्जेकशन करो तब देख लिहल जाई।' हाई स्कूल में मेरे एक साथी ने एक बार अध्यक्ष से यों शिकायत की थी:—'मास्साब, ए आलवेजै चिढ़ावा कर थैं।' अतएव जब किसी उपन्यास या कहानी में इस तरह के वातावरण का या ऐसे किसी व्यक्ति का चित्रण करना होता है तब स्वाभाविकता लाने के लिए कभी-कभी इस प्रकार का गद्य भी लिख दिया जाता है। उदाहरण लीजिए :—

"........................फिर आप दोनों फ़ेमलीज़ की फ्रेंडशिप ज्यादा चीज़ है या वह मिस्चीवियस वेगाबांड छोकरा"?[१]

"............उन्होंने चिल्लाकर पुकारा—ब्वाय! जल्दी एकदम गाड़ी लाने को बोलो।"[२]

ध्यान रहे कि पहले वाक्य के शब्द और दूसरे वाक्य की शैली हिन्दी की अपनी नहीं है।

उर्दू के शब्द हमारी जनता की ज़बान पर इतने चढ़ गये हैं कि उसका प्रयोग अखरता नहीं। सतत व्यवहार और उपयोग ने उनको हिन्दी का कर दिया है। फिर भी यह एक सत्य है कि आज भी हिन्दी में कुछ लोग ऐसे हैं जो इन शब्दों को विदेशी समझते हैं। उनका उपयोग करते समय हिचकते हैं। तो, जिनका हमारा शताब्दियों का संबंध है, जब वे शब्द अभी पूरी तरह से नहीं अपनाए जा सके हैं, तब अंग्रेज़ी के इन शब्दों के बारे में क्या कहा जाय! गद्य का यह स्वरूप उनको भी मान्य नहीं जो इसे बोलते हैं!

साधारणतया हिन्दी गद्य का एक स्वरूप निश्चित हो गया है। उसकी सामान्य रूपरेखा विनिर्मित हो गई है। उसका एक अपना व्यक्तित्त्व बन चला है। इतना सब होने पर भी जब हम हिन्दी गद्य का सूक्ष्म विश्लेषण करने लगते हैं, उसके गुणों-अवगुणों पर गंभीरतापूर्वक विचार करने लगते हैं, तब उसमें बहुत सी कमियां एवं अनेक अव्यवस्थाएँ दिखाई पड़ने लगती हैं।

हिन्दी गद्य की कमियां

साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी समस्त हिन्दी प्रदेश की अपनी बोली नहीं है। वह सुशिक्षित समुदाय के बड़े भाग की एक भाषा है। साथ ही वह इस समुदाय के भी व्यवहार की भाषा नहीं। हिन्दी प्रदेश बहुत बड़ा है और उसमें बारह से भी अधिक बोलियां हैं। अपने घर के अन्दर एवं दिन-प्रति-दिन के व्यवहार में जनसमुदाय तो इन्ही में से किसी एक बोली को अपनाता है। उच्च शिक्षित महानुभावों और विद्वानों के घर में भी व्याकरण समस्त परिष्कृत खड़ी

१. गोविन्ददास : 'प्रकाश' नाटक (१९३० ई०)
२. यशपाल : 'वो दुनियां' (१९४५ ई०)

बोली लगभग नहीं के बराबर चलती है। दुलराती-कुदाती और चुमकारती-पुचकारती हुई मां-बहनें जो भाषा हमें सिखाती हैं, वह उन्हीं बोलियों में से कोई एक होती है। हम उसी बोली के वातावरण में बढ़ते हैं। परिणाम यह होता है कि बड़े होने पर भी और शिक्षित हो जाने पर भी इस बोली का प्रभाव जाता नहीं। एक बात और है। मातृभाषा समझ कर लोग खड़ी बोली हिन्दी सीखने और उसका व्यवहार करने में अधिक सचेष्ट और सतर्क नहीं पाए जाते। फल यह होता है कि कमियां बाकी रह जाती हैं। और तब, हिन्दी के परीक्षकों तक के पत्रों में 'मार्कस-स्लिप भेज दिया हूँ' जैसे वाक्य कभी-कभी मिल जाते हैं।

१—वाच्य प्रयोग की अशुद्धियां

धीरेन्द्र वर्मा का कथन है :—"बनारस की ओर भोजपुरी के प्रभाव के कारण पढ़े-लिखे लोगों के मुंह से भी 'मैंने रोटी खाई' के स्थान पर 'हम रोटी खाए' जैसा प्रयोग सुनने को मिल सकता है। बड़े-बड़े हिन्दी लेखकों की वृत्तियों तक में उनकी अपनी जनपदी बोली का प्रभाव दिखलाई पड़ता है।"[1]

२—'ने' का प्रयोग

स्कूलों के विद्यार्थी भी 'ने' के प्रयोग में ऐसी बहुत सी अशुद्धियां कर जाते हैं। क्रिया में ठीक लिंग-प्रयोग की कठिनाई गुणवाचक, भाववाचक या जड़ वस्तुओं की द्योतक या विदेशी संज्ञाओं के साथ विशेष रूप से पड़ती है, जैसे 'तकलीफ मालूम होगा,' 'जलराशि चांदी ऐसा सफेद मालूम होता था,' 'पुस्तक बनाया है', 'मैंने सिगरेट पिया', इत्यादि। इसी प्रकार 'उलाटिए', 'सेना', 'करै' भी सुनाई पड़ जाते हैं। एक विदुषी जी एक बार कह रही थीं:—"लडकी ने ने क्या करी कि..............!"

३-लिंग प्रयोग

४—उच्चारण-दोष के कारण

उच्चारण की वजह से भी अपरिपक्व मस्तिष्क वाले लोग शब्दों को गलत लिख जाते हैं। ऐसे कुछ अशुद्ध शब्द ये हैं :—

'मात्र भाषा', 'अम्रतसर', 'पृथा', 'बृजभाषा', 'पृकृति', 'ॠषी', 'शान्ती', 'अग्नी', 'मालुम', 'मुर्च्छा', 'मुल्य', 'छेपक', 'इक्षा, "षणयंत्र', 'व्योहार', 'इसाई', 'प्रसंशा', 'श्रेष्ट', 'जैसिंह', 'फौज़', 'माधुर्यता', 'शांतपन', 'नुकशान-प्रद', 'रेडिओ', 'पैत्रिक', 'व्यंग', 'मलीन', 'ईर्षा', 'कौशिल्या', अर्हनिशी', आदि।

५—संस्कृतपन का मोह-प्रत्यय उपसर्ग, परसर्ग आदि के रूप में

संस्कृतपने के मोह के कारण भी लोग प्रायः गलत शब्द लिख जाते हैं। 'दुःख' से 'दुःखित', 'प्रगट', 'उपरोक्त' आदि शब्द ऐसे ही हैं। 'बाह्य' से 'वाह्य' इसी मोह के कारण हो गया।

प्रत्यय, उपसर्ग और परसर्ग भी कभी-कभी अशुद्धियों के कारण बन जाते हैं। 'समाज' और 'पुराण' में 'इक' लगाकर 'सामाजिक' और 'पुराणिक' बना कर लोग प्रायः उसका प्रयोग कर लेते हैं और

---

१. धीरेन्द्र वर्मा : इलाहाबाद यूनिवर्सिटी हिन्दी मैगज़ीन, फरवरी १९५० ई० में 'हिन्दी व्याकरण की समस्याएँ' शीर्षक लेख

'सामाजिक' और 'पौराणिक' भूल जाते हैं। कुछ दिनों पूर्व शब्दों के पहले 'सु' लगाने का मोह बहुत पाया जाता था। चंडी प्रसाद' 'हृदयेश' की भाषा में 'सु' युक्त शब्द बहुत मिल जाते हैं। एक विद्वान ने भीषण क्रांति के लिए 'उत्क्रांति', जिसका अर्थ होता है 'मृत्यु', का गलती से प्रयोग कर दिया था। 'वादाविवाद' भी ऐसा ही अशुद्ध शब्द है। 'फेनिल', 'उर्मिल', 'स्वप्निल', आदि शब्दों में साम्य ही है। संस्कृत-व्याकरण इनमें से सब को सही नहीं मानता।

हम वाक्य लिख तो जाते हैं किन्तु प्रायः यह नहीं सोचते कि हमने जो कुछ कहा है, उससे ठीक-ठीक वही प्रकट होता है या नहीं, जो हम कहना चाहते थे। सामान्यतः देखने पर बिल्कुल सही लगने वाले वाक्यों के भावों में भी वाक्यों को शब्द-योजना कभी-कभी बड़ी गलत-सलत और हास्यास्पद व्यंजनाएं पैदा कर देती है। अर्थ उस ओर झुक जाता है, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते, स्वीकार करना तो और बात है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित कुछ वाक्यों को एक-एक करके देखते-समझते चलिए :—

६-भावों की व्यंजना में गड़बड़ी

१. 'वह अपराधी दंड देने के योग्य है।'

वाक्य से यह व्यंजना निकलती है कि उस अपराधी में इतनी योग्यता है कि वह दंड दे सके। सत्य यह है कि अपराधी को दण्ड देने का अधिकार कहीं भी नहीं रहता। उसका अपराध उसे दण्ड पाने का अधिकारी अवश्य बना देता है। अतएव 'वह अपराधी दंड पाने के योग्य है' यह होना चाहिये। यह भी हो सकता है कि 'वह अपराधी दंड दिए जाने के योग्य है'। 'दिए जाने' की जगह 'देने' के प्रयोग ने सारी गड़बड़ी ला दी है और अर्थ में इतना बड़ा परिवर्तन ला दिया है।

२. 'शिवदयाल नामक फांसी की सजा पाए हुए एक व्यक्ति के आने का समाचार मिला है।'

नामक का अर्थ है 'नाम की'। शिवदयाल नाम की फांसी की सज़ा! गोया कई नाम की फांसियां होती हैं जिनमें से एक का नाम है 'शिवदयाल'। लिखने वाला यह कदापि नहीं कहना चाह सकता जब तक कि उसका मस्तिष्क बिल्कुल ही विकृत न हो गया हो। होना चाहिएः—फांसी की सजा पाए हुए शिवदयाल नामक एक अभियुक्त के आने का समाचार मिला है।

३. 'यदि आजाद फौज के बंदियों को दंड दिया गया तो जनमत को क्षुब्ध करने के सिवा दूसरा लाभ न होगा।'

वाक्य से यह ध्वनित होता है कि बहुत से लाभ हैं, जिनमें से एक 'जनमत को क्षुब्ध' करना भी है। सो, यदि आजाद फौज के बंदियों को दंड दिया गया तो इस लाभ के सिवा दूसरा लाभ न होगा। निश्चित है कि यह अनर्थ है, किन्तु शब्द-योजना से यही ध्वनि निकलती है। किया क्या जाय?

७-तुलना और साम्य में गड़बड़ी

४. 'आप के सब काम हमसे अच्छे होते हैं।'

प्रश्न यह है कि आप के सब काम हमसे अच्छे होते हैं या हमारे सब कामों से अच्छे! वाक्य काम को 'हमसे' अच्छा बता रहा है!

५. 'कुत्ता दरबान की तरह दुम हिलाता हुआ दरवाजे पर खड़ा होता है।'

इस वाक्य में जब तक 'दरबान की तरह' को दो कामा के बीच न कर दें, तब तक यह अर्थ निकल सकता है कि एक कुत्ता था जो दरबान की तरह दुम हिलाता हुआ . यानी जैसे दरबान दुम हिलाया करता है वैसे दुम हिलाता हुआ, दरवाजे पर खड़ा रहता था। लेकिन क्या दरबान के दुम होती है जिसको वह हिलाए और जिसको हिलाते हुए देखकर वैसे ही कुत्ता भी अपनी दुम हिलाए ?

८-हास्यास्पद और अनिश्चित अर्थ

६. 'सिनेमा की अभिनेत्रियों के समान कपड़ों का भंडार बढ़ता गया।'

विचारणीय बातें दो हैं :—१. सिनेमा की अभिनेत्रियां, और (२) कपड़ों का भंडार। इन्हीं दोनों में समानता स्थापित की गई है। कपड़ों का भंडार बढ़ता गया। कैसे ? जैसे सिनेमा की अभिनेत्रियां बढ़ती गई हैं। प्रश्न उठता है कि क्या लेखक यही कहना चाहता था। क्या उसका यह तात्पर्य नहीं है कि जैसे सिनेमा की अभिनेत्रियों के कपड़े रात-दिन अधिक होते जाते हैं, वैसे ही कपड़ों का भंडार भी बढ़ता गया ? सभी पाठकों के सामने लेखक सदैव रह नहीं सकता, तब यह प्रश्न हल हुए बिना ही पड़ा रह जायगा। पाठक की दुविधा नहीं मिटेगी।

७. 'इस दुकान पर अनार, संतरे, और अंगूर का शरबत मिलता है।'

यह वाक्य कितना अनिश्चित अर्थ देता है, यह देखिए। इस वाक्य से यह व्यंजित होता है कि इस दूकान पर अनार मिलता है, सन्तरे मिलते हैं, और अंगूर का शरबत मिलता है। यही वाक्य यह अर्थ भी देता है कि इस दूकान पर अनार, सन्तरे और अंगूर के शरबतों को एक में मिला कर बनाया हुआ शरबत मिलता है। निश्चित रूप से यह कह सकना कठिन है कि दोनों अर्थों में से कौन मान्य हो और कौन अमान्य।

९- अधूरी अभिव्यक्ति

८. 'दोनों हाथ कमर पर रख, सीना आगे की ओर झुकाते हुए मुंह बना कर सुकुल जी ने फंकी लगाई।'

ज़रा सोचिये कि जब दोनों हाथ कमर पर रख लिये, तब सीना आगे की ओर झुकाते हुए मुंह बना कर सुकुल जी ने कैसे फंकी लगाई होगी। जब तक कमर पर से एक हाथ उठाने का उल्लेख न किया जाय, तब तक अभिव्यक्ति अधूरी रह जाती है।

१०—संयोजकों का निरर्थक प्रयोग

'कि' का निरर्थक प्रयोग बहुत होने लगा है। इसकी निरर्थकता उस समय और अधिक स्पष्ट हो जाती है, जब यह 'जो', 'जिस', 'जब', 'जिससे', 'जैसे', 'जहां', आदि के साथ आता है। देखिए :—

'वह घोड़ा, जो कि कल खरीदा गया था, आज सुबह मर गया।'

'उमेश चन्द्र, जिससे कि मेरे एक मित्र का घनिष्ट परिचय था, मेरी एक पुस्तक अपने नाम से छपवाकर रूपए कमा रहा है।'

'उस चौराहे पर, जहां कि उस दिन हम लोग मिले थे, कल एक सेठ जी सिपाहियों के बीच हथकड़ी पहने हुए जाते दिखलाई पड़े।'

उपर्युक्त वाक्यों में 'कि' बिल्कुल बेकार है। 'जो', 'जिस', 'जहां' और 'जिससे' से पूरा काम चल जाता है। निरर्थक शब्दों के प्रयोग का एक और उदाहरण लीजिए :—

'आज तुम ससुराल जा रही हो, अतः जाओ।' इस वाक्य में 'अतः' बिल्कुल निरर्थक है।

११—'व' और 'ब' की गड़बड़ी

उच्चारण-दोष या प्रमाद के कारण कभी-कभी 'ब' की जगह 'व' का प्रयोग कर दिया जाता है। भूल तो होती ही है, कभी-कभी अर्थ में भी गड़बड़ी पैदा हो जाती है; जैसे, 'वाह्य' का अर्थ है 'वहन किये जाने के योग्य', यानी ढोने लायक, और 'बाह्य' का अर्थ है 'बाहरी'। 'वहन' का अर्थ है ढोना, और 'बहन' अपनी सहोदरा को कहते हैं। एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग गड़बड़ी पैदा कर सकता है या नहीं?

१२—चन्द्र-विन्दुओं का गलत प्रयोग

आजकल प्रेस की सुविधाओं को ध्यान में रखकर लोगों ने चन्द्रविन्दुओं के महत्त्व को भुला दिया है। व्यवहार बहुत बड़ी चीज़ होती है। जिस चिह्न को हम 'अलिफ' कहते हैं, उसका प्रयोग 'अ' ध्वनि के स्थान पर करते हैं। 'हाल्फ' लिख कर अंग्रेज़ी वाले 'हाफ' और 'क्नाऊलेदगे लिख कर 'नालेज' पढ़ते हैं। व्यवहार है। जो चाहिए, सो चला लीजिये। नहीं तो, 'हंस' और 'हँस' को एक मानने वालों से कुछ सोचने की प्रार्थना की जा सकती है। 'आप की हंसी बड़ी अच्छी लगती है।' 'हँसी' शब्द 'हँसना' क्रिया से बना है। 'हंसी' 'हंस' का स्त्रीलिंग है। दोनों एक तो नहीं हो सकते! कविता में यह एक मात्रा का अन्तर पैदा कर देता है। किन्तु, प्रेस की सुविधा के आगे वैज्ञानिकता की बात शायद नहीं सुनी जा सकेगी।

१३—शब्दों की अनेकरूपता

हिन्दी में कुछ शब्द कई ढंग से लिखे जाते हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित रूप देखे जा सकते हैं :—

'आई' और 'आयी'
'गए' और 'गये'
'लिए' और 'लिये'

'धर्म्म' और 'धर्म'
'कौए' और 'कौये'
'कौआ' और 'कौवा'

इस प्रकार के शब्दों की सूची बहुत बड़ी हो सकती है। ध्यान देने की बात यह है कि एक ही लेखक के एक ही लेख में एक ही भाव के लिये इन दोनों रूपों के प्रयोग मिल जाया करते हैं। नागरी प्रचारिणी सभा ने इनके लिये कुछ नियम बनाये थे। वे आज तक भी विद्यार्थी वर्ग के प्रयोग में न आ सके। कदाचित् नब्बे प्रतिशत अध्यापक और लेखक भी उन्हें नहीं जानते। विद्यार्थी और नये लेखक हमेशा से दोषी ठहराये जाते रहे हैं। शायद इसके लिये भी वे ही दोषी हैं!

विभक्तियों के प्रयोग ने भी आजकल एक समस्या का रूप धारण कर लिया है। प्रश्न उठाया जाता है कि 'राम ने लक्ष्मण को कुटी में रहने के लिए कहा' वाक्य में 'राम ने', 'लक्ष्मण को' 'कुटी में', और 'रहने के लिए' शब्दों में 'ने', 'को', 'में' और 'के लिये' को क्रमशः 'राम', 'लक्ष्मण', 'कुटी', और 'रहने' के साथ मिला-मिला कर लिखा जाय या अलग-अलग। संस्कृत में ये विभक्तियां मिला कर लिखी जाती थीं। बंगला में भी मिला कर लिखी जाती हैं। हिन्दी में भी इन्हें उसी प्रकार मिला-मिला कर लिखने की बात उठाई जा रही है। विद्वानों का कोई निर्णय अभी सामने नहीं आया है।

१४–विभक्तियों की समस्या

इसी प्रकार विराम चिन्हों के प्रयोग की और आवश्यकतानुसार अक्षरों के नीचे बिंदियां लगाने वाली समस्यायें भी हैं।

इन सब के बारे में विद्वानों का निर्णय हिन्दी वालों के सम्मुख आना चाहिये और परीक्षाओं तथा पत्र-पत्रिकाओं आदि में उनका प्रचलन अनिवार्य कर देना चाहिये। नहीं तो, यह गड़बड़ी चलती ही रहेगी और भाषा की व्यंजना शक्ति भी बिखरी-बिखरी रहेगी। इससे हिन्दी का अनिष्ट हो रहा है। मान लीजिये कि हिन्दी को न्यायालयों में स्थान मिला। न्यायाधीशों ने किसी मुकदमे का फैसला हिन्दी में लिखा; अथवा यह मान लीजिये कि किसी वादी ने हिन्दी में प्रार्थनापत्र या मिसिल दी। अब यदि उसकी हिन्दी वैसी ही अनिश्चित रही, जैसी इसी शीर्षक के चौथे नम्बर के उदाहरणों में पाई गई है, तो विद्वान वकील-बैरिस्टर ऐसे निर्णय की या ऐसी मिसिलों की धज्जियां उड़ा डालेंगे। जो एक-एक शब्द एवं एक-एक विराम-चिह्न से पूरे का पूरा निर्णय बदलवा देने की तर्क-शक्ति रखते हैं, उनके सामने हिन्दी इसी रूप और इसी शक्ति से जायगी क्या? अभी तो स्थिति यह है कि मस्तिष्क ऐसी वैज्ञानिक हिन्दी लिखने का अभ्यस्त नहीं है। स्वयं इसी थीसिस में इस तरह की सैकड़ों अशुद्धियां होंगी। यह इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी के विद्वानों और शिक्षा-विभाग के अधिकारियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट होना चाहिये। नीची कक्षाओं

तात्कालिक सुधार की आवश्यकता

से सुधार प्रारम्भ हो जाना चाहिए। ऊपर के लोगों को भी सँभलना चाहिये। नहीं तो, अव्यवस्था ऐसी की ऐसी ही रह जायगी। रामचन्द्र वर्मा की 'अच्छी हिन्दी', जिससे इस विवेचना की लगभग सभी बातें ली गई हैं, इस विषय की बहुत ही महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। ज़ोर-दबाव के अभाव और प्रयोग की कठिनाई के कारण उक्त पुस्तक की बातें लोगों ने कम अपनाई हैं। गलतियों के लिये उदाहरण वर्मा जी ने पत्र-पत्रिकाओं एवं लेखों से एकत्र किये थे। ये काल्पनिक नहीं हैं।

शब्द-भंडार

हिन्दी का शब्द-भंडार छोटा है। इस चीज़ का अनुभव उस समय सबसे अधिक होता है जब हम अभिव्यंजना की बारीकियों पर जाते हैं या जब अंग्रेज़ी आदि समृद्ध भाषाओं की पुस्तकों या लेखों का अनुवाद करने बैठते हैं। यह ठीक है कि अनुवाद में पड़ने वाली कठिनाइयां शब्द-भंडार की ही नहीं होतीं, वाक्य निर्माण एवं भाषा की प्रकृति आदि भी कठिनाइयां उपस्थित करती हैं। फिर भी हिन्दी में अनुवाद करते समय शब्दों की बहुत बड़ी कमी का अनुभव होता है। यह कमी अधिकतर संस्कृत, अंग्रेज़ी और उर्दू भाषाओं के शब्द-भंडार से पूरी की जाती है। संस्कृत से बहुत शब्द लिये जाते हैं। अंग्रेज़ी के शब्द संस्कृत के शब्दों की अपेक्षा कम होते हैं; और उर्दू के, सब से कम। जो शब्द बनाये जाते हैं वे भी संस्कृत के ही आधार पर, क्योंकि संस्कृत शब्दों का संबंध हमारे धर्म और हमारी संस्कृति से है। उदाहरण के लिए भाषा-विज्ञान की कुछ पारिभाषिक शब्दावलियां ले लीजिए। इसमें 'फ़ोनेटिक्स' के लिये 'ध्वनि', 'मार्फ़ोलोजी' के लिए 'रूप', 'एटीमालोजी' के लिये 'शब्द-व्युत्पति' आदि पारिभाषिक शब्द संस्कृत के ही हैं। इसी प्रकार अर्थशास्त्र में 'नेसेसिटी' के लिये 'आवश्यकता', और 'प्रोडक्शन' के लिये 'उत्पादन' है। 'आपरेट' माने 'करना', तो 'आपरेशन' माने 'कारिता'; और 'को' माने 'सह'; फिर, 'कोआपरेशन' के लिये शब्द बन गया (सह+कारिता) 'सहकारिता'। पारिभाषिक शब्द प्रायः इसी प्रकार बनाये जा रहे हैं। विज्ञान आदि विषयों में भी उनका निर्माण इसी प्रकार से किया जा रहा है। संस्कृत का यह मोह कभी-कभी हास्यास्पद हो जाता है; जैसे, 'इंजेक्शन' का अनुवाद 'सूचीबेध',[1] और 'कलरब्लाइंड' का 'रंग का अंधा'[2]। ऐसे शब्द शैली की गंभीरता बनाए रखते हैं। दूसरा लाभ यह है कि संस्कृत भारतवर्ष की प्रायः सभी भाषाओं की जननी है। उसके अधिकांश शब्द इन सभी भाषाओं में तत्सम या तद्भव रूपों में प्रचलित हैं। अतएव जब संस्कृत भाषा के शब्द अपनाए जाते हैं, या उन्हीं की रीति पर नए शब्द बनाए जाते हैं तब यह भी विश्वास कर लिया जाता है कि बंगाली, गुजराती, तामिल, तेलगू और मराठी आदि भाषाओं के बोलने वालों की समझ में ये शब्द जल्दी

शब्द-स्रोत

१—संस्कृत

---

१. 'प्रसूति तंत्र' (१९४६ ई०)
२. जानकी शरण वर्मा : 'सरल शरीर विज्ञान' (१९४० ई०)

आ जाएँगे। इससे हिन्दी को अन्तर्प्रान्तीय भाषा का पद प्राप्त करने में भी सहूलियत होगी।

अंग्रेज़ी के जो शब्द लिये जाते हैं उनको हिन्दी की प्रकृति में ढाल लिया जाता है। उनके मूल रूप में केवल इतना परिवर्तन किया जाता है कि उनकी जो ध्वनियां हिन्दी की ध्वनियों से मेल नहीं खातीं या हिन्दी में बिल्कुल नहीं पाई जातीं उन्हें हिन्दी की निकटतम ध्वनियों में बदल लिया जाय। उस शब्द की ध्वनि बिल्कुल हिन्दी की ध्वनि की तरह हो जाय। मूल रूप में इतना परिवर्तन करने के पश्चात् उनका प्रयोग किया जाता है। फिर, जब उनमें बहुबचन आदि के अनुसार परिवर्तनों की आवश्यकता पड़ती है तब हिन्दी के व्याकरण का सहारा लिया जाता है। उदाहरण के लिए कुछ शब्द लीजिये। अंग्रेज़ों के देश के इतिहास का एक पारिभाषिक शब्द है Protestant (प्रोटेस्टेंट)। हिन्दी में इसको 'प्रोटेस्टेंट' के रूप में लिखा जाता है। इसमें जो दो ध्वनियां विचारणीय हैं, वे हैं 'ओ' और 'टेंट'। हिन्दी-ध्वनि-चिन्हों के अनुसार 'ओ' और 'ए' अर्द्धसंवृत स्वर हैं। अंग्रेज़ी उच्चारण के अनुसार 'प्रो' और 'टेंट' में 'ओ' और 'ए' का उच्चारण अर्ध विवृत स्वरों के अनुसार होना चाहिये। हिन्दी में ये अर्द्धसंवृत ही बना कर लिखे और पढ़े जाते हैं। इसी प्रकार 'कैलोरी' में 'ऐ' और 'ओ', 'कैक्टस' में 'ऐ', 'स्टीराल' में 'ई', 'एस्कार्बिक एसिड' में 'ए' और, 'कार्बिक' के 'आ' के उच्चारण अंग्रेज़ी में उस ढंग से नहीं होते हैं, जैसा उन्हें हिन्दी की लिपि व्यक्त कर रही है। अंग्रेज़ी शब्दों के व्याकरण के रूप भी बदल दिये जाते हैं। निम्नलिखित वाक्य देखिए :—

२—अंग्रेज़ी

'हाथ, पैर और बाहरी धड़ के बहुत से हिस्सों की मांसपेशियां, जो आदमी की इच्छा के वश में हैं, इन्हीं सेलों से बनी होती हैं।'[1]

'पहले दी गई सारिणी से यह ज्ञात होता है कि प्रति छटांक स्त्री के दूध से ४० कैलोरियां प्राप्त होती हैं।'[2]

अंग्रेज़ी व्याकरण के अनुसार 'सेल' का बहुबचन 'सेल्स' और 'कैलोरी' का 'कैलोरीज़' होना चाहिये। हिन्दी व्याकरण के अनुसार हमने उन्हें 'सेलों' और' कैलोरियों' कर लिया। अंग्रेज़ी के बहुत से शब्द ऐसे हैं जिनको हिन्दी में पहले वैसे का वैसे ही ले लिया गया था, किन्तु अब उनके संस्कृत-रूप खोज निकाले गए हैं, जैसे 'सेल' के लिए 'कोष्ठ', या 'आक्सीजन' के लिए 'ओषजन'। व्यवहार, व्यवसाय, व्यापार, राजनीति, समाजनीति, शिक्षा, आदि विषयों के सैकड़ों शब्द हिन्दी को अंग्रेज़ी से मिलते रहते हैं। अनपढ़ मिस्त्री आदि के मुंह पर ऐसे अनेक शब्द रक्खे रहते हैं। गंवार देहाती भी आज 'रासन' (Ration) और 'कंट्रोल' (Control) बोलता है।

---

१. जानकी शरण वर्मा : 'सरल शरीर विज्ञान' (१९४० ई०)
२. 'विज्ञान' (फरवरी, १९४६ ई०)

उर्दू भाषा के माध्यम से इन दोनों भाषाओं के शब्द भी हिन्दी में आते रहे हैं। इन शब्दों की ध्वनियों को भी हिन्दी की ध्वनियों के अनुकूल बनना पड़ता है। इनके शब्द कचेहरी वाली भाषा में अधिक मिलते हैं। 'मिर्जई', 'शेरवानी', 'मुग़ालता', आदि हजारों शब्द सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त होते हैं। बहुत से शब्द तो ऐसे हैं जिनके बारे में (जब तक सोचने वाला भाषा-विज्ञान का विशेषज्ञ न हो) यह कह सकना मुश्किल है कि वे हिन्दी के हैं या अरबी-फ़ारसी के। 'कागज', 'मौसम', 'मैदान', 'पंजा', 'गल्ती' आदि बहुत से शब्द ऐसे हैं। 'मैदान' का सही उच्चारण है "ϵमइदान" (ϵ चिह्न अर्धविवृत 'अ' के लिये है)। इसी प्रकार 'मौसम' का सही उच्चारण 'मउसम' है। कचहरियों में प्रयुक्त होने वाले शब्द जैसे 'मुद्दई', 'मुद्दालै', 'मसौदा' आदि शब्द इन्हीं भाषाओं से आये हैं।

३—फ़ारसी-अरबी

उपर्युक्त प्रधान स्रोतों के अतिरिक्त हिन्दी का शब्द-समूह देशज, तद्भव, स्पेनी, पुर्तगाली, आदि के शब्दों से भी बना है; और ज्यों-ज्यों बाहरी देशों एवं अन्य प्रान्तीय भाषाओं से हिन्दी वालों का सम्पर्क बढ़ेगा, त्यों-त्यों इन विदेशी शब्दों की संख्या बढ़ती जायगी। क्रिकेट के सैकड़ों पारिभाषिक शब्द अब स्कूल, कालिज, या यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों के बीच सुनाई पड़ते हैं। उनमें से कुछ के हिन्दी अनुवाद प्रचलित हो जायं, तो हो जायं, किन्तु बहुत से वैसे के वैसे ही अपना लिये जायंगे।

विचार करने पर हिन्दी के शब्दों की दो प्रधान श्रेणियां दिखलाई पड़ेंगी। पहली श्रेणी में पुस्तकों की भाषा आयेगी और दूसरी श्रेणी में व्यवहार की भाषा।

हिन्दी शब्द-समूह के दो रूप

१—पुस्तकों का शब्द समूह

पुस्तकों की भाषा उर्दू यानी फारसी-अरबी और अंग्रेज़ी के तत्सम शब्दों एवं उनके तत्सम रूपों को नहीं अपनाती। उसमें संस्कृत के तत्सम रूपों, और यदि तत्सम रूप संभव न हों, तो उनके आसपास के किसी रूप की प्रधानता है। कुछ दिन पहले तक साहित्यिक भाषा का शब्द समूह भी इसी प्रकार का होता था। अब प्रेमचन्द, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', राजेन्द्र प्रसाद, श्रीमन्नारायण अग्रवाल, अमृतराय, और धर्मवीर भारती आदि साहित्यिकों की भाषा में उर्दू के शब्द भी पर्याप्त संख्या में रहते हैं। धर्मवीर भारती के 'गुनाहों का देवता' की भाषा तो इस दृष्टि से बहुत ही उदार है।

२—जनव्यवहार का शब्द-समूह

पुस्तकों की भाषा की यही शैली बोलचाल की भाषा के कुछ अनुरूप है। यहां उर्दू-हिन्दी का शब्द समूह गंगा-जमुना की धाराओं की लहरों की तरह मिलता-घुलता दिखाई पड़ता है। यही हालत जनसमूह के बोलचाल की भाषा की है। जनसमूह बहुत उदार होता है। यदि व्यावहारिकता हो और काम चलता हो, तो जनता के लिये किसी भी भाषा का कोई भी शब्द अस्पृश्य नहीं। अतएव जहां पुस्तकों में हिन्दी-उर्दू के शब्द-समूह एक दूसरे की ओर पीठ किये हुए दिखलाई पड़ते हैं, वहाँ बोलचाल में वे एक-

दूसरे से घुलते-मिलते दिखलाई पड़ते हैं। जनता का वर्ग निष्पक्ष होना चाहिए। मौलवी और पंडित वर्ग की भाषाएं तो एक दूसरे वर्ग की भाषाओं के स्पर्श से डरती रहेंगी ही।

शैलियां

दो प्रधान शैलियां:-(१) ललित साहित्य की और (२) उपयोगी साहित्य की

हिन्दी गद्य की शैलियों को प्रधानतया दो मुख्य वर्गों में विभाजित कर सकते हैं:—(१) ललित साहित्य की शैली, और (२) उपयोगी साहित्य की शैली। ललित साहित्य की शैली से तात्पर्य है कहानी उपन्यास, आलोचना आदि की पुस्तकों की शैली। उपयोगी साहित्य की शैली से तात्पर्य है इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि की पुस्तकों की शैली।

ललित साहित्य में शैली के वे सभी स्वरूप एवं उसकी वे सभी विशेषताएँ बनी हुई हैं, जो १९०० ई० से १९२५ ई० तक के बीच विकसित हो चुकी थीं।

पुरानी विशेषताएं-सब की सब

इसका एक कारण है। बहुत कम साहित्यिक ऐसे दिखाई पड़ेंगे जिनका मस्तिष्क सदैव नवीनताओं को ही खोज सके। विषय की नवीनता तो फिर भी संभव हो सकती है क्योंकि उसका संबंध मेहनत से है। किन्तु शैली के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। खूब सोच-समझ कर, विचार और परिश्रम करके, सीख-सिखाकर, जिस ढंग की शैली बना ली जाती है उसमें फिर परिवर्तन कर सकना प्रायः असंभव हो जाता है। कारण यह है कि एक बार अपनी शैली को पुष्ट और सशक्त करके समर्थ साहित्यिक विषयों की ओर झुक जाता है। शैली तो अभिव्यक्ति का एक माध्यम है। उसको प्रधानता नहीं दी जा सकती। प्रधानता दी जायगी उसे जिसकी अभिव्यक्ति करनी है। जो कुछ कहना है, उसी पर अधिक ध्यान दिया जाता है। शैली व्यक्तित्व का परिचायक है। मनुष्य का व्यक्तित्व बार-बार बदले जाने की चीज़ नहीं। जैसा बन गया, बन गया। जो विशेषताएं हैं, रहेंगी। खामियों को दूर करने का प्रयत्न किया जा सकता है। उनमें से कुछ दूर भी हो सकती हैं, किन्तु इससे कोई बहुत बड़ा मौलिक परिवर्तन न उपस्थित हो जायगा। इसीलिए शैली में भी आमूल परिवर्तन असंभव है। और, १९०० ई० से १९२५ ई० के बीच के सुयोग्य लेखकों में से अधिकांश इस युग के भी सुयोग्य लेखक हैं। कुछ आज तक लिखते चले आते हैं और आज भी उनकी कृतियों का महत्त्व माना जाता है। वृन्दावनलाल वर्मा, 'प्रसाद', प्रेमचन्द, सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, रामचन्द्र शुक्ल, शिवपूजन सहाय, जैनेन्द्र, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', श्यामसुन्दर दास आदि बहुत से लेखक इस युग के भी मान्य लेखक रहे हैं। इनमें से कुछ समर्थ लेखक मर चुके हैं किन्तु उनकी लेखन शैली आज भी उनके अनुयायियों के द्वारा चल रही है। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की शैली में ('वाङ्मयविमर्श' या 'बिहारी

की वाग्विभूति' आदि में) रामचन्द्र शुक्ल की शैली जीवित है; बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की शैली में गणेशशंकर विद्यार्थी की; जगन्नाथ प्रसाद शर्मा और नन्ददुलारे वाजपेयी की शैली में श्यामसुन्दर दास की; इत्यादि । हां, उन शैलियों की त्रुटियां निकल गई हैं। कभी-कभी एक शैली में दूसरी शैली के भी कुछ तत्त्व आ गए हैं। उदाहरण के लिये हजारीप्रसाद द्विवेदी की शैली में वर्णनात्मकता भी है, आचार्यों वाली गुरु-गंभीरता भी, भाषण कला भी, और भावुकता भी। अतएव गत युग की लगभग सभी विशेषताएं आज के युग में सुरक्षित हैं। इसका विस्तृत वर्णन आगे के अध्यायों में होगा।

तथ्य प्रधान शैली

धीरेन्द्र वर्मा इन सबसे अलग एक नई शैली के आविष्कार और प्रचार में लगे हैं। कलात्मकता का मोह बड़ा प्रबल होता है। प्रायः लेखक अलंकृत शैली को अपनाते हुए देखे जाते हैं। कल्पना, उपमा आदि अलंकार, भावुकता, भूमिका आदि से सुसज्जित गद्य शैली सुनने और पढ़ने-दोनों-में अच्छी लगती है। विद्यार्थी वर्ग तो ऐसे ही गद्य को सुन्दर गद्य समझता है। किन्तु सजावट सभी जगह अच्छी नहीं होती। जहां हमें खोज की बातें देनी हों, जहां हमें विचार-विनिमय करना हो, जहां तथ्य और तत्त्व की बातें करनी हों, और उच्च कक्षाओं की परीक्षाओं में जहां परीक्षक परीक्षार्थी के अध्ययन और ज्ञान का परिचय प्राप्त करना चाहते हैं, वहां यह सजावट वाली शैली काम की नहीं होती। इसी विचार को ध्यान में रख कर धीरेन्द्र वर्मा तथ्य प्रधान शैली का प्रचार करने में संलग्न हैं। इस शैली में व्यर्थ की भूमिका नहीं होती। सीधे विषय पर आ जाना होता है। सजावट की आवश्यकता नहीं। बिल्कुल सीधे-सादे और स्पष्ट ढंग से अपने विचारों को प्रकट करना होता है। एक बात समाप्त होने पर दूसरे पैराग्राफ में तत्काल दूसरी बात शुरू कर देनी होती है। कल्पना, भावुकता, और अलंकार आदि के लिए इस शैली में कोई जगह नहीं। भाषा परिष्कृत हिन्दी होती है। यदि हम चाहें तो एक-दो तीन करके लेख की बातें एक सरसरी दृष्टि से देख कर गिना सकते हैं। समस्त लेख की बातें लेख के अंत में निष्कर्ष के रूप में दे दी जाती हैं। 'विचारधारा' नामक इनकी निबंध-पुस्तक के सभी निबंध इसी शैली में हैं। फरवरी, १९४७ ई० के 'इलाहाबाद यूनिवर्सिटी हिन्दी मैगज़ीन' में 'पृथ्वीराज रासो' शीर्षक इनका निबंध भी ऐसा हो है। उससे इनकी संयत शैली का एक उदाहरण लीजिए :—

'एक बात जिसकी ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट होता है वह ग्रंथ की धार्मिक विचारधारा है। आदि से अंत तक रासो के अनेक समयों में शक्ति संप्रदाय संबंधी उल्लेख बिखरे पड़े हैं। उदाहरण के लिए समय ६ में शक्ति देवी के एक 'वीर' के वरदान का वर्णन है, समय १२ में शाक्त और जैन संघर्ष का उल्लेख है, समय २४ में भी अन्त में देवी के विषय में कुछ सामग्री है, समय ५६ में योग संबंधी कुछ

विचार मिलते हैं, समय ५७ व ५८ में कवि चन्द पर देवी की कृपा का उल्लेख है—वर देने की शक्ति देवी से मिलने के कारण ही कवि का उपनाम वरदाई पड़ा (दे० समय ५७), समय ६० में शिव-पूजा का उल्लेख है, समय ६४ में देवी की पूजा का वर्णन मिलता है, समय ६६ में जालंधरी देवी की पूजा का उल्लेख है, समय ६७ में योग संबंधी चर्चा व देवी-स्तुति फिर है। इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि ग्रंथ शाक्त और शैव परम्परा से संबद्ध है, वैष्णव संप्रदायों से इसका संबंध नहीं।"

वर्णन का उल्लेख करते हुए, जहां भावुकता और प्रशंसा से भरी कल्पनाओं के लिए पर्याप्त अवसर रहता है, लेखक ने कितना संयम रक्खा है, देखिए :—

'वर्णन रासो की सब से बड़ी विशेषता है। रस के परिपाक की ओर इस असाधारण रचना के लेखकों का ध्यान नहीं था। ग्रंथ के लेखक बाद के रसवादी भक्त कवियों अथवा अलंकारवादी आचार्य कवियों से भिन्न थे। वर्णनों में अनेक सुन्दर ऋतु वर्णन और उत्सव वर्णन रासो में मिलते हैं। युद्ध वर्णन के सिलसिले में सेना और रण-क्षेत्र का वर्णन बार-बार मिलता है। इस संबंध में लेखकों का सब से प्रिय रूपक समुद्र या वर्षा का है। रणक्षेत्र की तुलना विस्तार के साथ समुद्र अथवा वर्षा से की गई है। सभी-वर्णन और राजनीति से संबंध रखने वाले भी अनेक स्थल रासो में पाए जाते हैं। श्रृंगार रस के सिलसिले में रूप-वर्णन, नख-शिख-वर्णन तथा वस्त्र-आभूषणों का आद्योपांत वर्णन अनेक समयों में है। वास्तव में सफल फुटकर वर्णन चित्र रासो की सब से बड़ी विशेषता कही जा सकती है।'

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस शैली में लिखे लेख पाठकों का मनोरंजन, उनको काव्य-पिपासा की तृप्ति और उनकी सौंदर्य-दृष्टि को संतोष न दे सकेंगे। यह शैली

इस शैली के गुण-दोष और भविष्य

बहुत ही नीरस है। रूखी है। किन्तु सभी जगह रस ही मांगना-चाहना अच्छा नहीं। कहीं और कभी तो हमको गंभीर और तथ्य-प्रधान होना चाहिए। नहीं तो, हम हलके सिद्ध हो जायंगे। धीरेन्द्र वर्मा की शैली ऐसे ही व्यक्तियों एवं स्थलों के लिए है। यहां यह भी कह देना अनुपयुक्त न होगा कि यह और यही शैली उपयोगी साहित्य के ग्रंथों में अपनाई जायगी। कार्य प्रारम्भ हो गया है। जयचन्द विद्यालंकार के 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' (१९४२ ई०) से एक उदाहरण लीजिए :—

'माणिक्यमाला स्तूप के भीतर से रोमन गणराज्य के अंतिम युग के सात चांदी के सिक्के पाए गए हैं; उसी प्रकार जलालाबाद के पास अहिनपोश स्तूप के भीतर से कप्स, कनिष्क और हुविष्क के सिक्कों के साथ-साथ रोमन सम्राट दोमीतिआन, त्रायान और हाद्रियान के। इमारतों की बुनियाद में प्रचलित सिक्के रखने का रिवाज हमारे देश में अब तक है। हज़ारा, रावलपिंडी, कन्नौज, इलाहाबाद, मिर्ज़ापुर, चुनार आदि के बाजारों से भी रोमन सिक्के पाये गये हैं। इससे प्रतीत होता है कि

पहली शताब्दी ईसवी में रोमन सिक्का उत्तर पच्छिम भारत में काफी प्रचलित था। वह अवस्था सचेष्ट व्यापार के द्वारा ही हो सकती थी।'

इस अवधि में उपयोगी साहित्य लिखने में शैली-निर्माण की विचारधारा तो लगभग एक-सी रही, किन्तु शब्दों के अभावों ने कहीं-कहीं उसके स्वरूप में काफी विभिन्नता ला दी है। जहां संस्कृत के शब्द पर्याप्त मात्रा में मिल जाते थे, वहां शैली का रूप वही रहता था, जिसे अभी दिखा चुके हैं। 'इमारत', 'बुनियाद', 'सिक्के' जैसे कुछ शब्द, जो उर्दू से लिये जाते थे, शैली के स्वरूप में कोई विशेष परिवर्तन नहीं उपस्थित करते थे। कठिनाई वहां पैदा होती थी जहां हमारे पास शब्दों की कमी हो जाती थी। जब शब्दों के गढ़ने से भी काम नहीं चलता था, तब अंग्रेज़ी के मूल शब्दों का ही प्रयोग कर दिया जाता था। ज्यों-ज्यों शब्द बनते गए अंग्रेज़ी के उन शब्दों का प्रयोग कम होता गया। यह प्रक्रिया आज तक चल रही है। अर्थशास्त्र और विज्ञान की पुस्तकों में यह चीज बहुत मिलती है। फूलदेव सहाय वर्मा की विज्ञान की पुस्तक 'साधारण रसायन' (१९३२ ई०) की शैली का एक उदाहरण लीजियेः—

'नाइट्रोजन के आक्साइडों में यह सब से अधिक स्थायी होता है। रक्त-ताप पर यह विच्छेदित हो जाता है। दहन का यह पोषक नहीं है। जलती कमची व गंधक इस गैस में बुझ जाती है। धीरे-धीरे जलने वाला फास्फरस भी इसमें बुझ जाता है। किन्तु तीव्रता से जलने वाला फास्फरस और तीव्रता से जलने लगता है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार की तीव्रता से जलने वाला फास्फरस इस आक्साइड को नाइट्रोजन और आक्सिजन में विच्छेदित कर देता है।

उपयोगी साहित्य की अन्य शैलियांः—
१—विज्ञान में

यह गैस फ़ेरस सल्फ़ेट के विलयन में घुल जाती है। इस प्रकार घुल कर कपिल वर्ण का एक यौगिक F_2SO_4NO बनता है। नाइट्रिक अम्ल के परीक्षण में इसी का विलयन बनता है।'

आजकल 'आक्सिजन' की जगह प्रायः 'ओषजन' का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार द्वारकालाल गुप्त के 'भारतीय बैंकिंग' (१९३४ ई०) से एक अवतरण लीजिए:—

"इससे भी अधिक स्पष्ट बैंकिंग धन्धे की व्याख्या ब्रिटिश सरकार द्वारा सन् १९१८ ई० में शत्रु देश के बैंकिंग धन्धे को रोकने के लिए बनाए हुए नियमों में की गई है, यथा

२—अर्थशास्त्र में

'चालू खातों में अमानत के तौर पर रूपया जमा करना; विनिमय बिल स्वीकार करना, विनिमय बिल, प्रोमेसरी नोट तथा ड्राफ्ट खरीदना, बेचना, संग्रह करना, और उनका लेन-देन करना; सूद तथा मुनाफों के स्वीकार पत्र बेचना या इनकी रकमें संग्रह करना; विदेशी तार की अथवा दूसरे प्रकार की हुंडियां खरीदना और बेचना; जारी

शुदा कर्ज़, शेयर या सिक्यूरिटीज़ को मेम्बर होकर लेने (subscriptions) खरीदने या अंडरराइट करने के लिये जारी करना ; व्यापार या औद्योगिक काम के लिये कर्ज़ देना या कर्ज़ दिये जाने का प्रबंध करना या साख पत्र (letter of credit) और चलते-फिरते नोट (circular नोट) देना या जारी करना।"

विज्ञान के और अर्थशास्त्र के इन अवतरणों में अंतर केवल इतना है कि विज्ञान वाले अवतरण के शब्द-समूह में अर्थशास्त्र वाले अवतरण के शब्द-समूह की अपेक्षा उर्दू के शब्द कम हैं।

स्वतंत्र भारत की विधान-परिषद् ने यह स्वीकार किया है कि राष्ट्रभाषा में अक्षरों की लिपि देवनागरी रहे किन्तु अंक रोमन लिपि में लिखे जांय। यह आश्चर्य की बात है कि विधान परिषद् के इस निर्णय के काफी पहले से हिन्दी में लिखी गई अंकगणित की पुस्तकों में हमें होने वाली राष्ट्रभाषा का भावी स्वरूप मिल जाता है। उदाहरण के लिए एक प्रश्न की भाषा देखिए :—

अंकगणित में

'किसी गांव की आबादी 1931 ई० में 600 थी। 1941 ई० में वह घट कर 456 रह गई। बताइये कि इन दस वर्षों के अंदर आबादी कितने प्रतिशत घट गई।'

यह स्वरूप अंकगणित की सामान्य पुस्तकों में ही मिलता है। अब यह प्रवृत्ति घट गई है। अब अंक अधिकांशतः नागरी लिपि में ही लिखे हुए मिलते हैं। इसका कारण कदाचित् अव्यावहारिकता ही है। इस स्वरूप को हिन्दी में कोई विशेष मान्यता प्राप्त नहीं हो सकी। यह अंकगणित की पुस्तकों से भी धीरे-धीरे हटने लगी है। विधान की मान्यता और सरकार के प्रयत्न शायद इसे मनवा दें!

आधुनिकतम विचारधारा को मानने वाले हिन्दी के नए लेखक एक नई शैली का आविष्कार कर रहे हैं। इस शैली का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। अभी तक प्रयत्न इस बात का किया जाता था कि हिन्दी में उर्दू के शब्दों का और उर्दू में हिन्दी के शब्दों का प्रयोग हो। अब प्रयत्न इस बात का हो रहा है कि एक ऐसी शैली बने जो हिन्दी और उर्दू दोनों लिपियों में लिखी जा सके और हिन्दी तथा उर्दू दोनों के अनुयायियों को समान रूप से स्वीकार हो। इस शैली में प्रचलित शब्दों को अपनाया जाता है। उनके स्वरूप का विकार हटा दिया जाता है। उदाहरण के लिए 'मसलअ' फारसी का शब्द है। हिन्दी में 'मसला' के रूप में स्वीकार होगा। 'फ़ायदा' फारसी का शब्द है। इसका बहुवचन है 'फ़वायद'। हिन्दी में इसे 'फायदे' किया जायगा। जिस भाव के लिये जनता में दो शब्द प्रचलित हैं, उस भाव की अभिव्यक्ति के लिये दोनों शब्द मान्य हैं, और यह लेखक की रुचि पर है कि उनमें से किसको स्वीकार करे। संधि और समास का प्रयोग करीब-करीब नहीं होता। शब्द छोटे-छोटे होते हैं। वाक्य भी प्रायः छोटे-छोटे होते हैं। देशज शब्दों का भी प्रयोग होता

नवीनतम शैली

है। अमृतराय की कहानी से एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा चुका है। रांगेय राघव की कहानियों और उनके उपन्यासों में भी ऐसी शैली मिलती है। सर्वत्र तो नहीं मिलती, किन्तु कहीं-कहीं इसका बड़ा सुन्दर रूप दिखाई पड़ जाता है। 'अभिमान' कहानी का एक चित्रण देखिए :——

'सांझ का वक्त था। गायें लौट रही थीं। उनके पैरों की उठी धूल झोपड़ियों पर बरस रही थी और गधों के लोटने से रास्ता बिल्कुल धूमिल हो गया था। उसके पीछे वह डूबता सूरज था और झोपड़ियों में से सन्ध्या की रोटी पकने का धुआं धूल में एक दमघोट वातावरण तैयार कर रहा था। ताल पर उजाला था; लेकिन डरा-डरा कांप रहा था। शायद उसे काले पानी की स्तब्ध पर्त्त पर फिसल जाने का डर था।'

ध्यान रहे कि इस शैली का पूर्णतम एवं प्रौढ़तम विकास अभी नहीं हो सका है। इसका प्रयोग भी सीमित है। अभी यह केवल कहानियों और उपन्यासों में ही प्रयुक्त हुई है। संस्कृत, फारसी, अरबी, एवं अंग्रेज़ी के मान्य प्रचलित एवं चिर प्रयुक्त शब्दों का वहिष्कार करके यह शैली गंभीरतम विषयों के योग्य रह सकेगी, इसमें संदेह है; और, यदि ऐसे शब्दों का वहिष्कार न किया, तो इसका यह स्वरूप न रह जायगा।

उक्त शैली की साहित्यिकता और क्षमता

इस शैली में जिस समय कुछ सामान्य अलंकारों और भंगिमामय देशज शब्दों का प्रयोग कर लिया जाता है, तब एक बहुत सुन्दर साहित्यिक शैली के दर्शन होते हैं। रांगेय राघव के 'अभिमान' शीर्षक कहानी का प्रथम वाक्य ऐसा ही है। देखिए :——

'कालेज की जो सड़क पूरब की ओर इठला कर, पश्चिम की तरफ बिजकती हुई, घरों की आड़ से निकल लंबे-लंबे पेड़ोंकी छाया में एक दम अपना आंचल खोल देती है.............................।'

इस अवतरण में 'इठलाना', 'बिजकना' और 'आंचल खोलना' सामान्य व्यवहार के शब्द हैं। ये मानवीय क्रियाएं हैं। निर्जीव सड़क में इन क्रियाओं का आरोप करके मानवीयकरण का उदाहरण उपस्थित किया गया है। यह साहित्यिकता है। इन्हीं क्रियाओं का भाव-चित्र मस्तिष्क में रख कर किसी टेढ़ी-मेढ़ी सड़क की कल्पना की जाय, तब इस शैली की चित्रात्मकता स्पष्ट हो जाती है। इसी प्रकार इस वाक्य में कि :——

'ताल पर उजाला था; लेकिन डरा-डरा कांप रहा था। शायद उसे काले-पानी की स्तब्ध पर्त्त पर फिसल जाने का डर था।'

इसी मानवीयकरण के द्वारा धुंधले प्रकाश का भावचित्र उपस्थित किया गया है। तात्पर्य यह है कि इस सरल शैली में थोड़े से साहित्यिक गुणों का समावेश करके

इसके अन्दर काफी क्षमता और शक्ति लाई जा सकती है। काव्य, उपन्यास, कहानी आदि के लिए यह शैली बहुत ही उपयुक्त सिद्ध होगी।

इस शैली का सामर्थ्य

यह शैली हमारे जीवन के विविध रूपों को भली भांति प्रकट कर सकती है। व्यवहार में हम सरल हिन्दी का उपयोग करते हैं। इसलिये यह सीधे-सादे तौर पर हमारे सामान्य वर्ग की बातचीत हमारे सम्मुख रखती है। उसी सामान्य वर्ग के अनेक प्रकार के व्यक्तियों की वाणी बनने के लिये इस शैली को थोड़ा सा ही परिवर्तित होना पड़ेगा। यदि सामान्य कृषक बोलेगा, तो प्रेमचन्द के होरी, धनिया, आदि की भाषा की तरह हो जायगी। यदि आवारा बोलेगा, तो रांगेय राघव के 'आवारा' की भाषा की तरह इस शैली में 'अबे', 'साले', 'लौंडिया' आदि के अतिरिक्त थोड़ी सी बेफिकरी एवं थोड़ी सी झटक व्यक्त करने वाले वाक्य होंगे। इसी प्रकार यह शैली हमारे मनोभावों के अनेक रूपों को सुविधापूर्वक अभिव्यक्त कर सकती है। 'अहँ', 'मुझे जो नींद आ रही है' आदि अभिव्यक्तियों का आनन्द वही ले सकता है जिसने किसी को ऐसा कहते हुए सुना हो। इस शैली की सबसे बड़ी बात यह है कि इसमें शब्दों के लेने पर कोई बंधन नहीं है। शब्दों में सामर्थ्य होना चाहिये, फिर वे चाहे जिस भाषा के शब्द हों, अपना लिये जायंगे।

सांस्कृतिक दृष्टिकोण और हिन्दी गद्य की अव्यावहारिकता

इतना सब होते हुए भी हिन्दी गद्य पढ़ते समय यह अनुभव होता है कि वह सामान्य जनता का गद्य नहीं है। वह एक निर्मित भाषा है; विकसित नहीं। वह गद्य बोला कम और लिखा अधिक जाता है। इसके कारण हैं। हिन्दी प्रदेश की सामान्य जनता प्रायः बोलियां (जैसे, अवधी, ब्रज, भोजपुरी आदि) बोलती है। खड़ी बोली हिन्दी के साहित्यिक स्वरूप को अथवा व्याकरण-सम्मत, परिष्कृत एवं शुद्ध खड़ी बोली के उस रूप को, जिसका उपयोग उपयोगी साहित्य लिखते समय किया जाता है, मातृभाषा की तरह बोलने वाला वर्ग अभी है नहीं। खड़ी बोली का यह ढांचा जहां से लिया गया है (जैसे, देहली-मेरठ की भाषा या लखनऊ के शिक्षित वर्ग की भाषा), वहां व्यावहारिक भाषा की नस-नस में अरबी-फारसी के शब्द संस्कृत शब्दों की अपेक्षा अधिक घुसे पड़े हैं। बोली की भंगिमा, व्यवहार एवं उपयोग के कारण, अधिकतर इन्हीं शब्दों में है। इसका कारण यह है कि ये स्थान इस्लामी संस्कृति के केन्द्र रहे हैं। हम हैं कि हिन्दी की प्रकृति की रक्षा के प्रयत्न में अरबी-फारसी के अधिक शब्दों से घबड़ाते हैं। इसीलिए विकसित भाषा का चमत्कार खड़ी बोली हिन्दी के साहित्यिक स्वरूप में अभी तक न आ सका। उसमें बोली की सरलता का चमत्कार नहीं है। एक दूसरा कारण भी है। हिन्दी साहित्य और हिन्दी भाषा ने अपने तत्व संस्कृत भाषा से अधिक लिये हैं। संस्कृत भाषा और साहित्य उच्च वर्ग का है। उसमें सामान्य जनता, निम्नवर्ग

विपन्न मानव का जीवन कदाचित् नहीं है। और, यदि यह सब गलत हो, तब भी इतना तो सही है कि वहां पंडित वर्ग, राज-परिवार और उच्च श्रेणी के लोग संस्कृत बोलते थे, और नारी वर्ग तथा अन्य सामान्य जनता के लिये 'प्राकृत' बोली थी। जाने या अनजाने शायद यही प्रवृति हिन्दी में भी आ गई। बाद की भाषा होने के कारण इसमें वह प्रवृति अपने उसी रूप में तो नहीं आ सकी; हां, इस रूप में अवश्य आई है कि केवल हिन्दी पढ़े-लिखे, सुशिक्षित, और संस्कृत से परिचित वर्ग की भाषा का वह रूप, जिसका उपयोग वह सभा-समाज में बैठकर करता हो, हिन्दी साहित्य की भाषा बनने आई है।

देखते ही स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि यह सामान्य व्यवहार की भाषा नहीं है। जयशंकर 'प्रसाद' की भाषा कुछ ऐसी ही थी। यह कृत्रिमता खटकने वाली थी, सो खटकी। प्रेमचन्द आदि कुछ लेखकों के प्रयत्न से व्यावहारिकता को–सरल हिन्दी को–भी साहित्य में स्थान मिलने लगा। युगों की प्रवृत्ति एक दिन में नहीं मिटाई जा सकती थी। उस प्रयत्न का फल इतना हुआ कि हिन्दी गद्य में फारसी-अरबी के या जनता में प्रचलित कुछ शब्दों के लिये जगह हो गई। कठिन हिन्दी की जगह सरल हिन्दी लिखी जानी लगी। चूंकि कई शताब्दियों से लोग उस कठिन हिन्दी को पढ़ते आये हैं, साथ ही पूजा-पाठ आदि के अवसरों पर संस्कृत के श्लोकों का उच्चारण भी हो जाता है, अतएव कुछ शिक्षित वर्ग–विशेष कर ब्राह्मण वर्ग–के मुख से यह भाषा थोड़ी-बहुत सुनाई पड़ती है। ऐसी भाषा बोलने वाला वर्ग भी घर में कौन सी बोली बोलता है, यह कल्पना की बात है। सामान्य जन समूह इस भाषा को नहीं बोलता। अतएव सरल हिन्दी लिखी तो जाने लगी, किन्तु उसमें व्यावहारिकता का चमत्कार न आया। 'विधि की विडंबना है, सहनी होगी' की जगह 'भाग्य का खेल है, देखना होगा,' हम लिख देते हैं। आज हम यह भी लिख देंगे कि, 'तकदीर का खेल है, देखना होगा' किन्तु इस 'विधि-विडंबना' या 'तकदीर का खेल' की जगह 'वक्त' से भी इसी भाव की अभिव्यक्ति उसी ढंग से हो सकती है जिसे मामूली आदमी अपनाता है, और उसमें चमत्कार भी आ सकता है। 'यह भी वक्त है, काटना होगा' वाक्य कुछ ऐसा ही है। हिन्दी गद्य में अभी यह बात नहीं आ पाई है। सभी जगह यह शैली नहीं काम आएगी। किन्तु, जहां आ सकती है, वहां भी अभी नहीं आ पाई है। संभव है, आगे आ जाय।

सरल हिन्दी या व्यावहारिक हिन्दी

अन्य

हिन्दी कविता की भाषा-शैली जनता की भाषा-शैली से नहीं मिलती। हिन्दी गद्य में और जनता की बोली में भी काफी अन्तर है। प्रश्न यह उठता है कि क्या हिन्दी-साहित्यिक अपनी भाषा और शैली को जनता की भाषा-शैली के निकट लायेगा। यदि वह अपनी गंभीरता, विशुद्धता और परिष्कृत होने के संतोष में ही अपना गौरव

समझता रहा, तो परिणाम क्या होगा ? भाषाओं का इतिहास बतलाता है कि जब-जब जनता साहित्य की भाषा को अपनी भाषा न समझ सकी, तब-तब उसने साहित्य की भाषा को छोड़ दिया और अंत में साहित्य की भाषा में लिखा साहित्य पुस्तकालयों की सजावट या केवल अध्ययन की वस्तु होकर रह गया। 'प्रसाद' के निबंधों की और अधिकतर कथा साहित्य की भाषा, चंडी प्रसाद 'हृदयेश' की भाषा, श्यामसुन्दर दास की भाषा, भगवती चरण वर्मा और महादेवी वर्मा की भाषा का अंतिम परिणाम क्या यही होगा ? यदि जनता की व्यावहारिक भाषा-शैली से हिन्दी का सम्पर्क घटा रहा, तो वह भी इसी प्रकार पुस्तकालयों की और अध्ययन मात्र की चीज़ होकर न रह जायगी ? राजनीति-क्षेत्र का दिन-प्रति-दिन लोकप्रिय होने वाला साम्यवाद क्या इसी हिन्दी को अपनायेगा ? सरकार की ओर से प्रयत्न करके चलाई हुई भाषा क्या चल जायगी ?

साहित्यिक गद्य का सुदूर भविष्य

आजकल हिन्दी में व्याकरण-संबंधी अनेक समस्याएं उठ खड़ी हुई हैं। कुछ समस्याएं उच्चारण-संबंधी हैं। उदाहरण के लिए 'पैसा' और 'औरत' शब्दों को ले लीजिए। 'ऐ' का संस्कृत भाषा के अनुसार उच्चारण है 'अइ', और 'औ' का 'अउ'। पढ़ाते समय अध्यापक यही बताते हैं। किन्तु 'पैसा' को जब हम 'पइसा' और 'औरत' को 'अउरत' करके बोलेंगे, तो यही चीज़ गलत हो जायगी। तो प्रश्न उठता है कि उच्चारण ठीक है या लिपि। सुशिक्षित नारी वर्ग प्रायः कहता है,'हम जायंगे'। प्रचलित हिन्दी व्याकरण कहता है, यह ग़लत है; वे 'जायंगी' कैसे ? तो, 'जायंगी' ठीक है या 'जायंगे' ? हिन्दी में वचन दो होते हैं :---एकवचन और बहुवचन; यानी 'मैं' एकवचन, और 'हम' बहुवचन। किन्तु हिन्दी के विद्वान कवि भी यह कहते हुए सुने जाते हैं:---'क्या कहें साहब ! बड़ी मजबूरी है ! हमने कवि-सम्मेलनों में जाना छोड़ दिया। फिर, हमारी बिटिया बीमार है। उसकी दवा करानी है। आप 'बच्चन' जी को क्यों नहीं बुला ले जाते ?' तो, 'हमने' और 'हमारी' का प्रयोग गलत है क्या ? किन्तु यह प्रवृत्ति तो समस्त हिन्दी जनता की है। दस-पांच विद्वान व्यक्ति ऐसे न बोलेंगे, तो उससे क्या होगा ! "अंग्रेज़ी भाषा के प्रभाव के कारण वाक्य-विन्यास संबंधी अनेक समस्याएं पैदा हो गई हैं।"[1] संस्कृत में 'आत्मा' पुंलिंग है। हिन्दी में इसके स्त्रीलिंग के रूप में प्रयोग बहुत मिलते हैं। संस्कृत का पुंलिंग 'वायु' क्या हिन्दी में भी चलता रहेगा ? उर्दू में "क़त्ल भी करते हैं तो चर्चा नहीं होता"। हिन्दी में 'चर्चा' होती है। उर्दू में कवि लिख गये हैं:---'माला गले का टूट कर मोती बिखर गया' अथवा 'बने हैं मेरे लिये मोतियों के माले आज'। हिन्दी में 'माला' शब्द स्त्रीलिंग है........।"[2] अब इन शब्दों का लिंग-निर्णय कैसे हो ? जनपदी बोलियों का

व्याकरण की आवश्यकता

१. धीरेन्द्र वर्मा : 'हिन्दी व्याकरण की समस्याएं' शीर्षक लेख
२. धीरेन्द्र वर्मा : 'हिन्दी व्याकरण की समस्याएं' शीर्षक लेख

प्रभाव भी ऐसी समस्या उठा देता है। पीछे इसका उल्लेख हो चुका है। राष्ट्र-भाषा होने पर बंगाली कहेंगे:—'तब सीता जी बोला कि मेरा चिन्ता बढ़ता जा रहा है कि इस लंबा यात्रा को राम कैसे पूरा करेगा'। अंग्रेज़ी वाले 'मेरा' 'मेरी' का अंतर हटाना चाहते हैं। ये समस्याएं दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही जायंगी। इसका प्रधान कारण यह है कि हिन्दी का अपना कोई व्याकरण नहीं। उसके व्याकरण का निर्माण संस्कृत और अंग्रेज़ी के व्याकरण के ढंग पर हुआ है। उदाहरण के लिए यह देखिए कि वाक्य-विन्यास और शब्द-निरुक्ति आदि अंग्रेज़ी व्याकरण के ढंग पर होती है और संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि की परिभाषा संस्कृत के ढंग पर। यह दोहरी प्रवृत्ति ठीक नहीं। हिन्दी एक स्वतन्त्र भाषा है। आवश्यकता इस बात की है कि जन-प्रवृत्ति एवं हिन्दी की प्रकृति को ध्यान में रखकर हिन्दी भाषा का एक ऐसा व्याकरण तैयार किया जाय जो इन विदेशी प्रवृत्तियों से यथासंभव मुक्त हो। इस समय हिन्दी को किसी 'पाणिनि' की आवश्यकता है।

हिन्दी गद्य के क्षेत्र में कौन विषय कितना लिखा गया है, इसका ज्ञान भी हिन्दी गद्य की प्रकृति पर कुछ प्रकाश डाल सकता है। हिन्दी गद्य में सबसे अधिक कहानियां,

हिन्दी गद्य में विषयों की प्रधानता का क्रम

फिर उपन्यास, फिर नाटक, फिर निबंध और फिर आलोचनाएं लिखी गई हैं। उपयोगी साहित्य की पुस्तकें कम लिखी गई हैं। इसका प्रभाव यह पड़ा है कि हिन्दी गद्य में कथा साहित्य वाले गद्य की विशेषताएं काफी आ गई हैं। वर्णनात्मकता, संवादात्मकता, चित्रण इत्यादि गुण ऐसे ही हैं। नाटक की भाषा के गुण भी हिन्दी गद्य में पर्याप्त हैं। संबोधन, ध्वनि के द्वारा वाक्य में आने वाला चमत्कार, आदि ऐसे ही गुण हैं। यह कलात्मकता इतनी बढ़ी कि निबंध और आलोचना की भी भाषा इससे अछूती न रह सकी और हिन्दी साहित्य के इतिहास की भाषा में भी रूपक, उपमा आदि के प्रयोग मिल जाते हैं। यही कारण है कि हिन्दी में अभी तथ्य प्रधान शैली का अधिक प्रचार नहीं हो सका है।

हिन्दी का बढ़ता हुआ प्रचार और साहित्यिक हिन्दी

हिन्दी की लोकप्रियता बराबर बढ़ती जा रही है। काल-चक्र की गति, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, हिन्दू-मुस्लिम-संघर्ष, जनता की सामूहिक प्रवृत्ति, सांस्कृतिक जागरण, राजनीतिक शक्ति के हस्तगत होने अर्थात् राजनीतिक स्वाधीनता के प्राप्त होने, आदि के फलस्वरूप हिन्दी का प्रसार खूब होता जा रहा है। उत्तर प्रदेश की सरकार ने इसको राजभाषा घोषित कर दिया है और विधान-सभा ने भी पन्द्रह वर्षों के बाद इसे

साइनबोर्डों वाली भाषा

राष्ट्रभाषा अर्थात् अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की भाषा के रूप में स्वीकार करने का विधान बनाया है। यह ठीक है कि हिन्दी भाषा अभी सरकारी कार्यवाहियों की वास्तविक भाषा नहीं हो

सकी है। अभी यह केवल साइनबोर्डों वाली भाषा होकर रह गई है। दफ्तर के बाहर लिखा मिलेगा—

'चन्द्र मोहन चक
उप-शिक्षा-संचालक'

और दफ्तर में घुसने पर वही अंग्रेज़ी ठाट-बाट, उसी अंग्रेज़ी में बातचीत और फाइलों में वही अंग्रेज़ी भाषा और लिपि मिलेगी।

किन्तु यह भी ठीक है कि हिन्दी को पूरी तरह अपनाये जाने के मार्ग में बहुत सी व्यावहारिक कठिनाइयां हैं। हिन्दी में सुयोग्य ढंग से काम करने वाले नहीं हैं, काम कर सकने वालों का मस्तिष्क अंग्रेज़ी में काम करने के लिये अभ्यस्त हो चुका है, विद्वानों की अंग्रेज़ी भाषा का हिन्दी में उतनी ही शक्ति और समर्थता के साथ अनुवाद अभी नहीं हो सकता, इत्यादि। कठिनाइयों को दूर करने में समय लगेगा। फिर भी, यह निश्चित है कि एक दिन ये बाधाएं समाप्त कर दी जायंगी और हिन्दी राष्ट्र-भाषा या राजभाषा हो जायगी। साथ ही, यह भी निश्चित है कि हिन्दी जब कभी राजभाषा होगी, इसका स्वरूप साहित्यिक हिन्दी के वर्तमान स्वरूप से काफी भिन्न होगा। उत्तर प्रदेश की कचेहरियों और थानों में प्रयुक्त हिन्दी इसका उदाहरण है। शब्दावली, शैली आदि में वह साहित्यिक हिन्दी से बिल्कुल भिन्न होती है। उसमें फारसी, अरबी, और अंग्रेज़ी के शब्द बहुत ही अधिक रहते हैं। फिर, जिन-जिन प्रान्तों में हिन्दी का प्रयोग होगा, उन-उन प्रान्तों की अपनी भाषा का हिन्दी गद्य पर प्रभाव न पड़े, यह असंभव है। बंगला, गुजराती, मराठी, आदि का हिन्दी गद्य पर बहुत प्रभाव पड़ेगा। परिणामतः वह हिन्दी साहित्यिक हिन्दी से भिन्न हो जायगी। और फिर, यह एक अनिवार्य बात है। सामान्य व्यवहार में आने पर भाषा के कई रूप हो ही जाते हैं। यह रूप व्यवसाय, परिस्थिति, वातावरण आदि के अनुसार बनते हैं। भाषा की मूल प्रकृति सुरक्षित रहती है। शेष बदल जाता है। कचेहरी की भाषा, वकीलों की भाषा, भौतिक विज्ञान की भाषा, दर्शन और साहित्य की भाषा, पुजारी-पुरोहित की भाषा, दूकानदार और मिस्तिरी की भाषा कभी एक ही रूप वाली रह नहीं सकती। ज्ञान-विज्ञान की भाषा में अंग्रेज़ी का, जो हिन्दी से कहीं अधिक सम्पन्न-समर्थ भाषा है, प्रभाव अवश्य पड़ेगा। और, राष्ट्रभाषा हो जाने पर हिन्दी के स्वरूप में जो सबसे बड़ा परिवर्तन होगा, उसे तो राजनीति-प्रधान विधान-परिषद् ने निश्चित कर ही दिया है! यह परिवर्तन है अंकों की लिपि का। वे रोमन लिपि में ज़रूर लिखे जायंगे!

राजभाषा हिन्दी और साहित्यिक हिन्दी के गद्य के स्वरूप में अंतर

इसके अतिरिक्त परिवर्तित परिस्थितियां भी कुछ परिवर्तनों की मांग करती हैं। सबसे बड़ी मांग प्रेस की है। हिन्दी की पुस्तकें महंगी होती हैं। टाइप बड़े होते हैं। जगह, और परिणाम-स्वरूप कागज, अधिक लगता है। अंग्रेज़ी की

पुस्तकों से तुलना करने पर यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। इसका कारण यह है कि नागरी टाइप छोटा बन नहीं सकता। यह इसलिये कि हिन्दी के अधिकांश अक्षरों में इतने अवयव रहते हैं, उनमें इतना मोड़-घुमाव रहता है कि यदि अक्षरों को बहुत छोटा बनाने की चेष्टा की जाय, तो लीपापोती हो जायगी और छपे अक्षर पढ़े नहीं जा सकेंगे। 'हूँ' में लगभग आठ स्पष्ट बेड़े भाग और दो तिरछे भाग हैं। ये एक के नीचे एक आते हैं। छोटा करने के प्रयत्न में सब लीपा-पोती हो जायगी। आजकल जब कि टाइप इतने बड़े होते हैं, तब भी छपी हुई पुस्तकों के तमाम टाइप टूटे हुए रहते हैं। इन्हें छोटा कर देने पर परिस्थिति कैसी हो जायगी, इसकी कल्पना कठिन नहीं है! हिन्दी की अनेक मात्राएं लगाने के लिए अक्षर के नीचे चूल काटना पड़ता है। तभी उसमें मात्रायें लगती हैं। परिणामतः मात्रा बहुत कमजोर हो जाती है। बड़े टाइप तक में यह बहुत टूटती है; फिर छोटों की बात ही क्या! यदि हिन्दी बढ़ेगी, तब आवश्यकता पड़ेगी कि अच्छी-अच्छी किताबों को कम जगह और कम मूल्य में अच्छे ढंग से छपा कर भेजा जाय। इसके लिए आवश्यक होगा कि हिन्दी लिपि में थोड़ा-बहुत् परिवर्तन स्वीकार कर लिया जाय। गोरखप्रसाद, उदाहरण के लिये, एक परिवर्तन यह करना चाहते हैं कि "....................हम अक्षरों पर शिरोरेखा लगाना छोड़ दें और मात्राओं और रेफ को अक्षर के ठीक ऊपर लगाने के बदले जरा-सा हटाकर, अक्षर की दाहिनी ओर लगाया करें, तो दोनों प्रकार की कठिनाइयां दूर हो जायंगी।"[1]

प्रेस और परिवर्तन

टाइपराइटर का भी प्रश्न हमारे सामने है। वह आधुनिक युग की एक प्रधान आवश्यकता है। प्रत्येक विद्वान अपना एक टाइपराइटर अवश्य रखता है। कचेहरियों, दफ्तरों, स्कूलों और कालेजों में इसके बिना काम नहीं चलता। अभी तक अंग्रेज़ी के टाइपराइटर से काम चला जाता है। अंग्रेज़ी के जाने के बाद हिन्दी का टाइपराइटर भी बन गया। इस टाइपराइटर में भी, जिसके लिए नागरी लिपि में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया है, हिन्दी के कुछ उस ढंग के टाइप होते हैं, जिस ढंग से हिन्दी वाले लिखते नहीं। उदाहरण के लिए एक शब्द ले लीजिए—'द्वारा'। इसे हिन्दी वाले उसी ढंग से लिखते हैं, जैसा अभी पीछे लिखा गया है। टाइपराइटर इसे यों टाइप करता है—'द्‌वारा'। किन्तु इस परिवर्तन पर लोगों ने आपत्ति नहीं उठाई। कदाचित् इसलिए कि इसके बिना काम चल नहीं सकता था, और इसलिए भी, कि यह किसी सिद्धांत के उदाहरण के रूप में घोषित किया जाकर नहीं प्रचलित किया गया था।

टाइपराइटर और परिवर्तन

सुविधा और बचत की दृष्टि से टाइपराइटर हिन्दी लिपि में और अधिक परिवर्तन की माँग पेश कर रहा है। हिन्दी में इन ध्वनि चिह्नों को देखिए—अ, आ, इ,

---

१. गोरखप्रसादः 'इलाहाबाद यूनिवर्सिटी हिन्दी मैगजीन', फरवरी, १९४७ ई०

ई, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः । इनकी मात्राएँ भी हैं और ये स्वतन्त्र रूप से अक्षर के रूप में भी प्रयुक्त होते हैं । इस दृष्टि से ग्यारह ये और इनकी ग्यारह मात्राएँ अर्थात् बाइस अक्षर हुए । कम से कम छत्तीस व्यंजन हैं । संख्या हुई अट्ठावन । नौ अंक हैं । अब संख्या बढ़कर सरसठ हुई । इस सरसठ में सात-आठ विराम चिन्हों को भी मिलाना होगा । संख्या पचहत्तर तक पहुँची । फिर, आधे व्यंजनों की भी आवश्यकता पड़ा करती है, जैसे 'तुम्हीं' में 'म' । इसके लिए भी कुछ व्यवस्था करनी होगी । अक्षरों की इतनी बड़ी संख्या टाइपराइटर बनाने और टाइप सीखने वाले, दोनों, के लिये सिर-दर्द है । फिर भी, काम उतनी शीघ्रतापूर्वक नहीं हो सकेगा । इसमें सुधार या परिवर्तन होना चाहिये । कुछ उदाहरण लीजिए :—

१. अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ औ, अं, अः इन ग्यारह में से इ, ई, उ, ऊ, का वर्तमान स्वरूप बदल दिया जाय । व्यंजनों की भांति स्वरों की भी बारह खड़ी चला दी जाय । यों लिखा जायः—अ, आ, अि, अी, अु, अू, अे, अै, ओ, औ, अं, अः । 'अं' और 'अँ' की जगह 'अं' अब प्रचलित-सा हो गया है । 'इसकी ऐसी-तैसी' को यों टाइप करेंगेः—"अिस्की अैसी तैसी' ।

२. क्ष, त्र, और ज्ञ को 'क्छ', 'त्र' और ग्यं' करके लिखा जाय । 'ख' को 'क्ह' और घ को 'ग्ह' करके लिखने की भी सलाह दी जाती है ।

३. 'र' के चार रूप हैं—"र'; 'प्र' का / ; 'कृ' का ृ ; और 'र्क' का र्‍ । इन चारों के काम अधिक से अधिक दो से लिए जांय , इत्यादि ।

इन सभी बातों को प्राचीनता और विशुद्धता की दुहाई देकर टाला नहीं जा सकता । सुधार होंगे; भले ही उनके स्वरूप और प्रकार में अन्तर हो । निष्कर्ष यह है कि हिन्दी का बढ़ता हुआ प्रचार साहित्यिक हिन्दी के स्वरूप और शैली में परिवर्तन उपस्थित कर देगा । कोयले की खींची गई लकीर के भीतर रख कर उसे बचाने का उद्योग बेकार होगा । और, यदि उसने ये परिवर्तन न स्वीकार किये, तो असामयिक और अव्यावहारिक होकर रह जायगी !

———

नाटक

(प्रकार और स्वरूप)

स्वरूप की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी नाटकों को दो प्रधान वर्गों में बांटा जा सकता है:—१. एकांकी, और २. अनेकांकी ।

इसी दृष्टि से एकांकी नाटकों के भी दो प्रधान भेद दिए जा सकते हैं । पहले में वे नाटक आते हैं जिनमें दृश्य नहीं होते । तात्पर्य यह है कि उनमें एक ही दृश्य होता है । यों भी कह सकते हैं कि इन एकांकियों का अंक ही दृश्य है, और दृश्य ही अंक । यों भी कहा जा सकता है कि नाटक जो प्रारंभ हुआ, तो अविराम गति से अंत तक चलता रहेगा । पात्र बराबर सामने रहेंगे । परदा यदि गिरेगा तो तभी, जब नाटक समाप्त हो जायगा । अब इसे चाहे कोई अंक कह ले, चाहे दृश्य । लोगों ने इसे एकांकी ही कहा है । रामकुमार वर्मा के सभी नाटक ऐसे ही हैं ।

एक दृश्य के एकांकी नाटक

दूसरे प्रकार के एकांकी नाटक वे हैं जिनमें एक से अधिक दृश्य होते हैं । एक-मात्र स्वरूप की ही दृष्टि से देखें तो वे किसी अनेकांकी नाटक के एक अंक की तरह लगेंगे । भाव की दृष्टि से इस एकांकी और अनेकांकी से उद्धृत किसी एक अंक में बहुत अंतर होता है । पहला अपनी कलात्मकता और उद्देश्य में पूर्ण होता है ; दूसरा अपूर्ण । इस एकांकी में दृश्यों की संख्या दो या दो से अधिक रहती है । सदगुरूशरण अवस्थी के 'मुद्रिका' नामक एकांकी नाटक में आठ दृश्य हैं । नाटककार प्रायः दो से चार दृश्यों तक का विधान करते हैं । वे प्रयत्न यही करते हैं कि दृश्यों की संख्या कम से कम हो । कभी-कभी दृश्यों में विभाजन करने के स्थान पर लेखक एकांकी के विभिन्न अंशों को (१), (२), (३) आदि संख्याओं के शीर्षक में कर देता है । 'पहला दृश्य' 'दूसरा दृश्य' न लिखकर '(१)', '(२)' आदि लिख दिया । जगदीश चन्द्र माथुर के 'भोर का तारा' नामक एकांकी को इसी प्रकार दो भागों में बांटा गया है ।

कई दृश्य के एकांकी नाटक

एकांकी नाटक जितने सरल लगते हैं, उनका लिखना उतना ही कठिन है । इनमें मानव प्रकृति के किसी विशेष अंश का या उसकी किसी एक विचित्रता के रहस्य का कलात्मक ढंग से उद्घाटन करना होता है । कम से कम पात्रों के द्वारा कम से कम विस्तार में मानव प्रकृति के गूढ़ रहस्य को अधिक से अधिक कलापूर्ण ढंग से सामने उपस्थित करना सरल कार्य नहीं है । कदाचित् इसी कारण एकांकी में एक भी वाक्य अर्थ-हीन नहीं होता; और यदि होता है, तो वह नाटक के प्रभाव को कम कर देता है । उद्देश्य की इसी छोटी से छोटी इकाई के कारण पात्रों के या उनके चरित्र के बारे में अधिक सूचनाएं

एकांकी नाटक की कला

नहीं दी जा सकतीं। जो कुछ कहा जाता है, वह प्रधान उद्देश्य को ही सामने रखकर। फिर भी, कुछ ऐसा कहना होता है, और कुछ ऐसे ढंग से कहना होता है कि पाठक या दर्शक प्रारंभ से ही आकृष्ट हो उठे। उसके मन की उत्सुकता एवं उसका कौतूहल कभी भी पूर्णतः शांत न होने पावे। बीच-बीच में कुछ क्षणों के लिए उसकी कौतूहल वृत्ति शांत हो जाय तो हो जाय, किन्तु इस शांति में ही आगे के दूसरे क्षण की उत्सुकता के बीज निहित रहें। अंत में दर्शक के या पाठक सामने वह रहस्य खुलना चाहिए जिससे वह पूर्णतः अभिभूत हो उठे। कथावस्तु के प्रारंभ और उसके विकास तथा उसमें कौतूहल आदि को समझने-समझाने की दृष्टि से रामकुमार वर्मा द्वारा दिया गया निम्नलिखित रेखाचित्र बहुत ही उपयोगी है।
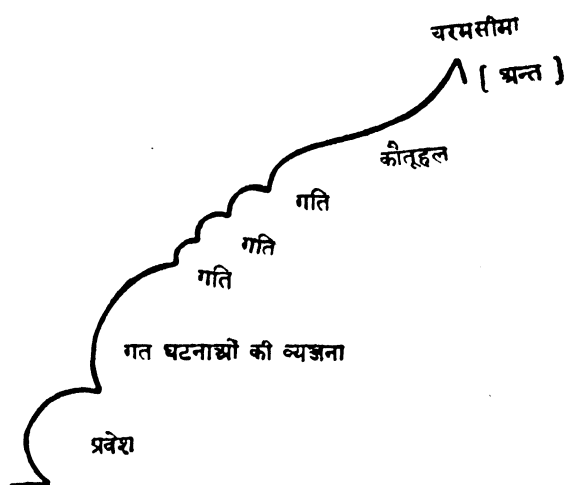
बहुत संक्षेप में कहें तो इस रेखाचित्र का अर्थ यह है कि एकांकी नाटकों में आरंभ के पश्चात् कुछ दूर तक पिछली बातों की सूचना दे देनी चाहिए। इससे आगे वाली बातों पर भी प्रकाश पड़े। फिर दो-तीन तीव्र मोड़ या झटके हों और कथावस्तु बड़ी तेजी से आगे बढ़े। फिर पाठक या दर्शक के कौतूहल को बढ़ाते-बढ़ाते उसे चरम सीमा पर पहुंचा देना चाहिए। तत्पश्चात् उन रहस्यों का कलात्मक उद्‌घाटन हो और वहीं नाटक की समाप्ति हो। रहस्यों के उद्‌घाटन के बाद कथावस्तु को और आगे न बढ़ाना चाहिए।

तो, लेखक की प्रतिभा और उसकी कला की कुशलता और सफलता इसी में है कि वह अपने पात्रों के विस्तृत जीवन से वे ही प्रधान बातें कहे, जिनका घनिष्ठ संबंध

उद्देश्य से हो। वह उनके चरित्र के अनेक भागों एवं अंशों में से केवल उन्हीं चुने हुओं का उल्लेख करे जो पात्रों की उन क्रियाओं और कथनों को स्पष्ट करें जो उद्देश्यपूर्ति के लिए आवश्यक हैं, और उन चुनी हुई घटनाओं या बातों को ही बतलाए जिनसे पाठक या दर्शक नाटक के प्रति आकृष्ट हो उठे और जिनका संबंध प्रधान उद्देश्यों से या तो रहा हो या आगे रहे। इसके साथ ही साथ नाटककार को इसका भी ध्यान रखना पड़ता है कि वह कौतूहल एवं कलात्मकता के प्रयत्न में ऐसी बातें न लिख दे जो अस्वाभाविक कल्पना-मात्र हों। स्वाभाविकता का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। चूंकि ये नाटक अधिकतर घटना-प्रधान न होकर चरित्र-प्रधान होते हैं, इसलिए इनमें मानव मनोविज्ञान की यथार्थता का ध्यान अधिक रक्खा जाता है। बुद्धि की प्रधानता और यथार्थ की कठोरता हृदय और काव्यात्मकता के संस्पर्श से सुन्दर और साहित्यिक हो जाती है। ऐसा न होने पर उच्चकोटि का एकांकी भी बोझिल हो जाता है। साथ ही, यदि भाषा भी संस्कृतनिष्ठ हो गई तो नाटक पढ़ने में कष्टसाध्य हो जाता है। खेले जाने की तो कोई बात ही नहीं। रामकुमार वर्मा के अधिकांश एकांकी नाटक इन्हीं गुणों के कारण सफल हैं; सदगुरुशरण अवस्थी के एकांकी इन्हीं के अभाव के कारण असफल।

आधुनिक नाटकों का दूसरा स्वरूप हमें अनेकांकी नाटकों में मिलता है। प्रचलित रीति के अनुसार नाटक का अर्थ यही अनेकांकी नाटक है। एकांकी नाटकों को 'एकांकी' कह कर ही काम चला लिया जाता है। इन नाटकों में प्रायः तीन अंक होते हैं। चार अंकों और पांच अंकों के नाटकों की भी कमी नहीं है। वियोगी हरि का 'प्रबुद्ध यामुन' नाटक पांच अंकों में है। इसी प्रकार सेठ गोविन्ददास का 'गरीबी या अमीरी' नाटक पांच अंकों में है। अपने इस नाटक में उन्होंने पहले अंक के प्रारम्भ होने के पहले 'उपक्रम' और पांचवें अंक के समाप्त होने के बाद 'उपसंहार' शीर्षकों में दृश्य उपस्थित किए हैं। उनके 'मैत्री' शीर्षक एकांकी नाटक का प्रारंभिक अंश 'उपक्रम' शीर्षक के अंदर है; मध्य का भाग 'मुख्य दृश्य' के, और अंत का भाग 'उपसंहार' के। 'उपक्रम' और 'उपसंहार' वहां भी हैं। इस एकांकी के 'उपक्रम' और 'उपसंहार' को दृश्य का स्वरूप दिया जा सकता है। 'प्रकाश' शीर्षक में नाटक में भी यह 'उपक्रम' और 'उपसंहार' मौजूद है। यहां ये प्रतीक-नाट्य के लिए हैं। 'गरीबी या अमीरी' के 'उपक्रम' में उल्लिखित घटना मूल नाटक की प्रधान घटना के बारह वर्ष पहले की है, और 'उपसंहार' की घटना मूल नाटक की अंतिम घटना के बारह वर्ष बाद की है। इसी बात को हम यों समझ सकते हैं कि वे घटनाएं या बातें जिनका नाटक की प्रधान घटना या भावना से कोई प्रत्यक्ष एवं शृंखलाबद्ध एवं तात्कालिक संबंध न हो, किन्तु जो उसको किसी न किसी दृष्टि से स्पष्ट अवश्य करती हों, इनके अन्दर रक्खी जाती हैं। यहां इतना और भी समझ लेना चाहिए कि इस 'उपक्रम' का संस्कृत नाटकों या उनकी शैली में

अनेकांकी नाटकों का अंक-विभाजन

लिखे गए हिन्दी के नाटकों के 'प्रस्तावना' से कोई भी साम्य या संबंध नहीं । दोनों के उद्देश्य अलग-अलग हैं । दोनों की शैलियों में काफी अंतर है । लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक तीन अंकों के होते हैं ।

इन नाटकों में दृश्यों की संख्या पर कोई भी बंधन नहीं है । यह दृश्य-विधान वैसा ही है जैसा एकांकी नाटकों का । नाटककार चाहे तो एक अंक में एक ही दृश्य रक्खे, चाहे तो एक से अधिक । जिस दृष्टिकोण से मूल नाटक की कथावस्तु को अंकों में बांटते हैं, लगभग उसी दृष्टिकोण से एक अंक की कथावस्तु को दृश्यों में बांटा जा सकता है । नाटक का एक प्रधान उद्देश्य होता है । उसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए कथावस्तु का चयन और उसका विभाजन किया जाता है । चूंकि इस उद्देश्य की पूर्ति नाटकीय ढंग से होनी चाहिए, और इस नाटकीयता के लिए एक उचित सीमा तक कोई विशेष बंधन या कमी नहीं होती, इसलिए प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्ति की संभावना, प्राप्ति का पूर्ण निश्चय, और प्राप्ति, सब, व्यवस्थित ढंग से धीरे-धीरे होती है । इसी दृष्टि से कथावस्तु को बांट दिया जाता है । पर्याप्त विस्तार की गुंजाइश से यह सब बड़ी निश्चिंतता के साथ होता है ।

दृश्य-विभाजन

उदाहरण के लिए रूपनारायण पांडे का 'सम्राट अशोक' शीर्षक नाटक ले लीजिए । इस नाटक का प्रधान उद्देश्य है सम्राट अशोक की महानता का दिग्दर्शन । पहले अंक में बता दिया जाता है कि अशोक के पिता बिन्दुसार अशोक और उसकी माता की उपेक्षा करते थे । उनकी छोटी रानी चित्रा, जो शक जाति की लड़की है, अपनी महत्त्वाकांक्षा और अपने पुत्र वीतशोक की राज्यप्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है । बुड्ढे राजा उसके वस में हैं और राजमाता धारणी का गौरव चित्रा को देने के लिए कटिबद्ध हैं, यद्यपि जानते हैं कि कोई भी इसका समर्थन नहीं करेगा । पिता का आज्ञाकारी पुत्र अशोक, जो कुष्ट रोग का शिकार है, अपनी माता और पत्नी को छोड़कर अकेला ही निकल जाता है । इस प्रथम अंक में उद्देश्य की एक हलकी-सी झलक भर मिलती है । उद्देश्य का पूरा परिचय दूसरे अंक में जाकर मिलता है, जहां सारंगधर के द्वारा हमें अशोक की भावी महानता की निश्चित सूचना मिलती है किन्तु इस सूचना का महत्त्व अशोक की वर्तमान विपत्तियों में समाप्त-सा हो जाता है । तीसरे अंक में उन विपत्तियों और परिस्थितियों की क्रूरता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है जहाँ अशोक को आश्रय की भीख मांगते हुए और भूखे पुत्रों के मुख का कौर छीन कर भूख की ज्वाला मिटाते हुए तथा मगध के सिंहासन के प्रति उदासीन-सा होते हुए दिखाया गया है । आशा सिर्फ इतनी ही है कि अशोक अपनी शक्ति और अपने उद्देश्य को जानता है । चौथे अंक में जाकर उद्देश्य प्राप्ति का निश्चय हो पाता है क्योंकि घटनाएं एवं परिस्थितियां अशोक के अनुकूल हो जाती हैं । उसकी पत्नी को पहाड़ी

उद्देश्य और तीन अंक

राजा कनिक्ष अपनी बेटी समझ लेता है। उसका कुष्टरोग संयोग से अनायास ही निर्मूल हो जाता है। पहाड़ी राजा कनिक्ष उसकी सहायता को तैयार हो जाता है, और वीतशोक की मूर्खता और चित्रा के सहयोगियों की वास्तविकता का पता मिल जाता है। अशोक की भौतिक और धार्मिक समृद्धि की पूर्णता ठीक पांचवें अंक में होती है। एकांकी नाटकों का न तो क्षेत्र ही इतना व्यापक होता है, और न उनके निर्माण में इतने विस्तार की गुंजाइश ही है।

दृश्य और उद्देश्य

ठीक इसी दृष्टि से अंकों का दृश्य-विभाजन भी होता है। एक अंक में जितनी बातों की सूचना देनी होती है, उन्हें ध्यान में रखते हुए क्रम और कलात्मकता की रक्षा करते हुए एक-एक दृश्य में दिखाया जाता है। उदाहरण के लिए उपर्युक्त नाटक का चौथा अंक ले लीजिए। इसमें प्रधानतया पांच बातें कहनी हैं :—

१. अशोक की पत्नी अनीता का पहाड़ी राजा कनिक्ष की स्नेह-संरक्षता में आना,
२. स्वस्थ अशोक का पहाड़ी राजा कनिक्ष की सहायता,
३. चित्रा के प्रयत्नों की असफलता का आरंभ,
४. चित्रा की मनोवृत्ति में कोमलता एवं सात्विकता अर्थात् उसका अन्तर्द्वन्द्व, और
५. अशोक की महान धार्मिक संपत्ति का बीजारंभ।

ध्यान रहे कि मिल कर ये ही पांचों बातें नाटक के प्रधान उद्देश्य की प्राप्ति के अवयव हैं। इस अंक में ये ही इस अंक के उद्देश्य अर्थात् प्रधान उद्देश्य की प्राप्ति के आरम्भ के अनेक अंश हैं। इन्हीं अनेक अंशों को क्रमशः पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवें दृश्य में रक्खा गया है।

दृश्य-विभाजन की आवश्यकता

जहां किसी अंक के उद्देश्य को कई भागों में नहीं बांटा जा सकता है, वहां अंकों का दृश्य-विभाजन नहीं होता। इस प्रयत्न में नाटककार प्रायः सफल नहीं हुए हैं। कारण यह है कि नाटकों में अधिक से अधिक पांच अंक होते हैं। अनेकांकी होने के कारण इन नाटकों में चरित्र-चित्रण की विविधता तथा कथावस्तु का पूर्णरूप से विस्तार एवं अनेक प्रकार के वर्णन होते हैं। तात्पर्य यह है कि कहना बहुत-कुछ रहता है और जिन अंकों में कहना है, उनकी संख्या तीन या पांच ही रहती है। परिणाम यह होता है कि एक अंक में कई और कई प्रकार की बातों को कहना पड़ जाता है। ऐसी स्थिति में उनको किसी एक सूत्र से बांधना पड़ता है। इस कला में नाटककारों को बहुत कम सफलता मिल पाई है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'आधी रात' या 'सिंदूर की होली ऐसे नाटक, जिनमें यह विविधता कुछ कम रहती है, इस दृष्टि से थोड़े-बहुत सफल हैं। उन्हीं के 'गरुड़-ध्वज' नाटक को पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि इन अंकों को दृश्यों में

यदि बांट दिया जाता, तो अच्छा होता। उदाहरण के लिए 'गरुड़-ध्वज' के दूसरे अंक को ले लीजिए। अंक के प्रारम्भ में विक्रममित्र और मान्धाता की बातचीत होती है। इस वार्तालाप का उद्देश्य है शस्त्र और शास्त्र के महत्त्व की तुलना और उनकी अपेक्षाकृत श्रेष्ठता का निर्णय। इसके बाद विक्रममित्र और मलयवती की बातचीत होती है। उद्देश्य बदल जाता है। वासंती की समस्या सामने आ जाती है। दोनों के बीच में यह सूचना है कि :—

"(मान्धाता का प्रस्थान। विक्रममित्र उसी क्षण गंभीर हो उठते हैं। उनकी आंखें झँपने लगती है। तुरन्त ही सिंहासन के आगे धरती पर सिर टेक देते हैं। सिंहासन के पीछे के द्वार से मलयवती का प्रवेश। मलयवती उन्हें इस दशा में देखकर पीछे हटना चाहती है। उसकी आकृति पर भय और विस्मय की रेखा दौड़ जाती है। उसके नूपुर की ध्वनि से विक्रममित्र चौंक कर संभल बैठते हैं और उसकी ओर देखते हैं। मलयवती भय की मुद्रा में नीचे देखने लगती है।)"

यदि 'मान्धाता का प्रस्थान' के पश्चात् परदा गिरवाकर एक नए दृश्य का विधान कर दिया गया होता, तो अच्छा होता। अभिनय की दृष्टि से भी दृश्य-विधान अच्छा होता है। आखिर दर्शकों के मन को बीच-बीच में थोड़ी सी छुट्टी भी तो मिलनी चाहिए। अवकाश के बिना इन बड़े-बड़े अंकों का अभिनय दर्शकों के मन को थका देगा। इस दृष्टि से एकांकी नाटकों को भी दृश्यों में बाट देना अच्छा होता है।

शैली की दृष्टि से

शैली की दृष्टि से आधुनिक काल के नाटकों को हम दो मुख्य वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। पहले वर्ग में वे नाटक आते हैं, जो नाट्य कला के प्राचीन सिद्धान्तों पर लिखे जाते हैं और दूसरे वर्ग में वे, जो नाट्यकला के नवीनतम सिद्धान्तों को लेकर चलते हैं।

प्राचीन सिद्धान्तों के आधार पर लिखे गए नाटकों को देखने के साथ ही साथ नाट्यकला के प्राचीन सिद्धांतों को संक्षेप में देखते चलना अच्छा होगा। यहां यह बतला देना भी अप्रासंगिक न होगा कि प्राचीन सिद्धांतों से मेरा तात्पर्य संस्कृत के नाटकों के सिद्धांतों से है। संस्कृत की नाट्य कला के सिद्धांतों के हिन्दी में अनुकरण के कारण खोजने के लिए बहुत सोचने की आवश्यकता नहीं है। हमें यह मानना पड़ेगा कि हिन्दी के नाटकों का विकास स्वाभाविक रीति से नहीं हुआ है। हिन्दी के नाटकों की साहित्यिकता और उनकी अनभिनेयता के मूल में भी यही बात है।

संस्कृत नाट्य शास्त्र के अनुकरण का कारण

अपने नाटकों का स्वाभाविक विकास तब समझा जाता, जब उनका हमारी जनता के जीवन से प्रत्यक्ष संबंध होता। जनता की साहित्यिक अभिरुचि और नाट्यकला को समझने की और उसके महत्त्व के आंकने की उसकी शक्ति के साथ-साथ जब नाटकों की साहित्यिकता और उसकी कला का विकास होता, तो वह स्वाभाविक होता। नाटक अभिनय की वस्तु है, और अभिनय का प्रत्यक्ष संबंध दर्शकों की आंखों से है।

कल्पना से अभिनय का आनन्द उठाने वाली बात मेरी समझ में नहीं आती। दुख की बात है कि हिन्दी में यही हुआ है।

ऐसा इसलिए हुआ कि हिन्दी में इस कला के आविर्भावकाल में जनता या तो धार्मिक थी या वासनात्मक। या तो वह रामलीला और रासलीला देखती थी या पारसी थियेटरों के नाटकों को। रामलीला और रासलीला का जनता से जो संबंध था, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसकी विवेचना कुछ चौंकाने वाली हो सकती है। फिर भी, भगवान का नाम उसे धार्मिक बनाए रखने के लिए काफी था। कुछ भी हो, किन्तु वहां साहित्यिकता नाम-मात्र को भी नहीं थी। इधर पारसी रंगमंच के नाटकों की असाहित्यिकता उतनी ही सिद्ध है, जितनी उनकी अश्लीलता। साहित्यिकों के लिए यह परिस्थिति असह्य थी। उस समय आवश्यकता इस बात की थी कि कोई ऐसा प्रतिभाशाली नाटककार होता जिसके नाटकों का साहित्यिक महत्त्व भी होता और जो जनता के लिए भी होते। साहित्यिक जनता की ओर जाना कदाचित् अपना अपमान समझते थे। वे जनता को पुस्तकों के पीछे लाना चाहते थे। उन्होंने बहुत सुन्दर साहित्यिक नाटक लिखे, किन्तु उनके सफल अभिनय के लिए जिस रंगमंच और दर्शक-समूह की अपेक्षा थी, वह स्वतः एक साहित्यिक कल्पना का विषय था। कम से कम अभी तक तो हम उसके योग्य नहीं हो सके हैं! यहीं से जनता का साथ छूटता है और हमारी नाट्यकला का विकास अध्ययन का आधार लेता है।

असाहित्यिक जनता

संस्कृत के नाटक उच्च श्रेणी के हैं। उनका साहित्यिक मूल्य किसी भी दृष्टि से और किसी की भी अपेक्षा कम नहीं। योरोपीय, विशेषतः अंग्रेज़ी में शेक्सपियर के, नाटकों से भी परिचय हो गया था। इस परिचय ने भी संस्कृत के नाटकों के महत्त्व को बढ़ा दिया था। वे ही पांच अंक, वैसे ही दृश्य-विभाजन, उसी प्रकार आभिजात्यवर्ग की प्रधानता, उसी प्रकार के स्वगत, वैसी ही साहित्यिकता, वैसा ही काव्यप्रधान संगीत, प्रस्तावना की ही तरह प्रोलॉग, और वैसा ही उच्चकोटि का कलात्मक वातावरण, जो संस्कृत के नाटकों में था, लोगों को अंग्रेज़ी के नाटकों में मिला। प्राचीनता पर जीने वालों की कमी हमारे यहां कभी नहीं रही। हिन्दी को संस्कृत के सांचे में ढालने की मनोवृत्ति आज भी नहीं गई है। उस समय यही अच्छा समझा गया कि संस्कृत के नाटकों के अनुवाद हों। इस प्रकार अनुवादों से मस्तिष्क का जो संस्कृतीकरण हुआ, तो आज तक उसका थोड़ा-बहुत प्रभाव मिलता है। यह प्रभाव हमें निम्नलिखित रूपों में मिलता है।

संस्कृत नाटक और अंग्रेजी नाटकों को समानता और हमारा प्राचीन-प्रेम

अनेक नाटकों के प्रारम्भ में हमें 'प्रस्तावना' मिलती है। इसमें पहले प्रार्थना होती है। प्रार्थना के बाद सूत्रधार अथवा नट और नटी रंगमंच पर आते हैं और बात ही

बात में नाटक खेलने की बात, नाटक का नाम और संक्षिप्त विवरण, कभी-कभी उसके लेखक का नाम और सामान्य परिचय, फिर नाटक की प्रशंसा आदि करके अंत में अगले दृश्य की ओर संकेत कर के चले जाते हैं । नाटक का प्रारम्भ इसके बाद होता है। राधेश्याम कविरत्न के 'सती पार्वती' नाटक (१९३९ ई०) की प्रस्तावना में नट आदि ने पहले शिव की स्तुति की है । फिर शिव और पार्वती की सम्मिलित प्रार्थना है और फिर नटी और नट में निम्नलिखित वार्तालाप होता है:—

प्रस्तावना

"नटी —धन्य, मैं समझ गई। आज आप के हृदय में शिव और पार्वती जी का जो इतना अधिक मान है, इसका कारण यही है कि शिव और पार्वती का चरित्र ही नाटक के रूप में खेलने का शायद ध्यान है !

सामान्य नाटकों में प्रस्तावना

नट—क्यों न समझोगी ? अर्द्धागंनी हो न ?

नटी—एक बात कहूँगी । नाटक में चरित्र–शिव और पार्वती किसी का भी प्रधान रूप से दिखाया जाय; परन्तु नाटक का नाम 'शिव–पार्वती' न रख कर 'सती पार्वती' रक्खा जाय ।

नट—क्यों, ले आईं न अपनी स्त्री जाति को ऊंचा रखने की बात ! अच्छा यही सही । पहले कैलास का दृश्य न दिखलाएंगे । उस जगह से अपना नाटक उठाएंगे जहां कि श्री ब्रह्मा जी महाराज ने अपने प्यारे पुत्र दक्ष को प्रजापति बनाया, और मदान्ध दक्ष ने शंकर का अपमान किया ।

एक बालिका—और आगे चलकर ?

नट—यह बताएंगे कि भूत भावन भगवान शंकर की महाशक्ति ने दक्षपुत्री सती बन कर किस प्रकार दक्ष से बदला लिया ।

नटी—तब तो ठीक है–दक्षपुत्री सती ही इस नाटक की प्रधान पात्री कहलाएगी।

नट—हां–किस प्रकार सती का शंकर से प्रेम हुआ—किस प्रकार स्वयंवर में सती ने शंकर को वरमाला पहनाई—यह सब कथा पहले ही अंक में दिखलाई जायगी ।

एक बालिका—और दूसरे अंक में ?

नट—सीता-वेश बनाने के कारण शंकर द्वारा सती का त्याग और फिर दक्ष के यज्ञ में सती दाह ।

दूसरी बालिका—अन्त में ?

नट—अन्त में पार्वती के नाम से उसी महाशक्ति सती ने ज़िस प्रकार अपने प्राण-पति शंकर को प्राप्त किया वह कथा आएगी, और उसी समय इस सुखांत नाटक पर यवनिका गिराई जायगी ।

नटी—धन्य—मैं भी यही चाहती थी ।

नट—तो तैयार हो जाओ :—

'नटगण के रंग थल पै नटराज को लाना है"—आदि

इस नाटक को सामान्य स्तर का नाटक कहा जा सकता है। पारसी स्टेज के अनुकरण पर साधारणतः प्रचलित रंगमंच के लिए यह है। अतएव एक साहित्यिक नाटक से उदाहरण दे देना भी ठीक होगा। इस नाटक की 'प्रस्तावना' में नाटक से संबंध रखने वाली सभी बातें कह दी गई हैं। वास्तविक दृष्टि से भी इस तथ्य का अनुभव हो सके, इसीलिए इस नाटक का नाम आदि यहां अभी नहीं दिया जा रहा है। प्रस्तावना देखिए :—

साहित्यिक नाटकों में प्रस्तावना

"प्रस्तावना

नांदी पाठ

छप्पय

जयति अखिल ब्रह्मांड, सीस सर्षप इव धारन;
मंगल-मूलाधार, तरन-तारन, सुख-कारन।
प्रलय-पयोनिधि-सेतु, हेतु भू-भार-उतारन;
निगमागम-रस-सार-भक्ति-सौरभ-संचारन।
तिमि मायावाद-गजेंद्र-दल दलन केहरी अति प्रखर;
अस रामानुज आचार्य-गुरु जयति आलबंदार वर।

सूत्रधार—(नेपथ्य की ओर देखकर) अब तक क्या चन्द्र-पूजन नहीं हुआ प्यारी? अर्घ्य दे चुकी हो, तो इधर आओ।

(नटी का प्रवेश)

नटी—भगवान कुमुदनी-कांत को अर्घ्य तो कभी दे चुकी हूँ। अभी आप ही के कार्य में लगी थी।

सूत्रधार—कौन-सा कार्य प्यारी?

नटी—भूल गए? आज इस भक्त-समाज में कोई नाटक खेलने का आदेश दिया था न?

सूत्रधार—हां-हां, खेलना न होता, तो तुम्हारी याद क्यों करता?

नटी—तो विलंब न करें। दर्शकगण हम लोगों का अभिनय देखने के लिए उत्सुक हो रहे हैं। अहा! ऐसा सुअवसर फिर कब मिलेगा!

सूत्रधार—प्यारी, सचमुच ही गुरु-पूर्णिमा की यह सुहावनी चांदनी, भगवद्भक्तों का पुनीत समागम और रसिकानुगामी वियोगी हरि-कृत 'प्रबुद्ध यामुन' के अभिनय का आयोजन एक से एक बढ़कर है। (दर्शकों की ओर देखकर) प्यारी, अच्छा तो यह हो कि इस उत्सुक दर्शक-

मंडली को अपने कोकिल-कंठ से एकाध मनोमोहक गीत अलाप कर आनंदित करो।

नटी—नाथ, कौन-सा गीत गाऊँ ?

सूत्रधार—वही-'मधुकर, क्यों न हरि-रस लहत ?' आज के लिए उससे अधिक उपयुक्त गीत और कौन-सा होगा ?

नटी—जो आज्ञा।

(गाती है)

गीत

मधुकर, क्यों न हरि-रस लहत;
लहत हरि-रस क्यों न, इत-उत सूल-सालनि सहत ? (आदि)

सूत्रधार—बलिहारी ! तुम्हारे सुमधुर गीत ने तो दर्शकों को चित्र-खचित सा कर दिया है। अब जो नाटक खेलना हो, शीघ्र कहो।

नटी—क्या भूल गए ? 'प्रबुद्ध यामुन' का आदेश दिया है न ?

सूत्रधार—हां, हां, 'प्रबुद्ध यामुन' ही तो खेलना है। निर्वेद का प्रभाव ही ऐसा है। हा ! संसार-सागर में पड़ा हुआ मैं कुछ भी न कर सका। धन्य ! 'मधुकर, क्यों न हरि रस लहत'—(नेपथ्य की ओर देखकर) एं ! देखो, यह कैसा सुन्दर तेजस्वी बालक यज्ञ की समिधा लिए चला आ रहा है ! अहा ! !

ब्रम्ह-तेज दरसत अतुल, सरसत सुन्दर रूप;
बामन ह्वै छलिया छलै, आज कौन-सों भूप।

नटी—सब ज्ञात हो जायगा। चलिए।

(दोनों का प्रस्थान)"

इस प्रकार इस प्रस्तावना में प्रारम्भ में ही अर्थात् छप्पय की अंतिम पंक्ति में आलबंदार अर्थात् यामुनाचार्य की जयकार के द्वारा नाटक का नायक, उसकी श्रेष्ठता, और उसकी विजय बतलाई गई है, दर्शकों के भक्त होने और गुरुपूर्णिमा की रात्रि का समय होने का उल्लेख किया गया है, नाटक का नाम 'प्रबुद्ध यामुन' होने और उसके लेखक का नाम वियोगी हरि होने की सूचना दी गई है और अंत में 'सुन्दर तेजस्वी बालक' की ओर ध्यान आकृष्ट करा कर पहले अंक के प्रथम दृश्य का प्रारम्भ कराया गया है। यह नाटक १९२९ ई० का है। यह प्रवृत्ति पूर्ण रूप से संस्कृत के नाटकों का है। आगे चलकर इसका पूर्ण रूप से बहिष्कार हुआ। इसका कारण यह है कि नाटकीयता, मानव-मन की जिज्ञासा वृत्ति एवं कौतूहल आदि की दृष्टि से यह प्रवृत्ति बिल्कुल निरर्थक थी।

नाटकों का आदर्शवादी परम्परा में होना भी संस्कृत के नाटकों के प्रभाव-स्वरूप है। ऐसे नाटकों के आदर्शवाद का अर्थ है नाटक के प्रधान पात्रों अर्थात् नायक-नायिका

आदि का उन गुणों एवं विशेषताओं से सम्पन्न होना जो हमारे धर्म, दर्शन एवं सामाजिक मर्यादाओं से अनुमोदित हैं। ये नायक आदर्शों के प्रतीक होते हैं, हमारे जीवन के नहीं। इन नायकों में एक भी कमी—एक भी दुर्गुण—का होना सह्य नहीं। इस प्रकार आदर्शवादी नाटकों का नायक सर्वगुणसम्पन्न होता है। अब, यदि नाटक के अंत में ऐसे नायक की पराजय दिखाई जाय तो इसका मतलब होगा हमारे धर्म, दर्शन एवं सामाजिक मर्यादाओं के अनुमोदित गुणों की हार, जो किसी भी दशा में इष्ट नहीं। फिर, इस हार का परिणाम यह भी हो सकता है कि सामान्य जनता की आस्था उन गुणों पर से उठ जाय और एक प्रकार की अव्यवस्था फैल जाय। इस कारण हमारे प्राचीन नाटकों में नायक की पराजय कभी भी नहीं दिखाई जाती थी। वह कितनी भी लोमहर्षक आपत्तियों से क्यों न घिरा हो किन्तु उसकी विजय निश्चित थी। नाटक के अंत में नायक की विजय ही नहीं होती थी, बल्कि महात्मा और देवतागण उस पर फूलों की और आशीर्वादों की वर्षा करते थे। सब लोग अंत में प्रार्थना करते थे कि संसार में सुख-शांति और धर्म का प्रचार हो। वियोगी हरि के "प्रबुद्ध यामुन" के अंत में यामुनाचार्य आशीर्वादों से लद जाता है। इस प्रकार पाठक या दर्शक यह सोचकर बैठता था कि हमारा नायक कभी हार नहीं सकता।

आदर्शवाद और नायक

और, जब नायक-अर्थात् हमारी सहानुभूति, हमारे आदर्श, और हमारी प्रशंसा का प्रतीक-हार नहीं सकता, तब नाटकों का सुखान्त होना स्वतः सिद्ध है। यही कारण है कि हमारे यहां दुखांत नाटकों का अभाव है। यह नायक या तो इतिहास प्रसिद्ध कोई राजा-महाराजा होता था या कोई पौराणिक व्यक्तित्त्व। सामान्य व्यक्ति को किसी नाटक का नायक बनाने की बात हमारे नाटककार सोच भी नहीं सकते थे। इस प्रकार इस संबंध में निम्नलिखित बातें मिलती हैं :—

सुखान्तता और नायक का असाधारण व्यक्तित्व

अ. नाटकों का आदर्शवादी होना,

आ. नायक का सर्वगुणसम्पन्न एवं हमारे आदर्शों का प्रतीक होना,

इ. उनकी निश्चित विजय,

ई. नाटकों का सुखांत होना, और

उ. नायक का असामान्य व्यक्तित्त्व।

नाटकों के प्रथम उत्थान में हमारे यहां ये सभी बातें मिलती हैं। राधेश्याम कविरत्न के सभी नाटक ऐसे ही हैं। इनके 'सती पार्वती' नाटक का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पौराणिक या धार्मिक नाटक सब के सब ऐसे ही हैं। इन नाटकों में प्रस्तावना, नांदी पाठ और भरत वाक्य का उल्लेख स्पष्ट रूप से होता था। उनके अतिरिक्त रामनरेश त्रिपाठी का 'जयन्त' (१९३४ ई०), जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद का 'प्रताप प्रतिज्ञा'

हिन्दी के ऐसे नाटक

(१९२८ ई०), मिश्रबंधु का 'शिवा जो' (१९३८ ई०), हरिकृष्ण 'प्रेमी'. के प्रायः सभी नाटक आदि ऐसे ही हैं। सभो नाटकों में सभी बातें वैसी की वैसी नहीं मिलतीं। किन्तु उनके प्रभाव की बात अस्वोकार भी नहीं की जा सकती। वे ही पौराणिक या ऐतिहासिक नाम, उन्हीं की कोर्ति-गाथा, और प्रायः उन्हीं की विजय रहती है। 'प्रसाद' के नाटकों में यदि स्कन्दगुप्त जोतता है, और चन्द्रगुप्त का विजयनाद है, तो लक्ष्मीनारायण मिश्र 'अशोक' का महत्त्व दिखलाते हैं।

रंगमंच के लिये संकेतों का अभाव

संस्कृत के नाटकों में नाटककार रंगमंच के संबंध में अधिक चिन्तित नहीं होते थे। कभी-कभी बहुत हल्का सा संकेत दे दिया, तो दे दिया; नहीं तो, उसकी भी आवश्यकता नहीं समझो जाती थी। कदाचित् सोचा यह जाता था कि यह कार्य रंगमंच को व्यवस्था करने वाले का है। नाटकों की आवश्यकता के अनुसार वह रंगमंच का निर्माण कर ही लेगा, तब उसके लिए क्यों चिन्ता की जाय? संस्कृत शैली से प्रभावित हिन्दी नाटकों में भी रंगमंच को कोई निश्चित रूपरेखा नाटककार नहीं देता था। 'प्रस्तावना' के अभिनय के पश्चात् नाटक प्रारम्भ हुआ। पर्दे उठे और गिरे और अंत तक यही होता रहा। अनुमान यह है कि उस समय नाटककारों के मन में किसी विशेष प्रकार के रंगमंच की कल्पना होती भी नहीं थी। रंगमंच के विषय में उनकी जानकारी उतनी ही होती थी जितनी किसी सामान्य व्यक्ति को। तात्पर्य यह है कि कुछ बड़ी-बड़ी चौकियों को जोड़ कर पृथ्वी से कुछ ऊँचे काफी लंबा-चौड़ा चबूतरा-सा बना लिया। बांस की बल्लियों के सहारे तीन-चार पर्दों को गिराने-उठाने की व्यवस्था कर ली। सामने दर्शकों के बैठने के लिए एक शामियाना लगा दिया। रंगमंच के चारों ओर परदा लगा दिया, जिससे अनावश्यक व्यक्ति उसके भीतर न जा सकें, आदि-आदि। कदाचित् इसी बात को ध्यान में रख कर वे नाटक भी लिखते थे। ध्यान में न रखते हुए भी नाटक ऐसे ही रंगमंच के अनुसार ढल जाते थे। इसमें आश्चर्य भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि बंधा-रुँधा, रूढ़िवादी और अंधविश्वासी कलाकार इससे अधिक बढ़ भी नहीं सकता। न उनके नाटकों में विशिष्टता होती थी, और न उनके लिए आवश्यक रंगमंच में। इसीलिए नाटककार कोई निश्चित सूचना नहीं देते थे। 'प्रसाद' और 'प्रेमी' आदि नाटककार भी अपने-अपने नाटकों में रंगमंच के लिए कोई निश्चित रूप-रेखा नहीं देते थे। यह प्रायः संस्कृत शैली का प्रभाव ही था।

वर्जित बातें

संस्कृत साहित्य अशुभ और रंगमंच के लिए अव्यावहारिक एवं अनुपयुक्त बातों के अभिनय के लिए कभी भी अनुमति नहीं देता। उसके नाटकों में भी मृत्यु, आत्महत्या, हत्या, युद्ध, राज या देश का विप्लव, नगर आदि का घेरा डालना, भोजन, स्नान, चुम्बन, कपड़ा पहनना, तेल या उबटन आदि की मालिश, लंबी यात्रा आदि का दिखाना मना था। इन नियमों को संस्कृत साहित्य में ही पूरी तरह से नहीं माना गया। हिन्दी में इनको कम माना तो

गया है किन्तु उतना ही कम, जितना संस्कृत नाट्य साहित्य में। ये और ऐसे दृश्य बहुत ही कम आते हैं। इसका कारण यह भी हो सकता है कि रंगमंच पर इनका प्रदर्शन सुगम और उचित नहीं। यों, इनको यदि स्वतन्त्र रूप से एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति माना जाय तो आपत्ति की कोई बात नहीं, किन्तु संस्कृत नाट्य साहित्य के माध्यम से प्राप्त होने के कारण इसे प्रभाव रूप में भी माना जा सकता है।

काव्यात्मकता

संस्कृत साहित्य में नाटक को काव्य साहित्य के अंतर्गत ही माना गया है :— 'काव्येषुनाटकम्‌रम्यं'। रस और नाटक का परस्पर वही संबंध है जो आत्मा और शरीर का। रस के परिपाक के लिए काव्य और काव्यात्मक वातावरण आवश्यक था। कविता राग-रागिनियों के स्वर, लय और ताल में ढलती थी। साथ में सुमधुर बाजे बजते थे और नाच भी होता था। हिन्दी के नाट्य साहित्य में सबसे पहले यही चीज़ पारसी थियेटरों में एवं उससे बुरी तरह प्रभावित रंगमंचों पर अत्यंत कुत्सित रूप में दिखाई पड़ी थी। भारतेंदु हरिश्चन्द्र और 'प्रसाद' के विद्रोह ने उसमें से कुत्सा निकाल कर अलग कर दी और वह प्रवृत्ति इनके नाटकों में अपने पूर्व रूप में फिर दिखाई दी।

भावुकता और काव्य प्रधान पात्र

अन्तर इतना ही हुआ कि उनमें अब बंगाली नाटकों की भावुकता थोड़ी-बहुत आ गई। 'प्रसाद' के 'स्कंदगुप्त विक्रमादित्य' (१९२८ ई०) में विजया के चरित्र में इस भावुकता का कुछ आभास मिलता है। जब स्कंद-गुप्त "जीवन के शेष दिन" "एक दूसरे का मुंह देखकर काट" लेने की बात करता है तब भी कुछ वैसी ही भावुकता मालूम होती है। उसी नाटक की देवसेना तो पूर्ण रूप से कविता के देश की मनमोहिनी परी है, जिसकी वाणी, जिसके विचार और जिसके कार्य-कलाप में कविता ही कविता है।

"देवसेना—विजया! प्रत्येक परमाणु के मिलन में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है। मनुष्य ने अपना स्वर विकृत कर रक्खा है, इसी से तो उसका स्वर विश्व-वीणा में शीघ्र नहीं मिलता।" आदि

या

"मातृगुप्त—(अपनी भावना में तल्लीन, जैसे किसी को न देख रहा हो) अमृत के सरोवर में स्वर्ण-कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल-पहल थी। सबेरे सूर्य की किरणें उसे चूमने को लोटती थीं, संध्या में शीतल चांदनी उसे अपनी चादर से ढँक देती थी। उस मधुर सौंदर्य, उस अतींद्रिय जगत की साकार कल्पना की ओर मैंने हाथ बढ़ाया था, वहीं-वहीं स्वप्न टूट गया!"

संगीत, नृत्य और गीत

गीत काव्यात्मकता का एक अन्य उपकरण है। 'प्रसाद', 'प्रेमी', 'उग्र', गोविन्द बल्लभ पंत आदि सभी नाटककारों के नाटकों में कविताएं मिलती हैं। ये ही कविताएं उन नाटकों के गीत भी हैं। 'प्रसाद' के 'स्कंदगुप्त विक्रमादित्य' और 'चन्द्रगुप्त मौर्य' के गीतों

की स्वरलिपियां भी दी हुई हैं। ये स्वरलिपियां नाटक के समाप्त होने के बाद इस प्रकार दी गई हैं :—

(पृष्ठ ६७)

मालकोस—तीन ताल

(यह गान नेपथ्य से गाया जायगा)

स्थायी

		२	०	३
	स नि	ग स म ग ध म नि ग	य ग म स	नि स ध नि
	पा ऽ	ऽऽ लऽ नाऽ ऽऽ	ब नें ऽ प्र	ल य की ऽ
×	स म म			
	ल ह रें			

इत्यादि

संगीत के साथ नृत्य भी होता था जिसकी सूचना नाटककार दे दिया करते थे। संगीत की भांति नृत्य के प्रकार, जैसे तांडव, राधाकृष्ण आदि, की सूचना वे नहीं देते थे। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भावुकता एवं काव्यात्मकता से तो नहीं, क्योंकि उनके पात्रों में ये तत्त्व आज भी मौजूद हैं, किन्तु गीतों के लिए आजकल कसम-सी खा ली है। 'अशोक' (१९२६ ई०) में पर्याप्त गीत हैं—ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में, भारतीय और अ-भारतीय दोनों प्रकार के पात्रों के द्वारा गाए गए। उदाहरण लीजिए:—

'आजु, हिमकर बिहँसत घन पार
सन सन करत समीर सुरभि-मय,
कूकत कोकिल निपट ललित लय
फूलि उठे सखि देखु विटप-चय
करहिं भँवर गुंजार
आजु हिमकर बिहँसत घन पार'....................आदि।

और

'आह ! प्रिय अब किस जग की ओर ?
उमड़-घुमड़ कर इन नयनों से अन्तर की यह धार,
बह कर इस बेसुध जीवन के जायेगी उस पार,
मौन छूने अनंत का छोर'...............आदि।

आनंदि प्रसाद श्रीवास्तव ने 'अछूत' (१९३० ई०) में एक क्रम में दो गीतों का प्रयोग किया है। दोनों गीतों के बीच में कोई भी बात नहीं कहलाई गई है। सिद्धांत रूप में लक्ष्मीनारायण मिश्र संगीत की आवश्यकता को आज भी थोड़ा-बहुत मानते हैं। 'मुक्ति का रहस्य' (१९३२ ई०) की भूमिका में उन्होंने लिखा है, "जिस

किसी चरित्र का स्वाभाविक झुकाव मैं संगीत की ओर देखूंगा, उसके द्वारा दो-चार गीत गवा देना मैं मुनासिब समझूंगा"। किन्तु "मेरी राय में नाटक में गीत रखना कोई बहुत ज़रूरी नहीं है" (वही)। अभी कुछ दिन पहले तक रामकुमार वर्मा अपने पात्रों की वेश-भूषा आदि के विषय में संकेत देते समय भी कभी-कभी काव्य-कल्पना का उपयोग कर लेते थे। देखिए:—

"[प्रो० केदारनाथ और उनकी पत्नी रत्ना का प्रवेश। रत्ना का गौर वर्ण। सुन्दर मुख-मुद्रा। नीली रेशमी साड़ी। जैसे एक शांत बिजली बादल के वस्त्र पहन कर आई है। सौम्य और गंभीर।]"[1]

हिन्दी की प्राचीन शैली के नाटकों में कविताओं या छंदोबद्ध पंक्तियों का प्रयोग प्रायः निम्नलिखित स्थलों पर होता था :—

छंदोबद्ध पंक्तियों के स्थल

१. किसी को सावधान करते समय,
२. किसी बड़े या महान व्यक्ति की प्रशंसा करते समय,
३. किसी ऐसे सुन्दर, रमणीक, प्राकृतिक स्थान पर पहुँचने पर, जिसे देख कर मन प्रशंसा या पुलक से भर जाय,
४. अच्छे या महान व्यक्ति का परिचय देते समय,
५. पूजा या पाठ करते समय,
६. किसी शुभ कार्य—नाटक के प्रारंभ आदि—के समय,
७. स्नेह, प्यार, लाड़-दुलार के समय,
८. घोर दुख के समय,
९. करुणा के हल्के से भी हल्के अवसर, जैसे देश-दुर्दशा आदि, पर, और
१०. स्वागत के अवसरों पर।

वस्तुतथ्य तो यह है कि इन नाटकों में कविताओं और गानों के स्थलों की गणना करना असंभव है। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि किसी भावना के भी असामान्य अवसर पर इनका प्रयोग हो सकता है। वह अवसर गाने के उपयुक्त है या नहीं, इसका विचार बहुत कम होता है। कल्पना कीजिए कि किसी अबला का पुत्र या पति मर गया है। ऐसी अवस्था में गीत गा सकना उसके लिए कभी भी संभव नहीं! कितना भी करुण रस-प्रधान गीत क्यों न हो, किन्तु वह गा न सकेगी! ऐसे अवसरों पर तो मानव-मन की भावनाएं आघात की तीव्रता से शून्य की स्थिति में पहुँच जाती हैं। अभिनय उस तीव्रता को व्यक्त कर सकता है। गीत तो क्या, दुख-भरी बातचीत भी वह ठीक से नहीं कर सकती, किन्तु ये नाटककार उस अवसर भी उससे एक-आध गीत गवा ही डालेंगे।

---

१. 'परीक्षा' (मार्च, १९४०)

कविता के प्रयोग का एक भोंडा स्वरूप तुक पर टूटने वाली बातों में मिलता है। पारसी रंगमंच और उसके लिए या उस शैली पर लिखे गए नाटकों में तो इनकी प्रधानता रहती ही थी, आज भी वे कभी-कभी दिखाई पड़ जाती हैं। इतना अवश्य है कि वे कुछ परिष्कृत रूप में आती हैं। गौरीशंकर 'सत्येंद्र' के 'मुक्तियज्ञ' (१९३८ ई०) में विमल और विजया की निम्नलिखित प्रार्थना में उसी प्रवृत्ति का प्रभाव है। प्रार्थना देखिए :—

तुकमय वाक्य

"विमल :—हम क्या हैं? इसको कौन बता सकता है ?
विजया:—क्यों आए जग में कौन बता सकता है ?
विमल :—हम बूंद लहर से पृथक उछल कर छलके,
विजया :—हम तारा वीचि-विलास झूलकर झलके,
दोनों :—हम छलके-झलके कौन बता सकता है ?
विमल :—हम क्या हैं ? इसको कौन बता सकता है ?"

यह प्रार्थना इसी प्रकार पूरे एक पृष्ठ तक चली है। यह प्रवृत्ति आगे चल कर बिल्कुल ही नष्ट हो गई।

संक्षेप में हम यों कह सकते हैं कि काव्य और संगीत के रूप में हिन्दी नाट्य साहित्य को संस्कृत नाट्य साहित्य ने निम्नलिखित रूपों में प्रभावित किया है :—

काव्य एवं संगीत के रूप पर पड़ा हुआ प्रभाव

क. काव्य-कल्पना-युक्त विचार और उनके उपयुक्त भाषा और शैली,
ख. काव्य-सुलभ प्रकृति वाले पात्र,
ग. कविताएं एवं गीत,
घ. नृत्य और वादन,
ङ. दृश्यों के वर्णन में काव्यात्मक कल्पनाओं का उपयोग, और
च. तुकांत शैली के वाक्य, इसी शैली पर पात्रों की बातचीत या प्रार्थना आदि।

इसी काव्यात्मकता और आदर्शवाद अर्थात् नायक की निश्चित विजय का ही परिणाम है कि पहले हिन्दी के नाटकों में अंतर्द्वन्द्व का बिल्कुल अभाव होता था। बाह्य संघर्षों में भी तीव्रता नहीं आने पाती थी। सब-कुछ धीरे-धीरे और एक निश्चित उठान, मोड़ और झुकान के साथ होता था। आकस्मिकता और कौतूहल में जान नहीं होती थी। कथा की गति सामान्य होती थी। उसे निम्नलिखित रेखा-चित्र[1] से अच्छी तरह समझा जा सकता है :—

अंतर्द्वन्द्व और तीव्र संघर्ष की कमी
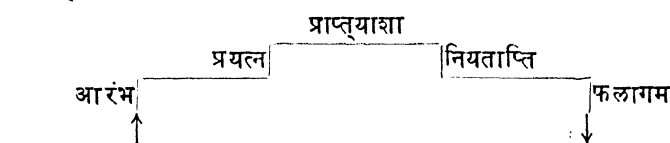
१. रामकुमार वर्मा: 'रेशमी टाई' (१९४१ ई०)

तात्पर्य यह है कि नाटकीय कथा आरम्भ हुई। हमें समस्याओं का धीरे-धीरे ज्ञान करा दिया गया। नाटक को किस फल की प्राप्ति होनी है, इसका भी आभास दे दिया गया। बाद में खल नायक आदि के द्वारा इसकी प्राप्ति में विघ्न पड़े। इसको हटाने के लिए प्रयत्न करने पड़े। उन प्रयत्नों के फल-स्वरूप फल-प्राप्ति की आशा होने लगी। आगे बढ़कर नायक की फल-प्राप्ति निश्चित हो जाती है। अंत में उसे फल प्राप्त करते हुए दिखा दिया जाता है। चरम सीमा के लिये कहीं स्थान ही नहीं। हिन्दी के अनेकांकी नाटक प्रायः इसी ढंग पर लिखे गए हैं। रूपनारायण पाण्डेय के 'सम्राट अशोक' (१९३९ ई०) से उदाहरण देते हुए यह बात पहले थोड़ी-बहुत समझा दी गई है। सियाराम शरण गुप्त के 'पुण्य पर्व' (१९३३ ई०) का भी नाम लिया जा सकता है। 'प्रसाद' और 'प्रेमी' के नाटक भी प्रायः इसी शैली पर हैं। यह संस्कृत नाट्यशास्त्र का ही प्रभाव है।

कथावस्तु की प्रगति

सब से अधिक स्पष्ट प्रभाव तो हास्य रस के पात्रों पर पड़ा है। ऐसा लगता है कि हास्य के संबंध में नवीन कल्पना न करने की कसम खा ली गई थी। संस्कृत के विदूषक नायक या राजा के अभिन्न एवं विश्वासपात्र मित्र होते थे, जिन्हें गुप्त से गुप्त रहस्यों का ज्ञान होता था, जो बुद्धिमान होते हुए भी सामान्यतः ऊटपटांग-सी बातों के द्वारा राजा का मनोरंजन करते थे, जो अबध्य होते थे, जो गाढ़े दिनों में राजा के बड़े काम आते थे, नाटक में जिनका महत्त्वपूर्ण कार्य होता था और जो पेटू होते थे। अति आधुनिक नाटकों को छोड़ दें तो हिन्दी के विदूषकों में भी ये ही गुण होते थे। 'प्रसाद' के 'स्कंदगुप्त विक्रमादित्य' का मुद्गल भोजन-भट्ट विदूषक है जो एक ओर तो कहता है :—

विदूषक

"मुद्गल :—जय हो देव। पाकशाला पर चढ़ाई करनी हो, तो मुझे आज्ञा मिले। मैं अभी उसका सर्वस्वांत का डालूं।"

और दूसरी ओर एक दार्शनिक की भाँति कहता है :—

"मुद्गलः—उसका (मनुष्यता का) नाम न लो। जिस हृदय में अखंड वेग है, तीव्र तृष्णा से जो पूर्ण है, जो कृतघ्नता और क्रूरताओं का भंडार है, जो अपने सुख-अपनी तृप्ति के लिए संसार में सब कुछ करने को प्रस्तुत है, उसे मनुष्यता से क्या संबंध ?"

और वही एक देशभक्त की भाँति उस समय की दुर्दशा देखकर सिर पर हाथ रख कर बैठ जाता है और आगे चल कर विजया को फिर कोई कुचक्र न रचने के लिए सावधान करता है। 'प्रसाद' की 'ध्रुवस्वामिनी' (१९३३ ई०) में हास्य के पात्र हिजड़े के यह कहने पर हो कि, "कुमार ! मैं शपथ खाकर कह सकती हूँ कि यदि मैं अपने हाथों से सजा दूँ तो आप को देखकर महादेवी का भ्रम हो जाय"

आगे समस्त नाटक का कथानक आधारित है। इस प्रकार हिन्दी नाटकों के विदूषक संस्कृत से बहुत प्रभावित हैं।

स्वगत कथनों पर भी संस्कृत के नाट्य शास्त्र का प्रभाव है। वहां अश्राव्य या स्वगत और नियत श्राव्य की अनुमति थी। तात्पर्य यह कि पात्र अपने आप जो कुछ चाहे और जितनी भी चाहे कहता जाय, और यह मान लिया जा सकता था कि उसे दर्शकों के अतिरिक्त और कोई भी नहीं सुन रहा है। पात्र के सामने उपस्थित रहते हुए भी उसी की रहस्य की बात या उसी से संबंधित बातें कह देना और समझ लेना कि उसने नहीं सुना, इसे अपवारित कहते थे। कुछ पात्रों से बचाकर उंगलियों का ओट करके दो पात्र गुप्त बातें कर सकते थे और यह मान लिया जाता था कि अन्य पात्र नहीं सुन पाए। आकाश की ओर मुंह करके किसी की बात सुनने का नाट्य करके उस कल्पित पात्र के प्रश्नों को दुहराते हुए उसे उत्तर दिया जाता था। इसे आकाशभाषित कहते थे। इनमें से कुछ बातों में मनोवैज्ञानिकता नहीं थी। वे अपने आप हट गईं। कुछ रह गईं, जिनका प्रयोग कुछ लोग करते हैं और कुछ लोग नहीं। स्वगत का प्रयोग इन्हीं में से एक है। लक्ष्मीनारायण मिश्र इसका प्रयोग बिल्कुल नहीं करना चाहते। इसकी जगह वे मूक अभिनय से काम चलाना चाहते हैं। "इसी कारण मैंने स्वगत की प्रणाली को अस्वाभाविक समझ कर छोड़ दिया है। पात्रों की भीतरी भावनाओं और प्रवृत्तियों को व्यक्त करने में जितना सहायक मूक अभिनय होता है उतना स्वगत नहीं।"[1] इसके ठीक विपरीत गोविन्द दास ने लिखा है :—

स्वगत आदि

"यदि यह नाटक सफल हुआ तो इसका प्रधान कारण ये स्वगत कथन होंगे और यदि असफल हुआ तो भी ये ही।"[2]

उनके इस नाटक में पांच-पांच और छः-छः पृष्ठों के स्वगत हैं। 'प्रसाद' भी स्वगत का प्रयोग निःसंकोच रूप से करते थे। प्रायः सभी नाटककार करते हैं। आकाशभाषित का वैसा प्रयोग नहीं होता। हां, इसका एक दूसरा रूप लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'आधी रात' (१९३७ ई०) में मिलता है। इस नाटक में जब राघव शरण पेड़ पर रहने वाले प्रेत से बातें करता है तब लगता है कि उसकी बातें आकाशभाषित की परिष्कृत परम्परा में ही हैं। अपवारित का थोड़ा-बहुत प्रयोग अब भी मिल जाता है। जनांतिक का स्वरूप भी मिल सकता है। वस्तुतथ्य तो यह है कि ये सभी बातें पौराणिक एवं धार्मिक नाटकों में मिलती थीं। धीरे-धीरे वे लुप्त होने लगीं।

समय बदला। परिस्थितियां बदलीं। दृष्टिकोण बदला। हमने अंग्रेज़ी नाटकों के अनुवाद पढ़े। स्वयं मूल में भी उनका अध्ययन और उन्हीं के अपने आलोचकों द्वारा उन्हीं की अपनी भाषा में की गई विवेचनाएं पढ़ीं। असंभव था कि हम अप्रभावित रह जाते। अंग्रेज़ी नाटकों ने हमारे नाट्य साहित्य

नवीन प्रभाव

१. 'मुक्ति का रहस्य' की भूमिका'

२. 'गरीबी या अमीरी' (१९४७ ई०) की भूमिका

को बहुत प्रभावित किया है। उस प्रभाव को हमारे नवीन दृष्टिकोण और नई विचार-धाराओं ने हमारी अपनी स्वाभाविक चीज़ बना दी है।

बंगाली नाटकों का प्रभाव

अंग्रेज़ी नाटकों का प्रभाव हम पर दो प्रकार से पड़ा—बंगाली नाटकों के द्वारा, जिनके अनुवाद हिन्दी में बहुत हुए थे, और मूल नाटकों को पढ़कर। अंग्रेज़ी नाटकों के जो अनुवाद हिन्दी में हुए वे प्रायः किसी भी काम के नहीं थे। उनमें शेक्सपियर की नाट्य कला का क्षीणतम आभास भी न था। बंगला नाटकों के अनुवादों के कारण कुछ गुण हिन्दी में आ गए। संक्षेप में वे ये हैं:—

अ. राष्ट्रीय चेतना एवं हिन्दू संस्कृति के प्रति झुकाव,

आ. नारी पात्रों के चरित्र-चित्रण में श्रद्धा और सम्मान एवं उदारता का समावेश,

इ. भावातिरेकमयी शैली,

ई. गद्य की ओर कुछ अधिक झुकाव,

उ. कथानक में इतिवृत्तात्मकता, और

ऊ. नाटकों में व्यंजनात्मकता।

इनमें से कुछ तो निर्विवाद रूप से बंगाली नाटकों के ही गुण हैं, जैसे शैली में भावनाओं का अतिरेक, नारी का उदात्तचित्रण, अपने राष्ट्र के और अपनी संस्कृति के प्रति महत्त्व की भावना। घटनाओं की इतिवृत्तात्मकता, गद्य की ओर झुकाव और व्यंजनात्मकता के विषय में यह प्रश्न उठ सकता है कि इन्हें बंगाली नाटकों के प्रभाव-स्वरूप ही क्यों मानें। ये गुण अंग्रेज़ी नाटकों के भी तो हैं। तो, ध्यान देने की बात यह है कि इन गुणों वाले अंग्रेज़ी नाटकों के सम्पर्क में आने के पहले ही हम इन गुणों वाले बंगाली नाटकों के सम्पर्क में आ चुके थे। अंग्रेज़ी नाटककारों में शेक्सपियर के नाटकों से ही सर्व प्रथम हमारा परिचय हुआ था। उसके नाटकों में गद्य की अपेक्षा पद्य की ही प्रचुरता थी। उसके नाटकों में गद्य की अपेक्षा पद्य कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था। उसके नाटकों में व्यंजना की भी प्रधानता नहीं और न उसके नाटकों की घटनाएँ अधिक इतिवृत्तात्मक हैं। उनका आधार भावना है। इन्हीं कारणों से उपर्युक्त विशेषताओं को हम बंगला की देन मानते हैं। प्रस्तुत विषय को इतना ही कह कर इसलिए छोड़ दिया जा रहा है कि बंगाली नाटकों के प्रभावों ने—जिनमें द्विजेन्द्र लाल राय के नाटकों का महत्त्वपूर्ण स्थान है—हिन्दी नाटकों का कोई पृथक वर्ग नहीं बनाया।

अंग्रेज़ी नाट्य साहित्य की जिन विशेषताओं ने हिन्दी में आकर हिन्दी के नाटकों का एक पृथक, स्वतन्त्र एवं विशिष्ट वर्ग बनाया, उनका महत्त्व इतने ही से आंका जा सकता है कि आज के नाटक अपने प्रकार और स्वरूप में दस-बारह वर्ष पहले के भी नाटकों से बिल्कुल भिन्न हो गए हैं। रामकुमार वर्मा का 'चारुमित्रा' (१९४२ ई०) या लक्ष्मीनारायण

मिश्र का 'सिंदूर की होली' (१९३४ ई०) लेकर यदि कोई इनकी तुलना जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' के 'प्रताप प्रतिज्ञा' (१९२८ ई०) या बद्रीनाथ भट्ट के 'दुर्गावती' या जमुनादास मेहरा के 'कृष्ण सुदामा' आदि से करे तो यह अंतर इतना अधिक स्पष्ट हो जायगा कि पाठक आश्चर्य में पड़ जायगा। सब-कुछ पूरी तरह से बदला हुआ दिखलाई देगा। नाटकों की आत्मा, नाटकों का शरीर, नाटकों की गतिविधि एवं नाटकों का उद्देश्य आदि सब-कुछ भिन्न प्रतीत होगा।

हिन्दी के नाटकों की दो सर्वथा भिन्न श्रेणियां

यह बतलाया जा चुका है कि संस्कृत नाट्यसाहित्य से प्रभावित हिन्दी के नाटकों की आत्मा में धर्म और पुराण बसते थे। जीवन का रोमांटिक दृष्टि-कोण इनकी कल्पना के बाहर की चीज थी। रोमांटिसिज्म की परिभाषा यों दी गई है :—

रोमांटिक दृष्टिकोण

As a critical term Romanticism generally denotes the principles, characteristics, or spirit of the movement primarily in literature, for reasserting imagination and sentiment as against the restrictive formality of classicism..........signifynig more especially the spirit of chivalry, adventure, and wonder, the preoccupation with picturesque and suggestive aspects of nature, and with passionate in life."[1]

एक अन्य लेखक ने उसकी निम्नलिखित तीन प्रधान विशेषताएं बतलाई हैं:—
(i) subtle sense of mystery, (ii) an exuberant intellectual curiosity, और (iii) an instinct for the elemental simplicities of life.[2]

पहले की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है:—

It is reality transfigured by new powers of vision and feeling.[3]

इस दृष्टिकोण ने, फ्रायड की मनोविज्ञान संबंधी तथा मार्क्स की भौतिकवादी व्याख्याओं ने मिलकर हिन्दी नाट्य साहित्य की आत्मा को बदल दिया। इस प्रकार हिन्दी नाटकों का जो दृष्टिकोण हो गया उसे हम रोमांटिक दृष्टिकोण कहना चाहते हैं। इसकी विशिष्टताओं को निम्नलिखित तीन भागों में बांटा जा सकता है :—

१. वेब्स्टर: 'न्यू इंटरनेशनल डिक्शनरी' (१९२८ ई० का संस्करण), पृष्ठ १८४६

२. आर्थर काम्प्टन रिकेट: 'हिस्ट्री आफ इंगलिश लिटरेचर'

अ. जीवन और जगत के सामान्य पक्षों की भी मान्यता,

आ. जीवन और प्रकृति, और

इ. पुरुष और नारी का प्रकृत आकर्षण, जिसमें कायरता न हो।

सामान्य और मध्यम वर्ग का जीवन

ये बातें कुछ रूपों में पहले के नाटकों में भी मिल सकती हैं, किन्तु वहाँ दृष्टिकोण की विभिन्नता ने उनकी स्थिति अत्यन्त नगण्य कर रक्खी है। आज के नाटकों में यह स्पिरिट भरी हुई है। उसमें हमारे सामान्य जीवन की भी प्रतिकृति है। मानव समाज के सभी वर्ग हैं। बल्कि कहें तो, अब सामान्य वर्ग की ही प्रधानता है। इतना अवश्य है कि इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तियों या कार्यों का बहिष्कार नहीं हुआ है। उदाहरण की आवश्यकता नहीं है। हमारे नवीनतम नाटकों में मध्यम वर्ग का जीवन बिखरा हुआ है।

प्रकृति का उपयोग:स्थूल चित्रण

प्रकृति का नाटकों में उपयोग करना अत्यन्त कठिन काम है। नाटक अभिनय की वस्तु है और मनुष्य अभी इतना शक्तिशाली नहीं हो पाया कि वह प्राकृतिक शक्तियों को इस बात के लिए मजबूर कर सके कि वे रंगमंच पर आकर अभिनय करें। परदे पर बने हुए चित्र उनकी अचल पृष्ठभूमि भर दे सकते हैं। इसके अतिरिक्त नाटककार उनकी सूचना भी दे सकता है।

भावुकता और प्रकृति

प्रकारान्तर से कभी-कभी नाटककार उनका अन्य उपयोग भी कर लेता है। ऐसा काव्य-प्रधान स्थलों पर होता है; जैसे, 'प्रसाद' के 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' नाटक में मातृगुप्त आदि पात्रों के ऐसे काव्यमय कथन :—

"उस हिमालय के ऊपर प्रभात सूर्य की सुनहरी प्रभा से आलोकित बर्फ का, पीले पोखराज का-सा, एक महल था। उसी से नवनीत की पुतली झांक कर विश्व को देखती थी। वह हिम की शीतलता से सुसंगठित थी। सुनहरी किरणों को जलन हुई। तप्त होकर महल को गला दिया।"

यह काव्यमय उद्‌गार प्रकृति-चित्रण कम प्रतीक चित्रण अधिक करता है। इसी प्रकार कभी-कभी दृश्य चित्रण भी कर दिया जाता है। इसी नाटक में जब अनंत देवी सम्राट कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य की हत्या कराती है उस समय उद्दीपन रूप से प्रकृति का चित्रण इस प्रकार है :—

"सैनिक—नायक ! न जाने क्यों हृदय दहल उठता है, जैसे सनसन करती हुई, डर से, यह आधी रात खिसकती जा रही है। पवन में गति है, परन्तु शब्द नहीं। 'सावधान' रहने का शब्द मैं चिल्लाकर कहता हूँ, परन्तु मुझे ही सुनाई नहीं पड़ता है। यह सब क्या है नायक ?"

वातावरण, क्रिया और मनोभावों पर प्रकृति का प्रभाव

यह प्रकृति पृष्ठभूमि बनकर नाटकीय प्रभावों में तीव्रता लाती है। कभी-कभी वह पात्रों के मनोभावों पर भी प्रभाव डालती है। प्रभात का दृश्य मन में सात्विकता की भावना पर देता है और अंधकार पाप भावना का सहयोगी है। गोविन्द वल्लभ पंत के 'राजमुकुट' (१९३५ ई०) में जब शीतलसेनी विक्रम का वध करने के लिये बनवीर को कटार देनाम चाहती है, तो बनवीर कहता है :—

"कुछ देर ठहरो। मैं देख लूं, बाहर अंधकार कितना है। मैं उसमें छिप सकूंगा या नहीं।"

और जब देखता है कि "अंधकार, सर्वत्र ही अंधकार है। दिन का साक्षी सूर्य डूब गया है, चन्द्रमा कृष्ण पक्ष की ओट में है, नीहारिका नक्षत्र सभी बादलों में छिप गए हैं। मनुष्य दीपक भी बुझा देने को तैयार है" तब बड़ी सुविधापूर्वक विक्रम की ही नहीं, बल्कि उसी "सुखद" रात में उदय के धोखे में पन्ना बाई के पुत्र चंदन की भी हत्या कर डालता है।

और, यदि प्रकृति का अर्थ मानव प्रकृति से लिया जाय तो हम यह कह सकते हैं कि वह हमारे नवीन नाटकों की रीढ़ है। मनोविज्ञान को छोड़कर आज नाटक तो क्या साहित्य का कोई भी अंग सक्रिय एवं सजीव नहीं रह सकता। मानव समाज के प्रत्येक वर्ग की एक विशेष मनोवृत्ति होती है। साथ ही प्रत्येक मनुष्य की मनोवृत्ति, जब वह दूसरों से मिलता है, तो जितनों से मिलता है, प्रायः उतने प्रकार की हो जाती है। यह प्रवृत्ति भी भिन्न-भिन्न ढंग की होती है। कल्पना कीजिए कि एक नारी है। नाम है रम्भा। इस रम्भा का व्यवहार पति के साथ दूसरे प्रकार का होगा, पुत्र के साथ दूसरे प्रकार का, पुत्री के साथ दूसरे प्रकार का, बहन के साथ दूसरे प्रकार का, भाई के साथ दूसरे प्रकार का, मां के साथ दूसरे प्रकार का, और पिता के साथ दूसरे प्रकार का, आदि। इन प्रकारों में से कोई भी प्रकार किसी दूसरे प्रकार के समान न होगा। फिर, रम्भा और उसके पति के मनोविज्ञान में एक दूसरी ही तरह का अन्तर होगा। यह रम्भा शहर की है। अगर यह देहात की होती तो उस परिस्थिति वाला इसका मनोविज्ञान इसके आज के मनोविज्ञान से भिन्न होता। फिर, यह रम्भा, समझ लीजिए, प्रो० शर्मा की लड़की है। यही शर्मा जी यदि ज़मींदार होते, तो रम्भा का मनोविज्ञान आज से भिन्न हो जाता। यहां तक कि इन्हीं परिस्थितियों में पली हुई रम्भा की बहन—समझ लीजिए चम्पा—की मनोवृत्ति रम्भा से बिल्कुल भिन्न है। और, बुढ़िया होकर यही रम्भा कुछ दूसरे प्रकार की हो जायगी।

मानव प्रकृति और उसकी विभिन्नताएं

मानव मन के इन्हीं और इन्हीं प्रकार के अनेक सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रकारों और रहस्यों के आधार पर हमारा नवीनतम नाट्य साहित्य बन रहा है। प्रयत्न यह किया जाता है कि आज के और बुद्ध के युगों के व्यक्तियों के मनोविज्ञान की अपनी-अपनी

विशिष्टताओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय और दोनों युगों के व्यक्तियों के चरित्र-चित्रण में उनका ध्यान रक्खा जाय। नाटककार अनुभव और कल्पना के बल पर इन विभिन्न प्रकार की मनोस्थितियों को जानने और समझने का प्रयत्न करते हैं और इन्हीं के आधार पर नाटक के पात्रों का निर्माण करते हैं। मनोविज्ञान का यह खेल एकांकी नाटकों में खूब देखने को मिलता है, जहां बाह्य और अंतर्संघर्षों में जूझते हुए दो भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों वाले पात्र एक दूसरे से इस प्रकार टकराते हैं कि पाठक अथवा दर्शक का कुतूहल अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है।

हिन्दी के नाटक और मनोविज्ञान

बाह्य संघर्ष परिस्थितियों के दांव-पेंच से पैदा होते हैं। हरिकृष्ण 'प्रेमी' के 'प्रतिशोध' (१९३७ ई०) के पहले अंक के चौथे दृश्य से एक छोटा-सा उदाहरण घटनाओं के संघर्ष का लीजिए। हीरा देवी चंपतराय को विष देना चाहती है। उसके एक ही दिन पहले भीमसिंह और चंपतराय में मित्रता की शपथ होती है। हीरा देवी विष का और विष मिले भोजन के अलग थाल का प्रबंध करवाती है। इसके विपरीत विजया यह रहस्य भीमसिंह को बता देती है। भीमसिंह को रहस्य तो मालूम हो जाता है किन्तु बचाव का कोई उपाय नहीं, क्योंकि षड्यंत्र के फूटने में दोनों भाइयों की मृत्यु का खतरा है। हीरा देवी के सामने ही भीमसिंह विष भरे थाल का भोजन करते हैं और हीरा देवी दांतों से होंठ दबाती है। फिर हीरा देवी सैनिकों के सहित चंपतराय को बंधवाने आती है। किन्तु तभी विजया कई सैनिकों के साथ आ जाती है। हीरा देवी का सारा प्रयत्न मिट्टी में मिल जाता है। इस प्रकार घटनाओं के घात-प्रतिघात से बाह्य संघर्ष की सृष्टि की जाती है।

बाह्य संघर्ष

किन्तु इससे अधिक प्रभावशाली संघर्ष मानव मन की भावनाओं का होता है। एकांकी नाटकों में जहां घटनाओं के विस्तार के लिए अधिक अवसर और स्थान नहीं रहता वहां भावनाओं के द्वन्द्व-संघर्ष से ही तीव्रता लाई जाती है। यह संघर्ष पाठकों या दर्शकों के मन को चीरता हुआ उसके भीतर जा कर कहीं अधिक गहरी और नाजुक जगह को छूता है। बाह्य संघर्षों में इतनी तीक्ष्णता नहीं होती। वह हल्के स्तर की चीज होती है। अंतर्संघर्ष की सृष्टि कुछ इस प्रकार होती है कि पात्र के मन में अभी एक दृष्टिकोण से एक भावना उठी। उसी क्षण दूसरे दृष्टिकोण से दूसरी भावना उठी। वह यदि पहले विचार को कार्यान्वित करता है, तो दूसरे पर प्रभाव पड़ता है; और जब दूसरे विचार को कार्यान्वित करने चलता है, तो पहले पर। यह प्रभाव प्रायः अवांछनीय होता है। साथ ही, मन की यह अवस्था होती है कि वह न पहले को छोड़ सकता है और न दूसरे को। पृष्ठभूमि में चलने वाली घटना की गति पात्र से कुछ निश्चय करवा

अंतर्संघर्ष

लेना चाहती है। पात्र निश्चय नहीं कर पाता कि क्या करे। इसी द्विविधामयी परिस्थिति में पड़ा हुआ पात्र बेचैनी की हद तक पहुँच जाता है। उस समय के उसके अनुभव बड़े ही मर्मस्पर्शी होते हैं। ध्यान में रखने की बात यह है कि अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण ही प्रधान उद्देश्य नहीं होता। उद्देश्य होता है उस अंतर्द्वन्द्व से पात्र को किसी एक निश्चित दिशा की ओर झुकाना। इसी दृष्टि से अंतर्द्वन्द्व की विभिन्न धाराओं की प्रबलता भी निर्धारित होती है।

'रजनी की रात' में अंतर्संघर्ष

रामकुमार वर्मा के नाटक 'रजनी की रात' (१९४१ ई०) में यह बात खूब स्पष्ट है। रजनी नवीनतम एवं क्रांतिकारी विचारों वाली वह नारी है जो अपनी व्यक्तिगत आजादी को बनाए रखना चाहती है। समाज उसे इस लिए पसन्द नहीं कि वह रूढ़िवादी है और है व्यक्ति की आजादी एवं प्रगतिशीलता का कट्टर शत्रु। रजनी इतनी तीखी है कि अपने वृद्ध पिता से इतना तक कह देती है—कह क्या, इस बात पर बहस भी करती है—कि पिता पुत्री में स्वार्थ है। वह सब से अलग अकेली रहना चाहती है। उसका चरित्र निम्नलिखित कुछ पंक्तियों में बिल्कुल साफ है:—

"रजनी—मैं क्या कहूँ कि क्या चाहती हूँ! मैं समाज का बंधन नहीं चाहती। मैं ममता और मोह के बंधनों को तोड़ कर स्वतन्त्र विचारों में विश्वास रखती हूँ। कनक, जब ऐसा होगा तो संसार कितना अच्छा होगा!

कनक—बहुत अच्छा होगा। पिता पुत्री से कहेगा, घर चलो। पुत्री कहेगी—पिता जी, नमस्कार। वह पुरुष के बदले पुस्तकों से प्रेम करेगी। हंसने खेलने के बदले गंभीर रहेगी—कहेगी (गाल फुला कर) मैं समाज का बंधन नहीं चाहती।"

ऐसी रजनी आनंद किशोर से मिलती है। आनन्द किशोर का व्यक्तित्त्व देखिए:—

"[२४ वर्ष का नवयुवक है, सुन्दर और सुडौल। मर्सराइज सिल्क का निकर और नीली सर्ज का गरम कोट पहने हुए है। सिर पर एक स्कार्फ—हाथ में ग्लव्स और पैरों में पेशावरी स्लीपर। चलने में निश्चयात्मकता। बोलने में मधुर और दृढ़। शिष्टाचार के नियमों में सधा हुआ। व्यवहार में सुरुचि और उत्साह। आत्मविश्वास में पूर्ण और प्रसन्न तथा हँसमुख। बोलने में तत्पर और स्पष्ट। उसके हाथ में बंदूक और कंधे से कमर तक लटकती हुई कार्टिजेज़ का बैल्ट]"

यह आनंद रजनी की अकेली रहने वाली धारणा को बदल देता है—शायद अपने तर्कों से—मैं समझता हूँ अपने व्यक्तित्त्व से। रजनी का नारीत्व जाग उठता है। अब अंतर्द्वन्द्व शुरू होता है। मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि यह है कि वह अपने अकेलेपन को जान गई है। वह समझ गई कि बंगले के नौकरों के रहते हुए भी वह अकेली है। भावनाओं का झूला देखिए।

(क) आनंद जी जाते हैं तो उन्हें नौकर से बुलवा लेती है और बुलाने का बहाना सोच निकालती है लिखे हुए कुछ विचारों को देना ताकि आनंद जी उन पर अपनी राय लिख कर भेजने की कृपा करें।

(ख) आनंद जी के चले जाने पर अपनी सितार को ठीक कर के उसका एक तार बजा कर वहां रखती है जहां आनंद जी की बंदूक रक्खी थी।

(ग) केसर को बुलाकर कनक के बारे में बात करने के बाद आनंद जी के बारे में बात शुरू करती है किन्तु फिर बन्द कर देती है।

(घ) नौकरों से बार-बार अकेले में डर लगने की बात करती है किन्तु दिखाना यह चाहती है कि वह डरती नहीं।

(ङ) बार-बार किसी न किसी बहाने नौकर या नौकरानी को पुकारती है।

(च) चूंकि उसके इस अन्तर्द्वन्द्व को एक निश्चित दिशा की ओर मोड़ना है इस लिए इस घटना की सृष्टि की जाती है कि एक बुड्ढे की लड़की को डाकू उठा ले जाता है। यह घटना उसके मनोविज्ञान पर एक बड़ी करारी चोट है :—

"यह हिन्दू समाज है, जहां लड़कियां इस तरह उठा ली जाती हैं, और अपनी रक्षा भी नहीं कर सकतीं.............ओह !..............[रिवाल्वर हाथ में संभालती है।]"

(छ) तुलनात्मक दृष्टिकोण ने उसे बुड्ढे के स्थान पर अपने पिता की याद दिला दी और शशि के स्थान पर अपनी।

"र०—[सोचते हुए] शशि.......एक ही लड़की........बूढ़ा पिता..............!
[सोचती-सोचती कुर्सी पर सिर रख देती है।]"

(ज) आनंद जी के आने पर पहले तो व्यग्रता प्रगट करती है किन्तु उनके पूछने पर कहती है कि मैं अच्छी हूँ, बिल्कुल अच्छी हूँ। किन्तु दोनों का एक दूसरे को एकटक देखना कदाचित् रहस्य उद्घाटन-सा कर देता है।

(झ) वह आनंद जी की वीरता पर इतनी मुग्ध हो गई है कि उसने अपने को लुटा दिया। जब आनंद कहता है कि आप लोगों को हम जैसे सिपाहियों की जरूरत है तो वह पहले धीरे-धीरे फिर जोर से स्वीकार कर लेती है कि है। यहीं नारी की सब से करारी हार होती है। पराधीन! निर्बल!! अबला!!! लेकिन आनंद की यह फुसलाहट कि "आप लोगों की शक्ति ही इन्हें रोक सकती है", उसको पराजय का अनुभव शायद नहीं होने देती, इत्यादि।

एक ही स्थान पर उसके अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण यहां देखिए :—

"र०—[गहरी साँस लेकर] जीवन का पहला अनुभव। अकेली, सब से अलग। मैंने कहा.........साधना के लिए एकान्त की आवश्यकता है ....आनंद बाबू ने कहा—समाज एक बिगड़ा हुआ जानवर है ! —अगर मैं इस जानवर को पुचकार कर वश में न कर सकूंगा तो ऐसी गोली मार दूंगा कि वह तकलीफ से कराहने लगे।

कितनी शक्ति..........कितनी आत्मदृढ़ता !........मैं समाज में चली जाऊं...........? जाऊं............? नहीं, नहीं, मैं यहीं रहूँगी......यहीं रहूँगी। [सोचते हुए पिता जी के तैल चित्र के पास जा कर] पिता जी, मैं यहीं रहूँगी। मैं दुनियां को दिखलाना चाहती हूँ कि सुख कहां और किसमें है लेकिन आप की आंखों में आंसू........ और पिता जी ! [भावावेग से हट जाती है और अंगेठी के पास जाती है। बैठ कर सोचते हुए] आ.........नं.........द.......ओह ! कैसा जी हो रहा है ! [सोचती है। पुस्तक पढ़ने की कोशिश करती है। व्यर्थ...............।]"

इसी प्रकार सेठ गोविन्द दास के 'गरीबी या अमीरी' में विद्याभूषण और अचला के अंतर्संघर्षों का बड़ा ही सफल चित्रण किया गया है। पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय उनके मनोविज्ञान का बहुत ध्यान रखना पड़ता है। यह नाटकों में स्वाभाविकता एवं यथार्थता लाता है। इस दृष्टि से भी प्रकृति का उपयोग किया गया है।

रोमांटिक प्रभाव के अन्दर तीसरी बात आती है नारी और पुरुष के आकर्षण और परस्पर संबंध की बात। प्राचीन श्रेणी के नाटकों में, जहां सब को नैतिकता के स्वाभाविक या अस्वाभाविक आवरणों में ही उपस्थित होना पड़ता था, यह संबंध निखर नहीं पाता था। यह संबंध बड़ा ही आकर्षक और बड़ा ही मधुर है। नारी और पुरुष को दो दृष्टियों से समझा जा सकता है। एक दृष्टि बड़ी हलकी है। यह दृष्टि है एक ही जाति के दो विभिन्न योनियों वाले जीवों को शरीर-भेद—अर्थात् नर और मादा की दृष्टि से देखना। यह दृष्टि साहित्य के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। कभी-कभी कथा की गति-विधि में नाटकीय परिवर्तन लाने में यह काफी सहायता देती है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'मुक्ति का रहस्य' में डाक्टर आशा देवी के साथ संभोग करता है। आशा देवी मजबूरी में तैयार हो गई थी। इसका प्रभाव नाटक पर आगे चल कर यह पड़ता है कि आशा देवी, जो उस डाक्टर से घृणा करती थी, उसी डाक्टर को पहले पुरुष के रूप में स्वीकार कर लती है। उससे प्रेम करने लगती है और अन्त में उसी के 'घर' चली जाती है, जहां विवाह कर के दोनों रहेंगे। पहले यह उमाशंकर से प्रेम करती थी। यह प्रेम बदल कर श्रद्धा का रूप धारण कर लेता है। फिर भी यह दृष्टि नाटकों में—संपूर्ण साहित्य में भी—बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं।

नारी और पुरुष का आकर्षण:— १—योनि-संबंध

व्यापक दृष्टि से देखने पर स्त्री और पुरुष दो भिन्न-भिन्न मनोविज्ञान हैं, दो प्रकार की विचार धाराएं, दो प्रेरणाएं, दो शक्तियां। ये दोनों एक दूसरे से दूर रहने पर, अलग रहने पर, अपूर्ण हैं। एक दूसरे के सहयोग से ही शायद जीवन की पूर्ण इकाई बनती है। परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार यह कई रूपों में विभक्त कर दिया गया है। भाई और बहन का सहयोग, पति और पत्नी का सहयोग, मां और बेटे का

२—दो पृथक मनोविज्ञान

सहयोग आदि मूल में नारी और पुरुष का सहयोग होते हुए भी एक दूसरे से बहुत भिन्न है।

यहां तक तो ठीक है। इससे आगे बढ़ने पर गुत्थियां पड़ती हैं। समाज, परिस्थिति, और मन इन तीनों की विशिष्टताओं ने इस सहयोग में—संबंध में—हजारों गुत्थियां डाल दी हैं। साथ ही नारी और पुरुष के मूल संघर्ष ने—अर्थात् कौन अपेक्षाकृत बलशाली है, कौन किसको अपने अधिकार में कर सकता है, आदि—इस संबंध की जड़ में भी गांठें पैदा कर दी हैं। नाटकों ने इन गांठों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है। नारी पुरुष के इस प्रकृत आकर्षण का निर्बन्ध चित्रण भी, जिसमें मिलन का माधुर्य हो या वियोग का विषाद, उस वातावरण की सृष्टि करता है जिसे हम रोमांटिक कहना चाहते हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'राजयोग' (१९३४ ई०) में नरेन्द्र और चम्पा, या रामकुमार वर्मा के 'पुरस्कार' (१९४७ ई०) में नलिनी, श्याम और प्रकाश के चित्रण इसी संबंध को व्यक्त करते हैं। इस प्रकार के सभी नाटकों में नारी और पुरुष के संबंध का उदात्त चित्रण है। रोमांस में भावनात्मकता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

गुत्थियां

यह रोमांटिक भावना अगर अकेली ही रहती तो शायद हमारे इस प्रकार के नाटकों का स्वरूप कुछ दूसरा होता। इस भावना ने सिर्फ इतना किया है कि चरित्र-चित्रण में हमारा हौसला बढ़ा दिया है। हममें हिम्मत ला दी। इसके साथ-साथ (क) बुद्धिवादी दृष्टिकोण, (ख) क्षेत्र का विस्तार, (ग) स्वाभाविकता एवं यथार्थ की ओर झुकाव, और (घ) समय के अनुसार स्वरूप-परिवर्तन ने इस प्रकार के नाटकों का एक अपना पृथक वर्ग बना दिया है।

अन्य प्रभाव

जीवन को देखने की दो दृष्टियां हैं। एक प्रकार की दृष्टि अनेक मान्यताओं से घिरी होती है। इन मान्यताओं में कुछ ये हैं:—(प) धार्मिकता, (फ) रूढ़ियां, (ब) सामयिक परिस्थितियां, और (भ) दृष्टा की अपनी रुचियां और संस्कार। दूसरे प्रकार की दृष्टि इन सीमाओं से ऊपर उठी रहती है। इस दृष्टि में किसी प्रकार का भावावेश नहीं रहता। वस्तु सामने आई और इस दृष्टि ने उपर्युक्त सभी मान्यताओं की तहों को चीर कर वस्तु के वास्तविक रूप को देखने का प्रयास किया। इसके लिए विवेक की जागरूकता अनिवार्य है। तटस्थता इसकी पहली शर्त है। यही दृष्टि बुद्धिवादी दृष्टि है। इस दृष्टि की मान्यता यदि है तो केवल दृष्टा की अपनी शक्तियां और संस्कार, जिसे दृष्टा इसलिए नहीं छोड़ पाता कि वह इन्सान है। नवीन युग के सभी नाटकों की दृष्टि में बुद्धिवाद है। अन्तर उसके स्वरूप में है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'मुक्ति का रहस्य', 'सन्यासी', 'राक्षस का मंदिर' आदि नाटकों में जीवन और जगत की समस्या पर इसी बुद्धिवादी दृष्टिकोण से विचार किया गया है। इसमें भावुकता सिर्फ उतनी ही है जितनी आज के हिन्दी साहित्य में मनोरंजन की भावना। सुमित्रानंदन पंत की 'ज्योत्स्ना'

बुद्धिवादी दृष्टिकोण

(१९३४ ई०) में यह दृष्टि दार्शनिक और काव्यात्मक उड़ानों में दब गई है। इसी प्रकार रामकुमार वर्मा के नाटकों में इस दृष्टि के साथ सामाजिक संबंधों की रंगीनी और कवि कल्पना है। सेठ गोविन्ददास के नाटकों में यह उच्चतर मध्यवर्गीय गांधीवादी आदर्शों के साथ है।

क्षेत्र का विस्तार

इस वर्ग के नाटकों में क्षेत्र का विस्तार काफी हो गया है। समय की दृष्टि से इसके विस्तार में यदि एक ओर १९४७ ई० तक का नवयुग है तो दूसरी ओर ऐतिहासिक युगों को पार करके विश्वामित्र आदि के युग तक पहुँचने की चेष्टा की गई है। समस्याओं की दृष्टि से इसके विस्तार में 'अछूत, से लेकर 'बादल की मृत्यु' तक की बातें उठाई गई हैं। चेतना की दृष्टि से यदि इसके विस्तार को आँकना हो तो इसमें व्यक्ति की वेदना, वर्ग की चेतना, समाज की चेतना, राष्ट्र की चेतना , और धर्म एवं संस्कृति की चेतना तक मिल जायगी। इस विस्तृत क्षेत्र से जो सामग्री ली जाती है उसमें नाटकीयता के लिए पर्याप्त अवसर रहता है। अब, जहां कथा में यह गुण नहीं रहता वहां कल्पना के द्वारा इसे लाने का प्रयत्न किया जाता है। कल्पना का उपयोग करते समय यह ध्यान रक्खा जाता है कि इससे वस्तु की अपनी ऐतिहासिकता या उसका अपना व्यक्तित्त्व संदेहास्पद न बन जाय। सामग्री जितनी वर्तमान और हमारे आस-पास की रहती है वह उतनी ही यथार्थ के अधिक समीप होती है और उसमें छोटी-मोटी बातों की भी अभिव्यंजना होती है ; सामग्री जितनी पीछे या हमसे ऊपर की होती है, उसमें उतना ही मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक या दार्शनिक आधार और कल्पना अधिक रहती है। उसमें व्यक्ति कम व्यक्त होता है। अधिक व्यक्त होता है लेखक का अमूर्त्त दृष्टिकोण, चाहे वह जीवन के किसी पक्ष से संबंधित हो, चाहे किसी चिरन्तन समस्या से। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'स्वर्ग की झलक' (१९३८ ई०) पहले प्रकार का है और गोविन्द वल्लभ पंत का 'राजमुकुट' (१९३५ ई०) अथवा उदय शंकर भट्ट का 'अंबा' (१९३५ ई०) दूसरी प्रकार का। 'अंबा' में पौराणिक व्यक्तित्त्वों की अवतारणा नहीं हुई। उसमें आज की नारी स्वाधीनता की समस्या को रूप मिल गया है।

स्वाभाविकता एवं यथार्थ की ओर झुकाव

इस प्रकार के नाटक किसी काल या स्थान विशेष के जीवन या जीवन के माध्यम से किसी समस्या को रंगमंच पर इस प्रकार उपस्थित करते हैं कि उसके अस्तित्व और अस्तित्व की अवस्था का सजीवतम चित्र हमारे सामने आ सके। नाटक जीवन से अलग नहीं रह सकते या उन्हें नहीं रहना चाहिये। अगर रहेंगे तो मुर्दा हो जायंगे। आदर्शवादी नाटकों में जीवन के माध्यम से धार्मिकता या नैतिकता के किसी आदर्श तत्त्व को जीवन के माध्यम से मूर्त्तरूप देने का प्रयास किया जाता था। आदर्श मानव की वह कल्पना है जो जीवन के ही तत्त्वों से उठती है लेकिन उठने के बाद वह जीवन से अपना निकटतम सम्पर्क छोड़ देती है। वह जीवन में नहीं रहती। पथ-प्रदर्शक

बनकर जीवन के बहुत आगे या बहुत ऊपर चली जाती है। स्वाभाविकता एवं यथार्थ की ओर झुकाव का मतलब है उसे खींच कर जीवन के इतने समीप ले आना कि वह जीवन का ही एक अंग बन जाय। दवा बन कर रक्त के कण-कण में भिंज जाय। आदर्श स्वरूप अभिव्यंजित हो। उससे पृथक न हो।

आज के नाटकों में घटनाओं की प्रधानता नहीं होती। घटना-प्रधान नाटकों में भी घटनाएँ एक हद तक ही होती हैं। फिर भी जो कुछ होती हैं, वे ऐसी होती हैं कि पात्र और परिस्थिति के अनुकूल हों। 'प्रसाद' के 'ध्रुवस्वामिनी' (१९३४ ई०) में सूच्य घटनाएँ भी हैं और दृश्य घटनाएँ भी। चन्द्रगुप्त का ध्रुवस्वामिनी को उसके पिता के यहां से हर लाना या शकराज के यहां उपहार के रूप में ध्रुवस्वामिनी के साथ जाना आदि सूच्य हैं और शकराज से लड़ना आदि अनेक घटनाएँ दृश्य। इनमें कोई ऐसी नहीं हैं, जैसे हनुमान को सूर्य का निगल जाना, फिर उगल देना, सुरसा की देह को बढ़ कर सात योजन का होना, हनुमान का बहुत छोटा होना, उसकी देह के भीतर जा कर फिर बाहर निकल आना, आदि। जमुना प्रसाद मेहरा के 'मोरध्वज' (१९२९ ई०) में ऐसी बातें कम इसलिए नहीं कि धार्मिक जगत ऐसी कल्पनाओं का भंडार है।

घटनाओं की स्वाभाविकता

नाटकों का प्राण है मनोविज्ञान। धार्मिक नाटकों में जहां नायक गुणों और श्रेष्ठ विभूतियों का प्रतीक होता था, वहां मनोवैज्ञानिक दृष्टि के लिए पर्याप्त गुंजाइश नहीं थी। आज जब वह दृष्टि हट गई है तो प्रयत्न प्रायः इसी बात का किया जाता है कि कोई व्यक्तित्व ऐसा न आ जाय जिसे ढूंढ़ने के लिए निराश आंखों को आकाश की ओर उठना पड़े। ऐतिहासिक नाटकों में भी ऐतिहासिक पात्रों की स्वाभाविकता का ध्यान रक्खा जाता है। उनसे संबंधित दंतकथाओं और असामान्य कथाओं को संभावनाओं की दृष्टि से देखा जाता है। गोविन्ददास के 'कर्त्तव्य' (१९३५ ई०) में सीता की अग्नि परीक्षा की व्याख्या देखिए :—

इतिहास और स्वाभाविकता

"लक्ष्मण :—सीता देवी अपनी पवित्रता का इससे बड़ा क्या प्रमाण दे सकती थीं, आर्य, कि वे अग्नि को भी आलिंगन करने के लिये सहर्ष प्रस्तुत हो गईं। अब एक ओर इन दोनों सती साध्वियों के शरीर की रक्षा और इनकी शरीर-रक्षा ही नहीं, परन्तु उससे भी कहीं बड़ी वस्तु एक मिथ्या बात को सत्य सिद्ध होने से रोकने का प्रश्न है और दूसरी ओर आप का सीता देवी के ग्रहण करने का प्रश्न। तात, क्या अग्नि को इस प्रकार आलिंगन करने के लिए सहर्ष प्रस्तुत होना ही उनकी अग्नि-परीक्षा नहीं है? क्या आज पर्यन्त अपने सतीत्व की ऐसी परीक्षा किसी ने दी है? (राम पुनः मस्तक झुका लेते हैं। जन समुदाय उत्कंठित हो एकटक राम की ओर देखता है। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है।)

लक्ष्मण—(राम को उत्तर न देते देखकर जन-समुदाय की ओर लक्ष्य कर) क्या आप लोग सीता देवी की इस परीक्षा को ही अग्नि परीक्षा नहीं मानते ? क्या उनकी शुद्धता में किसी को संदेह है ?

जन-समुदाय—(एक स्वर से) किसी को नहीं, किसी को नहीं। वैदेही नितांत शुद्ध हैं। मैथिली परम पवित्र हैं। यही उनकी अग्नि परीक्षा है। यही उनकी अग्नि परीक्षा है।"

सद्गुरुशरण अवस्थी के एकांकी नाटक प्रायः इसी प्रकार व्याख्याएँ उपस्थित करते हैं। जून, १९४३ ई० की 'माधुरी' में प्रकाशित उनका 'कैकेयी' नामक एकांकी कैकेयी को महान नारी सिद्ध करता है। अगस्त, १९४३ ई० की 'माधुरी' में प्रकाशित उन्हीं का 'प्रह्लाद' शीर्षक एकांकी नरसिंह की व्याख्या करता है। हिरण्यकशिपु अत्याचारी अनार्य शासक था। प्रह्लाद योग्य और गुणश्रेष्ठ आर्य श्री हरि का प्रशंसक था। आततायी डरता है कि इससे उसका अहित होगा। अन्त में वह प्रह्लाद की सत्याग्रही मनोवृत्ति से हार कर उसे मार डालना चाहता है। जनता प्रह्लाद के पक्ष में है। श्री हरि और नारद का वार्तालाप इस रहस्य को सुलझाता है। रहस्य यह है कि साम्राज्य का महास्थविर प्रह्लाद का भक्त था। उसने उस काष्ठ स्तूप को जिसमें प्रह्लाद बांधे जाने वाले थे इस प्रकार का बनाया कि वह किसी भी क्षण फूट कर अपने किवाड़ों से प्रह्लाद को ढँक ले। फिर दो नुकीले सींग निकाल कर हत्यारे का उदर विदीर्ण कर दें। वह महास्थविर ही इस काष्ठ-स्तूप को संचालित कर रहा था। मुंह फेर कर खड्ग तान कर ज्यों ही हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को मारना चाहा त्यों ही प्रह्लाद स्तूप के भीतर बंद हो गया। उसके भीतर से दो सींग वाले एक पशु का-सा सिर सहसा निकल आया और सींग हिरण्यकशिपु के उदर में घुस गए। उसके हाथ से खड्ग गिर गया और वह रक्त से लथपथ होकर पृथ्वी पर आ पड़ा।

इस प्रकार आज के नाटक कल्पना और मनोविज्ञान की सहायता से पिछले युगों, यहां तक कि प्रागैतिहासिक युगों की बातों को भी स्वाभाविक रूप में हमारे सामने उपस्थित करते हैं। आज के युग की समस्याओं और अवस्थाओं का तो बहुत ही सच्चा और सजीव चित्र हमारे सामने आ जाता है। अपनी ही देखी और अनुभव की हुई बातें आकर्षक नाटकीयता लिए हुए दिखाई पड़ती हैं। नाटकीयता एवं साहित्यिकता का प्रयास कभी-कभी कुछ अतिशयता अवश्य ला देता है। रंग कुछ गहरे हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि उसका मस्तिष्क पर कुछ गहरा प्रभाव पड़ जाता है। यदि यह किसी ध्येय की पूर्ति के लिए हो तब तो ठीक है। उदाहरणार्थ यदि ज़मींदारों के द्वारा किसानों पर किए गए अत्याचारों को दिखाना है तो यदि उन अत्याचारों का अभिनय कुछ अधिक हो जाय तो कोई बात नहीं। हां, बहुत अधिक न होना चाहिए, वरना अस्वाभाविकता आ जायगी। वृन्दावनलाल वर्मा के राजनैतिक नाटक 'धीरे-धीरे' (१९३९

वर्तमान और स्वाभाविकता

ई०) में सगुन चंद के माध्यम से छोटे-मोटे देहाती नेताओं, राव गुलाब सिंह के माध्यम से जागीरदारों और गोपाल जी, कन्हैया जी, मुबारक अली के माध्यम से कानून-सभा के अधिकारियों के जो चित्र हैं, वे वास्तविक हैं। बेचन शर्मा 'उग्र' के 'आवारा' (१९४२ ई०) के दयाराम और लाली के प्रणय-विकास में कुछ अधिक रंग चढ़ गया है। नवयुवक दयाराम के अन्दर कुछ अधिक आदर्शवाद है। कुछ अधिक कल्पना है। कोई अतिशय भावुक व्यक्ति ऐसा कर ले, तो वह बात अपवादों में मानी जायगी। मनोवैज्ञानिक और सामाजिक, दोनों दृष्टियों से यह बात गले के नीचे बहुत ही कठिनाई से उतरेगी। ऐसे अभिनयों से अनिष्ट भी हो सकता है। आदर्शवादी भावुक नवयुवक अपनी सामाजिक व्यवस्था को आवश्यक रूप से तोड़ने के लिए आगे बढ़ सकते हैं और ठोकरें खा सकते हैं या चालाक भिखारिनों के द्वारा ठगे जा सकते हैं। सामाजिक मान्यता के लिए प्यासी भोली-भाली भिखारिन लड़की देवता रूपी शैतानों के द्वारा ऐसा धोखा खा सकती है कि जन्म-जन्म रोए न चुके। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के 'स्वर्ग की झलक' (१९३८ ई०) में मध्यवर्गीय सामाजिक जीवन के जो चित्र हैं उनमें यदि कुछ अतिशयता झलकी भी है तो उससे कुछ हानि नहीं क्योंकि अन्त में उसका भी प्रभाव अच्छा और स्वास्थ्यकर पड़ता है। मिस्टर अशोक या प्रो० राजेन्द्र की अपनी-अपनी पत्नियों से जिस प्रकार निभती है, वैसी ही या उतनी ही सीमा तक बढ़ने वाली पत्नियां यदि सामान्यतः जीवन में न मिलती हों तो भी ये चित्र इस प्रकार की मनोवृत्ति की स्वाभाविकता को और निखार कर ही हमारे सामने लाते हैं। यदि नए दम्पति परस्पर ठीक उसी तरह न उलझ पड़ते हों जैसे रामकुमार वर्मा के 'आंखों का आकाश' (१९४७ ई०) में सुलेखा और अविनाश आपस में उलझ पड़े, और इस नाटक को सुन या पढ़ या देखकर उनके मन में इस तरह उलझने की इच्छा पैदा हो जाय, तो बुरा ही क्या है!

स्वरूप पर प्रभाव

पाश्चात्य प्रभावों और नई परिस्थितियों एवं रुचियों को ध्यान में रख कर जो नाटक लिखे गए हैं उनका स्वरूप यहां की प्राचीन शैली की दृष्टि से लिखे नाटकों से काफी बदला हुआ है। इस परिवर्तन की कई बातें पीछे बताई जा चुकी हैं जैसे, नाटकों का ५ से ३ अंकों में सिमट जाना, एकांकी नाटकों का प्रसार, दृश्य-विधान का परित्याग, स्वगत, संगीत, एवं कवित्व के अनावश्यक रूपों का वहिष्कार, नाटकों की प्रस्तावना तथा नांदी-पाठ और भरत वाक्य आदि से संबंध-विच्छेद आदि।

कथावस्तु की गति

प्राचीन नाटकों की कथावस्तु की गति और उसके विकास पर विचार करते हुए यह दिखाया जा चुका है कि उसमें नाटकीय कौशल या कौतूहल के लिए पर्याप्त अवसर एवं स्थान नहीं था। कथावस्तु एक निश्चित उद्देश्य और उसी के अनुसार रूपरेखा लिए हमारे सामने आती थी, निश्चित स्थानों पर मुड़ जाती थी, और एक निश्चित ढंग से निश्चित स्थान पर

समाप्त होती थी। उसका अंत निश्चित रूप से सुखमय होना चाहिए था। नए ढंग के नाटकों की कथावस्तु का विकास इससे भिन्न ढंग पर होता है। यह ढंग कुछ इस प्रकार है :—
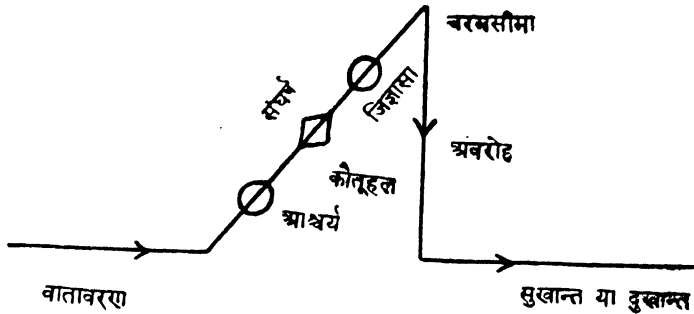
ऊपर दिए हुए रेखाओं के चढ़ाव-उतार के द्वारा रामकुमार वर्मा ने 'रेशमी टाई' की भूमिका में आधुनिक नाटकों की कथावस्तु की गतिविधि को स्पष्ट किया है। तात्पर्य यह है कि आधुनिक नाटकों में पहले वातावरण उपस्थित कर दिया जाता है। पाठकों या दर्शकों को यह बता दिया जाता है कि नाटक किस वातावरण का है। वातावरण का अर्थ है स्थान, समय और समस्या से परिचय। इस सामान्य परिचय के बाद नाटक की कथावस्तु इस ढंग से आगे बढ़ती है कि हम आश्चर्य में पड़ जाते हैं और हमारे मन में उनके रहस्यों को जानने का कौतूहल पैदा होता है। इधर संघर्ष तीव्र से तीव्र होता जाता है और उधर हमारे मन की जिज्ञासा बढ़ती जाती है। इस प्रकार चरम सीमा आती है। चरम सीमा पर पहुँचने के बाद ही कथावस्तु में अवरोह प्रारंभ हो जाता है। तात्पर्य यह है अब समस्याओं का पेचीदापन समाप्त हो जाता है। गुत्थियां पड़ती नहीं, बल्कि सुलझती हैं। इसके बाद कथावस्तु फल की ओर मुड़ती है और नाटक का अंत सुखमय होता है या दुखमय। प्राचीन नाट्य परम्परा के अनुसार यहां नाटक के लिए सुखांत ही होने का कोई बंधन नहीं। यहां ध्यान ध्येय और प्रभाव पर रक्खा जाता है। हम जो प्रभाव डालना चाहते हैं वह अधिक से अधिक मात्रा में कैसे पड़ सकता है, यही प्रयास होता है। यह लक्ष्य यदि सुखांतता से प्राप्त होता है तो नाटक सुखांत होता है; और यदि दुखांतता से, तो दुखांत।

उदाहरण के लिए पृथ्वीनाथ शर्मा का 'अपराधी' नाटक (१९३९ ई०) ले लीजिए। पहले अंक के पहले दृश्य में ही हमें वातावरण ज्ञात हो जाता है और अशोक के घर छोड़कर चले जाने से मन में एक आश्चर्य की भावना-सी पैदा होती है कि चाचा ने 'स्वर्गीय भैया के धरोहर' को यों निकाल दिया! कौतूहल भी पैदा होता है कि आखिर अब होगा क्या? वही अशोक शाम को सार्वजनिक पार्क के एक कोने में बैठे बच्चों को कहानी सुना रहे हैं! आदमी और इतना लापरवाह! कथा में एक और झटका-सा लगता है। जिस आदमी के लिए अभी पी० सी० एस० की व्यवस्था हो रही थी वही एक चालाक चोर के चक्कर में पड़कर अब जेलखाने जा रहा है। कथा और आगे बढ़ती है और हमें मालूम होता है कि जिसकी अदालत में यह मुकदमा होने जा रहा है उसकी अपनी लड़की और उसके मित्र की लड़की अशोक को जानतीं ही नहीं बल्कि विश्वास भी करती हैं कि अशोक चोरी नहीं कर सकता। बाद में यह ज्ञात होता है कि दोनों लड़कियां अशोक पर अनुरक्त भी हैं। कथावस्तु बढ़ती ही चलती है। असली चोर को ढूंढ़ने के प्रयत्न बेकार होते रहते हैं। अशोक को इस अपराध से मुक्ति दिलाने की और लीला-रेणु-अशोक-प्रेम की समस्याएं कथा को उत्सुकता की ओर खींचती हुई आगे बढ़ती हैं। तीसरे से चौथे अंक तक समस्याएं हल नहीं होतीं। पांचवें दृश्य में चरम सीमा आती है। जब सब ओर से निराश होकर लोग अशोक के सजा पाने की प्रतीक्षा कर रहे थे उसी समय एक काला, दुबला-पतला युवक, जो वस्तुतः अपराधी है, आ जाता है। सारी कानूनी उलझनें साफ हो जाती हैं। यही नाटक का अवरोह है। अवरोह में तेज़ी इतनी है कि एक ही दृश्य में सभी प्रधान रहस्य स्पष्ट हो जाते हैं। प्रेम की समस्या रेणु के महान आत्मत्याग से पहले ही हल हो जाती है। कथावस्तु जो एक दृश्य तक और बढ़ती है वह नाटक के वातावरण को पूर्णतः सुखांत करने के लिए। आया का त्याग भी सामने आ जाता है। बच्चों को अंतिम बार कहानी सुनवा कर वातावरण सुखमय कर दिया जाता है। यह यदि एकांकी नाटक होता तो अन्त की दृष्टि से अंतिम दृश्य न रक्खा जाता। ज्यों-ज्यों कथावस्तु आगे बढ़ती है त्यों-त्यों अशोक के छूटने की छोटी-मोटी कठिनाइयां समाप्त होती जाती हैं। रह जाती है तो केवल प्रधान समस्या जो उसे चरम सीमा पर लाकर ही हल होती है।

'अपराधी' की कथावस्तु की गतिविधि

इस प्रकार के नाटकों में ध्यान देने की सबसे प्रमुख बात, जो उन्हें प्राचीन शैली के नाटकों से पृथक करती है, है सूचनाओं का ध्यान या प्रतिन्यास। प्रस्तावना के स्थान पर आजकल पृष्ठभूमि उपस्थित कर दी जाती है। इस पृष्ठभूमि में प्रायः तीन चीज़ों के वर्णन रहते हैं:—१. पात्र, २. स्थान, और ३. नाटक की प्रारंभिक क्रिया।

प्रतिन्यासः सूचनाएं

पात्रों के वर्णन में उनके नाम, उनकी वेशभूषा, उनकी आयु, उनकी सामाजिक अवस्था, और कभी-कभी उनके चरित्र की दो-एक प्रधान बातें दे दी जाती हैं। इस प्रकार इसमें पात्रों के व्यक्तित्व की वे सभी बातें बतला दी जाती हैं जिनका जानना नाटक को समझने के लिए आवश्यक है। चरित्र और व्यक्तित्व की ये ही रेखाएं आगे चल कर उभरती हैं।

पात्र

स्थान के वर्णन में उस स्थान का चित्रण होता है जहां की घटना का अभिनय होने जा रहा है। यह स्थान दो प्रकार का हो सकता है:—१. मकान के बाहर कोई रमणीक या भयप्रद स्थान, और २. कोई कमरा। पहले प्रकार के चित्रण में वहां के प्राकृतिक दृश्य की झांकी दी जाती है और दूसरे प्रकार के वर्णन में कमरे के वातावरण का एक रेखाचित्र दे दिया जाता है।

स्थान और प्रारम्भिक क्रिया

नाटक की प्रारम्भिक क्रियाओं में वह अभिनय आता है जो परदा उठने पर उपस्थित पात्र करता हुआ दिखाई पड़ता है।

इन चीज़ों में आवश्यकतानुसार एक-आध कम भी कर दी जाती हैं। यदि नाटककार अपने नाटक का प्रारंभ इस ढंग से करना चाहता है कि प्रारंभ के कुछ पृष्ठ पात्रों के चरित्र और उनके वार्तालाप एवं क्रिया-कलाप द्वारा समय और पात्रों के व्यक्तित्व को स्पष्ट कर दें, तो वह सूचनाओं में इनका वर्णन न करेगा। इसी प्रकार यदि पात्रों का वार्तालाप ऐसा हो कि केवल तात्कालिक वातावरण पर ही प्रकाश पड़े, शेष बातें अज्ञात रहें, तो इन शेष बातों में से कुछ का हलका-सा वर्णन कर दिया जायगा। इस प्रकार आवश्यकता-नुसार ये संकेत छोटे या बड़े हो जाते हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'नारद की वीणा' नामक नाटक (१९४६ ई०) के प्रारंभ में यह सूचना यों दी गई है :—

कमी-बेशी

"[सूर्य निकल चुका है। पहाड़ी भूमि एक ही साथ कई रंगों में रंग उठी है। दूर पर पहाड़ की ऊंची चोटियां कहीं चांदी की और कहीं कहीं सोने की चादर लपेट रही हैं। निचले भाग में साल, देवदार, और दूसरे ऊंचे पहाड़ी पेड़ एक ही साथ हरे, नीले और फिर उजले हो रहे हैं। और भी नीचे सरक कर समतल भूमि है जो हर तरह के छोटे—बड़े पेड़ों की घनी छाया में लुकती-छिपती-सी दिखाई पड़ रही है। जहां-तहां शमी और अशोक वृक्षों को घेर कर चबूतरे बने हैं। जंगली फूलों की लताएं यहां-वहां बेतरतीब —जैसे स्वतंत्र-सत्ता के गर्व में ऐंठ-सी रही है। उत्तर की ओर पहाड़ से उतर कर पतली किन्तु तीव्र दूध की धार-सी नदी इस समतल भूमि से आगे बढ़कर घने बन में लोप हो गई है ....कुटी के पूर्व ठीक कुटी की लंबाई का छोटा चबूतरा है, जिस पर आग की ओर शमी के नीचे यज्ञकुंड में अग्नि जल रही है—जिसमें दो कुम्हार बारी-बारी धूप और अन्य सुगंधित समिधा डाल रहे हैं]"

'नारद की वीणा' का प्रतिन्यास

यह सूचना पूरे डेढ़ पृष्ठ की है। किसी-किसी नाटक में तो यह दो-दो और तीन-तीन पृष्ठों तक की हो गई है। एकांकी नाटकों में जहां नाटक के अंदर सूचनाएं देने का स्थान अधिक नहीं रहता, प्राय: प्रारम्भ में इसी प्रकार कोष्ठक के अन्दर अधिकाधिक सूचनाएं दे दी जाती हैं। नाटक के अन्दर चरित्र को उभारने का ही कार्य रह जाता है। रामकुमार वर्मा के प्रसिद्ध एकांकी नाटक 'चारुमित्रा' (१९४१ ई०) के प्रारंभ में पात्रों का परिचय यों दिया गया है :—

'चारुमित्रा' का प्रतिन्यास

"१. सम्राट अशोक—मगध के सम्राट
२. तिष्यरक्षिता—सम्राट अशोक की रानी
३. उपगुप्त—बौद्ध भिक्षु तथा आचार्य
...." इत्यादि।

इस परिचय में पात्रों की सामाजिक एवं वैयक्तिक अवस्था इत्यादि प्रदर्शित की गई है। इसके पश्चात् सवा दो पृष्ठों के अन्दर पृष्ठभूमि दी गई है। इस पृष्ठभूमि में नाटक की घटनाओं के समय (२६१ ई० पू० अशोक के शासन का तेरहवां वर्ष), अवस्था (कलिंग पर चढ़ाई, युद्धकाल की अवस्था), स्थान (शिविर का सुन्दरतम शब्द चित्र जिसमें तिष्यरक्षिता के कक्ष का चित्र बड़ा ही कलापूर्ण है), और पात्र का प्रारंभिक अभिनय ("तिष्यरक्षिता चित्र बनाने में लीन है। रुक कर एक ही स्थान पर खड़ी रह कर वह भिन्न कोणों से चित्र की ओर देख रही है। दो क्षणों तक चित्र देखने के बाद, वह अपनी तूलिका से दीप स्तम्भ के पात्र पर शब्द करती है। एक परिचारिका प्रवेश कर दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम करती है") का वर्णन है। जगदीश चन्द्र माथुर के 'भोर का तारा' नामक एकांकी नाटक का प्रारंभ इस प्रकार है :—

'भोर का तारा' का प्रतिन्यास

"(कवि शेखर का गृह। सब वस्तुएं अस्त-व्यस्त। बाईं ओर एक तख्त पर मैली फटी हुई चद्दर बिछी है। उस पर एक चौकी भी रक्खी है और लेखनी इत्यादि भी। इधर-उधर भोजपत्र या कागज बिखरे हुए पड़े हैं। एक तिपाई भी है जिस पर कुछ पात्र रक्खे हुए हैं। पीछे की ओर खिड़की है। बाहर का दरवाजा अन्दर जाने के लिए है और दायां बाहर से आने के लिए। दीवारों में कई आले और ताख हैं जिनमें दीपदान या कुछ और वस्तुएं रक्खी हैं। शेखर कुछ गुनगुनाते हुए टहलता है या कभी-कभी तख्त पर बैठ जाता है। जान पड़ता है, वह संलग्न है। तल्लीन मुद्रा। जो कुछ कहता है, उसे लिखता भी जाता है)"

इन सूचनाओं के पश्चात् ही या साथ ही नाटक का मूल भाग प्रारम्भ हो जाता है। ध्यान रहे कि नाटकों का यह प्रारम्भ प्राचीन नाटकों के उस प्रारम्भ से बिल्कुल भिन्न है जिसमें परदा उठाते हुए नाटक के पात्र एक पंक्ति में खड़े हुए प्रार्थना-गीत गाते हुए दिखाई पड़ते थे। ये सूचनाएं नाटक के

प्रारंभ में ही नहीं रहतीं, बल्कि नाटकों के प्रत्येक अंक या प्रत्येक दृश्य के प्रारंभ या बीच-बीच में भी आवश्यकतानुसार दे दी जाती हैं। पहले नाटकों में कथोपकथन के बीच-बीच में छोटे कोष्ठक के अन्दर क्रिया संबंधी जो उल्लेख प्रायः इस प्रकार दे दिए जाते थे, (जैसे, मुस्कराते हुए या चौंक कर, इत्यादि) इन्हें उन्हीं का परिवर्द्धित एवं संशोधित रूप कहा जा सकता है।

सूचनाओं की व्यापकता

ये सूचनाएं सब की सब रंगमंच के काम की नहीं होतीं। कारण यह जान पड़ता है कि नाटकों को लिखते समय रंगमंच का ध्यान नहीं रहता। दूसरा कारण यह जान पड़ता है कि कदाचित् लेखक यह सोचता है कि इन सूचनाओं को पढ़ कर व्यवस्थापक के मस्तिष्क पर जो प्रभाव पड़े उसी के अनुसार वह रंगमंच की व्यवस्था करे। उदाहरण के लिए 'नारद की वीणा' वाला उदाहरण ले लीजिए। उसमें एक वाक्य यों है:—"दूर पर पहाड़ की ऊंची चोटियां कहीं चांदी की और कहीं-कहीं सोने की चादर लपेट रही हैं"। एक दूसरा वाक्य यों है:—"जंगली फूलों और बेलों की लताएं यहां-वहां बेतरतीब जैसे अपनी स्वतन्त्र सत्ता के गर्व में ऐंठ सी रही हैं"। रामकुमार वर्मा के 'अंधकार' नाटक (१९४२ ई०) की सूचना में एक वाक्य है:—"अत्यन्त सूक्ष्म और श्वेत परिधान है जैसे किसी शैल श्रृंग को स्थान-स्थान पर हिमराशि ने आच्छादित कर लिया है।" रंगमंच पर इनकी व्यवस्था कैसे हो? कदाचित् लेखक यह चाहते हैं कि इन वाक्यों से कैसा चित्र बन रहा है, इसकी कल्पना की जाय। पहला वाक्य ले लीजिए। चांदी और सोने की चादर लपेटने के चित्र को मस्तिष्क में रखकर यह सोचना पड़ेगा कि रंगमंच पर पहाड़ों की चोटियों को दिखाकर उन पर किस प्रकार प्रकाश की रेखाएं फेंके या परदे पर बने उनके चित्रों को किस प्रकार रंगवाए कि वे चांदी और सोने की चादर को लपेटे जान पड़ें। इस प्रकार बेतरतीब बेलों की लताओं को परस्पर यों उलझाना पड़ेगा कि उन्हें देखकर वही प्रभाव पड़े जो स्वतन्त्रता की सत्ता में ऐंठे हुओं को देखकर पड़ता है। किन्तु यह एक कष्ट कल्पना है। हमारे यहां के दर्शक-समूह की अभिरुचि इतनी परिष्कृत और कलात्मक नहीं है कि ऐसे चित्रों को न उपस्थित करने से रंगमंच के व्यवस्थापक की कोई हानि हो जाय। और फिर रंगमंच का व्यवस्थापक है ही कहां!

प्रतिन्यासों में प्रभाववाद

कदाचित् ऐसे नाटकों के अभिनय की इसी कठिनाई को ध्यान में रखकर ही रामकुमार वर्मा ने अपने दार्शनिक नाटक 'अंधकार' (१९४२ ई०) के प्रारम्भ में 'सूचना' शीर्षक के नीचे लिखा है:—

रंगमंच के लिए बेकार सूचनाओं के भी उपयोग की व्यवस्था

"इस नाटक में रंगमंच की व्यवस्था इस भांति हो कि उसमें स्वर्ग के वातावरण का आभास स्पष्टतया दिखाई दे। दिव्य प्रकाश

के लिए नीले और हरे रंग की रोशनी अपेक्षित होगी; इन्द्र धनुष के छोटे-छोटे टुकड़ों का आभास उत्पन्न करने के लिए परदों पर रंगीन स्लाइड का बिंब फेंका जा सकता है। वातायन के पीछे आकाश गंगा का आभास वस्त्र के पीछे बिजली के प्रकाश की व्यवस्था से हो सकता है। नीलम और मूंगे के आभास के लिए क्रमशः नीले और लाल वस्त्र से काम चल सकता है।

अभिनय के लिए प्रतिन्यास में आई हुई काव्य की कल्पनाएँ छोड़ी जा सकती हैं।"

सेठ गोविन्ददास ने भी 'कर्ण' (१९४६ ई०) में एक फुटनोट में लिखा है :—

"नोटः—इन सब कौतुकों का वर्णन यहां महाभारत के वर्णन के अनुसार लिखा गया है। सिनेमा में तो सभी दिखाया जा सकता है। रंगमंच पर जो न दिखाया जा सके वह छोड़ दिया जाय।"

रंगमंच का ध्यान और कल्पना में क्रान्तिकारी परिवर्तन

'गरीबी या अमीरी' नाटक में उन्होंने यह लिखा है कि रंगमंच के संबंध में हम अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन कर लें, तो अच्छा होगा। परम्पराओं को छोड़कर अब उसमें नवीन आविष्कारों का भी समावेश करना होगा। इस प्रकार वे रिवाल्विंग स्टेज, दृश्यों के लिए सिनेमा के दृश्यों का प्रदर्शन, आदि का प्रबंध कराना चाहते हैं।

रामकुमार वर्मा ने 'रेशमी टाई' के पहले नाटक 'परीक्षा' के प्रारम्भ में रंगमंच की व्यवस्था का बहुत व्यावहारिक मानचित्र दिया है, जो नीचे दिया जाता है :—
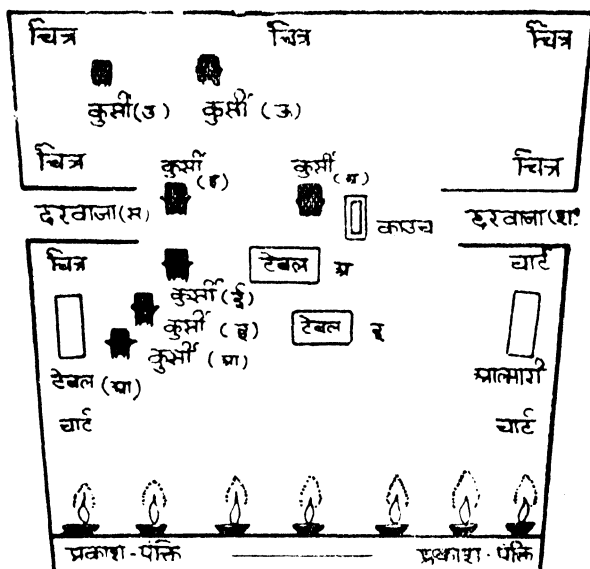
इतना सब होने पर भी कभी-कभी नाटककार को यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि 'अभिनय के लिए प्रतिन्यास में आई हुई काव्य की कल्पनाएं छोड़ी जा सकती

हैं।' स्पष्ट है कि रंगमंच का पहले से अधिक ध्यान रखते हुए भी लेखक साहित्यिकता का ध्यान उससे अधिक रखता है, और रक्खे भी क्यों न !

प्रतीक का प्रयोग भी आजकल के नाटकों में होने लगा है। यह प्रतीक-प्रयोग मुख्यतः दो प्रकार से होता है। इसका पहला रूप गोविन्दास के 'प्रकाश' (१९३५ ई०) में है। इसके 'उपक्रम' और 'उपसंहार' में नाटक की प्रधान कथावस्तु से भिन्न रूप में प्रतीक का प्रयोग किया गया है। 'उपक्रम' में एक दूकान के सामने एक सांड़ के आक्रमण के भय का प्रदर्शन है और 'उपसंहार' में उसी सांड़ के आक्रमण के कारण उसी दूकान के अस्तव्यस्त रूप का। भाव-दृष्टि से इस प्रतीक का प्रधान नाटक से यह संबंध है कि नाटक का नायक समाज की प्रचलित अवस्था के लिए वैसा ही है जैसा साँड़ सजी-बजी दूकान के लिए। इस प्रकार सांड़ प्रकाश का प्रतीक है और दूकान समाज का।

प्रतीक का प्रयोग

प्रतीक का दूसरा प्रयोग इस प्रकार होता है कि नाटक के अन्दर कोई ऐसी वस्तु—जड़ या चैतन्य—उपस्थित कर दी जाती है जो नाटक के प्रधान उद्देश्य या भावना का प्रतीक होती है। नाटकीय कथावस्तु ज्यों-ज्यों बढ़ती है त्यों-त्यों उसके अनुकूल उस वस्तु की गति में परिवर्तन दिखाया जाता है और और अंत में सफलता या असफलता के अनुसार उस वस्तु की दशा दिखा दी जाती है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के नाटक 'विवाह के दिन' (१९४० ई०) में कदाचित् नेगियों द्वारा लाई गई चीज़ें, कागज का सेहरा, और कागज का तीर-कमान, तथा कभी उड़ जाने और कभी फिर आ बैठने वाली मक्खी, और कभी डर कर भाग जाने वाली तथा फिर आ जाने वाली छिपकली, इसी प्रकार के प्रतीकों में से है। अपनी दूल्हन के प्रति परशुराम का असंतोष ज्यों-ज्यों बढ़ता है, उसके भावावेश में जितनी तीव्रता आती है और भविष्य के जीवन की स्थिति जितनी ही डांवाडोल लगने लगती है उसी के अनुसार सेहरा हिलता है, मक्खी और छिपकली आती है और जाती है, आदि। इसी प्रकार उन्हीं के 'देवताओं की छाया में' (१९४० ई०) नाटक के अन्दर का बकायन का नवयुवक पेड़, मरजाना और भरी नाम की नवयुवतियों के अंतर की आंधी के साथ कांपने लगता है। उसका प्रतीक है।

वस्तु के रूप में

इस प्रकार आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य में हमें ये दो प्रकार के नाटक दिखलाई पड़ते हैं। एक प्राचीन शैली के ऊपर लिखे गए और दूसरे नवीन शैली के ऊपर। इन दोनों की अपनी-अपनी विशिष्टताएं इतनी स्पष्ट हैं कि वे इन्हें दो विभिन्न वर्गों में बांट सकती हैं। हां, यह वर्गीकरण गणित के ढंग का न होकर साहित्य के ढंग का होगा। तात्पर्य यह है कि यदि इस वर्गीकरण से यह सोचा जाय कि प्राचीन शैली के नाटकों की कोई भी बात नवीन शैली के नाटकों में न मिलेगी और नवीन शैली के नाटकों की कोई भी बात प्राचीन शैली के नाटकों में न मिलेगी तो यह असंभव है। प्रत्येक आधुनिक लेखक,

वर्गीकरण की सीमा

चाहे वह नवीन शैली के नाटकों का लेखक हो, चाहे प्राचीन, रहता इसी युग में है। प्रभावों या परिवर्तनों को प्रकाश रूप में चाहे वह जितना अस्वीकार करे, किन्तु उनमें से जो अनजान ही, स्वाभाविक रूप से, उसकी चेतना के कण-कण में रम गए हैं, उनसे अपने को किसी प्रकार भी नहीं बचा सकता। इसीलिए कभी-कभी नवीन में प्राचीन और प्राचीन में नवीन भी दिखाई पड़ जाता है। वर्गीकरण विशिष्टताओं की अधिकता और प्रभाव की दृष्टि से होता है।

इसी बात को एक दूसरे ढंग से यों कहा जा सकता है कि आधुनिक शैली पर लिखे गए प्रत्येक नाटक में नवीन शैली के नाटकों की सभी विशेषताओं को ढूंढ़ना ठीक नहीं। मिल भी नहीं सकतीं। नवीन शैली के सभी नाटक उच्चकोटि के ही हों, यह बात भी नहीं। रुचि-वैचित्र्य की भी बात है। किसी नाटक को पढ़ते समय ऊब भी लग सकती है और किसी में कोरा बुद्धिवाद ही दिखाई पड़ सकता है। दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हो गए हैं। वे ही नाटक दूसरे को अच्छे लग सकते हैं। हां, इतना सबको मानना पड़ेगा कि नया मार्ग निकल चुका है। सब लोग उधर आकृष्ट हो चुके हैं। सभी बढ़ेंगे—कोई तेजी से, कोई धीरे से, कोई आगे, कोई पीछे।

नवीन शैली के नाटकों की सीमाएं

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त आधुनिक हिन्दी नाटकों के कुछ अन्य स्वरूप भी हैं। वे एक दूसरे से अपना अलग-अलग अस्तित्व रखते हैं। इनमें कुछ प्राचीनता की परम्परा में हैं, और कुछ नवीन परिस्थितियों, प्रभावों एवं आवश्यकताओं के फलस्वरूप। गीति नाट्य आदि पहले प्रकार के हैं और रेडियो एकांकी आदि दूसरे प्रकार के। नीचे एक-एक करके उन पर विचार किया जा रहा है।

अन्य भेद

संस्कृत के 'प्रबोध चन्द्रोदय' और अंग्रेज़ी के 'फेयरी क्वीन' या 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' की परम्परा में हिन्दी में नाट्य रूपक लिखे गए हैं। मान लीजिए कि किसी सिद्धान्त को नाटक रूप में उपस्थित करना है। उसके लिए कोई कथावस्तु सोच ली। यह कथावस्तु इस प्रकार की होती है कि उससे हमारे प्रतिपाद्य सिद्धान्त का पूर्ण रूप से साम्य हो। कथा के अंग-प्रत्यंग—उसके सभी अंश—प्रतिपाद्य सिद्धान्त के किसी न किसी अंग का प्रतिनिधित्व अवश्य करते हों—उसके लिए रक्खे गए हों। रूपकत्त्व का यह आरोप आदि से अंत तक होना चाहिए। सच पूछिए तो कथा तो एक बहाना मात्र है। पाठक या दर्शक के मन में कथा के लिए कोई प्रमुख स्थान ही नहीं मिलने पाता। प्रतिपाद्य सिद्धान्त बराबर सामने आ जाता है। इन नाटकों का वातावरण ऐसा होता है कि उसमें सिद्धान्त की ही प्रधानता झलकती है।

नाट्य रूपक

नाट्य रूपक प्रायः कई प्रकार के होते हैं। पहले प्रकार के नाट्य रूपक वे हैं जिनमें मानव मन की विचित्रताओं और उसकी प्रवृत्तियों आदि को ही थोड़े से परि-

वर्तित रूप में नाटक के पात्रों का नाम दे दिया जाता है। उदाहरण के लिए गोविन्ददास के 'नवरस' नामक नाटक में वीर सिंह वीर रस का, रुद्रदेव रौद्र रस का, ग्लानिदत्त बीभत्स रस का और प्रेमलता श्रृंगार रस का प्रतिनिधित्व करती है। विरोधी रसों का संबंध यों निर्वाहा गया है कि शांता जो शांतरस का प्रतिनिधित्व करती है, रुद्रसेन और वीर सिंह के विरुद्ध है। भीमसेन, जो भयानक रस के लिए रक्खे गए हैं, रुद्रसेन के विरोध में हैं। सहयोगी रसों या अनुकूल रसों को यों मिलाया गया है कि वीरसिंह और प्रेमलता का परिणय होता है। लीला, जो हास्यरस के लिए है, प्रेमलता की बहिन है।

उपमेय के नामों के आधार पर पात्र—हल्के चित्र

दूसरे प्रकार के नाट्य रूपक में प्राकृतिक उपादानों को उन्हीं का नाम दे दिया जाता है और उसी के अनुसार उनका वर्णन कर दिया जाता है। उनसे भावनाओं की कोमलता या कठोरता के अनुसार ही काम भी कराया जाता है। सुमित्रानंदन पंत के 'ज्योत्स्ना' (१९३४ ई०) में इंदु, ज्योत्स्ना, किरण और सुरभि आदि ही अपने इन्हीं नामों के लिये हुए व्यक्ति नहीं बन गए हैं बल्कि, भक्ति, शक्ति, दया, सत्य और अनुराग आदि का भी मानवीकरण हो गया है। यही नहीं, प्रत्येक की वेशभूषा भी उनकी विशेषताओं के अनुसार है। झींगुर का भाव-भरा मानवीय रूप-वर्णन पढ़िए :—

उपमेय की पूर्णरूपेण अवतारणा का यथासंभव प्रयत्न—गहरे चित्र

"[एक नाटे कद, गठीले बदन के बलिष्ठ मनुष्य के वेष में झींगुर का प्रवेश। तांबे का-सा रंग; दृढ़ पुट्ठे; लौह तार-सी नाड़ियां; सख्त चौड़ा पंजा; मोटी, न मुड़ने वाली अंगुलियां; कांच की-सी चमकीली, भावशून्य आंखें; मोटे होंठ; तीर सी तनी लंबी-लंबी बंटी मूंछें। इस मनुष्य के अंगों में माँस का लचीलापन नहीं, वे मशीन के पुर्जों की तरह एक निश्चित यांत्रिक भाव से संचालित हो रहे हैं। मुखाकृति में एक प्रकार की अविश्वास-जनित तीव्र सतर्कता व्याप्त है। इसके कंधों पर लोहे की बुनी जाली। कलाइयों पर लोहे के पट्टे बंधे हैं। कमर में पिस्तौल, तलवार, चाकू आदि अस्त्र-शस्त्र लटक रहे हैं। हाथ में वाद्य के ढंग का लौहयंत्र है जिस पर वह आरानुमा लोहे का गज फेर कर, एक प्रकार का कर्कश घर्घर-रव पैदा करता हुआ, परुष स्वर में गा रहा है।]"

पृथ्वी का रूप पढ़िए :—

"[...................नील अनिल का फहराता हुआ रेशमी दुकूल; विशाल पयोधरों पर हरीतिमा की कंचुकी; अंगों में अनेक मणि-रत्नालंकार; गले में लंबी-लंबी उज्ज्वल मोती की लड़ियां; प्रशांत प्रसन्न आनन; शिर पर बालेंदु से मंडित रजत-हिम-किरीट; दाएं हाथ में धान की सुनहली बालियां, बाएं हाथ में सलिल-सुधा से पूर्ण स्वर्ण पात्र............................]"

इसी प्रकार चंद्रभानुसिंह का 'चंद्रिका' (१९३३ ई०) भी एक सुन्दर नाट्य रूपक है। इसके पात्र भी प्रतीक हैं, जैसे, निशा, प्रभात, चंद्रिका, भानुप्रकाश आदि। इसमें प्रेम और कर्तव्य की भावना का सुन्दर निर्वाह हुआ है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' इसका महान संदेश है।

तीसरे प्रकार के नाट्य रूपक में पात्रों के नाम और उनकी वेशभूषा का सिद्धान्त से कोई सीधा संबंध नहीं होता। उनके नाम वैसे ही होते हैं जैसे सामान्यतः व्यक्तियों के। उनकी वेशभूषा वैसी ही होती है समय, परिस्थिति और समाज में जैसी प्रचलित हो। इन बाह्य उपकरणों का सिद्धांतों से कोई सीधा संबंध नहीं होता। इन पात्रों के क्रिया-कलाप और इनकी भाव एवं विचारधाराएं निश्चित रूप से प्रतिपाद्य सिद्धांतों के अनुसार होती हैं। प्रतिपाद्य सिद्धांतों से तात्पर्य उन्हीं भावनाओं एवं विचारों से है जिनके लिए यह कथावस्तु का एक रूपक बांधा गया है। नाट्य रूपकों का यह प्रकार बहुत ही सूक्ष्म होता है क्योंकि साधारण रीति से देखने पर आजकल के सभी समस्या प्रधान नाटकों के पात्र किन्हीं न किन्हीं सिद्धांतों के प्रतीक के रूप में ही आते हैं। बात यह है कि व्यक्तिगत रूप से या पृथक-पृथक सिद्धान्तों के प्रतीक होने पर भी कुल मिला कर वे सांगोपांग रूपक नहीं बना पाते। इसलिए ये सभी नाटक नाट्य रूपक नहीं होते। भगवती प्रसाद बाजपेयी का 'छलना' इस प्रकार का एक सफल नाट्य रूपक है। इसके पात्रों के नाम हैं बलराज, विलास, सूरे, जगेसर, कामना, कल्पना, चम्पी आदि। इनकी सामाजिक अवस्था यह है कि कोई इंटरमीडियेट कालिज का अध्यापक है, कोई बी० ए० का छात्र, कोई फिल्म अभिनेता और कोई रिटायर्ड सेशंस जज की पुत्री, आदि। इनकी कहानी के माध्यम से नारी के अन्तर और बाह्य मनोविज्ञान को चित्रित किया है जिसमें नारी की चिरन्तन समस्या—पुरुषत्व के प्रति आकर्षण या भोग विलास के प्रति—उठाई गई है।

भावों एवं विचारों का रूपक

इन नाट्य रूपकों में वातावरण बहुत ही सजीव होता है। लेखकगण सिद्धांत की शुष्कता को वातावरण के चित्रण के द्वारा ही कम करते हैं। कथा का आवरण इतना झीना होता है कि उसमें सिद्धांत या प्रतिपाद्य ही प्रमुख हो। अब यदि वातावरण की तूलिका भी कलात्मक न हुई तो नाटक क्या रह जायगा! वह पूरा सिद्धान्त-विवेचन ही हो जायगा। काव्य, कल्पनाएं, संगीत, नृत्य, चित्रण आदि के द्वारा वातावरण निर्मित किया जाता है। सुमित्रानंदन पंत के 'ज्योत्स्ना' (१९३४ ई०) के वातावरण की रमणीयता उसकी मोहकता, उसकी कलात्मकता, उसकी काव्यात्मक रंगीनी और उसकी स्निग्ध धवलता, 'ज्योत्स्नात्मकता' की बहुत ही उचित पृष्ठभूमि है। मन मुग्ध हो जाता है। इसी प्रकार जयशंकर प्रसाद के 'कामना' (१९२७ ई०) में भी बहुत ही उच्चकोटि का रोमांटिक वातावरण है।

वातावरण का महत्त्व

रूपक के आवरण पर व्यक्तिगत रुचियों का प्रभाव

इन नाट्य रूपकों में सिद्धांत, और रूपक के आवरण प्रायः एक दूसरे से अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं। वे मिल कर एक नहीं हो पाते। लेखक की अपनी-अपनी क्षमता और अभिरुचि के अनुसार रूपक के आवरण का रूप बदल जाया करता है। सुमित्रानंदन पंत और जयशंकर प्रसाद दोनों उच्च-कोटि के कवि हैं। गोविन्ददास प्रधानतया नाटककार हैं और भगवती प्रसाद बाजपेयी कथाकार। इनके रूपकों में इन्हीं की विशेषताएं हैं। 'कामना' और 'ज्योत्स्ना' में कवित्व की प्रधानता है, 'नवरस' में कथोपकथन ही अच्छे हैं और 'छलना' में कथाकार का वह रूप, जो यथातथ्य का सुन्दर चित्रण करता है, कुछ अधिक निखरा है।

गीति नाट्य

हिन्दी के नाटकों का एक अन्य महत्त्वपूर्ण रूप हमें गीति नाट्यों से मिलता है। सीधे-साधे ढंग से कहना हो तो हम यह कह सकते हैं कि जो नाटक पद्य में लिखे जायं वे गीति नाट्य हैं। ध्यान यह रखना चाहिए कि पद्य में लिखे जाने वाले सभी नाटक गीति नाट्य नहीं हो सकते। घटना प्रधान नाटकों को लेकर यदि कोई कवि उनके गद्य-भाग को पद्य में रूपांतरित कर दे और कहे कि यह गीति नाट्य हो गया तो यह बात हास्यास्पद होगी।

इसका रूप और कला

गीति नाट्य के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात है अन्तर्द्वन्द्व। यहां बाह्य संघर्ष बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं। यह इसलिए है कि यदि बाह्य संघर्ष की प्रधानता होगी तो निश्चित है कि उसमें घटनाओं और कार्यों का जाल-सा तनेगा। घटनाओं का घात-प्रतिघात और उनके कारण पैदा होने वाले कार्यों की उलझनें अधिक होंगी। ऐसी परिस्थिति में गीति नाट्य में गीति-तत्त्व को बड़ी हानि पहुँचेगी। बहुत संभव है कि ऐसी परिस्थितियों में गीति तत्त्व हास्यापद एवं अस्वाभाविक स्थिति में पहुँच कर अपना अस्तित्व ही खो बैठे। यही कारण है कि गीति नाट्यों में बाह्य संघर्ष को अधिक मान्यता नहीं दी जाती। अधिक से अधिक उनकी मान्यता यहीं तक हो सकती है कि वे गीति तत्त्व को उद्दीप्त करें। उनके कारण अंतर्द्वन्द्व और भी अधिक तीव्र हो जाय। उनके कारण भावनात्मकता को उभरने और निखरने का और भी अधिक अवसर मिले। भगवती चरण वर्मा का 'तारा' एक सफल गीति नाट्य है। इसमें गुरुपत्नी तारा के हृदय में वासना और धर्म-भावना में संघर्ष होता है। इस संघर्ष में पर्याप्त नाटकीयता इस प्रकार है कि पहले लालसा का जन्म होता है जिसका शमन हो जाता है। वह फिर उठता है और वृहस्पति के द्वारा दबा दिया जाता है। तीसरी बार उठता है परन्तु 'माता' संबोधन से शांत होता है। इसके बाद चरम सीमा तब आती है जब एकांत में लालसा की तीव्र प्यास से व्याकुल तरुण और तरुणी का हृदय एक दूसरे के सामने है। धर्म कुछ जोर मारता है किन्तु पुरुष का पुरुषत्व और तर्क जीतता है। अन्त में चन्द्रमा शापग्रस्त हो जाता है। इस नाटकीय गति, इस अंतर्संघर्ष और

कविता के माध्यम—सब—ने मिल कर 'तारा' को सुन्दर गीति नाट्य बना दिया है। इसी प्रकार उदयशंकर भट्ट का 'विश्वामित्र' (१९३८ ई०), 'मत्स्यगंधा' (१९३७ ई०) और 'राधा' (१९४१ ई०) सुन्दर गीति नाट्य हैं।

तीसरा महत्त्वपूर्ण स्वरूप भाव नाट्यों का है। भाव नाट्य और गीति नाट्य में अन्तर केवल इतना है कि जहां गीति नाट्यों में संपूर्ण नाटक में पद्य ही पद्य रहता है, वहां भाव नाट्यों में प्रधानता गद्य की रहती है। गीतों का सर्वथा बहिष्कार तो नहीं किया जाता किन्तु उन्ही की भरमार भी नहीं होनी चाहिए। भाव नाट्यों को सामान्य नाट्कों से पृथक करने वाला तत्त्व वही अंतर्द्वन्द्व, वही भावनात्मकता और वही घटनाओं के रूप का झीनापन है जो गीति नाट्यों में होता है। गोविन्द वल्लभ पंत का 'अंत:पुर का छिद्र' (१९४० ई०) और उदयशंकर भट्ट का 'अम्बा' (१९३५ ई०), चतुरसेन शास्त्री का 'राधा-कृष्ण' (१९४६ ई०) आदि सुन्दर भाव नाट्य हैं। दोनों नाटकों में अंतर्द्वन्द्व का बहुत सुन्दर चित्रण है। 'अम्बा' में ऐसा लगता है कि समस्त नारी जाति ने एक बार कराह कर करवट ली है। भावना की दृष्टि से यह नाट्य बहुत ही तीखा, तीव्र और जोरदार है। पीड़िता नारी के मन के कई पक्षों को स्पष्ट किया गया है। किन्तु सब मिलाकर यही लगता है—और यही सत्य भी है कि नारी को पुरुष ने आदि युग से इतना दबाया है कि आज उसका अस्तित्व पिचनी हो गया है।

भाव नाट्य

नाटकों के उपर्युक्त स्वरूप प्राय: अनेकांकी नाटकों में मिलते हैं। एकांकी नाटकों के भी कई स्वरूप मिलते हैं। इसका एक स्वरूप है मोनोड्रामा या एकपात्री नाटक। यह मोनोड्रामा इसलिए कहा जाता है कि इसमें एक ही पात्र बोलता है। इसमें पृष्ठभूमि प्राय: वैसी ही होती है जैसी अनेक पात्री नाटकों में। नाटककार ऐसी परिस्थिति ला देता है कि दूसरा पात्र यदि वह रंगमंच पर भी हो तब भी कुछ बोल-कह न सके। उसका खुला हुआ मुंह भी रुक जाना चाहिए। भय, आवेश, या लज्जा आदि कुछ ऐसी चितवत्तियां हैं जिनके कारण कभी-कभी हम बोल नहीं पाते। नई दूल्हन मूक पात्रों में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो सकती है। बस ऐसी अवस्था में अकेला एक पात्र ही अपनी बातें कहता चला जाता है। अन्य पात्रों की कमी को अभिनय या गीति आदि के द्वारा पूरा किया जा सकता है। अभिनेता यदि उच्चकोटि का और कला-कुशल न हुआ तो मोनो-ड्रामा का अभिनय कदापि नहीं हो सकता। मोनोड्रामा का लिखना भी सरल नहीं है। बहुत-कुछ संभाल कर लिखने पर भी उसकी अस्वाभाविकता अधिकांशत: जाती नहीं। इतनी देर तक सामने रहने पर भी दूसरा पात्र बिल्कुल न बोलने पाए—और वह भी नाटक में! इतना अधिक आवेश! यह अस्वाभाविक लगता है, तो इसका अस्वा-भाविक लगना कोई बहुत अस्वाभाविक नहीं। इसलिए प्राय: लोग इसे नहीं लिखते। हिन्दी में गोविन्ददास ने सफल मोनोड्रामा लिखे हैं। 'चतुष्पथ' उनके ऐसे ही नाटकों का

मोनोड्रामा या एकपात्री नाटक

संग्रह है। 'शाप और वर' एकांकी मोनोड्रामा ही है जो दो छोटे-छोटे भागों में बांट दिया गया है। दोनों भागों में दो विभिन्न परिस्थितियों की नारियां बोलती हैं और पृथक-पृथक अपने शाप और वर के तुल्य जीवन का कारण के साथ, जो उनके पति ही हैं, वर्णन करती हैं। पुरुष दोनों स्थानों पर चुप है। एक इसलिए चुप है कि वह समझ गया है कि अपनी पत्नी के जीवन को नरक के तुल्य बना देने का उत्तर-दायित्व उसी पर है। दूसरा पुरुष इसलिए चुप है कि उसे अपनी पत्नी के इस वियोग का, जो कुछ ही क्षणों बाद होने वाला है, अपार दुख है। वैभव के बावजूद भी पहली नारी सुखी न हो सकी। निर्धन होने पर भी दूसरी का संतोष-धन बना रहा और उसका जीवन सुखी हो सका क्योंकि पति अनुकूल रहा। दो व्यक्तियों के परस्पर विपरीत जीवन के ये तुलनात्मक चित्र बहुत ही सुन्दर हैं।

इन नाटकों का एक अन्य रूप है झांकी। इसमें प्रायः एक ही दृश्य होता है। यह जीवन के किसी अंग के किसी एक पहलू को हमारे सामने लाता है। इसमें तीखा-पन, गंभीरता, अथवा अध्ययन या चित्रण की गहनता नहीं होती। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'पहेली' शीर्षक नाटक (१९३९ ई०) झांकी का एक सुन्दर उदाहरण है। इसमें कामन सेंस क्रासवर्ड पहेली को हल करने वालों की मनोवृत्ति की एक झांकी दिखाई है। उनके मन में कितनी आशाएं रहती हैं, किस प्रकार वे दूसरों के आवश्यक कार्यों का भी कोई महत्त्व नहीं समझते, किस प्रकार वे धैर्य रक्खे रहते हैं, और किस प्रकार प्रत्येक नया नम्बर उनके लिए नई आशा लेकर आता है, इन सब की मिली हुई झांकी इसमें मिलती है।

झांकी

एक अन्य रूप फैन्टसी में है। इसमें नाटककार किन्हीं अमानवीय—प्रायः रमणीक प्राकृतिक—तत्त्वों को लेकर उनके द्वारा बड़ा ही मनोमोहक, काव्यात्मक, भाव-प्रधान और रंगीन दृश्य उपस्थित करते हैं। इसमें उद्देश्य हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। आखिर आज के युग में कौन कौन-सी ऐसी चीज़ लिखेगा जिसका कोई उद्देश्य न हो, और यदि कोई लिख भी दे तो उसे पढ़ेगा कौन ! अब उद्देश्य के स्वरूप को भी समझ लेना चाहिए। उद्देश्य का अर्थ यह नहीं है कि वह किसी समस्या को उठावे, उसका समाधान उपस्थित करे, प्रच्छन्न या प्रत्यक्ष रूप से कोई स्वार्थ लिए हो। मेरा तो यह अनुमान है कि यदि कोई मन की किसी असाधारण अवस्था की अनुभूति करा दे तो यह भी उसका एक उद्देश्य हो गया। यह बात स्वाभाविक ही है कि यह असाधारण अवस्था किसी कारण से होगी और अवस्था की अनुभूति कराने से उसकी असाधारणता पर कुछ प्रभाव पड़ जाय। यदि इसे उद्देश्य समझा जाय तो फैन्टसी उद्देश्य रख सकता है। उसमें उद्देश्य का सामान्य या मूर्त्त रूप नहीं होता। इसमें भी एक ही दृश्य रहता है और यह प्रायः छोटा होता है। रामकुमार वर्मा का 'बादल की मृत्यु'—नगेन्द्र के

फैन्टसी

शब्दों में—हिन्दी का का एकमात्र सफल फैन्टसी है। बादल संध्या और वायु को मानवीय अनुभूतियां देकर लेखक ने संसार की गति और मानव की थाह एवं उसकी विनश्वरता पर काव्यमय प्रकाश डाला है। इसके उद्देश्य और स्वरूप और नाट्य रूपक के उद्देश्य और स्वरूप में बहुत कुछ समानता है, यद्यपि दोनों की अपनी-अपनी कला है।

रेडियो और नाटक

एक अन्य महत्त्वपूर्ण स्वरूप रेडियो एकांकी में मिलता है। रेडियो आज हमारे मनोरंजन के साधनों में प्रधानता प्राप्त करता जा रहा है। उसमें अन्य कार्यक्रमों के साथ-साथ नाटकों की भी आयोजना रहती है। पहले जब रेडियो में हिन्दी के लिए कोई आदरपूर्ण स्थान नहीं था, उस समय की तो कोई बात नहीं, किन्तु आज रेडियो हमारे साहित्य के कई भागों को प्रभावित कर रहा है। नाटक उनमें से एक है। इस प्रकार हिन्दी नाटकों को एक व्यवस्थित आधार मिल गया है। परिणाम यह हो रहा है कि रेडियो पर खेले जाने वाले नाटकों की भरमार हो रही है। यह हमारी नाट्य अभिरुचि की जागरूकता और क्रियाशीलता का द्योतक है। इस प्रकार रेडियो हमारे नाट्य साहित्य पर एक उपकार कर रहा है।

रेडियो और हिन्दी नाटकों के अभिनय

हिन्दी नाटकों पर रेडियो का एक अन्य प्रभाव भी है। हिन्दी के साहित्यिक नाटक अभी तक प्रायः पढ़े जाते थे। उनका अभिनय नहीं होता था। अब पढ़े जाने के अतिरिक्त वे रेडियो पर खेले भी जाते हैं। इस प्रकार रेडियो ने हमारी अभिनय कला के एक रूप को प्रोत्साहित किया है। हमारे नाटकों की उपयोगिता के लिए एक और भी मार्ग खोल दिया है। हम कह सकते हैं कि इस प्रकार रेडियो हमारे रंगमंच के पुनरुत्थान में अपना स्वतन्त्र योग दे रहा है।

रेडियो नाटक की कला

हिन्दी नाटकों को पहले दृश्य काव्य माना गया था। बाद में रंगमंच से प्रत्यक्ष संबंध छूट जाने के कारण वह अध्ययन की वस्तु हो गया अर्थात् पाठ्य काव्य हो गया। रेडियो ने उन्हें अब वह कर दिया है जो वे अभी तक नहीं थे। भरत के अध्ययन के विवेचन को ही विकास की अंतिम सीढ़ी समझने वाले कदाचित् इसे पतन या गड़बड़ी कहेंगे किन्तु यह एक सत्य है कि रेडियो ने नाटकों को श्रव्य भी बना दिया है। भरत यह नहीं सोच सकते थे।

रेडियो नाटक की कला

इस दृष्टि से रेडियो नाट्य कला सामान्य नाट्य कला से कुछ भिन्न है। सामान्यतः लिखे जाने वाले नाटकों में पात्रों की अवस्था, वेशभूषा, उपयोगी वस्तुओं के विवरण और अभिनय के अंतर्गत अभिनय-संकेत देने की आवश्यकता पड़ती है। रेडियो के नाटकों में यह स्वरूप नहीं होता। इन नाटकों में जिस बात पर सब से अधिक ध्यान रक्खा जाता है वह यह है कि इन नाटकों को सुनाया जायगा। सामान्यतः नाटकों के अन्दर से जो चीज़ हमारे मन को हमारी आंखों के द्वारा मिलती है वही चीज़ इन नाटकों में कानों के द्वारा

मिलती है। उस चीज़ को एकदम हटा नहीं सकते क्योंकि तब नाटक का प्रभाव कम हो जायगा। अतएव संभाषण में ही उन बातों—जैसे नाटक के पात्रों की अवस्था, उनके व्यक्तित्व की रूपरेखाएं, आदि—की सूचना देनी पड़ती है। इन नाटकों के अभिनय को सुनते समय, चूंकि अभिनेता सामने होता नहीं इसलिए, मस्तिष्क के उस भाग पर जहां हम भाव-चित्र बनाते हैं कुछ अधिक जोर देना पड़ता है। अतएव वाक्यों को कुछ छोटा करना पड़ता है। टेलीविज़न की व्यवस्था हमारे जीवन तक पहुँच जाय तो कदाचित् यह स्थिति थोड़ी-बहुत बदल जायगी। इन नाटकों में घटनाओं की प्रमुखता, अधिकता और उनकी गति में अधिक तेजी, अभिनय में भी ध्वनि भरने के प्रयत्न , विरोध-संघर्ष-कौतूहल, असंभावित या आकस्मिक घटनाओं का स्वाभाविक प्रयोग, घटना-पात्र-कार्य के परस्पर संबंध, और यथासंभव उनके विकास की शीघ्र व्यवस्था होती है। रेडियो पर ऐतिहासिक की अपेक्षा सामाजिक नाटक अधिक सफल रहते हैं।

रेडियो नाटक भी कई प्रकार के हो गए हैं। कला वही है। केवल उद्देश्य की दृष्टि से भेद हो गए हैं। एक प्रकार के नाटक वे होते हैं जिन्हें हम सामान्यतः अभिनीत या प्रसारित होते हुए देखते हैं। पात्र ही कथावस्तु प्रारम्भ करते हैं और नाटक पात्रों के माध्यम से गतिशील होता हुआ अपने उद्देश्य को पहुंच जाता है।

इनका दूसरा स्वरूप वह होता है जिसमें आधुनिक सूत्रधार की आवश्यकता पड़ती है। तात्पर्य यह है कि एक प्रवक्ता रहता है। वह नाटक के वातावरण या कथासूत्र का परिचय देता हुआ चलता है। इसमें प्रमुख घटनाओं का अभिनय कराया जाता है, अर्थात् वे पात्रों की कंठध्वनियों के द्वारा स्पष्ट होती हैं। इनको रेडियो रूपक या रेडियो फ़ीचर कहते हैं। किसी प्राचीन कथा या इतिहास की कोई सामग्री या प्राचीन काव्य का कोई कथानक या इसी प्रकार की कोई अर्वाचीन चीज़ लेकर उसका रूपक प्रस्तुत कर दिया जाता है।

रेडियो नाटक के भेद

इसी रूपक को जब केवल पद्य या संगीत में अभिनीत या प्रसारित करते हैं तब वह संगीत रूपक कहलाता है। व्यंग्य , विनोद, हास्य, आदि से परिपूर्ण घटना का अभिनय प्रहसन बन जाता है। जब किसी गोष्ठी के अंतर्गत भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रश्नों पर अलग-अलग अभिनय दृश्य प्रदर्शित होते हैं तो वह अंतर्दृश्य हो जाता है। इसमें दृश्यों के अंतर में सदस्यों के द्वारा परस्पर व्यंग्य या विनोद होता रहता है। इस प्रकार रेडियो ने अपनी कला और उद्देश्य के अनुसार उसके विभिन्न स्वरूपों के द्वारा हमारे नाट्य साहित्य पर अपना प्रभाव डालना प्रारम्भ कर दिया है। रेडियो के नाटक अभी अपने वास्तविक रूप में हमारे सामने आते नहीं। सामान्यतः प्राप्त नाटकों में थोड़ा हेर-फेर करके उसे प्रसारित कर दिया जाता है या जिन्हें वस्तुतः उसी कला की दृष्टि से लिखा तो जाता है, किन्तु उन्हें प्रकाशित कराते समय इस बात तक का उल्लेख प्रायः

नहीं किया जाता कि वे रेडियो पर खेले गए हैं। इन कारणों से रेडियो के नाटकों की कला और उन पर समुचित विचार विनिमय अभी संभव नहीं। फिर यह भी है कि वह कला अभी पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं। तात्पर्य यह है कि उनका साहित्यिक रूप अभी पूर्णतः विकसित नहीं है। रेडियो और हिन्दी साहित्य का संबंध अब प्रारम्भ हुआ है। परस्पर उनकी देनों और प्रभावों पर निश्चित रूप से अभी कुछ लिखना बहुत जल्दी-बाजी करना है।

एकांकी नाटकों के इन स्वरूपों के अतिरिक्त कुछ अनेकांकी नाटक ऐसे हैं जिनका अपना विशिष्ट स्थान है। गोविन्ददास के 'विकास' (१९४१ ई०) का अपना

'विकास' की कला

अलग महत्त्व है। यह स्वप्न नाटक कहा जा सकता है। पत्नी और पति बहस करते-करते सो गए। बहस के समय जो-कुछ कह रहे थे सपने में वही मूर्त्त रूप धारण करके आ गया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रकार के स्वप्न अस्वाभाविक नहीं हैं। तो, स्त्री बन गई पृथ्वी और पति बन गए आकाश। बहस शुरू हुई। पृथ्वी का मत है कि इस समय सृष्टि पतन की ओर जा रही है। आकाश कहता है कि यह मत ठीक नहीं। कुल मिला कर देखें तो हम आज भी विकास के पथ पर ही हैं। दोनों अपनी-अपनी धारणाओं को पुष्ट करने के लिए मानव जाति के इतिहास से उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। बुद्ध से लेकर गांधी तक के समय के और चीन, रोम, आदि से भी बड़े ही सुन्दर चित्र दिए गए हैं। इस नाटक में कार्यव्यापार बहुत कम है। रूप-रंजित और चित्र-विचित्र दृश्यों की आयोजना इस नाटक की विशेषताओं में से है। इसमें न कोई विशेष चरित्रचित्रण है, न संघर्ष, न चरम सीमा। नाटक के सामान्यतः माने जाने वाले ये तत्त्व इसमें बिल्कुल नहीं हैं। परदा उठने पर पहले छायाकृतियां प्रकट होती हैं। फिर धीरे-धीरे स्पष्ट रूप में हमारे सामने आती हैं। पृथ्वी पुष्पों से सुसज्जित है और आकाश सितारों से। संभवतः इसलिए कि रात है। उत्थान या विकास का एक चित्र सामने आता है। फिर उसी का पतित रूप भी दिखाई पड़ता है। गांधी का विशाल चित्र दिखाई पड़ते ही क्षितिज का दृश्य लुप्त हो जाता है। आज यदि यही नाटक लिखा गया होता तो गांधी के चित्र के जवाब में गोड्से की पिस्तौल भी दिखाई जाती। इस प्रकार फोटो या स्वप्न नाटक के रूप में यह हमारे सामने आता है। उपेन्द्रनाथ अश्क का 'छठा बेटा' भी एक सफल स्वप्न नाटक है।

गोविन्ददास का 'कर्त्तव्य' नाटक भी अपने ढंग का अकेला है। इस नाटक के दो भाग हैं :—'पूर्वार्द्ध' और 'उत्तरार्द्ध'। अंकों और दृश्यों की व्यवस्था यों है :—

'कर्त्तव्य' की कला

	अंक		दृश्य	
	अंक	१	दृश्य	३
	,,	२	,,	५
पूर्वार्द्ध	,,	३	,,	५
	,,	४	,,	५
	,,	५	,,	७

	अंक १	दृश्य ३
	,, २	,, ६
उत्तरार्द्ध	,, ३	,, ५
	,, ४	,, ४
	,, ५	,, ७

पूर्वार्द्ध में मर्यादा पुरुषोत्तम राम की कथा है, और उत्तरार्द्ध में लीला पुरुषोत्तम कृष्ण की। दोनों भागों में इन दोनों नर रत्नों के जीवन की प्रधानतम एवं महत्त्वपूर्ण घटनाएं आ गई हैं। भावना यह है कि राम मर्यादाओं की, चाहे वे उचित हों या अनुचित, प्रतिष्ठा करने के लिए अवतरित हुए थे और कृष्ण अनुचित मर्यादाओं को तोड़ने के लिए। कर्त्तव्य की भावना दोनों के जीवन में थी किन्तु राम निस्पृह-निष्काम नहीं हो सके जब कि कृष्ण के लिए यह सब-कुछ लीला मात्र थी। जिन परिस्थितियों में पड़ कर राम के मन, मस्तिष्क और आत्मा का कण-कण झकझोर उठता था, कृष्ण के लिए वे खेल थीं। यह इसलिए कि कृष्ण कर्त्तव्य के नाते सब-कुछ करते थे और राम उसी में लिप्त हो जाते थे। धर्म-अधर्म कृष्ण को छू भी नहीं जाता था। सद्-असद् का विचार राम को तड़पा देता था। बीच-बीच में प्रचलित किंवदंतियों या विश्वासों की बौद्धिक व्याख्या का भी प्रयत्न किया गया है। इस भावना का ग्रहण तभी हो सकता है जब पाठक दोनों भागों को देखे और साथ ही दृष्टिकोण बराबर तुलनात्मक बना रहे। राम और कृष्ण के कार्यों पर बुद्धि की दृष्टि पड़ने भी न देने वाली जनता क्या ऐसा कर सकेगी? फिर भी यह नाटक साहित्य की एक श्रेष्ठ कृति है, अभिनय की दृष्टि से न सही तो विचार और भावना की दृष्टि से ही सही।

अंतिम निर्णय में हिचक

यह प्रयोग का युग है। प्रतिभाशाली व्यक्ति जो प्राचीनता को पूर्णतः अपना नहीं पाते और जिनको नवीनता का चकाचौंध असह्य है, वे प्राचीन को लेकर ही उसे नई दृष्टि से देखने का प्रयास करते हैं। इस प्रयास में कभी-कभी वे ऐसी कलाकृतियों को जन्म दे जाते हैं जो अनूठी होती हैं। किसी-किसी दृष्टि से अकेली होती हैं। इस प्रकार के प्रयोग बराबर हो रहे हैं। जब तक काल की कसौटी पर उनके स्थायित्व की परीक्षा न हो जाय तब तक उन पर कुछ निर्णय देना जल्दीबाजी होगी।

(उपादान)

पौराणिक सामग्री

मनुष्य प्रायः अपनी पुरानी चीज़ एकदम नहीं छोड़ पाता। इसलिए कोई भी परम्परा जाते-जाते भी अपनी गहरी छाप छोड़ जाती है। हिन्दू समाज इस दृष्टि से कदाचित् सबसे आगे है। पुराण इसके लिए प्रिय ग्रंथों में से हैं और कदाचित् इसीलिए पौराणिकता का मोह आज तक नहीं छूट सका है। हमारे अध्ययन की अवधि के पहले तो पौराणिक आख्यानों पर लिखे गए नाटकों की संख्या बहुत अधिक थी ही, इसके प्रारम्भ

में भी उन आख्यानों पर नाटक लिखे गए हैं। एक-आध तो आजकल भी दिखाई पड़ जाया करते हैं। जयशंकर प्रसाद का 'जनमेजय का नागयज्ञ' (१९२६ ई०), जमुना दास मेहरा का 'मोरध्वज' (१९२९ई०), उदयशंकर भट्ट का 'विश्वामित्र', (१९३८ ई०), 'राधा' (१९४१ ई०) आदि, रामनाथ त्रिपाठी का 'श्रवणकुमार' (१९४६ ई०), लक्ष्मी-नारायण मिश्र का 'नारद की वीणा' (१९४६ ई०) और उदयशंकर भट्ट का 'सगर विजय' (१९३७ ई०), आदि नाटकों की मूल भावना पौराणिक आख्यानों की ही है।

पौराणिक आख्यानों के साथ ही साथ नाटककारों के विषय के स्रोत हैं रामायण, महाभारत, तथा अन्य धार्मिक कथाएं। राधेश्याम कथावाचक का 'सती पार्वती' (१९३९ ई०), चतुरसेन शास्त्री का 'सीता राम' (१९३८ ई०) और 'राधाकृष्ण', गोविन्ददास का 'कर्त्तव्य' (१९३५ ई०), मुरारी लाल मांगलिक का 'मीरा' (१९४० ई०) विश्वम्भर सहाय व्याकुल' का 'बुद्धदेव' (१९४० ई०), गोविन्द दास का 'कर्ण' (१९४६ ई०), रामकुमार वर्मा का 'अंधकार' (१९४२ ई०) और 'राजरानी सीता' (१९४७ ई०) आदि अनेक नाटकों के आधार ये ही हैं।

धार्मिक सामग्री

इन आधारों पर लिखे गए नाटकों को हम मूलत: दो प्रधान भागों में बांट लेना चाहते हैं। पहले भाग में वे नाटक आते हैं जो पूर्ण रूप से अपने स्रोत के इर्द-गिर्द ही रहते हैं। तात्पय यह है कि ऐसे लेखक मूल कथावस्तु को नाटकीय रूप दे देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करते। जैसा कुछ और जो कुछ मूल रूप में है, उसे वैसे का वैसा ही रहने देते हैं। परिवर्तन करते हैं, तो उतना ही जितने की मांग नाटकीय कला करती है। आधुनिक जीवन की समस्याओं के लिए यहां कोई स्थान नहीं। बहुत हुआ तो नाटककार ने भरत वाक्य में या प्रस्तावना में या अन्य कहीं, जहां स्थान मिल गया या उसे बात याद आ गई, एक आध वाक्य दे दिया। जैसे, एक स्थान पर मनसुखा श्रीदामा को उत्तर देते हुए कहते हैं:—

प्राचीन सामग्री पर ही आधारित

"वे दूध बेचने वाली भी चोर हैं जो डेढ़ पाव दूध में ढाई पाव पानी मिलाया करती हैं और दाम सेर भर के ले जाया करती हैं।"[1]

और

सिद्धार्थ भी हमारे आज के किसान और उनके बैलों की दशा ऐसी पाते हैं:—

"...........................में देखता हूँ कि किसान की रोटी में किस प्रकार मिठास के साथ कड़ुवाहट मिली हुई है। कठिन परिश्रम से बैलों के कंधे सूजे हुए हैं और पैनी आर की मार से उनकी खाल छिली हुई है। हाली के हल की फाली से पृथ्वी में रहने वाले न जाने कितने जीवों का जीवन जाता है।..............."[2]

१. राधेश्याम कथावाचक: 'कृष्णावतार' (१९२९ ई०)

२. विश्वम्भर सहाय 'व्याकुल': 'बुद्धदेव' (१९४० ई०)

स्पष्ट है कि ये वर्णन आधुनिक युग के हैं। इन पौराणिक या धार्मिक नाटकों में यदि इनको स्थान मिल जाता है तो इसलिए कि इन दुरवस्थाओं ने नाटककारों के अंतर को इस बुरी तरह से झकझोर दिया था कि वे उनको व्यक्त किए बिना रह नहीं सकते थे। इन चित्रों के कारण उनके नाटक जनता को और भी अच्छे लगते रहे होंगे क्योंकि दुखी के दुख की बातचीत कर देना उसकी सद्भावनाओं को जीत लेना है। किन्तु यह सब बहुत-कम होता था—जो कुछ होता भी था वह चलताऊ ढंग से और रूढ़ि के हल्के से परिवर्तन के लिए आवश्यक ध्यान बदलवाने के लिए। प्रधानता रहती थी उसी धार्मिक या पौराणिक वातावरण की। इतना होने पर भी ऐसे नाटक कम लिखे गए हैं जो विशुद्ध पौराणिक या धार्मिक हों, जो इन प्रवृत्तियों का पूर्ण रूप से बहिष्कार कर सके हों। इसका कारण वह चेतना थी जिसने आगे चल कर साहित्य के सभी अंगों में अपने लिए स्थान बना लिया।

यही कारण है कि उपर्युक्त नाटकों की अधिकांश संख्याएं ऐसी हैं जिनमें ये समस्याएं भरी पड़ी हैं। कथाएं वे ही पुरानी हैं यानी धार्मिक या पौराणिक। घटनाएं वे ही हैं किन्तु उनको इस ढंग से सामने रक्खा गया है कि वे हमारी इन्हीं समस्याओं पर प्रकाश डालें। इस प्रकार जो बात पहले नाटकों में कहीं-कहीं, बहुत ही दबती हुई और सकुचाती हुई आती थी, वही इन नाटकों में प्रधान रूप से आती है। वातावरण वही रहेगा किन्तु बातचीत इस ढंग से होगी कि वातावरण का वह रंग फीका पड़ जायगा।

प्राचीन शरीर में नवीन आत्मा

यह प्रायः दो प्रकार से होता है। एक ऐसे कि पात्र की परिस्थितियों एवं अवस्थाओं के अनुकूल उसके मनोविज्ञान की एक रूपरेखा बना ली गई। उस रूपरेखा में आजकल की समस्याओं को—और ऐसी समस्याएं मानव जीवन की प्रायः शाश्वत समस्याएं हुआ करती हैं—रख दिया गया और बस वही पात्र नवीन समस्याओं पर बोलने लगते हैं। जो कुछ बोलते हैं वह प्रायः लेखक की अपनी चीज होती है। इसमें अधिकतर स्वाभाविकता को बनाए रखने का भरसक प्रयत्न किया जाता है। कुछ नाटककार जो आधुनिक समस्याओं की झलक भर दिखा कर संतोष कर लेते हैं, इस प्रयत्न में सफल भी रहते हैं।

मनोवैज्ञानिक रूपरेखा में

किन्तु जब लेखक का आवेग इतना अधिक बढ़ जाता है, उसकी आत्मा आधुनिक समस्याओं में इतनी बिंधी रहती है कि वह यह युग छोड़ नहीं पाती तब उसके इन नाटकों में पात्रों के नाम और घटनाओं के स्थान के अतिरिक्त सब-कुछ आधुनिक हो जाता है। उदयशंकर भट्ट के 'अम्बा' में निम्नलिखित उद्गारों को देखिए :—

संतुलन में व्याघात

"विदूषक—(हंस कर) स्त्रियों का मान-अपमान ही क्या ? अहह, अंकशायिनी का मान ही क्या और अपमान....................।

शाल्व—अम्बा, तुम जाओ, अपना मार्ग लो।

अम्बा—(क्रोध से) स्त्रियों का मानापमान क्या! पुरुष समाज की इतनी धृष्टता! स्त्रियों के सौंदर्य की काई पर फिसलने वाली पुरुष जाति ने आज से नहीं, सदा से स्त्रियों का अपमान किया है..............................।"

"अम्बिका—यही तो समाज की मर्यादा है। असमर्थ, रोगी पुरुषों के विवाह के लिए एक नहीं, तीन-तीन कन्याओं को हर लाना स्त्रीत्व, समाज, और मनुष्यता की हत्या नहीं तो क्या है?"

"अम्बालिका—चुप, हमें पति के प्रति कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है।

अम्बिका—हमारा यह अधिकार किसने छीन लिया, समाज ने ही तो? मैं तो कहती हूँ, हम सदा से मनुष्य की इच्छाओं की दासी हैं। आत्मसमर्पण हमारा धर्म बना दिया गया है। इस अनूठे धर्म ने हमारी अभिलाषाओं की सदा से हत्या की है बहन!"

"अम्बिका—............मकड़ी मक्खियों को फंसाने के लिए जाला बुनती है और अपने आप भी उसमें घिर कर बैठ जाती है। यह सब कोई जानता है कि जाला मकड़ी का अनिष्ट नहीं कर सकता किन्तु शायद ही आज तक कोई मक्खी उससे बच कर निकली हो। इसी तरह पुरुष बलवान है। उसने स्वयं प्रविष्ट होकर अबला को फंसाने के लिए ही तो यह समाज बनाया है।"

प्रश्न यह है कि नंगी किए जाने के प्रयत्न को चुपचाप सह कर भी पांडवों के पत्नीत्व को संजोए रखने वाली द्रौपदी के समाज, गर्भावस्था में भी राजधानी से बाहर जंगल में जाने पर भी आर्य राम की चिरपत्नी सीता के आदर्श को मानने वाले समाज, और तन-मन-धन से पति की इच्छा के अनुकूल चलने की आज्ञा देने वाले पातिव्रत धर्म को आज तक कंजूस के धन की तरह सीने से चिपकाये रहने वाले समाज की इन नारियों को उपर्युक्त वाक्य सोचने, कहने, और अम्बा की तरह ज्वालामुखी के समान फूट पड़ने का साहस कभी हो सकता था! तभी दूसरा प्रश्न उठता है कि तब शिखंडी वाली बात क्या झूठी है! किन्तु उसके सत्य होने पर भी इस प्रश्न पर कोई आंच नहीं आती क्योंकि उसका संबंध आत्मा से है। पुरुष प्रधान संस्कृति के आदि युग से आज तक किसी भी नारी की आत्मा इस कठोर बंधन में पड़ कर न तड़पी हो; ऐसा मैं नहीं सोच सकता। प्रश्न इस तड़प की इस प्रकार की अभिव्यक्ति से है। और, यदि मैं कहूँ कि नहीं तड़पी? धर्म, दर्शन, समाज, परिवार! आखिर जन्म से लेकर मृत्यु के बीच भारतीय नारी को स्वतन्त्रता की भावना कहां से मिलती! घर से बाहर का वातावरण भी तो उसके लिए नहीं था! ऐसी स्थिति में अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका एवं सत्यवती के ये उद्‌गार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सत्य होने पर भी ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ अतिरंजित से लगते हैं।

ऐसे नाटकों में आधुनिक काल की समस्याओं के लाने का दूसरा ढंग है नवीन व्याख्याएँ। गोविन्ददास ने 'कर्त्तव्य' (१९३५ ई०) की भूमिका में लिखा है:—

"इस संबंध में मेरा मत है कि किसी भी आधुनिक लेखक को यह अधिकार नहीं कि पौराणिक कथा की छायामात्र लेकर उसे तोड़-मरोड़ कर वह एक नई कथा की ही रचना कर डाले। हां, किसी कथा के अर्थ के संबंध में लेखक को स्वतंत्रता अवश्य रहती है।"

प्राचीन सामग्री

यह नया अर्थ ही नवीन व्याख्या है। यह व्याख्या कई प्रकार से होती है। कभी तो पूरे का पूरा नाटक ही किसी एक तत्त्व की व्याख्या के लिए होता है। 'कर्त्तव्य' में राम और कृष्ण दोनों की लीलाओं को पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध करके एक ही नाटक के दो भागों में इसलिए दिखाया गया है कि इस तत्त्व की व्याख्या हो जाय कि राम व्यक्ति-धर्म से ऊपर उठ कर सामाजिक धर्म को अपना चुके थे किन्तु समाज की गलत-सलत रूढियों के प्रति विद्रोह करने की शक्ति उनमें नहीं आ पाई थी। यह शक्ति कृष्ण में थी।

पूरे नाटक के रूप में व्याख्या

कभी-कभी प्राचीनता के ताने-बाने में जो नाटक लिखा जाता है वह पूरे का पूरा बुद्धि प्रधान, नई-नई व्याख्याओं से भरा होता है। ऐसा जान पड़ता है कि हम किसी समस्या पर लिखा गया संभाषण पढ़ रहे हैं। सदगुरुशरण अवस्थी के एकांकी नाटक प्रायः इसी प्रकार के होते हैं। उनके 'दो एकांकी' नाटक (१९४० ई०) में 'बालिबध' पर यों परामर्श हो रहा है :—

व्याख्या की अति

"अंगद—परन्तु पूज्य तात-चरण कितने विद्वान हैं!

हनुमान—पर आचरण कैसा है, यह तुमसे छिपा नहीं है।

रामचंद्र—(जामवंत से) तो क्या यह बालि के लिए उपकार नहीं कि सब विचार छोड़ कर इस तामस शरीर से उसका विच्छेद कर दिया जाय?

जामवंत—यह एक अनोखा प्रस्ताव है। क्या बालि इसे पसंद करेगा?

रामचंद्र—यदि तामस से अनुराग अवशेष हो गया है। और फिर कुशल वैद्य रोगी से औषधि कब पूछता है?

सुग्रीव—पर हे द्रवणशील! मैं इस समय अपने कुटुंब का तहस-नहस नहीं कर सकता।

अंगद —साधु! साधु!

रामचंद्र—व्यक्तिवाद की संकरी कोठरी से तो आप निकल चुके हैं परन्तु कुटुंबवाद की अंधेरी कोठरी में बंद होने जा रहे हैं। स्वर्गीय-परिमल बिहारी भ्रमर पुरीष-कीट के भ्रमण-स्थान से तो मुक्त हुआ परन्तु लंबे-गंदे नाले में गिरने जा रहा है। व्यक्ति का कुटुंब के लिए, कुटुंब का देश के लिए. देश का मानवता के लिए और मानवता का

वसुधा के लिए, इतने उत्सर्ग तो दुनिया में हो चुके हैं। उदार चरितों का कुटुंब समस्त वसुधा है। अब यदि आप और हम चाहें तो भी उन्नति पीछे की ओर घूमना स्वीकार न करेगी।"

इस प्रकार राम-सुग्रीव मैत्री की नई व्याख्या हुई, अर्थात् यह कि वह व्यक्तिगत और कौटुंबिक स्वार्थ से ऊपर उठ कर देश के लिए की गई थी। यह मैत्री सांस्कृतिक एकता के लिए हुई थी। इसी प्रकार लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'नारद की वीणा' में हिरण्यकशिपु की मृत्यु की यह व्याख्या की है:—

"जो सनातन से चला आता है उसमें कुछ भी परिवर्तन राजर्षि के पिता नहीं चाहते थे......किन्तु परिवर्तन ही सनातन है। पश्चिम से श्वेत आक्रमणकारी नगरों को भस्म करते हुए उठे आ रहे थे........शरीर से नहीं तो कम से कम बुद्धि से तो उन्हें रोकना ही था, किन्तु वे इसके लिए तैयार न थे। राजर्षि (प्रह्लाद) ने जाति-रक्षा में ही धर्म-रक्षा, देख कर अपने पिता का षड्यंत्र से बध कराया। लोक-कल्याण में अपने पिता का भी मोह उन्होंने छोड़ दिया था। इसीलिए वे आज राजर्षि हैं।"

पहले धार्मिक और पौराणिक नाटकों में आजकल की दशा से संबंध रखने वाले जो दो-एक वाक्य दे दिए जाते थे, उसी का यह एक बढ़ा हुआ कदम है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक एवं उच्चकोटि के नवीन सिद्धांतों के आधार पर प्राचीन कार्यों की यथासंभव व्याख्या इन नाटकों की विशेषता है।

सांस्कृतिक चेतना के प्रभाव-रूप में

इस प्रवृत्ति का एक कारण और भी जान पड़ता है। उस समय तक देश कई अँगड़ाइयां ले चुका था। सुधार-आंदोलनों और राजनीतिक आंदोलनों ने मृतप्राय जनता को चेतना दे दी थी। वह, जो पहले यह समझती थी कि 'मेम साहब', 'लाट साहब' और 'बिलायत' अलौकिक देन हैं और वे बाबू लोग जो इनकी श्रेष्ठता को अपने जीवन में उसी प्रकार घुला लेना चाहते थे जिस प्रकार कोई भक्त हनुमान जी का प्रसाद पाए, अब यह सोचने लगी कि हमारा धर्म और समारी संस्कृति इनसे खराब नहीं। वर्तमान निश्चय ही निराशाप्रद था और भविष्य था अनंत के गर्भ में। अतएव इन नवीनतम सिद्धांतों के ऊपर अपने प्राचीन कृतियों की व्याख्या करके उनकी श्रेष्ठता देखी और दिखाई गई।

नवीन परिस्थितियों की शक्ति का प्रभाव

यों भी कहा जा सकता है कि आधुनिक समाज और उसकी दशा, आधुनिक काल के सिद्धांत एवं आधुनिक विचारधाराएं इतनी महत्त्वपूर्ण होती जा रही थीं, और अब भी होती जा रही हैं, कि यदि प्राचीन साहित्य और प्राचीन धर्म को जीवित रहना है और अपना महत्त्व बनाए रखना है तो उन्हें इन नवीन कसौटियों पर खरा उतरना पड़ेगा। ये नाटककार इस बात को सत्य करके दिखाना चाहते थे कि हमारे प्राचीन विचार और कृत्य वैज्ञानिकता से शून्य नहीं थे।

अतीत की महानता की इसी चाह ने हमारे यहां के नाटककारों को भारत के प्राचीन इतिहास की ओर प्रेरित किया। वर्तमान की निकृष्टता को झाड़ कर खड़े हो जाओ, इसलिए कि तुम उन्हीं की सन्तान हो। जिन्होंने एक दिन.............और बस भारतीय संस्कृति और इतिहास के जाज्वल्यमान पृष्ठों को उलट-उलट कर नाटकों के रूप में हमारे सामने रक्खा जाने लगा। इस कार्य का सशक्त श्रीगणेश जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों से हुआ। 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' (१९२८ ई०) 'चंद्रगुप्त मौर्य' (१९३१ ई०) 'ध्रुवस्वामिनी' (१९३४ ई०) आदि नाटकों को देखने से यह पता चलता है कि 'प्रसाद' के अंदर आकर इस चेतना ने पूर्णरूप से सांस्कृतिक रूप अख्तियार कर लिया था। वह राजनीति के क्षेत्र तक ही सीमित न रह सकी। राष्ट्रीयता न रही हो, ऐसी बात नहीं। स्कंदगुप्त, पर्णदत्त, अलका, चाणक्य आदि सभी महत्त्वपूर्ण पात्रों के कार्य इसी चेतना से सम्पादित होते हैं कि भारत एक राष्ट्र है और महान राष्ट्र है। उसकी एकता अक्षुण्ण रहनी चाहिए। विदेशियों के हाथ अपनी देशभक्ति बेच देना, चाहे वह किसी भी कीमत पर क्यों न हो, नीचता की पराकाष्ठा है, आदि। किन्तु 'प्रसाद' को इतने से ही संतोष न था। वे इस राष्ट्रीयता की जड़ें गहरी करना चाहते थे। अतएव उनके पात्रों के प्राण भारतीय संस्कृति में रम जाते थे। उनके चाणक्य और दांड्यायन, उनकी देवकी और कमला, उनके चंद्रगुप्त और स्कंदगुप्त मिल कर जिस महान भारतीय संस्कृति की एक झलक दिखाते हैं वही प्रसाद का लक्ष्य है। इस झलक के ऊपर कई पर्दे हैं, जैसे काव्य-कल्पना का, रंगीनियों का, दार्शनिकता का, आदि। प्राचीनता आज के युग में वैसी ही तो नहीं आएगी जैसी आज से कई वर्ष पहले थी। उसका रूप कुछ बदलेगा ही। 'प्रसाद' ने उसे उपर्युक्त तत्त्वों का कपड़ा पहनाकर हमारे सामने उपस्थित किया है। प्राचीनता के इस स्वरूप की पकड़ के लिए प्रसाद की कल्पना को जो उड़ान भरनी पड़ी उसकी तो बात ही और है, उन्हें गहन परिश्रम भी करना पड़ा था। उनके नाटकों की भूमिकाएं इसके प्रमाण हैं कि उन्होंने प्राचीन साहित्य का अध्ययन किया था। पुरातत्त्व विभाग से भी उन्होंने पर्याप्त सहायता ली थी

इतिहास की सामग्री

इस प्रयास में 'प्रसाद' आज की समस्याओं और परिस्थितियों को इस ढंग से रखते थे कि वे ऊपर से लादी गई न लगें। वे उसी के अविच्छेद्य अंग लगें, इसका 'प्रसाद' यथासंभव ध्यान रखते थे। 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' में बौद्ध और ब्राह्मणों का कलह, पर्णदत्त के द्वारा वर्णित पराधीन समाज के नवयुवकों आदि की मनोवृत्ति, ध्रुवस्वामिनी के पत्नीत्व का विद्रोह आदि ऐसी समस्याएं हैं जो आज की लगती हैं। किन्तु उन नाटकों में वे उस युग की न लगें, इसका कोई कारण नहीं है।

प्राचीन इतिहास और नवीन सामग्री का घुलमिल जाना

साथ ही कुछ ऐसे नाटक भी लिखे गए, जो उस समय की हमारी राजनीतिक महानता को प्रकट करते हैं। ऐसे नाटकों के वातावरण के रंग में सांस्कृतिकता की चमक उतनी नहीं, जितनी राजनीतिज्ञता के रंग की चटक या गहराई। भारत राष्ट्र की महानता को दिखाना इन नाटकों का भी उद्देश्य है किन्तु उन नाटकों में देशपूजा की भावना ही प्रमुख रहती है। वे नाटक भारतीय इतिहास के उसी युग से लिए गए हैं जिसमें से 'प्रसाद' के, अर्थात् मौर्य युग, गुप्त काल, हर्ष काल, राणा प्रताप और शिवाजी का युग। अधिकतर नाटक प्राचीन युग के ही हैं। राजनीति और इतिहास की दृष्टि से सिकंदर का आक्रमण भारतीय राष्ट्र पर विदेशियों की प्रथम गृद्धदृष्टि है जिसको चाणक्य की देख-रेख में बाण की जहर-भरी नोक बन कर सबसे पहले चंद्रगुप्त ने फोड़ा था। विदेशी आक्रमणकारियों पर यह भारत की पहली विजय थी और यह नाटकों का प्रिय विषय बनी। इसकी चरम सीमा गोविन्ददास के 'शशिगुप्त (१९४२ ई०) में मिलती है जिसमें नाटककार ने सिकंदर की भारत में करारी हार दिखाई है। सिल्यूकस की पराजय तो सभी मानते हैं, यहां सिकंदर की भी हार है। पर्वतक के साथ युद्ध करते हुए उसकी सेना हारने ही जा रही थी कि उसने आंभीक को संधि के प्रस्ताव के साथ युद्ध भूमि में ही पर्वतक के पास भेजा और संभव था कि आंभीक पर्वतक की क्रोधाग्नि में भस्म हो जाता, परन्तु तभी स्वयं जा कर पर्वतक के वार को रोका। संधि के लिए अपना हाथ बढ़ाया और आंभीक को पर्वतक के पैरों पर गिराया। गोया यह संधि की घूस है। फिर जब पस्त और परास्त सी उसकी सेना सिन्ध के रास्ते लौटी तो मल्लों के साथ ऐसा भयानक युद्ध हुआ कि सिकन्दर के वक्षस्थल में जो घाव लगा वह मृत्यु पर्यन्त न भरा। सिकंदर को इस नाटक में एक महत्त्वाकांक्षी आततायी, बर्बर और कूटनीतिज्ञ दिखाया गया है। ध्यान यह रखना चाहिए कि यह कोरी कल्पना नहीं है। अमरावती (बरार) के किंग एडवर्ड कालेज के प्रोफेसर हरिश्चंद्र सेठ ने उस नाटक की भूमिका में और अपनी खोजपूर्ण पुस्तक 'चंद्रगुप्त मौर्य और एलेक्जेंडर की भारत में पराजय' ('राज पब्लिशिंग हाउस, बुलंदशहर') में इस तथ्य को प्रमाणों और तर्कों द्वारा सिद्ध कर दिया है। हम कहना यह चाहते हैं कि अब हिन्दी के ऐतिहासिक नाटक उस अवस्था में आ जाने वाले हैं जब उनकी एक-एक घटना ऐतिहासिक खोजों और विवरणों के आधार पर होगी। अभी तक अधिकांश रचनाएं इतिहास की पुस्तकों में दिए गए सामान्य विवरणों और सुनी-सुनाई बातों एवं कथाओं और दन्तकथाओं के आधार पर होती थीं। विशुद्ध ऐतिहासिक तथ्यों को कल्पना के उचित सामंजस्य के साथ नाटकों में लाने का युग अब आ रहा है। आज तो हम यही मानते हैं कि हमारे अधिकांश ऐतिहासिक नाटक भी प्राय ललित कल्पना की ही सृष्टि हैं।

राजनैतिक श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने वाली सामग्री

हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों का एक वर्ग और है। इस वर्ग के मूल में राष्ट्रीयता या देशभक्ति रहती है। ये नाटककार देश की वर्तमान अवस्था से क्षुब्ध हैं। समस्याएं उनके हृदय को कचोटती हैं। वे तिलमिला उठते हैं। सोचते हैं, क्या ऐसी अवस्था देश में और कभी भी रही। पीछे आंखें फेरते हैं और भारत का मध्ययुगीन इतिहास उन्हें आकृष्ट करता है। वहां भी उन्हें लगभग ऐसी ही समस्याएं दिखाई देती हैं। जैसे आज गांधी और नेहरू देश की स्वाधीनता के लिए कष्ट सह रहे हैं वैसे ही प्रताप और शिवा ने भी उस युग में सहे थे। जिस प्रकार आज व्यक्तिगत स्वार्थ और आपस की फूट हमें अशक्त बना रही है, उसी प्रकार उस युग में भी बना रही थी। हिन्दू-मुसलिम समस्या जैसी आज है वैसी ही उस युग में भी थी। इस प्रकार समस्याओं में समानता देखकर वे उसी युग की घटनाओं को उठा कर नाटक लिख डालते हैं। शायद इन उदाहरणों को पाकर जनता सँभल जाय। तब भूल हुई थी, तो आज तक भुगतना पड़ रहा है; अब तो वे ही भूलें न हों। अवसर मिलने पर वे उन्हीं पात्रों द्वारा अपने मन के उद्‌गार निकालते हैं। ऊंची-ऊंची कल्पनाएं, महान आदर्श और चरित्र को ऊंचे उठाने वाली बातें इसमें भरी रहती हैं। हरिकृष्ण 'प्रेमी' के 'स्वप्नभंग' (१९४० ई०) के कुछ वाक्य देखिए :—

देशभक्ति

"जहाँनारा—रोशन, तुमने एक अबोध लड़की का दिल तोड़ दिया।
रोशन—दिल तोड़ दिया। यह दुनियां 'दिलों' को इतनी परवा नहीं करती। इस मालिन की लड़की ने भी तो एक दिल को खुश करने के लिए कितने फूलों के कलेजे में सुई छेदी है।"

'स्वप्न भंग' से कुछ उदाहरण

"दारा—तुम सच कहते हो बाबा। आज सामाजिक व्यवस्था बड़ी त्रुटिपूर्ण हो गई है। मनुष्य मनुष्य के बीच भेद-भाव की दीवारें खड़ी हो गई हैं। हम एक दूसरे के दुख में भाग लेने के मानव धर्म को भूल गए हैं। स्नेह और सहानुभूति के उच्चतम मानवीय गुण आज मूर्खता के लक्षण समझे जाते हैं। जिनके पास शक्ति और धन है उनके हृदय से मानों मनुष्यता नष्ट हो गई है। वे अपनी वासना के बंदी बन गए हैं।"

"दारा—व्यक्तियों के दुख दूर करने से क्या होगा। घुन तो सम्पूर्ण समाज के मूल सिद्धांतों में लगा हुआ है। धन और शक्ति प्राप्त करने की लालसा ने संसार को नरक बना दिया है। ईर्ष्या, द्वेष हिंसा और प्रतिहिंसा प्रत्येक हृदय में घर कर चुके हैं। यह सब कैसे दूर होगा ....मुझे समाज की व्यवस्था बदलने के लिए शक्ति चाहिए।"

'रोशन—हमारे मर्दों ने स्त्रियों को परदे में बंद कर के उन्हें दुर्बल बना दिया है। हमारे समाज में स्त्रियों को सिर्फ मनोरंजन का सामान-एक खिलौना समझा जाता है। हमारा समाज अपने इस अंग को बेकार कर बैठा है।"

"दारा—हम जो मुसलमान कहलाते हैं, आदिम आर्यों के वंशज हैं। जब इस्लाम का

प्रादुर्भाव नहीं हुआ था तभी हिन्दुस्तान के सूर्यवंशी और चंद्रवंशी राजाओं ने अफगानिस्तान, ईरान, अरब और तुर्किस्तान में अपनी राज्यसत्ता स्थापित की थी, अपने धर्म का प्रसार किया था। मुसलमान तो उन्हीं जातियों की संतान हैं। आज धर्म के परिवर्तन से वह रक्त का संबंध तो नहीं भुलाया जा सकता। भारतवर्ष सदा से अपना था और सदा अपना रहेगा। हम पहले भारतवर्ष के हैं, पीछे अरब और तुर्किस्तान के। हम इसे पराया कैसे समझें?"

रामकुमार वर्मा के सुप्रसिद्ध एकांकी नाटक 'शिवाजी' में शिवाजी की नैतिकता का जो विराट स्वरूप प्रदर्शित किया गया है उसके सामने प्रत्येक सहृदय पाठक या दर्शक धड़कते हुए दिल से श्रद्धावनत हुए बिना नहीं रह सकता।

अन्य नाटक

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'जय पराजय' (१९३७ ई०)' गौरी शंकर 'सत्येन्द्र' का 'मुक्तियज्ञ' (१९३८ ई०), मिश्रबंधु का 'शिवाजी' (१९३८-ई०), उदय शंकर भट्ट का 'दाहर' (१९३४ ई०), गोविन्दवल्लभ पंत का 'राजमुकुट (१९३५ ई०), आदि अनेक ऐतिहासिक नाटक ऐसे ही उद्देश्य को लेकर लिखे गए हैं। हिन्दी में इस प्रकार के ऐतिहासिक नाटक बहुत हैं। इनमें खोज और परिश्रम कम, कल्पना और भावना अधिक चाहिए न!

आज की समस्या

इसी समय लेखकों के एक वर्ग ने खुले आम घोषणा कर दी कि हमें इससे संतोष नहीं। इतिहास की गोद में मुंह छिपाने से कोई काम न चलेगा। हमारी आजकी सामाजिक समस्याएं क्या कम हैं जो हम अपने नाटकों के लिए इतिहास की शरण लें! यह तो पलायन की मनोवृत्ति हुई। यदि कहिए कि उन नाटकों में भी तो आज की समस्याएं प्रतिबिम्बित हैं, तो प्रतिबिम्ब की क्या आवश्यकता? साफ-साफ और साहस के साथ उन समस्याओं को सामने रखिए। लुका-छिपी और पर्दे-घूंघट की क्या आवश्यकता? अतएव नाटकों में आज की समस्या उठाई गई।

व्यक्ति की समस्याएँ

आज की समस्या एक नहीं है। व्यक्ति और समाज की गति इतनी वक्र हो गई है कि उनके संघर्षों ने आज की समस्या को अनेक रूप दे दिया है। आज की समस्या का सर्वप्रथम और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण संबंध व्यक्ति से है। व्यक्ति की समस्याओं को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है:—

१. रोटी-कपड़ा
२. प्यार,
३. महत्त्वाकांक्षाएं,
४. विश्वास, और
५. व्यक्ति के अपने-अपने स्वभाव की विशिष्टताएं।

व्यक्ति की इन समस्यायों में से पहले का संबंध कुछ दिन पहले तक केवल

व्यक्ति से ही था। आज वह व्यक्तिवाद के घेरे से निकल कर सामूहिक समस्या का रूप धारण कर रहा है। प्यार की समस्या अकेले व्यक्ति की समस्या नहीं है। प्यार करने के लिए कोई चाहिए और यह 'कोई' निन्नयानवे प्रतिशत दूसरे सेक्स का होता है। यह प्रवृत्ति अब भी विषम नहीं है। विषम तब हो जाती है जब दो के बीच में तीसरा आ जाता है। यह तीसरा क्या है? व्यक्ति? हां, व्यक्ति भी हो सकता है। किन्तु नवीनतम नाटकों में यह प्राय: व्यक्ति नहीं होता। यह होता है व्यक्ति की अपनी महत्वाकांक्षाएं और उसके अपने विश्वास। व्यक्तियों के विश्वास और उनके स्वभाव की विशिष्टताएं भी विषमताओं की सृष्टि करती हैं। ये विषमताएं जहरीली और कभी-कभी न सुलझ सकने वाली गुत्थियों का रूप तब धारण कर लेती हैं, जब समाज की मान्यताओं से उनकी टक्करें होती हैं। समाज की रूढ़ियां कुछ कहती हैं, और व्यक्ति कुछ सोचता है। शक्तिशाली समाज व्यक्ति को या तो दबा देता है या उसके लिए किसी ऐसे घोर दुखमय स्थिति की सृष्टि कर देता है जिसमें व्यक्ति या तो मरे या जीवन भर कलपे। इन परिस्थितियों के अनेक रूपों पर हिन्दी में नाटकों की सृष्टि हुई है। यह प्यार वाली बात प्राय: सभी नाटकों में किसी न किसी रूप से आ जाती है। इस प्रश्न पर स्वतंत्र रूप से भी नाटक लिखे गए हैं और इस प्रश्न को किसी अन्य प्रश्न का अंग मान कर भी, लक्ष्मीनारायण मिश्र के अधिकांश नाटक इसी सेक्स या प्यार की समस्या पर आधारित हैं। गणेशप्रसाद द्विवेदी के 'सोहाग बिन्दी' (१९३५ ई०) के और भुवनेश्वर प्रसाद के 'कारवां' (१९३५ ई०) के प्राय: सभी नाटक इसी समस्या पर लिखे गए हैं। इन नाटकों में यह समस्या मनोवैज्ञानिक गुत्थियों के बीच में आ कर बड़ी ही रहस्यमयी हो गई है—इतनी रहस्यमयी कि किसी विशेष वर्ग की ही हो कर रह गई है। उसमें हमारे समाज का अधिकांशत: प्राप्त रूप नहीं है। अस्वस्थ मनोवृत्ति के कुछ भावुक लोगों की बात दूसरी है।

व्यक्ति की समस्या

व्यक्तिगत रुचियों और विशिष्टताओं के कारण व्यक्ति के जीवन में कभी-कभी जो विषमताएं आ जाती हैं वे प्राय: जल्दी ही दूर भी हो जाती हैं। भावावेग में, बातों बातों में, किसी भूल के कारण, किसी गलतफहमी के कारण ऐसी बातें कभी-कभी हो जाया करती हैं। इन सब का आधार मनुष्य का स्वाभाविक मनोविज्ञान है। रामकुमार वर्मा के नाटकों में इसका बड़ा ही मनोहर रूप मिलता है। 'फ़ेल्ट हैट', 'आंखों का आकाश', 'छोटी-सी बात' (१९४७ ई०) आदि अनेक नाटक इन्हीं के आधार पर लिखे गए हैं। इन नाटकों के संघर्ष जान पर नहीं आ बीतते। कुछ वैसे ही होते हैं, जैसे बच्चों के झगड़े और मेल।

व्यक्तिगत रुचियों और विशिष्टताएं: हल्का रूप

गोविन्ददास के 'गरीबी या अमीरी' में यही समस्या कुछ व्यापक रूप धारण

करके आई है । विद्याभूषण गरीब गांधीवादी और महत्वाकांक्षी व्यक्ति है। वह गरीबों के रक्त से चूसे गए धन की उत्तराधिकारिणी अचला को प्यार करता है, किन्तु उससे विवाह तभी कर सकता है जब वह धन और उस धन के अधिपति यानी अपने पिता को छोड़ दे । अकेली लड़की प्रेमी के प्यार का ख्याल करे या वृद्ध पिता का, जो उस पर जान देते हैं ? इधर विद्याभूषण एक ही जन्म पर विश्वास करता है । इस प्रकार इस नाटक में यह प्यार की समस्या धन और आदर्शों की समस्या की तह में आई है । उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के 'लक्ष्मी का स्वागत' (१९३८ ई०) में विश्वासों और मान्यताओं की टक्करें हैं। रौशन की पत्नी मर गई है । उसका बच्चा बीमार है । मां-बाप चाहते हैं कि उसकी दूसरी शादी हो जाय क्योंकि "दुनिया जहान का यह नियम है । गिरे हुए मकान की नींव पर ही दूसरा मकान खड़ा हो सकता है । रामप्रताप ही को देख लो, अभी दाह-कर्म-संस्कार के बाद नहाकर साफा भी न निचोड़ा था कि नकोदर वालों ने शगुन दे दिया । एक महीने के बाद ब्याह भी हो गया और अब तो सुनते हैं बच्चा भी होने वाला है"— (रौशन की मां) । इधर रौशन कहता है—"दुनियां का व्यवहार इतना निठुर, इतना निर्मम, इतना क्रूर! नहीं जानता कि जो मर जाती है वह भी किसी की लड़की होती है, किसी के लाड प्यार में पली होती है, फिर...........।" अन्त यह होता है कि इधर रोशन के पिता रोशन के लिए शगुन ले लेने पर रोशन की मां को बधाई देते हैं और उधर रोशन अपने मृत बच्चे का शव ले कर निकलता है । उन्ही के 'देवताओं की छाया' (१९४० ई०) में प्यार और रोटी-कपड़े की समस्या मिल कर आई है । भरी अपने पति के विषय में अपनी सहेली मरजाना से कहती है :—

"यही तो दुख है, जाऊं कहां? वहां तो खाने को सूखी रोटी भी नहीं । कल जब टकुआ लेकर चढ आया तो मैंने कहा—मुझे ले जाना चाहता है तो चार पैसे तो कमा कर ला । सिर्फ मारेगा ही या खाने को भी देगा ? कहने लगा—कोशिश तो करता हूं। कुछ न बने तो क्या करूँ ? मैंने कहा—तो फिर मुझे ले जा कर क्या करेगा ? सारी दुनिया मजूरी करती है, क्यों तू नहीं करता ! पेट तो खाने को मांगेगा । मार से वह न भरेगा । सच कहती हूं मरजाना, इस पर वह बोला नहीं, चुपचाप चला गया। असल में आठ जमातें पढ़ कर टोकरी ढोते उसे शर्म आती है । बाप मर गया और सिखाया किसी ने कुछ है नहीं ।"

और उसका यही पति—सादिक—मजदूरी करने जो गया तो फिर न लौटा। लिंटल की छत बन रही थी । वहीं काम करने गया था । छत गिर पड़ी और वह उसी के नीचे दब गया । भरी यह सुनते ही बेहोश हो कर गिर पड़ती है। इस प्रकार हिन्दी के इन नाटकों में व्यक्ति की समस्या इन रूपों में आई है । मनुष्य की अपनी आवश्यकताएं प्रधानतया दो ही होती हैं। पहली है भोजन और वस्त्र की; और दूसरी, नारी पुरुष के आकर्षण और उनके परस्पर व्यवहार की। दोनों अनेक

रूप धारणकर के हमारे नाटकों में प्रदर्शित हुई हैं। भोजन और वस्त्र थोड़ा-बहुत मिलता जाय तो कुछ भावुक लोगों में दूसरी समस्या इतनी प्रबल हो जाती है कि उनके जीवन की सारी गतिविधि को प्रभावित करने लगती है। हिन्दी नाटकों ने यह बात बिल्कुल स्पष्ट कर दी है।

किन्तु उन्नतिशील समाज में इन दोनों प्रकार की बुभुक्षा के अतिरिक्त एक तीसरी भूख भी होती है। वह है बुद्धि की भुख। आज के मानव समाज में व्यक्ति के स्थान का महत्त्व धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। इसका स्थान ले रहा है समाज। यदि समाज के अधिकांश व्यक्ति दुखी हैं तो एक-दो का—राजा आदि का भी—सुख बेकार है। धन और प्रभुत्व के असमान वितरण ने समाज में अनेक समस्याएं पैदा कर दी हैं। सब के सुख की इच्छा, देश की स्वाधीनता और उत्थान, यश, सम्मान और पद की आदि बुद्धि की भूखें हैं। इनकी और इन्हीं की तरह की अन्य वस्तुओं की प्राप्ति और उनकी प्राप्ति में होने वाले संघर्ष नाटकों के एक अन्य विषय हैं। इनका संबंध अधिकतर समाज से है। ये सामाजिक समस्याएं हैं। इन समस्याओं को हम दो भागों में बँटा पाते हैं:—

सामाजिक समस्याएं

१. राजनीति से संबंध रखने वाली, और
२. समाज से संबंध रखने वाली

पराधीनता की बेड़ी में जकड़े हुए भारत ने स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए जो प्रयत्न किए हैं, वे किसी भी उच्चकोटि के नाटक के विषय हो सकते हैं। किन्तु हिन्दी में उन पर कम नाटक लिखे गए हैं। रामकुमार वर्मा के 'पुरस्कार' (१९४७ ई०) में प्रकाश के रूप में एक क्रांतिकारी के जीवन का हलका-सा चित्र दिया गया है, किन्तु इस चित्र में भी प्रेम की रेखाएं इतनी गहरी हो गई हैं कि क्रांति फीकी-सी है। एक राष्ट्रीय आंदोलन में कंधे पर खद्दर रख कर बेचने की पुनीत एवं महान राष्ट्रीय भावना रखने वाला नवयुवक आज प्रौढ़ कलाकार के रूप में आ जाने पर अपनी उस दिव्यता को क्या भूल गया है? 'रेशमी टाई' (१९४१ ई०) में एक राष्ट्रीय स्वयंसेविका खद्दर बेचती हुई दिखाई भी पड़ती है तो वह महत्त्वपूर्ण नहीं। सेठ गोविन्ददास ने राष्ट्रीय आन्दोलन के कुछ चित्र अवश्य दिए हैं। उनका सब से सफल प्रयास 'पाकिस्तान' (१९४६ ई०) है। इसमें राजनैतिक पृष्ठभूमि काफी सबल और चित्रमय है। चित्रों के रंग भी वास्तविकता को लिए हैं। फिर भी वही शिकायत है। राष्ट्रीय-आन्दोलनों से निकल कर मिनिस्टर बनने वाले लोग उस समय भी हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की रीढ़ न थे। उनके जीवन का चित्रण राष्ट्र की क्रांति का नहीं क्रान्ति के ऊपर दिखाई पड़ने वाली कान्ति का चित्रण है। मैं वह चित्रण देखना चाहता हूं जो प्रेमचंद के कुछ उपन्यासों में है! राष्ट्र की क्रांति सी क्लास के कैदियों और हजारीबाग की

राजनैतिक सामग्री का उपयोग

लौहकारा की जालिम भित्तियों को फांद सकने की क्षमता रखने वालों के जीवन में मिलेगी। गोविन्ददास के 'प्रकाश' (१९३५ ई०) में उस युग की उच्चवर्ग की मनोवृत्ति और आदर्शवादी युवक की भावनाओं का सुन्दर चित्रण है। वृन्दावन लाल वर्मा का 'धीरे-धीरे' (१९३९ ई०) भी ऐसा ही राजनैतिक व्यंग्य है।

हिन्दी के अधिकांश नाटकों की सामग्री उन समस्याओं से ली गई है जिसे हम सामान्यतः सामाजिक कहते हैं। विवाह भी एक सामाजिक विषय है। यदि कोई उग्र सुधारवादी नवयुवक अपने परिवार और समाज से विद्रोह करके किसी मुसलमान लकड़ी से शादी कर लेता है तो उसकी कठिनाइयों और उसके संघर्षों का चित्रण सामाजिक चित्रों में ही आएगा। इस प्रकार रामकुमार वर्मा के 'रजनी की रात' में रजनी और आनन्द का प्रेम और भावी परिणय एक सामाजिक विषय है।

सामाजिक सामग्री का प्रयोग

हिन्दी के नाटकों में ऐसे चित्रों की कमी नहीं है। हरिजनों की समस्या, विधवा-विवाह की समस्या, स्त्री-शिक्षा, शिक्षित लड़की और वैवाहिक जीवन, पुरुष और नारी के समान अधिकार की समस्या, धनी और निर्धन की समस्या, समाज की रूढ़ियों और परम्पराओं में आवश्यकतानुसार सुधार की समस्या, धर्म की रूढ़ियों और समाज की नवीन आवश्यकताओं की समस्या, हिन्दू-मुसलमान की समस्या, रिश्वत की समस्या, आदि सैकड़ों समस्याएं हैं जिन पर हिन्दी में नाटक लिखे गए हैं।

युद्ध के समय में इन समस्याओं में थोड़ी-बहुत वृद्धि और हो जाती है। नवीन परिस्थितियों, जैसे द्वितीय महायुद्ध, भारत की स्वतन्त्रता आदि ने भी इन समस्याओं में वृद्धि की है। हिन्दी के नाटककारों ने इधर भी अपनी दृष्टि घुमाई है। कहीं-कहीं उनकी पकड़ काफी मजबूत रही और कहीं-कहीं हलकी। किसी नाटक में एक ही समस्या उठाई गई है और किसी में एक से अधिक।

यौन चेतना जरा कम हो तो इन समस्याओं पर बड़े ही जोरदार व्यंग्य लिखे जा सकते हैं। आवश्यकता है कि हमारे नए लेखक सस्ते रोमांस, हलकी रंगीनियों, छिछली भावुकता, और उत्तरदायित्वहीन प्रेम पर नाटक क्या, कुछ भी न लिखें। हिन्दी में ऐसा प्रारंभ हो गया है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'स्वर्ग की झलक' (१९३८ ई०) ऐसा ही एक सुन्दर नाटक है। गोविन्द वल्लभ पंत का 'अंगूर की बेटी' शराबियों की समस्या लेकर चला है। उदय-शंकर भट्ट का 'दस हजार' ('सरस एकांकी नाटक' संग्रह से) में धन के लोभी की मनोवृत्ति दिखाई गई है। आनन्दि प्रसाद श्रीवास्तव का 'अछूत' (१९३० ई०) तो गोया अछूत राज्य ही स्थापित करके रहेगा। 'अश्क' के 'देवताओं की छाया' (१९४० ई०) के विभिन्न एकांकी समाज की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों पर लिखे गए हैं। रामनरेश त्रिपाठी का 'जयंत' (१९३४ ई०) और

'बफाती चाचा' (१९३९ ई०) क्रमशः गरीबी-अमीरी और हिन्दू-मुसलमानों की समस्या पर लिखे गए हैं। इसी प्रकार सेठ गोविन्ददास का 'विकास' (१९४१ ई०) गांधी जी की अहिंसा और विश्वप्रेम पर लिखा गया है जिसमें समाज की गति को जाति से देश, और देश से विश्व की ओर बढ़ते हुए दिखाया गया है। इस प्रकार सामाजिक अवस्था का आधार लेकर अनेक नाटक लिखे गए हैं।

विशेष

(अ) हास्य और व्यंग्य

हास्य नाटकों के लिये बहुत आवश्यक तत्त्व है। इसमें नाटकों का गंभीर वातावरण और उसके कारण मस्तिष्क पर छा जाने वाला बोझ कुछ हल्का हो जाता है। नाटकों में हास्य के दो वर्ग हैं। तात्पर्य यह है कि नाटक और हास्य का संबंध दो तरह से हो सकता है। पहला तो यह कि पूरे का पूरा नाटक ही हास्य प्रधान हो अर्थात् हास्य पैदा करने वाले तत्त्वों से भरा हो, और दूसरा यह कि किसी तरह का भी नाटक हो किन्तु स्थान निकाल कर उसमें हास्य की आयोजना कर दी जाय।

हास्य

हास्य प्रधान नाटकों की दृष्टि से जब हिन्दी के इस आधुनिक नाट्य साहित्य को देखते हैं तो बड़ी निराशा होती है। समाचार-पत्र और पत्रिकाओं के होलिकांकों में या कभी-कभी वैसे ही हास्यरस के जो एकाध एकांकी दिखाई पड़ जाते हैं उनको या भूले-भटके लिख दिए गए कुछ ऐसे ही नाटकों को छोड़ कर हास्यरस के सुन्दर कलात्मक और महत्त्वपूर्ण साहित्यिक नाटकों का अभाव ही अभाव दिखाई पड़ता है। जी० पी० श्रीवास्तव या बद्रीनाथ भट्ट के जो नाटक इस अवधि में निकले भी उनमें कोई नई खूबी न मिली। वे उच्चकोटि का कलात्मक हास्य न दे सके। बीते युग की यादगार बन कर ही रह गए। उसके बाद हास्य रस के नाटकों का कोई महान लेखक न दिखाई पड़ा।

पुरानी परंपरा में

नए लेखकों ने इस ओर भी लेखनी उठाई है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के 'जोंक' और 'आपस का समझौता' दो प्रहसन अच्छे हैं। इन प्रहसनों में हास्य उत्पन्न करने के वे ढंग नहीं अपनाए गए हैं जो जी० पी० श्रीवास्तव के थे; और न वैसा चवन्नी टाइप हास्य ही है। इसमें हास्योत्पादक परिस्थितियां उत्पन्न कर दी गई हैं। 'जोंक' नाटक में भोलानाथ और उनकी पत्नी कमला 'मान न मान मैं तेरा मेहमान' के चक्कर में पड़ जाते हैं। बनवारी लाल बड़ा चलता पुरजा आदमी है। भोलानाथ, उसकी पत्नी कमला और प्रोफेसर आनन्द, तीनों चाहते थे कि किसी उपाय से उसे जाने को विवश कर दें और वह है कि अपनी होशियारी से इन सबकी युक्तियों—बहानेबाजियों—को विफल कर देता है। इस दांव-पेंच में काफी हास्यमयी परिस्थितियां आती हैं; जैसे, भोलानाथ आनन्द को जब अपनी और बनवारी लाल की पहली मुलाकात की बातें सुनाने लगता है तो इतने विस्तार में जाने लगता है कि आनन्द ऊब जाते

हैं और बराबर उसकी बातें काट कर उसे मुख्य बात पर आने के लिए इशारा करते हैं। भोलानाथ, कमला और आनन्द को अपने ही घर में चोरों और बीमारों की तरह रहना पड़ता है। भोलानाथ बिचारे को मुफ्त में भूखा रहना पड़ता है। कमला पराए घर में जा बैठती है। आनन्द पड़ोसियों द्वारा अपमानित होता है और पंजाबी के थप्पड़ खाने पड़ते हैं। हिन्दुस्तानी, पंजाबी और मारवाड़ी बोलियां हँसी का अलग कारण बन जाती हैं।

इस प्रकार इस नाटक में परिस्थितियों के द्वारा हास्य उत्पन्न करने की जो चेष्टा की गई है उसका उचित आनन्द अभिनय के समय ही मिल सकता है। इन नाटकों

विशुद्ध हास्य का अभाव

में रेखाएं इतनी गहरी हो गई हैं कि उनसे हास्य के बजाय करुणा, क्षोभ या दया की भावना पैदा होती है। 'आपस का समझौता' के अंत में बेचारे परतूल की तकलीफ और उसकी प्रतिक्रिया में डाक्टर कपूर के द्वारा भेजे गए रोगी की होने वाली दुर्दशा को देखकर उसका सारा प्रभाव समाप्त हो जाता है। इस नाटक में हास्य कम व्यंग्य अधिक है। 'जोंक' के अंत में भी हास्य की प्रधानता नहीं है। इतना होने पर भी यह कलात्मक हास्य की ओर उठा हुआ सशक्त पद है।

रामकुमार वर्मा का 'रूप की बीमारी' (१९४० ई०) भी हास्यरस का एक एक अच्छा नाटक है। इसमें रूपचन्द्र एम० ए० का विद्यार्थी है और सोमेश्वरचन्द्र

'रूप की बीमारी' में हास्य

का लाडला बेटा। यह कुसुम से विवाह करना चाहता है और विवाह के पहले कुछ दिनों तक एक दूसरे को पहचानने के लिए अपनी बीमारी का बहाना करता है। अंत में डाक्टर कपूर और डाक्टर दास-गुप्त की सहायता से वह कुसुम को बीमारी में गाना सुनाने के लिए बुलवाने में सफल हो जाता है। सोमेश्वरचन्द्र की बदहवासी और बदहवासी में होने वाली झुंझलाहट की उलटी-सीधी बातें, डाक्टर दासगुप्त का हिन्दी शब्दों का उच्चारण; जैसे, 'तो तिन तारा का दारद होने शाकता' आदि, प्रेम के मरीज़ और डाक्टरों की बातें, आदि हास्य की परिस्थितियां उत्पन्न करती हैं। अंत में पहुंचते-पहुंचते तो हास्य की पूरी व्यवस्था हो जाती है। सोमेश्वरचन्द्र समझते हैं कि रूपचन्द्र वस्तुतः बीमार हैं; दोनों डाक्टर, रूप और दर्शक समझते हैं कि रूप बहाना बनाए हैं। उनकी प्रेमिका अब आएगी और सारी बीमारी दूर हो जाएगी। सोमेश्वरचन्द्र की प्रसन्नता दर्शकों, डाक्टरों और रूप को हँसी का कारण है।

"सो०—(संतोष से सांस लेकर) अब कहीं चैन मिला। अब मेरा रूप बहुत जल्दी अच्छा हो जायगा, क्यों डाक्टर?

क०—अभी कुछ दिन तो लगेंगे, फिर बिल्कुल अच्छे हो जायंगे। बहुत दिनों के लिए!

दा०—(प्रसन्नता से) हामरा डाक्टरी मामूली हाय?

सो०—नहीं डाक्टर साहब, आप लोगों ने ही तो रूप को अच्छे करने की तरकीब निकाली है।

क०—अब रूप की बीमारी अच्छी हो जायगी।

रूप०—जब आप लोगों ने मुझे अच्छे करने में इतनी कोशिश की है तो ऐसा लगता है कि मैं अभी से अच्छी होने लग गया हूँ।

सो०—(प्रसन्नता से झूमकर) क्या कहना है! क्या कहना है!!"

अनुमान यह कहता है कि अभिनय के अवसर पर इसका प्रत्येक वाक्य दर्शकों को हँसाता रहेगा।

सामान्यत: नाटकों के अंदर अवसर निकाल कर यह परिस्थिति पैदा करके हास्य-मयी सामग्री के समावेश करने का जहां तक संबंध है, हिन्दी के नाटकों में पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। हंसी-मज़ाक की ओर जरा-सी भी अभिरुचि होने पर लेखक अपने नाटकों में हास्यरस पूर्ण स्थलों की आयोजना कर देता है। कुछ ऐसे लेखक भी मिल जायंगे जो रस की विशुद्धता के, भावनाओं की एकरूपता के या बुद्धि के व्यापक प्रयोग के इतने कायल हैं कि हँसना-हँसाना चाहते ही नहीं। उनकी बात दूसरी है। सभी समस्याओं, सभी कार्यों और सभी बातों को बुद्धि को पैनी धार पर आँकने वाला हँसे भी तो कैसे? उसके लिए कुछ लापरवाही, कुछ सहनशक्ति और कुछ ज़िन्दादिली की आवश्यकता है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों के पढ़ते या देखते समय शायद ही कोई हँस पाए। मुंह बांधे बैठे रहिए, और नाटक की समाप्ति पर चिन्ताओं और समस्याओं का नया बोझा लेकर आ जाइए! सोने चलिए तो एक घंटा नींद भी न आए!

नाटकों के बीच-बीच में हास्य

हिन्दी नाटकों में हास्य का प्रयोग प्राय: निम्नलिखित रूपों में हुआ है:—

हास्य के प्रयोग के कुछ रूप

१. विचित्र वेशभूषा ओर अभिनय—इसके लिए कुछ संकेत कभी-कभी अवश्य दे दिए जाते हैं, अन्यथा यह अभिनय और रंगमंच की बात है।

२. कायरता के प्रदर्शन के समय कभी-कभी बहाने की ऐसी बातें कहना जो हँसा दे:—

"पूनमचन्द—उसके अधर मानों फड़क रहे थे। आंखों में क्रोध देखा? शेर है शेर! जरूर गरजेगा! ओफ ओ! जरा मुझे दिशा की हाजत हो रही है—हो आऊं! जय जिनेन्द्र! ...."

३. जब किसी महान समस्या या गंभीर चिन्तन की बात हो रही हो तब सामान्य बातें कहना:—

---

१. जनार्दन राय: 'आधी रात', (१९३८ ई०)

सब लोग परिस्थिति की विषमता प्रकट करने के लिए अनिष्टसूचक घटनाएं बतला रहे हैं। उसी समय कवि महेश कहता है :—"मैं भी आज सुन्दर कविता रच कर अपनी पत्नी को सुनाने रसोई घर में दौड़ गया। पर न जाने कैसे कागज उड़ कर चूल्हे में जा पड़ा और देखते-देखते सरस्वती की वाणी राख हो गई।"[१]

४. अवसर, अवस्था या स्थिति के प्रतिकूल मांग करना ; जैसे :—
गुरुदेव के स्वागत के लिए कोई संध्योपासन की सामग्री ठीक करता है, कोई जल-पात्र लेकर पुष्करिणी जाता है और मल्लिनाथ कहते हैं :—

"मेरे ललाट में तो गाय के लिए घास छीलना ही लिखा है; लाओ खुरपी और टोकरी।"[२]

या

दया सागर, जो अछत है किन्तु अब न्यायाधीश है, पंडित रामनारायण के लिए, जो अपने चोर लड़के के लिए सिफारिश करने आए हैं, मिठाई और कोई ताजी चीज मंगवाते हैं। अब पंडित जी की दशा देखिए :—

"[पंडित रामनारायण ठिठकते हैं, हिचकते हैं, चारों ओर देखते हैं। फिर कहते हैं]

पं० राम०—सरकार किसी को मालूम न हो।

दया०—पंडित जी मैं तो आप का आदर-सत्कार करना चाहता हूँ। मैं इस छोटी-सी बात को किसी से कहने क्यों चला ?

पं० राम०—[खाकर] अहा ! कैसा स्वादिष्ट पदार्थ है !"[३]

५. हास्योत्पादक नाम; जैसे-कोलाहल पंडित, आदि

६. तकिया कलाम के प्रयोग। यह तकिया कलाम वाक्य के बीच में आ कर कभी-कभी बड़ी ही हास्यपूर्ण परिस्थिति पैदा कर देता है।

७. भोजन भट्टता। यह प्राचीन शैली के नाटकों में बहुत था। इसका प्रभाव आज तक थोड़ा-बहुत चला आ रहा है।

८. हास्यास्पद गाने या अभिनय।

शत्रु चढ़ आए तो मल्लिनाथ कैसे लड़ेगा ! देखिए :—

"गोल गोल लड्डू के गोले भरि भरि थाल चलाऊं;
कीच मचाय मधुर रबड़ी की, अमृत बरी बरसाऊं।
चक्र चलाय जलेबी के तहं रिपु को नाच नचाऊं,
हलुआ हुमकि हुमकि कै मारूं ऐसो युद्ध मचाऊं।

---

१. जनार्दन राय : 'आधी रात'

२. 'प्रबुद्ध यामुन'

३. 'अछूत' (१९३० ई०)

या०—इतने पर भी शत्रु के पैर न उखड़े तो ?

मल्लि०—एक दूसरा उपाय है।

यामुन—सुनाओ।

मल्लि०—सुनो।

मूंछ मुड़ाय संवारि केस हँसि हँसि भौंहें मटकाऊं;
अंजन आँजि रंगीले नैननि मुख पै लट लटकाऊं।
पहिरि चूनरी अति चटकीली रुनकि-झुनकि बलि जाऊं,
दै गलबहियां पल में अपनो प्यारो शत्रु रिझाऊं।"[1]

इसे देख और सुन कर वाजिद अली शाह का ज़माना और 'मुए इधर न आना ज़नाना है' याद आ जाता है। 'प्रसाद' की 'ध्रुवस्वामिनी' के कुबड़ों और हिजड़ों का अभिनय और उनकी बातें प्रायः इसी ढंग की हैं।

असमय की उजड्डता और लड़ाई। ऐसी लड़ाइयों में लोग एक दूसरे की खामियों को ध्यान में रखते हुए उस पर खूब चोटें कसते हैं और ये चोटें भी कभी-कभी हँसी ला देती हैं। एक गवैए और एक मुसलमान की स्त्री में यों वाग्युद्ध होता है :—

"स्त्री (२)—(चमक कर) अरे वाह रे खून खराबे वाले ! अजी लाला, तुम्हारे घर में नचनिए और तबलिए होते हैं, खूनी नहीं।

स्त्री (१)—(बहुत चिढ़ कर) तबलिए, नचनिए ? और तेरे घर में भँडुए होते हैं—हरामी होते हैं—कमज़ात होते हैं !

गवैया—(उत्तेजित लेकिन ज़नानी अदा में) दुहाई सारदा की ! आज त्योहार के दिन जिसने मेरी बेटी के कपड़े खराब किए, मारते-मारते मैं उसके मुंह को तबला बना दूँगा।"[2]

१०. बुद्धि से पैदा किया हुआ हास्य। यह कई प्रकार का हो सकता है; जैसे, शब्दों को-तोड़ मरोड़ कर, या शब्दों का प्रयोक्ता के अर्थ से भिन्न अर्थ मानते हुए उत्तर दे कर, इत्यादि —

"रंग०—मल्लिनाथ, तुम पूरे असभ्य हो। बिना पूछे ही बीच मे बे सिर-पैर की बात कह बैठते हो।

मल्लि०—सभ्य शिरोमणे ! कहीं बात के भी सिर-पैर होते हैं ? वह कोई जीव-जन्तु तो है नहीं।

रंग०—कहा किसने था कि बीच में बोलो ? तुम्हारा मुंह बंद रहना ही अच्छा है।

मल्लि०—मेरा मुंह क्या कोठरी है जो उसे ताला लगा कर बंद कर दिया करूं ?........

---

१. 'प्रबुद्ध यामुन'

२. 'आवारा' (१९४२ ई०)

जना०—रंगनाथ, क्यों इस मूर्ख के मुंह लगते हो? थोड़ी देर में आप ही झख मार कर चुप हो जायगा।

मल्लि०—झख मारो तुम। क्या मैं धीवर हूँ?

जना०—देखो मल्लिनाथ, जब ब्रह्म तक निरुपाधि कहा गया है, तब तुम्हें क्या हुआ? उपाधि से सदा दूर ही रहना चाहिए।

मल्लि०—वेदान्त का सिद्धान्त न बघारो। ब्रह्म तो नपुंसक लिंग है। कहा, सो कहा; अब कभी ब्रह्म और मल्लिनाथ की तुलना न करना।"[1]

इसी प्रकार रूपनारायण पाण्डे के 'अशोक' में भी विदूषक ने कहीं-कहीं विद्वत्तापूर्ण हास्य का प्रयोग किया है। ध्यान यह रखना चाहिए कि इस प्रकार के हास्यरसपूर्ण स्थलों की अवतारणा प्राचीन शैली के नाटकों में अधिक होती थी। नवीन शैली के नाटकों में यह बहुत कम है।

११. तुतलाहट की बोली या प्रान्तीय बोलियों के प्रयोग से भी कभी-कभी हास्य के बड़े अच्छे-अच्छे अवसर निकल आते हैं। जी० पी० श्रीवास्तव इसका काफी उपयोग करते थे।

"लक्ष्मी—(मुंह सिकोड़ कर) केतना थूंकु उड़ावत हई? (मुंह पोछती हुई) फिर या पूजा-पाट केरि गठरी कतौं बांधकै धरि दे और तोहूँ किरिस्तान होइ जा।

भगवान दास—दरूरत होती तो यही तरता। पर इसती दरूरत त्या है? दामोदर और बहू सब तर ही लेते हैं।"[2]

ध्यान रहे कि यह एक धर्मप्राण व्यक्ति का कथन है। जब यह खयाल आता है कि भगवानदास एक पढ़ा-लिखा और उच्च वर्ग का व्यक्ति है तब हँसी की मात्रा और भी बढ़ जाती है। उनका लड़का दामोदर जिस प्रकार उन्हें दौड़ाता और परेशान करता है, उसे देखते हुए हँसी और करुणा, दोनों भावनाएँ पैदा होती हैं।

इन और इन्हीं की तरह अन्य अनेक उपायों द्वारा हिन्दी के नाटकों में हास्य का समावेश किया गया है। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि साहित्यिक प्रयोगों, स्वभाव की त्रुटियों, शरीर की बनावटों एवं उसके कारण वाणी आदि पर पड़ने वाले प्रभावों और सामाजिक कमियों आदि को लक्ष्य बना कर हास्य की अवतारणा की गई है।

हिन्दी के नाटकों में हास्य के अतिरिक्त अब व्यंग्य का भी प्रयोग होने लगा है।

व्यंग्य

प्राचीन शैली के नाटकों में इसका प्रायः अभाव था। यह आधुनिक कला है और इसका आधार है बुद्धि। समाज की प्रचलित त्रुटियों, सड़ी-गली रूढ़ियों या किसी व्यक्ति की अपनी खामियों पर इस ढंग से चोट

१. 'प्रबुद्ध यामुन'

२. सेठ गोविन्ददास :'प्रकाश'

करना कि ऊपर से देखने पर तो वह मामूली-सा लगे किन्तु ज्यों-ज्यों उस पर ध्यान अधिक जाय त्यों-त्यों वह मर्मस्पर्शी लगे, व्यंग्य है। उदयशंकर भट्ट के 'दो अतिथि' (१९४८ ई०) नामक एकांकी में यह व्यंग्य कई रूप धारण कर के आया है।

१. दो आर्यसमाजो प्रचारक हैं। आर्यसमाजी विचार के एक मामूली स्टेशन मास्टर के यहां ठहरते हैं। बात-बात में धर्म की दुहाई देते हैं किन्तु भोजन और भक्त की श्रद्धा की तारीफ करते चलते हैं।

२. भोजन के लिए पहले तो इनकार करते हैं किन्तु खाने का यह हाल कि पूरे दो आदमी का खाना चट कर गए। दो लोटे दूध चढ़ा गए, चीनी भी फांक गए और जो बचो, उसे झोले के हवाले भो कर दिया।

३. स्टेशन मास्टर है तो आर्य सभ्यता की दुहाई देने वाला, किन्तु घूस लेने और देने को बहुत बुरा नहीं समझता।

४. उपदेशक जो बे धुन खाना खाते चले जाते हैं। स्टेशन मास्टर साहब घूस-खोर इंस्पेक्टर की बात करते हुए आवेश में कह उठते हैं कि मैं कहता हूँ—खाओ और दूसरों को भी खाने दो। इस स्थान का व्यंग्य, जो दोनों ओर फिट बैठता है, बहुत ी मार्मिक है।

५. स्टेशन मास्टर को पत्नी 'भूकम्प' और 'टर्की' तक के माने नहीं जानती, किन्तु पतिदेव कहते हैं तो अखबार पढ़ती है। इसी प्रकार 'आर्यधर्म' 'वैदिक धर्म' और 'दयानन्द' से बिल्कुल अनभिज्ञ है किन्तु पतिदेव उन्हें मानते हैं, तो वह भी उनके प्रति श्रद्धावनत है।

और एक व्यंग्य का तो उल्लेख हो अच्छा होगा :—

६. "स्त्री—तुम्हें अब काम करने की क्या ज़रूरत है। रानी बनी बैठी रहो। मालिक सलामत रहें, स्टेशन मास्टर साहब! तुम्हें क्या कमी है। दूसरा ब्याह है। अब तो जल्दी से ....(मुसकराती है)

युवती—अभी क्या जल्दी है, गोमती। अभी मैं छोटी ही तो हूँ।

स्त्री—परमात्मा छोटी-बड़ी थोड़े ही देखता है। उसे तो जिसको भागवान बनाना होता है उसकी कोख भर देता है।"

यह विश्वास इतना सुन्दर है कि किसी भी स्थिति का आदमी क्यों न हो, जितना ही सोचेगा, उतना ही मीठा पाएगा। बुद्धिहीन सोचेगा, बाग-बाग हो जायगा; बुद्धि-वान सोचेगा, सिर धुनेगा। इसी प्रकार अन्य एक स्थान पर भट्ट जी ने दिखाया है कि एक बीमार भिन्न प्रकार की दवाइयों पर आस्था रखने वाले व्यक्तियों की ज़िद से इतना ऊब जाता है कि अपना पिंड छुड़ाने के लिए अच्छे होने का बहाना कर के टहलने भाग जाता है और प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि उसकी बताई हुई दवाई से लाभ हुआ है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'अधिकार का रक्षक' (१९३८ ई०) भी ऐसा ही सशक्त व्यंग्य है। श्री० सेठ औरतों, बच्चों, हटओ मजदूरों, हरिजनों, नौकरों

आदि सब के हिमायती बन कर वोट लेने की व्यवस्था करते हैं कि उनकी बीबी उनसे तंग आकर बच्चे को मारती है और मैके जाने की तैयारी किए है, उनके घर के नौकर तीन-तीन महीनों तक वेतन नहीं पाते, विद्यार्थियों को वे धोखा देते हैं, इत्यादि। बड़े-बड़े नाटकों के बीच में ऐसे व्यंग्यों के लिए कभी-कभी अवसर निकाल लिए जाते हैं। कहना केवल इतना है कि व्यंग्य लिखने की यह कला अभी पुष्ट एवं परिपक्व नहीं हुई है। शैशवावस्था में है।

(७) हिन्दी का रंगमंच

पिछले दो स्थानों पर हम रंगमंच के बारे में थोड़ा-बहुत लिखते हुए आए हैं। हमने कहा है कि जिस समय हिन्दी में नाटकों की रचना प्रारम्भ हुई, उस समय हिन्दी का कोई भी साहित्यिक या कलात्मक रंगमंच नहीं था। रामलीला या रासलीला तथा पारसी रंगमंच हमारे किसी काम के न थे। हिन्दी के नाटककार रंगमंच की उपेक्षा कर चले। परिणाम यह हुआ कि उनके नाटक भावना और कला की दृष्टि आगे बढ़ते गए किन्तु स्वाभाविकता और अभिनेयता उनसे छूटती गई। हमारे यहां उच्चकोटि के अनेक साहित्यिक नाटक हैं किन्तु यह एक सत्य है—और घोर सत्य है—कि आज भी जब उन्हें खेलना होता है तो थोड़ी-बहुत काट-छांट या जोड़-घटाव करना ही पड़ता है। उचित रंगमंच या दर्शक न होने की बात खोखली इसलिए लगती है कि आजकल इन साहित्यिक नाटकों का अभिनय जहां होता है वहां कालिजों और विश्वविद्यालयों का शिक्षित वर्ग रहता है। यदि ये रंगमंच और दर्शक भी उन नाटकों के योग्य नहीं, तो जाने किस कल्पना-लोक से उनकी व्यवस्था करनी पड़ेगी।

नाटक और रंगमंच से संबंध-विच्छेद

हिन्दी रंगमंच को सिनेमा से बड़ी ही करारी चोट मिली है। जितने थोड़े पैसों और थोड़े समय में अधिक से अधिक मनोरंजन एवं वस्तुओं का प्रदर्शन सिनेमा के परदे कर सकते हैं उतना रंगमंच के लिए कभी-भी संभव न था। सामान्य जनता उनकी ओर खिंच गई। तब साहित्य और कला को अपना ही एकाधिकार समझने वाले मुट्ठी भर कुछ लोगों के बूते की बात न रह गई कि वे रंगमंच को जीवित रख सकते या रख सकने का उद्योग कर सकते। परिणामतः साहित्यिक रंगमंच के पुनरुद्धार की सारी आशाएं कुछ दिनों के लिए मिट गईं। नाटक पुस्तकालयों में रखने, अवकाश-काल में पढ़ने एवं विद्यार्थियों को पढ़ाने की पुस्तक मात्र होकर रह गए।

सिनेमा का प्रभाव

यह सब था, किन्तु हिन्दी के रंगमंच का अभाव साहित्यिकों को बराबर खलता रहा। आशा की यही एक बात थी। सांस्कृतिक जागृति एवं पुनरुत्थान के साथ-साथ इसके लिए भी अवसर मिला। शिक्षा-संस्थाओं में, स्काउट कैम्प-फायरों में तथा इस प्रकार के अन्य भिन्न-भिन्न अवसरों पर अन्य कार्यक्रमों के साथ-साथ नाटक खेलने का भी कार्यक्रम रक्खा जाने लगा क्योंकि पारसी रंगमंच के अवशेष स्वरूप ने नाटक

देखने की अभिरुचि को जीवित रक्खा था। अमरनाथ गुप्त और विद्यारत्न धर्मपाल शास्त्री 'विकल' के लिखे हुए एकांकी नाटकों के संग्रह 'सुनहरा प्रभात' में इसी प्रकार के नाटक हैं।

इन नाटकों में साहित्यिकता और कलात्मकता अभी नहीं आ पाई है। विश्वविद्यालयों या डिगरी कालिजों में खेले जाने वाले नाटकों में यह कभी-कभी दिखाई पड़ जाती है। इसके कारण ये हैं: —(अ) रंगमंच और आवश्यक सामग्री प्रायः वे सब मिल जाया करती हैं जो अंग्रेज़ी के नाटकों के लिए होती हैं। (आ) दिग्दर्शक भी या तो वे ही रहते हैं या वे दिग्दर्शकों के मित्र रहते हैं जिनके द्वारा अभिनय एवं वेशभूषा को कलात्मक रूप देने में सहायता मिल जाती है। (इ) कभी-कभी ये दिग्दर्शक या नाटककार वे ही होते हैं जिनको विद्यार्थी जीवन में नाटक खेलने का अवसर मिल चुका है और जो इस प्रकार नाट्य और अभिनय कला के विशेषज्ञ बन जाते हैं; जैसे, रामकुमार वर्मा, आदि; (ई) अभिनय कला में रुचि होने के कारण जो सिनेमा के अभिनय को पारखी की दृष्टि से देखते हैं; (उ) जहां अवसर पड़ने पर सिनेमा के अभिनेताओं से भी सहायता ली जा सकती है; जैसे, गोविन्ददास ने 'गरीबी या अमीरी' नाटक के कुछ अंशों का अभिनय सिनेमा के अभिनेताओं से करा के देख लिया है। इस तथ्य का उल्लेख उन्होंने उक्त नाटक की भूमिका में किया है। प्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज कपूर अपने नाटकों के अभिनय करके हिन्दी रंगमंच के पुनरुत्थान में अपना महत्त्वपूर्ण योग दे रहे हैं जिसके लिए हिन्दी रंगमंच उनका ऋणी रहेगा। इसके अतिरिक्त लोगों ने विदेशों में आज भी जब नाटकों का अभिनय देखा (और अब तो विदेशी नाटक कम्पनियां भी अपने नाटकों का प्रदर्शन करने भारत आने लगी हैं) तो उन्हें और उनकी कला एवं व्यवस्था को देखकर उनकी चेतना हिली-डुली और वे हिन्दी रंगमंच के सुधार एवं उसके पुनरुत्थान की बात सोचने लगे। 'गरीबी या अमीरी' में गोविन्ददास ने रंगमंच के संबंध में ऐसे ही महत्त्वपूर्ण सुधार हमारे सामने रक्खे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इस विचार को अब कार्य का रूप दिया जाय। उदयशंकर और रामगोपाल आदि विश्वविख्यात नर्तकों एवं कलाकारों के प्रदर्शन भी हिन्दी रंगमंच के उद्धार में सहायक हैं। इस वर्ग के रंगमंच पर अधिकतर एकांकी और कभी-कभी अनेकांकी भी खेले जाते हैं। इस प्रकार हिन्दी रंगमंच के उद्धार में एकांकी नाटक भी अपना योग दे रहे हैं। थोड़ा-सा भी अधिक ध्यान देने पर यह वर्ग हिन्दी रंगमंच के एक सुन्दर स्वरूप को हमारे सामने ला सकेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। हिन्दी परिषदें अथवा हिन्दी की अन्य संस्थाएं भी इस कार्य को उठा सकती हैं और यह बहुत संभव है कि इससे वे कुछ अर्थ-लाभ भी कर सकें।

उच्च कोटि के अभिनय की संभावना

उपन्यास

स्वरूप में विकास

आधुनिक उपन्यासों का स्वरूप जिन पांच सर्व-स्वीकृत प्रमुख तत्त्वों से विनिर्मित है वे हैं कथावस्तु, पात्र, भाषा-शैली, वातावरण अर्थात् देशकाल, और उद्देश्य।

स्वरूप के विभिन्न अंग और उनके अध्ययन की उपयोगिता

अतः अर्वाचीन हिन्दी उपन्यासों के स्वरूप में होने वाले विकास की विभिन्न स्थितियों के अध्ययन के लिए इन्हीं पाचों तत्त्वों में होने वाले विकासक्रम पर विचार करना आवश्यक है। ध्यान में रखने की एक आवश्यक बात यह है कि उपन्यास कला है। किसी भी कला का—और इसीलिए उपन्यास कला का भी—अंगच्छेद करके उसके अवयवों के ऊपर अलग-अलग दृष्टिपात करके—चाहे वह कितनी ही गंभीरता पूर्वक क्यों न हो—उसकी वास्तविक महत्ता को नहीं समझा जा सकता। अलग-अलग सब कुछ ठीक होने पर भी एक कलाकृति नहीं भी जँच सकती है, और अलग-अलग देखने पर जो तत्त्व बिल्कुल साधारण लगते हैं, उन्हीं से विनिर्मित एक कलाकृति बहुत सुन्दर भी हो सकती है। सब कुछ कह देने पर भी कुछ बाकी रह जाता है और इस 'कुछ' का विश्लेषण कर सकना या उस पर विचार-विनिमय कर सकना कभी सफल नहीं हो पाता। वह केवल अनुभवगम्य है। उसकी प्रशंसा भर की जा सकती है। अतएव जब उपन्यास कला के स्वरूप के विभिन्न तत्त्वों पर अलग-अलग विचार करने की बात सोची जा रही है, तब यह पहले ही स्वीकार कर लिया जा रहा है कि इससे इस कला के वास्तविक सौंदर्य को नहीं दिखाया जा रहा है। प्रयत्न केवल यह किया जा रहा है कि इन विभिन्न अंगों के विकासक्रम को दिखा दिया जाय। यही संभव भी है। अब, किस उपन्यास में यह अंग किस अनुपात से है और उनका सामूहिक परिणाम एवं प्रभाव उसको कला की किस कोटि में ले गया है, यह व्यक्ति की अपनी-अपनी अनुभूति का विषय है।

कथावस्तु

श्रेष्ठ कथावस्तु के गुण

औपन्यासिक कथावस्तु की श्रेष्ठता के लिए उसमें जिन मुख्य विशेषताओं का होना प्रायःअनिवार्य है, वे ये हैं :—

(अ) वह मानव जीवन पर आधारित हो,
(आ) वह किसी एक उद्देश्य की ओर अग्रसर हो,
(इ) वह पात्रों को व्यक्तित्त्व प्रदान करता हो,
(ई) वह रागात्मक और शक्तिदायक अनुभूतियों को जागृत करता हो,
(उ) वह घटनाओं को जीवन से संबंधित करता हो,
(ऊ) उसकी घटनाएं इस ढंग से सामने आएं कि उनमें रोचकता हो, उनमें कुछ नवीनता दिखाई दे,

(ए) उससे जीवन के उपेक्षित सत्य सामने आएं, एवं स्वीकृत सत्यों की स्पष्ट व्याख्या हो जाय,

(ऐ) उसमें संबंध-निर्वाह, घटनाओं का पूर्वापर क्रम, प्रधान कथा और गौण कथाओं में उचित संबंध-स्थापन हो ,

(ओ) वह प्रांतीयता के दोष से यथासंभव मुक्त रहे, और

(औ) महत्त्वहीन एवं अनावश्यक घटनाओं से मुक्त रहे।

अध्ययनकाल के प्रारंभ होते-होते उपन्यासों के कथानकों में इन गुणों का समावेश होने तो लगा था किन्तु ठीक हो नहीं पाया था। कारण यह है कि हिन्दी में उपन्यासों का विकास जिस रीति से हुआ है, उसको देखते हुए हम इतनी जल्दी उच्चकोटि के कथानकों की आशा कर भी नहीं सकते थे। 'चन्द्रकान्ता' (१८९३ ई० से १८९६ ई० तक) 'रक्तमंडल' एवं 'भूतनाथ' (१९०६ ई० से १९१३ ई० तक) आदि के अद्भुत प्रभाव को बीते बहुत दिन नहीं हुए थे। और, इतना सब जानते हैं कि इन उपन्यासों की कथावस्तु में उच्चकोटि की कथावस्तु के कोई भी गुण नहीं थे। ये उपन्यास मनुष्य की कौतूहल एवं आश्चर्य वृत्तियों ही पर आधारित थे। वहां जीवन का कोई प्रश्न ही नहीं था। साथ ही, इन उपन्यासों की लोकप्रियता भी सबको विदित है। एक व्यक्ति इन्हें लेकर उच्च स्वर से पढ़ता था और परिवार के अन्य सदस्य रामचरितमानस के श्रद्धालु स्रोताओं की भांति उसे ध्यानमग्न होकर सुनते थे। 'चन्द्रकान्ता' 'रामचरितमानस' हो रही थी। आजकल भी इनके कुछ पाठकों में मैंने उतनी ही तन्मयता देखी है। कहने का तात्पर्य यह है कि पाठक ऐसी कथावस्तु का स्वागत करने के लिए तैयार थे और इसीलिए लेखक उसका पुट देने के लिए मजबूर था। साथ ही बदलते हुए समय की लाज भी रखनी थी—पाठकों को भी और लेखकों को भी। जासूसी उपन्यासों (मथुरा प्रसाद खत्री के 'आनंद महल', गोपाल राम गहमरी के 'झंडा डाकू' आदि उपन्यासों) में तो लेखक आज तक काफी छूट लिए रहते हैं, किन्तु अन्य प्रकार के उपन्यासों में उन्हें कुछ सतर्क होना पड़ा।

पृष्ठभूमि की एक झांकी

'कुछ सतर्क' इसलिए कहा गया है कि लेखकों के पास आकस्मिकता का बहुत बड़ा सहारा था। हम देखते हैं कि कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अकारण ही दैव-संयोग से एवं आकस्मिक रूप से कोई बात हो जाती है और वह इतनी महत्त्वपूर्ण होती है कि सब उलट-पलट हो जाता है। हम मानते हैं कि ऐसा होता है किन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि ऐसा बहुत कम होता है अर्थात् 'कभी-कभी' ही; नहीं तो, मन में अरक्षा की भावना इतनी घुस जाती कि व्यवस्थित रूप से आगे के लिए कभी कोई योजना ही नहीं बनाई जा सकती। उपन्यास-क्षेत्र में इसका प्रयोग बहुत होने लगा। ज्योतिर्मयी ठाकुर के 'मधुबन' (१९३३ ई०) में करुणा और लोकनाथ कानपूर से भागते हैं और प्रयाग आ जाते

दोष-पूर्ण कथा वस्तु

हैं। यहां उनकी भेंट एक रानी साहब से होती है। यह सम्मिलन जो करुणा के अनेक गुणों को सामने लाता है और उसकी आदर्श कल्पनाओं को कार्य का रूप देता है, आकस्मिक रूप से ही हुआ है। आकस्मिक घटनाओं के इस उपयोग द्वारा पिछले ऐयारी के उपन्यासों वाली वैचित्र्यप्रियता, कौतूहलप्रियता आदि वृत्तियों की संतुष्टि तो नहीं हो सकी; हां, किसी बात के आकस्मिक रूप से घटित होने पर मन में आश्चर्य समन्वित जिज्ञासा की जो भावना पैदा हो जाती है, वह अवश्य तृप्त होती रही। तात्पर्य यह है कि ऐयारी का बटुआ छूटा, तो आकस्मिक घटनाओं का तर्कश अक्षय रहा।

आकस्मिक घटनाओं के इस प्रकार के प्रयोग से एक बात अवश्य होती थी और वह यह कि कथावस्तु की गति उस प्रधान उद्देश्य की ओर ही रहती थी जो उपन्यासकार की प्रेरणा का स्रोत था, और यह था किसी एक आदर्श की पुष्टि। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि यह गतिशीलता स्वाभाविक नहीं होती थी। आकस्मिकता के इस प्रयोग से कथावस्तु की गति को बलपूर्वक मोड़ लिया जाता था, जैसे लगाम खींच-खींच कर घोड़े की उसी मार्ग पर चलने के लिए विवश कर दिया जाता है, जो कोचवान को अभीष्ट हो।

इसी प्रकार घटनाओं का विस्तार भी प्रायः समुचित रूप से नहीं हो पाता था। उपन्यासों में कथावस्तु की आयोजना उद्देश्य को दृष्टि में रख कर की जाती है। उसमें उतनी ही घटनाओं का होता और उनमें से प्रत्येक घटना का उतना ही विस्तार होना चाहिए जिससे उद्देश्य स्पष्ट हो जाय। हिन्दी के उपन्यासों में प्रायः ऐसा नहीं होता था। किसी अनावश्यक घटना का वर्णन आवश्यकता से भी अधिक हो जाता था, तो किसी आवश्यक घटना का वर्णन बहुत कम। परिणामतः संतुलन बिगड़ जाता था। उपन्यास एकांगी लगने लगता था। उपकथाओं को प्रधान कथा से जिस प्रकार संबद्ध रहना चाहिए वे उस प्रकार नहीं रहती थीं। ऐसा इसलिए होता था कि कभी-कभी लेखक कुछ असावधान-सा हो जाता था। ऐसा भी हो सकता है कि अपनी जानकारी को लोगों पर प्रकट करने के व्यर्थ मोह के कारण भी ऐसा हो गया हो। ऐसा सोचने का कारण यह है कि प्रायः प्रत्येक उपकथा का संबंध प्रधान कथा से और प्रत्येक घटना का संबंध उसकी मूल कथा से होता अवश्य था। यह सिद्ध कर सकना कि किसी भी घटना या कथा का संबंध बिल्कुल नहीं है, बहुत कठिन कार्य है। संबंध होते हुए भी यदि वे जँचती नहीं थीं, तो इसका कारण यह है कि संबंध के महत्त्व और वर्णन की मात्रा में उचित अनुपात नहीं हो पाता था। होना यह चाहिए था कि यदि संबंध नाममात्र का है तो घटना का वर्णन भी नाममात्र के लिए हो, और यदि संबंध बहुत अधिक और महत्त्वपूर्ण है, तो वर्णन भी उतना ही अधिक हो। यह असंतुलन भी कथावस्तु को सामान्य कोटि का कर देता है। इसके अतिरिक्त लेखक की रुचि, विश्वास, या धारणा भी वस्तु में असंतुलन ला देती थी। वह इस तरह कि यदि लेखक को ज़रा-

सा भी अवसर मिल जाता था तो वह कभी-कभी रुचि, विश्वास या धारणा से संबंधित बहुत बड़े-बड़े भाषण, बड़ी लंबी-लंबी व्याख्याएं एवं उबा देने की सीमा तक बढ़ जाने वाले चित्रण उपस्थित कर देने में भी नहीं चूकता था। कभी-कभी बीच में दर्शकों से एकाध प्रश्न करवा कर वातावरण की अरून्तुदता को कम करने का प्रयास करता अवश्य है, किन्तु असफल।

अपने उपन्यासों में इस प्रकार की सामग्री डाल देने का कारण यह हो सकता है कि लेखक अपनी विद्वत्ता दिखाना चाहता रहा हो। किन्तु इसी का अधिक आग्रह लेखकों के प्रति असहानुभूति और कदाचित् अन्याय का सूचक हो सकता है। यह भी हो सकता है कि लेखक अपनी वे बातें पाठक के सम्मुख लाना चाहता रहा हो। साथ ही, भविष्य में अपने किसी अन्य पुस्तक के निकलने की आशा उसे न रही हो, या उस अमुक प्रकार की बातों से संबंधित किसी पृथक या पूर्ण पुस्तक—जो कदाचित् विवेचनात्मक होती—लिखने की क्षमता उसके अन्दर न रही हो, तो उसमें वह असंबद्ध सामग्री येन-केन-प्रकारेण उसके अन्दर डाल दी हो। ध्यान देने की बात यह है कि उस समय कथावस्तु की दृष्टि से दोषपूर्ण उपन्यास निकलते थे ही। अतएव ऐसे एकाध दोषों के कारण ऐसे उपन्यासों के न छपने की कोई आशंका तो थी ही नहीं। अतएव किसी न किसी तरह अपनी बात कह सकने के लोभ के सामने कलात्मकता की मांग पीछे छूट जाती थी। कथावस्तु के असंगठित रहने का एक अन्य कारण भी था। हमारे यहां उपन्यासों और कहानियों के क्षेत्र में 'मौलिक' का व्यावहारिक अर्थ था अनुवादित न होना मात्र। उपन्यास-कला में नवीन प्रयोग करके मौलिक बनने की बात कल्पनातीत थी। इसके लिए जिस अध्ययन, मनन और चिन्तन की आवश्यकता होती है उसकी ओर कहानी कहने वालों का ध्यान अधिक नहीं जाता था। इस क्षेत्र में पूर्ण कलात्मकता का उदाहरण यदि किसी हिन्दी वाले ने सामने रख दिया होता तो ये ढेर के ढेर उपन्यास लेखक उसका अनुकरण करने का प्रयत्न करते। किन्तु ऐसा न हो सका। प्रेमचन्द और वृन्दावन लाल वर्मा तक के उपन्यासों में कथावस्तु की थोड़ी-बहुत भूलें मिल जाती हैं। प्रेमचन्द के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' (१९३६ ई०) में शहर वाली कहानी कथावस्तु की दृष्टि से कमज़ोर पड़ती है। वृन्दावन लाल वर्मा में वर्णनों की अधिकता कथानक की गति में कहीं-कहीं बाधक हो जाती है। जयशंकर प्रसाद के 'कंकाल' (१९२९ ई०) में घटनाओं की बहुलता में पात्रों के विकास का अधिक अवसर नहीं मिल पाता। इसका परिणाम यह हुआ कि कथावस्तु के दोषों का समुचित परिहार बहुत दिनों तक न हो सका।

इस प्रकार एक ओर दोषों से भरे हुए कथानक अपने ढंग से चलते ही रहे, किन्तु दूसरी ओर कुछ लेखकों ने अपने उपन्यासों को इन दोषों से मुक्त करने का प्रयत्न प्रारंभ किया। हिन्दी के उपन्यास क्षेत्र की जिन विभूतियों का नाम ऊपर लिया

गया है उन्होंने भी अपने उपन्यासों को इन दोषों से बचाने का यथासंभव प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य उपन्यासकारों ने, जो इस क्षेत्र में कोई महान या युगांतरकारी प्रयोग न कर सके थे, बनी-बनाई रूप-रेखा के अन्दर ही रहकर कथावस्तु को कलात्मक रूप देने का सराहनीय प्रयत्न किया। विश्म्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' के उपन्यासों की कथावस्तु सीधी-सादी और सुलझी हुई होती थी। पात्रों के स्वभावों के अनुसार क्रमबद्ध रूप में घटनाओं की सृष्टि होती थी। पात्रों के द्वारा ही कथावस्तु संचालित होती थी और स्वाभाविक गति से आगे बढ़ती थी। गोविन्दवल्लभ पंत और प्रतापनारायण श्रीवास्तव आदि के उपन्यासों की कथावस्तु दोषों से बहुत कुछ मुक्त रहती थी। उस पर विचारों का एकांगी बोझ नहीं होता था। वह अनावश्यक वर्णनों और विवरणों से भरी नहीं होती थी। वर्ण्य विषय की जानकारी के अभावों में लेखकों द्वारा प्रायः हो जाने वाली भूलें यहां नहीं थीं। ऐसे उपन्यासों के कथानकों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उनमें कथानक की गति, मन को रमाए रखने वाले तत्त्व, और स्वाभाविकता का सामंजस्य बहुत अधिक सीमा तक होता था। वैसे तो, अच्छे से अच्छे उपन्यासों के भी अन्य अंगों की भांति उनकी उच्चकोटि की कथावस्तु भी विवाद का विषय हो सकती है, और हिन्दी के इन उपन्यासों की कथावस्तु भी इसका अपवाद नहीं, किन्तु इनमें भद्दी भूलें अथवा बुरी तरह से खटकने वाले दोष नहीं मिलते।

दोष-परिहार

यदि ऐसी स्थिति बहुत दिनों तक रहने पाती, तो संभव था कि दोष-रहित कथावस्तु वाली इस परिस्थिति में विकास होता और तब इस दृष्टि से हम अपने उपन्यासों में उतनी उच्चकोटि की कलात्मक कथावस्तु दे सकते जितनी रूसी, फ्रांसीसी और अंग्रेज़ी आदि भाषाओं के उपन्यासों में मिलती है। वैसा न हो सका। १९२६ ई० से लेकर १९४७ ई० तक का समय देश के लिए और विशेष कर हिन्दी प्रदेश के लिए कई दृष्टियों से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस अवधि में जागृति के संदेश, उत्थान की लहरों और क्रान्ति की करवटों को देख-देखकर आश्चर्य होता है। इन बीस वर्षों में समाज कहां का कहां पहुंच गया, इसे वृद्धों की झपझपाती आंखें कदाचित् आसानी से बता सकेंगी। व्यक्ति का जीवन विचारों की क्रांति और करवटों का साथ न दे सका। ऐसे लोग कम न मिलेंगे जो बातचीत के दौरान में नवीनतम एवं वैज्ञानिक अथवा क्रांतिकारी विचारों के पोषक और प्रचारक लगते हैं, किन्तु पितृपक्ष में नदी के अन्दर या घर में बैठ कर पितरों को 'पानी देना' अपना परम कर्तव्य समझते हैं। विचारों की इस बाढ़ ने उपन्यास क्षेत्र पर भी आक्रमण किया। कथावस्तु पीछे छूट गई। उपन्यास विचार-विनिमय के एक साधन माने जाने लगे। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण हमें भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' (१९४६ ई०) में मिलता है। पहले कल्पित आदर्श या नैतिकता का आदर्श पात्रों और घटनाओं का सूत्रधार था। इसके बाद पात्र और उनके मनो

नवीन प्रतिकूल परिस्थति

विज्ञान की विशिष्टता के अनुसार कथावस्तु परिचालित होने लगी। फिर विचार-धाराएं कथावस्तु की मोड़ों को निर्धारित करने लगीं।

यह स्थिति लगभग पहले वाली ही लगती है किन्तु वस्तुतः वैसी ही है नहीं। पहले जैसी आकस्मिक घटनाएं, असम्भव कल्पनाएं, आदर्श के अनुकूल तोड़ी-मोड़ी अस्वाभाविक परिस्थितियां आदि नहीं हैं। इतने दिनों के अनुभव ने उपन्यासकारों को सचेत तथा सतर्क कर दिया है। कथावस्तु को इन सब दोषों से मुक्त रखने का प्रयास किया जाता है,। कभी-कभी यह अवश्य होता है कि वर्णनों की अधिकता, विवरणों की विशदता, परिभाषाओं तथा व्याख्याओं की प्रचुरता, और तर्क-वितर्क एवं विचार-विनिमय की बहुलता कथावस्तु में असामंजस्य उपस्थित कर देती है। फिर भी वह इस लिए बहुत नहीं अखरता कि पात्रों के मनोविज्ञान के अनुकूल होता है। यही कारण है कि हम रांगेय राघव के 'घरौंदे' (१९४६ ई०) के प्रतिकूल कुछ नहीं कह सकते। यद्यपि यह अनुभव करते हैं कि लेखक ने विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के जिस जीवन एवं वातावरण का चित्र खींचा है वह प्रायः दिखाई नहीं पड़ता। इतना सब होने पर भी सहसा यह नहीं कहा जा सकता कि 'घरौंदे' की बातें अस्वाभाविक, अप्राकृतिक, एवं कलात्मकता से शून्य हैं। इसका कारण यही है कि पात्रों का जो मनोविज्ञान है, उसी के अनुसार कथावस्तु का निर्माण भी हुआ है। अब, यह बात दूसरी है कि हम उक्त वर्ग एवं उस विचारधारा के लोगों के संपर्क में अभी तक न आए हों! इसी प्रकार यशपाल के उपन्यास नवीन विचारधारा के पोषक होते हुए भी कथानक की दृष्टि से भलीभांति सुगठित होते हैं। उनमें उच्चकोटि के कथानक के प्रायः सभी गुण मिलते हैं। यदि दो राजनीतिक पार्टियों के कार्यकर्ता कभी राजनीति समाजनीति या ऐसे ही अन्य विषयों पर सैद्धान्तिक विचार-विनिमय करने लगें, तो यह असंभव एवं अस्वाभाविक न होगा।

विचार और कथावस्तु

हिन्दी के कुछ उपन्यासों पर योरप के कुछ श्रेष्ठ उपन्यासों के अपहरण का दोष लगाया जाता है। उदाहरण के लिए प्रेमचन्द के 'रंगभूमि' (१९२४ ई०) पर अवध उपाध्याय ने थैकरे के 'वेनिटी फेयर' के अपहरण का दोष लगाया था और इसे अपने कई लेखों से सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया था। प्रेमचन्द ने इन लेखों के उत्तर भी प्रकाशित करवाए थे। इसी प्रकार भगवतीचरण वर्मा के प्रसिद्ध उपन्यास 'चित्रलेखा' (१९३४ ई०) के कथानक पर अनातोले फ्रांस के 'थाया' की छाया है। 'थाया' में एक संन्यासी के अहंकार और उसके पतन की कहानी है। संन्यास का गर्व उसके अहंकार को तोड़ देता है। वह थाया का उद्धार करने बढ़ता है। एक अनुभवी वृद्ध सन्यासी का परामर्श ठुकरा कर अपने अहंकार के बल पर बढ़ता है। इसी तरह की अनेक बातें मिलती

अपहरण का दोष

हैं। इसमें दो बातें हैं। पहली तो यह है कि यदि उच्चकोटि के दो कलाकारों के विचारों और भावनाओं तथा कथानक-निर्माण में कुछ साम्य मिल जाय, तो यह ऐसी बात नहीं है जिसके बल पर उसकी महत्ता समाप्त हो जाय। साम्य के आधार पर ही यदि किसी लेखक को समाप्त करना है, तो एक नहीं, बहुत-से मान्य कलाकार समाप्त हो जायंगे। किन्तु हमें दूसरी बात ज़ोर देकर कहनी है, और वह यह है कि यदि किसी ने किसी के ढांचे को लेकर उसमें अपना रंग कुछ अधिक और अपनी राष्ट्रीय कलात्मकता के साथ सफलतापूर्वक भर दिया तो उसे बुरा मानना ठीक नहीं। शेक्स-पियर के सभी कथानक उसके अपने नहीं, और तुलसीदास ने भी 'नानापुराणनिगमागम' की बात स्वयं, और अपनी बात प्रारम्भ करने के पहले ही, स्वीकार कर ली है। फिर, शुरू-शुरू में किसी का सहारा ले लेना ऐसा दोष नहीं है, जिसे क्षमा न किया जा सके। हम तो यह कहना चाहते हैं कि इनके पहले लोगों ने तो इस ढंग का भी नहीं किया था। हां, ऐसा अनुकरण यदि अक्षर-अक्षर का हो, और अनुकरणकर्त्ता की राष्ट्रीयता के अपनेपन में रंग न जाय, तो अवश्य उसको न स्वीकार करेंगे और न कोई महत्त्व देंगे।

पात्र

हिन्दी उपन्यासों के पात्रों के चरित्र चित्रण की भी प्रायः वैसी ही परिस्थिति है, जैसी कथावस्तु की थी। तिलिस्मी और जासूसी और कभी-कभी साहसिक उपन्यासों के पात्रों का अपना कोई व्यक्तित्त्व नहीं होता। उपन्यास-कार के मस्तिष्क में घटनाओं और उनके घात-प्रतिघात की एक रूप-रेखा होती है। पात्रों को उन्हीं के अनुकूल कार्य करना पड़ता है। उन कार्यों का उनके मनोविज्ञान, उनकी विचारधारा और उनकी शक्ति-सामर्थ्य से कोई विशेष संबंध नहीं होता। अज्ञात रूप से यदि कभी यह संबंध स्थापित हो जाता है, तो वह गौण बात है। विचित्रता की बलिवेदी पर उनके व्यक्तित्त्व और मनोविज्ञान का बलिदान कोई बहुत बड़ी बात नहीं समझी जाती। तिलिस्मी उपन्यासों में तो यह बात विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। जासूसी उपन्यासों में कभी-कभी पात्रों का व्यक्तित्त्व तो बन जाता है किन्तु उसकी रेखाएं उभरने नहीं पातीं। व्यक्तित्त्व की रूपरेखा बहुत धुंधली ही बनने पाती है। उस व्यक्तित्त्व की कोई अपनी विशेषता नहीं होती। वह सामान्य मात्र होकर रह जाता है। घटनाओं की बहुलता और प्रधानता में बहुत दब जाता है। ठाकुर दत्त मिश्र के 'छिपा महल' और गोपालराम गहमरी के 'झंडा डाकू' (१९४१ ई०) आदि के पात्र ऐसे ही हैं। साहसिक उपन्यासों में राहुल सांकृत्यायन के 'शैतान की आंख' (१९४५ ई०) आदि में पात्रों का व्यक्तित्त्व थोड़ा-सा उभरा है, किन्तु घटनाओं की प्रधानता, कुतूहल, आश्चर्य और आशंकाओं आदि के थपेड़ों में उसकी ओर अधिक ध्यान जा नहीं पाता। इसका कारण यह है कि इन ढंगों के उपन्यासों में प्रधानता पात्रों की न हो कर

व्यक्तित्त्व विहीन पात्र

घटनाओं के संगठन की कलात्मकता की होती है। ध्येय चरित्र-चित्रण न होकर पाठकों की कौतूहलवृत्ति की प्यास को शांत करना होता है। इसके आगे अन्य तत्त्व गौण होते हैं। यही कारण है कि ऐसे उपन्यासों के पात्रों का व्यक्तित्त्व स्वतंत्र और विकासोन्मुखी नहीं होता। उसमें एक प्रकार की जड़ता होती है।

पात्रों की परिस्थिति में विकास की अगली अवस्था में पात्रों का संबंध आदर्श से हो गया। उपर्युक्त तीनों ढंगों के उपन्यासों को लोग हल्की चीजें समझते थे।

पात्र : अच्छे या बुरे

मन बहलाने के लिए, समय काटने के लिए, या अपनी कौतूहल-वृत्ति की संतुष्टि के लिए ही लोग इनको पढ़ते थे। उनका उनके जीवन से कुछ विशेष या गहरा संबंध नहीं था। उनका गंभीरता से कोई भी संबंध नहीं समझा जाता था। और, साहित्य का उद्देश्य केवल यही रहे, यह कभी भी मान्य नहीं हो सकता। अतएव, उपन्यासकार जब जीवन की और गहराई में घुसे, तब पात्र दो प्रधान भागों में बँट गये। एक ओर ऐसे पात्रों की सृष्टि हुई जो आदर्शों के अनुकूल होते थे; और दूसरी ओर ऐसों की, जो उनके प्रतिकूल। इन अनुकूल और प्रतिकूल पात्रों में सदैव संघर्ष होता था। पहले अनुकूल पात्र विपत्तियों में फँसते चले जाते थे और प्रतिकूल पात्रों की विजय-सी प्रतीत होती थी। किन्हीं उपन्यासों में यह दूसरी बात यदि नहीं भी होती थी, तब भी कोई विशेष बात नहीं। अनुकूल पात्रों की मुसीबतों का धीरे-धीरे अंत होता था। प्रतिकूल पात्रों की विजय कभी-भी नहीं दिखाई जाती थी। यह वही कारण है जिससे हमारे यहाँ दुःखांत नाटक नहीं लिखे जाते थे। इस प्रकार पात्र या तो अच्छे होते थे या बुरे। न अच्छे पात्रों में बुराई होती थी, और न प्रायः बुरों में अच्छाई। इन अच्छाइयों और बुराइयों की कसौटी प्रायः धार्मिकता होती थी।

ऐसी सृष्टि में कुछ दोष भी होते थे। सबसे प्रधान बात तो यह होती थी कि पात्रों का कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व नहीं बन पाता था। उनका कोई मनोविज्ञान

मनोवैज्ञानिकता से शून्य व्यक्तित्त्व

नहीं होता था। इसका कारण यह है कि यह बात जड़ से ही मानव-मनोविज्ञान के बिल्कुल प्रतिकूल है। वास्तविक परिस्थिति यह है कि अच्छा न तो अच्छा ही अच्छा होता है और न बुरा, बुरा ही बुरा। यहाँ बुरे में अच्छाई और अच्छे में बुराई भी मिलती है, और ये गुण और अवगुण ऐसे महत्त्वपूर्ण होते हैं कि कभी-कभी तो हममें अपना पूर्व निश्चित निर्णय बदलने की बलवती इच्छा पैदा हो जाती है। उपन्यास के इन पात्रों में अच्छे इतने अच्छे होते थे कि देवता होकर हमसे दूर हो जाते थे, और बुरे इतने बुरे होते थे कि वे पूर्णतः राक्षस बनकर हमसे अलग होने पर विवश थे। एक की ऊँचाई तक हम उठ नहीं पाते थे; दूसरे की निचाई तक झुक नहीं सकते थे। एक हमसे स्वयं दूर हो जाता था; दूसरे को हम स्वयं दूर करने को विवश थे। 'गोदान' के पहले के प्रेमचन्द के उपन्यासों में पात्रों की ये दो श्रेणियां स्पष्ट रूप से देखी जा

सकती हैं। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', प्रताप नारायण श्रीवास्तव, इत्यादि तमाम उपन्यासकारों की कृतियों में ऐसे चरित्र भरे पड़े हैं।

जड़ व्यक्तित्व

इस प्रकार के चरित्रों में दूसरी कमी यह थी कि उनका व्यक्तित्त्व गतिमान नहीं हो पाता था। विकास के लिए कोई अवसर नहीं था। जिसको जो रूपरेखा बन गई, उसको उसी में घूम फिर कर रहना पड़ता था। ये पात्र जड़ तस्वीर की तरह होते हैं जिनमें रेखाएँ तो खूब निखरती हैं, वस्त्र-विन्यास आदि भी जिनका निश्चित स्वरूप निर्मित करते हैं, किन्तु जिनमें गति नहीं—जोवन नहीं। वे जो हैं, वह सामने हैं। उससे कम या अधिक नहीं हो सकते। किन्तु वास्तविक जोवन में ऐसा नहीं हो सकता। आदमी को बदलना पड़ता है, और यदि कोई अपने को आयु, परिस्थिति और आवश्यकता के अनुकूल स्वतः या प्रयत्न करके बदलता नहीं, तो हम उसका आदर नहीं करते। फिर, कुछ परिस्थितियां तो ऐसी होती हैं, जिनमें अच्छों की बुराई और बुरों की अच्छाई हमारा सम्मान प्राप्त करती है। फांसी पर लटकाए जाने वाले बेटे को बाप—झूठ बोल कर बचा सकने का सामर्थ्य रखते हुए—यदि नहीं बचाता है, तो वह हमारा अपनापन न पा सकेगा। अपवाद की संज्ञा पाकर हमारे जीवन से अलग कर दिया जायगा; और, मानव-मन की न जाने कैसी विचित्र गति है कि गले तक बुराइयों में डूबा हुआ व्यक्तित्त्व तक यदि किसी अवला को बचाते हुए एक बार भी अपना सर तोड़वा लेता है, तो वह श्रद्धा और सम्मान का अधिकारी हो जाता हैं। आदर्श के अनुकूल और प्रतिकूल सृष्ट चरित्रों में मानव स्वभाव का यह सत्य पहले तो बिल्कुल ही विलुप्त था किन्तु बाद में भी बहुत कम दिखाई पड़ता था।

मनोवैज्ञानिक स्वाभाविकता की उपेक्षा

इन चरित्रों में एक और कमी दिखाई पड़ती है। कल्पना कीजिए कि पात्र-अपने-अपने विशेष गुणों को लिए हुए हमारे समक्ष लाए जा चुके। कथावस्तु आगे बढ़ी। वार्तालाप और घटनाओं के घात-प्रतिघात कभी-कभी ऐसी विचित्र मनोवैज्ञानिक परिस्थिति उपस्थित कर देते हैं कि पात्रों को कुछ का कुछ कर डालना पड़ता है। ऐसी विचित्र परिस्थितियों में आदर्श कुछ दूसरा चाहता है और मनुष्य का स्वभाव कुछ और ही कहता है। जैनेन्द्र की 'सुनीता' (१९३६ ई०) से एक स्थल ले लीजिए। जंगल के सुनसान में उद्दीपन विभावों से सजी-बजी परिस्थितियों में हरिप्रसन्न अपने हृदय की अधिष्ठात्री के साथ है, और कहता है कि वह अपनी भाभी को—सुनीता को—चाहता है। सामने खड़ी हुई नारी को चाहता है। सुनीता अपने पति श्रीकान्त के प्रति सच्ची रहना चाहती है। उसी की है और उसी की होकर रहना चाहती है। ऐसा श्रीकान्त लाहौर चला गया है—सुनीता के बार-बार व्याकुल होने पर भी चला गया। हरिप्रसन्न इस श्रीकान्त का अपना है। सो, अपनी यह अमानत—प्यारी धरोहर—सुनीता को सौंप गया है कि उसको हर हालत में सुरक्षित

रक्खे। हरि ऐसा है कि उसको रोक सकना कठिन है। कब और किस बात पर नाराज होकर वह भाग जायगा, यह कोई नहीं जानता। यह रही सुनीता की मनोवैज्ञानिक परिस्थिति। ध्यान में यह भी रखना होगा कि न चाहते हुए भी सुनीता हरि के प्रति कठोर नहीं हो पाती। आदर्शवादी लेखक इस सुनीता को अंत तक ढँके रहता--छिपाए रहता-भले ही हरि भाग जाय, भले ही प्रतिरोध अमानुषिकता पर ला दे। किन्तु नारी सुनीता ऐसा न कर सकी। हरि चला गया। नारी सुनीता अपने पुरुष की ही रह गई। हरि अपने मित्र के प्रति भयानक विश्वासघात करते-करते बच गया। यह सब इसलिए हो सका कि सुनीता आदर्श के रास्ते से एक कदम बगल हट गई। उसने अपने को अपने आप एक पर पुरुष के सामने नंगी उपस्थित कर दिया। आदर्श की परम्परा के अनुसार शायद यह बहुत बड़ा अपराध हो गया---कदाचित् इतना बड़ा अपराध कि न लेखक क्षम्य है और न ऐसी नारी। यह बात भी शायद न सोची जायगी कि उस स्थान पर हरिप्रसन्न और सुनीता---केवल ये दो ही---थे और हरिप्रसन्न नारी के अनावृत होने के पहले ही आंखें मूंद कर अलग चल पड़ा था और उसके पहले भी वह अनिच्छा से दो एक बार चिल्ला पड़ा था। उसको शायद सबक भी मिल गया था! लेकिन इससे क्या? आदर्शवादी सुनीता की इस उच्छृंखलता (?) को कदाचित् कभी-भी न माफ कर सकेगा। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि आदर्शवादी ऐसी स्वाभाविक किन्तु आदर्श की दृष्टि से अवांछित, अस्पृहणीय एवं अनुचित परिस्थितियों को पहले तो आने ही न देगा, और यदि किसी भूल-चूक-प्रमाद से वे आ ही गईं तो पात्रों से वैसे ही कार्य कराएगा जिनका अनुमोदन धर्मशास्त्र करते हों। वे धर्मानुमोदित बातें मनोविज्ञान के अनुकूल हैं या प्रतिकूल, इसको सोचने के लिए वे तैयार नहीं। ऐसी परिस्थितियां न लाई जायं, यह तो ठीक हो सकता है-यद्यपि इतना कहे बिना फिर भी नहीं रहा जाता कि मानव जीवन बड़ा विचित्र है और उसमें आवेग से अंधे मन वाले इससे भी भयानक परिस्थितियां खड़ी कर देते हैं---किन्तु ऐसी परिस्थितियों के आ उपस्थित होने पर पात्रों से अ-मनोवैज्ञानिक एवं अस्वाभाविक कार्य करा देना ठीक नहीं। आदर्श की इसी मांग के कारण कभी-कभी कथावस्तु भी दूषित हो जाती है। इसी प्रकार जो पात्र बुरे मान लिए गए उनके अंदर अच्छाई की एक बात भी नहीं दिखाई जाती, यद्यपि वस्तुतथ्य इसके बिल्कुल प्रतिकूल है। नीम की कड़आहट के गुणों को तो कहा ही क्या जाय, ज़हर भी कभी-कभी प्राणरक्षक हो जाता है।

यह परिस्थिति स्थिर नहीं रह सकी। उपन्यासकारों के दृष्टिकोण में स्वाभाविकता, यथार्थता, उदारता और व्यापकता आती गई। आदर्शों के अनुकूल पात्रों की विचारधारा एवं उनके कार्यकलाप को मोड़ने की प्रवृत्ति कम होने लगी। पात्रों को कुछ स्वतन्त्रता मिली। उन्हें अपने मन और विचारों के अनुकूल कार्य करने का अवसर मिला। तात्पर्य यह है कि कुछ ऐसे उपन्यासकार भी सामने आए जिन्होंने

पात्रों को स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व प्रदान किया। देवत्व और राक्षसत्व के मिलन-विन्दु, मनुष्यता, की झलक मिली। पात्र स्वतः न बुरे हैं और न अच्छे। परिस्थिति उन्हें अच्छा या बुरा बना देती है। इस प्रकार १९२७ ई० में ऋषभचरण जैन के लिखे 'मास्टर साहब' का नायक मुरारी, जो बड़ा ही सुशील, मर्यादावादी, कर्मठ और सच्चरित्र युवक है, रंगीन वसंती को अकेले में पाकर भ्रम में पड़कर अपना संयम खो बैठता है। यह प्रवृत्ति चलती रही, और १९४७ ई० में गुरुदत्त के लिखे 'विकृत छाया' की माया कौमार्य में ही गर्भवती हो जाने पर भी हमारी सहानुभूति नहीं खोती। उसकी सबसे अधिक उच्छृंखल पात्री 'छाया' के अमर्यादित आचरण की भी जिम्मेदारी उस पर नहीं है। गोदान का होरी बुरा भी है और अच्छा भी है।

गुण-दोष-मय पात्र

परिस्थितियां पात्रों को किस प्रकार बनाती-बिगाड़ती और उनकी मान्यताओं को उलटती-पलटती हैं, इसका मार्मिक चित्र बंगाल के अकाल के ऊपर लिखे गए 'विषाद मठ' (१९४६ ई०) या 'महाकाल' (१९४७ ई०) जैसे उपन्यासों में प्रदर्शित है।

आगे चल कर पात्रों के मनोविज्ञान की इतनी प्रधानता हुई कि उपन्यासों का सारा का सारा कथानक उन्हीं के द्वारा परिचालित होने लगा। आदर्श पीछे छूट गया। पात्रों का मन और उस विशेष मन की असंगतियों का रहस्य ही प्रधान हो गया। उपन्यासों का पूरे का पूरा ढांचा इसी रहस्योद्घाटन के लिए आवश्यक घटनाओं के आधार पर बनाया जाने लगा। अन्य बातों का महत्त्व गौण हो गया। रहस्य की विचित्रता और उन रहस्यों के ऊपर प्रकाश डालने वाली घटनाओं की आयोजना जिस कलात्मक ढंग से की जाती थी, उससे बहुत ही उच्चकोटि के उपन्यासों की सृष्टि हुई। इलाचन्द जोशी और 'अज्ञेय' की कला इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। घृणा और प्रेम के मूल स्रोत, और उस स्तर विशेष के मनोवेगों की तीव्रता, और घृणास्पद एवं प्रेमास्पद से घृणा या प्रेम करने वाले के—दोनों स्थितियों में—संबंध की निकटता किस प्रकार एक ही या एक-सी होती है, यह इलाचन्द जोशी के 'परदे की रानी' (१९४१ ई०) में दिखाया गया है। किसी बच्चे के ऊपर पड़ा हुआ अस्वस्थ किन्तु स्थायी प्रभाव किस प्रकार उसके समस्त जीवन की रूपरेखा पर अज्ञात रूप से प्रभाव डालता है, यह इलाचन्द जोशी ही के 'प्रेत और छाया' (१९४५ ई०) से स्पष्ट है। अहं की अधिकता के खेल 'अज्ञेय' के 'शेखर एक जीवनी' (१९४१ ई० से १९४४ ई० तक) से स्पष्ट होते हैं। इस प्रकार उपन्यासों में पात्रों के चित्रण की परिस्थिति यह हो गई कि अब पात्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण और उन्हीं के ऊपर आधारित उपन्यासों का निर्माण होने लगा। जब पात्रों की अच्छाई, बुराई, अच्छाई-बुराई एवं बुराई-अच्छाई के कारण ढूंढ़े जाने लगे, तो इनका उत्तर-दायित्व परिस्थितियों तथा कोमल मन पर पड़े हुए स्वस्थ या अस्वस्थ प्रभावों की सद्

मनोविज्ञान की प्रधानता

या असद् प्रतिक्रियाओं पर पड़ा। मनोवैज्ञानिक चित्रण की इस गहराई को देख कर प्रेमचंद तक का मनोवैज्ञानिक चित्रण आज कुछ फीका या हलका लगने लगा है। इस तथ्य को स्वीकार करने में प्रेमचन्द की अवमानता नहीं है। इससे तो हिन्दी के कलाकारों की प्रगतिशीलता ही सिद्ध होती है। नए उपन्यासकार हाथ पर हाथ धरे बैठे ही नहीं रह गए। वे प्रेमचन्द को ही लीक नहीं पीटा किए। कुछ आगे बढ़े तो।

व्यक्तित्त्व प्रधान पात्र

इससे आगे बढ़ने पर पात्रों के चरित्र-चित्रण की एक नई परिस्थिति दिखाई पड़ती है। प्रत्येक मनुष्य का जीवन दो प्रधान भागों में बँटा रहता है। पहला भाग वह है जिसमें उसके अपनेपन का प्राधान्य रहता है। इसे हम व्यक्तिगत जीवन कह सकते हैं। इस प्रकार के चित्रण में व्यक्ति की वैयक्तिक विशिष्टताओं को प्रधानता रहती है। इसमें व्यक्ति विशेष का अपना मनोविज्ञान रहता है। उसके अपने स्वभाव की विचित्रताओं एवं विशेषताओं को चित्रित किया जाता है। उपन्यासों में ऐसे चित्रण का प्रारम्भ तब हुआ जब लेखकों का मस्तिष्क आदर्श की अंध पूजा से मुक्त हो सका। पात्रों के ऐसे चित्रण का उत्कृष्ट कलात्मक रूप हमें मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में मिलता है।

एकांगी और अहितकर दृष्टिकोण

खेद की बात है कि कुछ लेखकों ने—पश्चिम के अनुकरण पर, जहां वासना का नंगा नाच ही हुआ करता है—मनुष्य के स्वभाव के वासनात्मक पक्ष को ही उसके स्वभाव का सब-कुछ समझ लिया। उन्होंने निकृष्ट कोटि के व्यक्तियों की दुराचार-लीला को इतना महत्त्व दिया कि उसके आगे उत्कृष्ट व्यक्तियों को, जो निश्चित रूप से अपेक्षाकृत अल्प संख्या में होते हैं, बिल्कुल भुला ही दिया। यह ठीक है कि समाज में ऐसे स्वभाव और मस्तिष्क वाले भी होते हैं और अधिक संख्या में होते हैं। उनके स्वभाव और मस्तिष्क की प्रक्रिया समाज के अंदर बड़ा महत्त्व रखती है; किन्तु यह भी ठीक है कि उनका अस्तित्व वांछनीय नहीं है। उनका विशद चित्रण मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से उनका प्रचार एवं प्रसार हो जाता है। पीढ़ियों की पीढ़ियां बरबादी का शिकार हो जाती हैं। यह देवता और ऋषि-मुनि तक को स्खलित कर देता है। हम इन्सान हैं। उपयोगिता एवं समाज के कल्याण की चाह से—विशेषतः उसी वस्तु से जिसका निर्माण हम स्वयं करते हैं—हम मुक्त नहीं हो सकते। बुराई और भलाई दोनों को समान समझने की बात एक अव्यावहारिक कल्पना है। उपन्यास पढ़ते समय उसके प्रधानपात्र का व्यक्तित्त्व प्रायः पाठक अपना ही व्यक्तित्त्व समझने लगता है। आदर्श के आधार पर निर्मित पात्रों को पाठक अपना नहीं पाता, किन्तु इन पात्रों को अपनाने में कोई विशेष बाधा नहीं होती। कमज़ोर मस्तिष्क इस प्रवाह में पड़कर अपने जीवन में वैसे ही कार्य करने की अभिलाषा करने लगता है। असमर्थ उन्हीं स्थलों को बार-बार पढ़ कर अपनी जहरीली उत्तेजना और अस्वस्थ कल्पना के सहारे मानसिक

व्यभिचार से खुजली के खुजलाने का सुख लेने लगता है। बच्चे न जानने योग्य बातें असमय में ही जान जाते हैं और उनको व्यावहारिक स्वरूप देने का अवसर ढूंढ़ने लगते हैं। मस्तिष्क और वातावरण अप्राकृतिक व्यभिचारों का केन्द्र बन जाता है। और, इन सब का उत्तरदायित्व जिस पर है, वह अपनी झूठी कला की झोंक में यह कह कर छूट जाना चाहता है कि हमने तो केवल उस दृश्य को सामने रख दिया जो आप के यहां पाया जाता है। कदाचित् यह घोर आदर्शवादी पात्रों की दूसरी प्रतिक्रिया थी। ऐसे पात्रों का चित्रण यदि केवल चित्रण के लिए ही न हो, दृष्टिकोण में कुछ उद्देश्य भी आ जाय तो अच्छा हो। उद्देश्य को हम जान लें। फिर यदि हम उस उद्देश्य से और उस दृष्टिकोण से सहमत हों, तो उसे पढ़ें; नहीं तो कोई बात नहीं। यशपाल ने 'दादा कामरेड' (१९४१ ई०), 'देशद्रोही' (१९४३ ई०) आदि उपन्यासों में अपने कुछ पात्रों की ऐसी कुछ कमजोरियां दिखाई हैं किन्तु वे जिस दृष्टिकोण से उपस्थित की गई हैं, उसको देखते हुए खराब नहीं लगतीं। अमृत लाल नागर के 'महाकाल' (१९४७ ई०) और रांगेय राघव के 'विषाद मठ' (१९४६ ई०) के पात्रों की ऐसी बातों पर तो हमें दया आती है। तात्पर्य यह है कि इन्हीं बातों को कुछ ऐसे ढंग से उपस्थित किया जा सकता है कि वे घातक न हों। और, यदि लेखक चाहे तो पात्रों की इन कमजोरियों को कुछ ऐसे ढंग से उपस्थित कर सकता है कि उसमें कलात्मकता भी रहे और उसका दूषण निकल जाय। राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह के 'राम रहीम' (१९३६ ई०) से निम्नलिखित चित्र देखिए :—

एक संयत चित्रण

"तब तक अचानक किसी तीव्र गंध से उसका मस्तिष्क चकरा उठा। उसने उठ कर देखा, तो सामने बरामदे में दिनेश को बैठा पाया। उसके हाथ में गांजे की चिलम थी और मुंह में धुएं का अंबार। आंखें गुल्लाला हो रही थीं। उसकी चितवन से हिंसा के शरारे बरस रहे थे। उसके चेहरे पर क्रूरता का उल्लास था।

पर-कटी कबूतरी के सामने बाज़ है; घेरे में पड़ी हरिनी के सामने बाघ है—बेला के सामने दिनेश है!

दिनेश हँसता हुआ उठा और कमरे में पैर रक्खा। बेला चिल्लाई और तीर की तरह भागी। बाहर आते-आते चौखट से ठोकर खा, तिलमिला कर जमीन पर जा पड़ी। कुल्हे में चोट पाकर वह सन्न हो गई।

दिनेश ने नजदीक आकर उसके सर पर हाथ फेरा, कान में झुक कर न जाने क्या कहा और फिर जोर से एक क़हक़हा लगाया। वह हँसी की आवाज़, हहास बांधती हुई आंधी के अट्टहास में विलीन हो गई।

दिनेश ने लापरवाह उसे हाथों से उठा लिया। जल्लाद की आंखों में करुणा का एक कण भी न था; उसके दिल के पहलू में लिहाज़ की एक रेखा भी न थी।

दीवार खसी नहीं, ज़मीन धँसी नहीं। तारा टूटा नहीं, आसमान फटा नहीं, मगर हाय ! एक अबला के जीवन-पारिजात का अमूल्य सौरभ लुट गया ! !

अब बाकी ही क्या रहा ? जब बांध ही टूट पड़ा, तब बाढ़ के रेलने में दिक्क़त ही क्या थी ? वह बिचारी लाख रोती-छटपटाती, हाथ जोड़ती, पैरों पड़ती; लेकिन पत्थर पसीजा नहीं––शैतान का पंजा कभी ढीला न पड़ा !

आखिर बेला दलदल में जा फंसी। उसके पैर भारी हो चले......................"

चित्रण संयत है। कलात्मक है। प्रभावपूर्ण है। विवरण नहीं हैं, किन्तु कला के लिए उसकी अधिक आवश्यकता भी नहीं। इसी चित्रण में यदि इस अवसर पर बेला और दिनेश के झपट-लपट, चेष्टा-कुचेष्टा आदि की प्रत्येक क्रिया-प्रतिक्रिया का चित्रण होता, तो वही अनिष्टकारी हो जाता; और मेरा विश्वास है कि पात्र के व्यक्तित्त्व के उभार में इससे अधिक सहायता भी न मिलती।

व्यक्ति के जीवन का दूसरा पहलू वह है जिसमें उसके अपनेपन का कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। संकुचित दृष्टिकोण से देखने पर मिलने वाला उसका अपना व्यक्तित्त्व समाप्त हो जाता है। अकेले में वह चाहे जो कुछ हो, हमारे सामने आने पर वह अपने समाज का प्रतिनिधि होता है। प्रश्न यह उठता है कि क्या व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन समाज के प्रभावों से मुक्त हो सकता है। समाज से अलग अपने घर में हमारा जो जीवन है, वह क्या समाज का प्रतिनिधि जीवन नहीं है ? और यह प्रश्न ठीक भी है। हम अपने घर में जैसे रहते हैं, जो कुछ खाते-पहनते हैं, जैसा कुछ सोचते हैं, और जैसा व्यवहार करते हैं, वह हमारे अपने समाज का प्रतिनिधि होता है; और यही वह आधार है जिससे हम व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन के अन्दर समाज का रूप भी दिखा सकते हैं। यदि ऐसा न होता, तो इस प्रकार के पात्रों का निर्माण कभी भी न हो सकता––और यदि होता भी तो वह बड़ा विचित्र लगता–– जो समाज का प्रतिनिधित्व कर सकते। किन्तु व्यक्तिगत जीवन में और समाज का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति के जीवन में थोड़ा-सा अंतर होता है। पहले में दूसरे की अपेक्षा स्वतन्त्रता कुछ अधिक रहती है। यों समझिए कि दूसरे में व्यक्ति समाज की मान्यताओं और परम्पराओं से बँधा रहता है। आई० एन० ए० में अभिवादन के लिए 'जयहिन्द' प्रचलित था। अब उसका कोई सैनिक अपने किसी संबंधी से मिलने पर यदि 'रामराम' कहता है तो इसकी उसे स्वतन्त्रता है, किन्तु जब उसे आई० एन० ए० के प्रतिनिधि के रूप में चित्रित करेंगे, तो उससे 'जयहिन्द' कहलाएंगे। ऐसा न करने पर उसका अभिवादन प्रतिनिधि अभिवादन न रह जायगा। हिन्दी उपन्यासों के पात्रों के इस विकास को हम 'प्रतिनिधि पात्र' का विकास कह सकते हैं। ऐसे पात्रों में समाज या वर्ग की विशिष्टताएं प्रतिष्ठित की जाती हैं। उसके जीवन का वही भाग चित्रित किया जाता है, जिसमें वे विशिष्ट-

प्रतिनिधि पात्र

ताएं उभर कर हमारे सामने आ सकें। 'गोदान' के सभी पात्र ऐसे ही हैं। भगवती चरण वर्मा के 'चित्रलेखा' (१९३४ ई०) में चित्रलेखा और कुमारगिरि प्रतिनिधि पात्र नहीं। उसका अपना-अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्त्व है।

हिन्दी उपन्यासों के पात्रों की अंतिम परिस्थिति वह आती है, जब वे प्रतिनिधित्व तो करते हैं, किन्तु एक दूसरे रूप में। प्रतिनिधि की उपर्युक्त अवस्था को हम भौतिक जीवन का प्रतिनिधित्व या मूर्त्त प्रतिनिधित्व कह सकते हैं। इसमें जीवन की बाहरी बातों का प्रतिनिधित्व होता है, जैसे खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज, विश्वास-अंधविश्वास, आदि। विचारों का प्रतिनिधित्व बहुत कम और बहुत मूर्त्त रूप में होता है। बहुत मोटी-मोटी बातें कही जाती हैं। अगले विकास में पात्र विचारों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। उनकी बातचीत, रहन-सहन आदि से विचारविशेष को ही पुष्टि मिलती है। इसमें जीवन प्रायः समाप्त हो जाता है, और यदि वह रहता है तो उतना ही जिससे प्रधानतः विचारधारा की ही अभिव्यंजना हो। इस प्रकार के पात्रों के चित्रण में रेखाएं दो प्रकार से खींची जाती हैं। एक में विचार-विनिमय और तर्क-वितर्क कराया जाता है; दूसरे में कथावस्तु और घटनाओं आदि की योजना उस ढंग की होती है कि उससे बनकर सामने आने वाला जीवन आप से आप कह दे कि वह किस विशेष विचारधारा पर आधारित है। स्पष्ट है कि दूसरे प्रकार के पात्रों में मनोरंजकता और कलात्मकता अधिक है। पहले प्रकार के पात्रों की बातें पढ़ते-पढ़ते कुछ ऐसा लगने लगता है कि हम उपन्यास नहीं, बल्कि राजनैतिक सिद्धान्तों की व्याख्या पढ़ रहे हैं। तबियत ऊब जाती है। मन में आने लगता है कि यदि यही है, तो उपन्यास रख कर राजनीति शास्त्र या दर्शन शास्त्र की पुस्तकें ही पढ़ें। दूसरे प्रकार के पात्रों से परिचय प्राप्त करना और उनके क्रिया-कलाप से उनकी विचारधारा का निष्कर्ष निकालना अच्छा लगता है। दोनों प्रकार के पात्रों की एक-एक कहानी होती अवश्य है किन्तु पहले में कहानी और विचारतत्त्व प्रायः अलग होते हैं। कभी-कभी ही उनका मिश्रण हो पाता है। भगवती चरण वर्मा के 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' (१९४६ ई०) के रामनाथ, दयानाथ, उमानाथ, प्रभानाथ, वीणा आदि पात्र ऐसे ही हैं। दूसरे प्रकार के पात्रों के चित्रण में कहानी की प्रधानता रहती है। विचार-विनिमय कभी-कभी ही होता है, और जितना होता है उतना वैसा ही जो अस्वाभाविक न लगे। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के 'गिरती दीवारें' (१९४६ ई०) में चेतन, कविराज रामदास आदि ऐसे ही पात्र हैं। यशपाल भी इस प्रकार के पात्रों की सृष्टि करने में पटु हैं।

प्रतीक पात्र

भाषा-शैली

हिन्दी में उपन्यास का भाषा पर और भाषा का उपन्यास पर बड़ा अच्छा और महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है—पड़ता आया है। उपन्यासों में हिन्दी भाषा का अच्छे से अच्छा और सुन्दर से सुन्दर रूप मिलता है। यह रूप हिन्दी साहित्य के तात्कालिक

अन्य अंगों की-कहानी को छोड़ कर-भाषा से अधिक व्यावहारिक और प्रांजल होता है। हिन्दी भाषा की वास्तविक प्रकृति को यदि साहित्य के किसी अंग विशेष ने पहचाना और अभिव्यक्त किया है, तो वह उपन्यास ही है। प्रेमचन्द के उपन्यासों की भाषा इसका उदाहरण है। जिस समय लोग हिन्दी के असली रूप की खोज में इधर-उधर भटक रहे थे, संस्कृतनिष्ठ हिन्दी जिस समय लोगों पर रोब डाले हुए थी, अस्वाभाविक उर्दू जिस समय (अंग्रेज़ी के अतिरिक्त क्योंकि वह तो प्रधान भाषा थी ही) लोगों के मन में बसाई जा रही थी और बस ही गई थी (यदि कुछ भी असावधानी और होती तो), उस समय प्रेमचन्द के उपन्यासों ने हिन्दी भाषा का बहुत सुन्दर रूप हमारे सामने रक्खा—व्यावहारिकता के निकटतम, मुहावरों से मँजी हुई, हिन्दी-भाषा-भाषी जनता की की प्रकृति के अनुकूल। उपन्यासों की यह भाषा सभी प्रकार के उपन्यासों और उपन्यास-लेखकों के हाथों में पड़कर एक-सी ही नहीं निखरी; किन्तु साहित्य के अन्य अंगों की भाषा की अपेक्षा उपन्यास क्षेत्र में उसका रूप जीवन के अधिक समीप रहा। उपन्यास में उसके लिए उचित अवसर मिल सकने की सम्भावना अधिक रहती भी है। आज भी हम रांगेय राघव के 'घरौंदे' (१९४६ ई०) में हिन्दी का स्वस्थतम रूप देख सकते हैं। इस उपन्यास के कुछ स्थानों पर तो भाषा बहुत ही प्यारी लगती है। संधि-समास, द्वित्व आदि से मुक्त प्रायः उपनागरिका एवं कोमलावृत्तियों के वर्ण, सुन्दर प्रभाव, उनकी चित्रमयता, आदि सब प्रशंसनीय हैं। शब्द-भंडार तत्सम, तद्भव और देशज शब्दों से परिपूर्ण है। आज के विदेशी शब्द भी स्वतन्त्रता के साथ किन्तु हिन्दी की प्रकृति के अनुसार हिन्दी के अपने-से बनाए जाते हुए प्रयुक्त हुए हैं।

उपन्यास का शैली-भाषा पर प्रभाव

इस प्रकार उपन्यासों ने हिन्दी को अनेक प्रकार की शैलियां दी हैं। उनमें लेखक की काल्पनिकता, उसकी बौद्धिकता, उसकी वर्णनात्मकता आदि सबके लिए स्थान है। राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह और 'उग्र' आदि लेखकों के उपन्यासों में आलंकारिक, चित्रात्मक तथा व्यंजना-प्रधान भाषा मिलती है। प्रेमचन्द में हिन्दी भाषा का वास्तविक, प्रौढ़तम और सुन्दरतम स्वरूप मिलता है। इसमें लोकोक्तियां, उक्तियों, आदि का प्रयोग है। साथ ही चित्रात्मकता भी है। इलाचन्द जोशी और 'अज्ञेय' आदि के उपन्यासों में कहीं-कहीं साहित्यिक भाषा का प्रौढ़तम स्वरूप, और कहीं-कहीं पात्रों की सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक स्थिति के अनुसार व्यावहारिक-सी भाषा मिलती है; किन्तु ध्यान रहे कि इस व्यावहारिकता की अपनी एक सीमा भी है। यह व्यावहारिकता वही है, जो प्रायः पढ़े-लिखे या विद्वान लोगों में, सभा-सोसाइटियों में, पाई जाती है। यह प्रेमचन्द के देहाती पात्रों की भाषा की व्यावहारिकता से दूर है। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के 'बिल्लेसुर बकरिहा'

अनेक शैलियाँ

(१९४१ ई०) और 'चोटी की पकड़' में अलंकार-रहित, ठेठ, व्यावहारिक, सशक्त और प्रौढ़ शैली मिलती है। वह व्यक्तित्त्व और परिस्थितियों, दोनों का चित्र खींचने में सफल है। इस प्रकार उपन्यासों ने हिन्दी भाषा को बहुरूपता प्रदान की। उसमें प्रौढ़ता, कलात्मकता और सामर्थ्य का समावेश किया।

व्यंग्य

उपन्यासों के अन्दर ही हास्य और व्यंग्य के अच्छे-अच्छे उदाहरण भी मिल जाते हैं। यह व्यंग्य कभी-कभी तो व्यंग्य के रूप में आता है, किन्तु कभी-कभी लेखक वर्णन करता चला जाता है और अवसर पड़ने पर बातों ही बातों में ऐसा व्यंग्य कर बैठता है जो सामान्य वर्णन-सा लगता हुआ भी काफी ज़ोरदार होता है। 'गिरती दीवारें' (१९४६ ई०) में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का व्यंग्यमय वर्णन देखिए :—

"यद्यपि इस समारोह में कोई बहुत बड़े संगीतज्ञ न आए थे, पर भीड़ काफी थी, क्योंकि विज्ञापन में कई लड़कियों के नाम भी थे, निम्नमध्यवर्गीय घरानों की लड़कियों के, जिन्हें वर-प्राप्ति के लिए गाने की शिक्षा लेनी पड़ती है, अपनी कला के प्रदर्शन का सुअवसर इन धार्मिक सम्मेलनों के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलता।"

वर्णनात्मक शैली

शैली का यह रूप हमें वहां मिलता है जहां उपन्यासकार सीधे-सादे ढंग से कहानी कहता है। उपन्यासकार घटनाओं को—कहानी के तथ्यों को—इस ढंग से कहता चलता है कि कहानी पढ़ने में पाठक को दिलचस्पी बनी रहे। उसका आकर्षण कम न हो। इसके लिए वह घटनाओं के क्रम में अदला-बदली भी कर सकता है। बातें कुछ इस ढंग से कहता है कि पाठक उसकी वास्तविकता पर इतना विश्वास कर लेता है कि उसकी खोज में लग जाता है। ऐसा ही एक ढंग राहुल सांकृत्यायन के उपन्यास 'सिंह सेनापति' (१९४५ ई०) में अपनाया गया है। उपन्यासकार ने एक कल्पित भूमिका बना कर उसमें लिखा कि अचानक एक ईंट मिली जिस पर कुछ खुदा हुआ था। एक पुरातत्त्ववेत्ता ने उस स्थान की खुदाई की, तो बहुत सी ईंटें मिलीं जिन पर यह कहानी खुदी हुई थी। वे ईंटें पटना म्यूजियम में रक्खी हैं। प्रकाशक ने लिखा है कि बहुत-से पाठक उन ईंटों को देखने की लालसा से पटना म्यूज़ियम तक चले गए। इसी प्रकार हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'वाणभट्ट की आत्म कथा' (१९४६ ई०) में एक योरोपियन महिला—'दीदी'—खोज करते-करते कुछ प्रमाण पा जाती है और उसी के आधार पर यह आत्मकथा लिख जाती है, जिसे लेखक प्रकाशित करवा रहा है। एक बार पाठक चक्कर में पड़ जाता है कि कहीं जो बात कही जा रही है, वही सही तो नहीं है। हम कह सकते हैं कि इस शैली में झूठ बोलने की वह कला है जिसमें से सच्चाई झलकती है।

वर्णन में उपन्यासकार उन तथ्यों को हमारे सामने कहता चलता है जिनके आधार पर उपन्यास की कथावस्तु निर्मित हुई है। इसकी भाषा सीधी-सादी होती है। इसमें

आलंकारिकता प्रायः नहीं होती। इन तथ्यों में एक तो घटनाएं होती हैं; और दूसरे, प्रदेश आदि उपकरणों के विवरण। इन विवरणों में लेखक उस वातावरण से अपना परिचय प्राप्त कर लेता है और धीरे-धीरे उससे अपना तादाम्य स्थापित कर लेता है। घटनाओं तथा उपकरण के विवरणों में प्रायः उचित अनुपात का ध्यान रक्खा जाता है। गोविन्द वल्लभ पंत के प्रायः सभी उपन्यास ऐसे ही हैं। मनोवैज्ञानिकता का उचित उपयोग इसे और भी सुन्दर कर देता है। इस शैली का एक वह भी स्वरूप है जिसमें लेखक विभिन्न अवसरों पर अपनी तटस्थता छोड़ देता है। सामने आ कर 'प्रिय पाठक वृन्द' आदि संबोधनों के द्वारा पाठकों से साक्षात् सम्पर्क स्थापित कर लेता है। ऐसे अवसर या तो वे होते हैं जब उपन्यासकार पात्रों का वर्णन करते-करते भावावेश की मार्मिक अवस्था पर पहुंच जाता था, या जब उसके वर्णन में एकांगिता—असामंजस्य—बढ़ने लगती थी। इतना सब होने पर भी यह वह ढंग था जिसे हम कलात्मक नहीं कह सकते। इससे पात्रों के प्रति उपन्यासकार की प्रतीयमान तटस्थता समाप्त हो जाती थी। फिर, सूत्रधार की भांति उपन्यासकार का कभी सामने आ जाना और कभी छिप जाना मनोविज्ञान और कला की दृष्टि से अच्छा भी नहीं था। समरसता नष्ट हो जाती थी। उपन्यासकार उपन्याम का कोई पात्र तो होता नहीं था। बे बुलाए आ जाता था! यह अस्वाभाविक भी था। आगे चलकर उच्चकोटि की रचनाओं से यह चीज हट गई।

वर्णन कला

संभाषण ने मिलकर वर्णनात्मकता को और अधिक रोचक बना दिया। होता यह है कि लगातार वर्णन या विवरण को ही पढ़ते-पढ़ते पाठक का मन ऊब उठता है। वह उसमें कुछ परिवर्तन चाहता है। यह इसलिए भी चाहता है कि वर्णनात्मक लंबे-लंबे वाक्य पढ़ते-पढ़ते मस्तिष्क कुछ थक-सा जाता है, और इस प्रकार मनोरंजकता का तत्त्व समाप्त हो जाता है। तब वार्तालाप के छोटे-छोटे वाक्यों से—और यही उनकी स्वाभाविकता है—बहुत-कुछ आराम मिलता है। कृत्रिम संभाषण—जिसमें किताबी हिन्दी और लेखों की शैली, एवं भाषण की कला होती है—अच्छा नहीं समझा जाता। प्रेमचन्द के 'गोदान' अथवा भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में इस प्रकार के संभाषण कई हैं। इस दोष से मुक्त वे संभाषण, जो पात्रों की अवस्था, प्रकृति, स्थिति और परिस्थिति को ध्यान में रख कर लिखे जाते हैं, बहुत ही सुन्दर होते हैं। इन संभाषणों से पात्रों का चरित्र चित्रण भी होता है और कथानक को गति भी मिलती है। इन्हीं संभाषणों में हास्य और व्यंग्य के सुन्दरतम उदाहरण मिल जाते हैं। ये संभाषण ही उपन्यासों में कभी-कभी नाटकों का वातावरण ला देते हैं। यह नाट्य-तत्व उपन्यास की कहानी को और भी मनोरंजक बना देता है। आजकल के प्रायः सभी उपन्यासों में यह विद्यमान रहता है। इससे उपन्यासों में स्वाभाविकता और बढ़ जाती है।

संभाषण

उपन्यासों के अन्दर जिस दूसरे ढंग की शैली का विकास हुआ है, वह है व्याख्यात्मक शैली। इसके द्वारा उपन्यास की उन वस्तुओं की व्याख्या की जाती है जो स्वभावतः पाठकों की उत्सुकता को जाग्रत कर देने भर ही में समर्थ होती हैं। उनके उचित उत्तर के लिए पाठकों को उपन्यासकार के कथन की आवश्यकता होती है। यह उत्सुकता कई प्रकार की होती है। कथानक में नाटकीय कौतूहल लाने के लिए कभी-कभी उपन्यासकार बातों को रहस्यात्मक ढंग से उपस्थित करता है। उसको इस रहस्यात्मकता को स्वाभाविकता का रूप देने के लिए उपन्यासकार को उक्त घटना की व्याख्या करनी पड़ती है। इस व्याख्या के लिए उपन्यासकार फिर घटनाओं का सहारा लेता है। 'परदे की रानी' (१९४१ ई०) में इलाचन्द जोशी ने प्रारम्भ में परदे की रानी को एक रहस्य के रूप में हमारे सामने रक्खा है। उसके इस रहस्य का उद्‌घाटन घटनाओं के वर्णन के ही द्वारा उपन्यास के लगभग आधे भाग तक पहुंचने पर होता है।

उत्सुकता की व्याख्या

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि घटनाएं बड़े आश्चर्यजनक रूप में हमारे सामने आती हैं। हम चीज को कुछ का कुछ समझ लेते हैं। ध्यान में यह रखना चाहिए कि ऐसी विचित्रताएं अकारण नहीं होतीं। वे किसी मानसिक अस्वस्थता के कारण होती हैं। इन्हीं कारणों के उद्‌घाटन के लिए उपन्यास को व्याख्यात्मक शैली का आधार लेना पड़ता है। यह व्याख्या प्रायः मनोवैज्ञानिक अध्ययन एवं विश्लेषण के सहारे होती है। उक्त घटना के पूर्व पात्र किस विशेष परिस्थिति में था, उस परिस्थिति में किसकी किस बात ने उस पर कौन प्रभाव डाला था, आदि—ऐसी ही कुछ चिन्तन-पद्धति होती है जिसके सहारे उस घटना विशेष की व्याख्या होती है। इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक अध्ययन में इलाचन्द जोशी की कला निखरी है। 'निर्वासित' में (१९४६ ई०) महीप नीलिमा के साथ उसी के कहने के अनुसार स्टेशन पर जा कर कानपूर के लिए टिकट खरीद लाता है। इस बीच में नीलिमा रोकर स्टेशन पर एक हंगामा खड़ा कर देती है और महीप को बड़ी ही अपमानजनक स्थिति में खड़ा कर देती है। अब इस घटना और नीलिमा की इस रहस्यमय मानसिक अवस्था की व्याख्या उपन्यासकार आगे चल कर करता है कि किस प्रकार मां की बातों तथा ऐसे ही अन्य कारणों से वह उद्विग्न और विक्षिप्त-सी हो चली थी। ऐसी कलात्मक व्याख्याओं का आनन्द और इस व्याख्यात्मक शैली का कलात्मक स्वरूप हमें इलाचन्द जोशी और 'अज्ञेय' के उपन्यासों में ही मिल सकता है। इस व्याख्या में बौद्धिकता अर्थात् मनोविज्ञान के अध्ययन की प्रधानता होती है। पात्रों का प्रायः मनोवैज्ञानिक विश्लेषण होता है।

चरित्र या घटना की व्याख्या

व्याख्यात्मक शैली का एक साधारण रूप हमें प्रायः सभी उपन्यासों में मिलता है। इसमें लेखक समस्त स्थितियों और अवस्थाओं की व्याख्या सीधे-सादे ढंग पर करता

है। ये परिस्थितियां और अवस्थाएं पात्रों की भी होती हैं, और घटनाओं की भी। पात्रों की व्याख्या के समय यह शैली पात्रों की सामान्य विशेषताओं या विशिष्टताओं—गुणों और अवगुणों—को सामने ला कर उस पर हलकी-सी सम्मति भी देती चलती है। घटनाओं की व्याख्या के समय यह शैली दार्शनिक तथ्यनिरूपण का स्वरूप धारण कर लेती है। इस प्रकार कुछ सुन्दर सूक्त वाक्य मिल जाते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों में ऐसी मनोवैज्ञानिक, नीतिपरक या दार्शनिक सूक्ति प्रधान व्याख्याएं बहुत मिल जाती हैं। अन्य उपन्यासकारों में ऐसी सूक्ति प्रधान इतनी व्याख्याएं तो नहीं हैं, किन्तु ये व्याख्याएं किसी न किसी रूप में रहती अवश्य हैं। उपदेश प्रधान उपन्यासों में उनका दूसरा रूप था; उपन्यास-कला प्रधान उपन्यासों में दूसरा, और अब विचार प्रधान उपन्यासों में एक दूसरा ही। पहले में नीति की प्रधानता, उसके बाद वाले में कला, मनोवैज्ञानिक अध्ययन और विश्लेषण की, और अब विचारों की। विचार प्रधान उपन्यासों में व्याख्या का एक रूप देखिए। कालेज में उपस्थिति की संख्या बढ़वाने के औचित्य और अनौचित्य पर विचार करते समय रांगेय राघव 'घरौंदे' में कहलवाते हैं :—

साधारण व्याख्याएं

"जो मेहनत नहीं करता उसे खाने का अधिकार नहीं है। जो गैरहाजिरी में कमाल करता है, उसे इम्तहान में बैठने की गुंजाइश नहीं होनी चाहिए। यह एक कानून है। लेकिन संसार में आज दोनों ही बातें नहीं हैं, जैसे यद्यपि हर धर्म में झूठ बोलना मना है, धर्म के लिए लड़ने वाले अपने-अपने धर्म को बचाने के लिए उसी एक हथियार को काम में लाते हैं।"

ये व्याख्याएं कभी-कभी व्यंग्य का रूप धारण करती-सी लगती हैं। उसी पुस्तक के तीन छोटे-छोटे वाक्य देखिए :—

"पुरुष का सुख धन है, स्त्री का सुख धनी पुरुष है।"

"वेश्या बच्चों का गर्भपात नहीं करातीं, कुलीन वर्गों की स्त्रियों का ही यह भूषण है।"

"प्रेम पुरुष और स्त्री के मानसिक व्यभिचार का दुष्परिणाम है, क्योंकि प्रेम की असली वेदना है हमारे समाज का युग-युगांतर का निषेध, और जो वस्तु निवृत्ति के झूठे स्वरूप की छाया है, वह कभी भी ग्राह्य नहीं हो सकती।"

इनका प्रयोग उपन्यासों के लिए अब अनिवार्य सा हो गया है।

शैली का तीसरा रूप हमें भाषा की चित्रात्मकता में मिलता है। अतएव इस शैली को हम चित्रात्मक शैली कह सकते हैं। इस शैली का प्रधान उद्देश्य है चित्रण करना। चित्रण के विषय कई हैं। उनमें से एक महत्त्वपूर्ण विषय है प्रकृति। यहां प्रकृति का तात्पर्य बाह्य प्रकृति है। कथानक में सजीवता लाने के लिए और उसे तथा पात्रों को समुचित

चित्रात्मक शैली प्राकृतिक दृश्य

पृष्ठभूमि देने के लिए बाह्य प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों का चित्रण करना पड़ता है। इसके लिए उपन्यासकार अपने अन्दर उतनी ही निरीक्षण-शक्ति, चयन की कुशलता, सहृदयता और कल्पना दिखाता है, जितनी इसके लिए कवि को अपेक्षित होती है। सरिता, सरोवर, वन, उपवन, ऊषा, संध्या, जलद, चन्द्रमा आदि चित्रित होते हैं। इनमें यथानुकूल अलंकारों को भी स्थान मिल जाता है। कहीं-कहीं इनका चित्रण उद्दीपन के रूप में होता है और कहीं-कहीं स्वतन्त्र रूप में। इस प्रकार के चित्रण सभी अच्छे उपन्यासों में यथावसर मिलते हैं। जो उपन्यासकार जितना ही भावुक होता है, उसके अन्दर यह चित्रण उतने ही श्रेष्ठ रूप में मिलता है। यह चित्रण पाठकों के मनःचक्षु के सम्मुख तत्कालीन प्राकृतिक दृश्य का सजीव चित्र उपस्थित कर देता है।

अंतः प्रकृति

इस चित्रात्मकता का दूसरा रूप हमें अन्तःप्रकृति के चित्रण में मिलता है। इसमें उपन्यासकार पात्रों की विभिन्न मानसिक अवस्थाओं—भावों, अनुभावों, एवं मनोभावों—का चित्रण करता है। इस चित्रण के लिए उपन्यासकार अनेक उपादानों का आश्रय लेता है। उनमें से कुछ ये हैं:—बाह्य प्रकृति, पात्र के अपने संगत या असंगत कार्य, जीवन और जगत की अनेक भौतिक वस्तुएं, इत्यादि। माध्यम होता है उपमा या रूपक आदि। कभी-कभी अभिधात्मक चित्रण भी होता है। उपन्यासकार प्रत्येक संभव उपाय से अपने पात्र की असाधारण मानसिक अवस्था का ऐसा चित्र उपस्थित कर देता है कि पाठक को भी उसकी अनुभूति न्यूनाधिक उसी तीव्रता के साथ हो जाय। 'परख' (१९३० ई०) में जैनेन्द्र कुमार ने कट्टो की भावुक प्रकृति का चित्रण उसके कार्यों के माध्यम से किया है। 'सराय' (१९४० ई०) में रेखा, लता, दिनेश की मानसिक अवस्थाओं का चित्रण इस प्रकार भी हुआ है। इस प्रकार यह शैली मानसिक अवस्थाओं का भी चित्रण करती है और मन के भावों का भी। रांगेय राघव के 'घरौंदे' (१९४६ ई०) से कुछ उदाहरण लीजिए। निम्नलिखित पंक्तियों में नारी के अतृप्त हृदय का भाव-चित्र देखिए :—

"ऊषा ने पूछा—'तुम्हारा हृदय कालेज में तृप्त है?'

इंदिरा कुछ उत्तर न दे सकी। कामना का एक फूल उसने बहती धारा पर छोड़ दिया था। वह बहने लगा। बहते-बहते आंखों से ओझल हो गया। उसने आंखें बंद कर लीं। जब फिर आंखें खोलीं, तब चारों ओर अंधेरा छा गया था। व्याकुल होकर देखा आकाश की ओर। वह एक छोटा-सा टिमटिमाता तारा था............।"

एक दूसरा चित्र देखिए। कालेज की टीम के हार जाने पर सारी की सारी परिस्थिति का भावचित्र इन कुछ पंक्तियों में बहुत ही मुखरित हो उठा है:—

"खिलाड़ियों के सारे कपड़े पसीने से तर थे। टीम हार गई थी, जैसे किसान खेती कर के खड़ा था, मगर ज़मींदार के कारिंदे उसकी मेहनत को छीन ले गए थे, अपने लिए नहीं, दूसरों की सल्तनत का एक नया खम्भा बनाने के लिए।"

यहां प्रेमचन्द की कला याद आ जाती है ।

इस प्रकार मानसिक चित्रण में कभी-कभी पूरे का पूरा अध्याय लगा दिया जाता है ।

यह चित्रण कभी-कभी बिल्कुल प्रतीक का स्वरूप धारण कर लेता है । ऊपर कहा जा चुका है कि मानसिक चित्रण में कभी-कभी रूपक का भी सहारा लिया जाता है ।

प्रतीक चित्रण मनोवृत्ति

रूपक के सहारे किया गया चित्रण जब स्वतन्त्र रूप से किया जाता है तब इस प्रकार का चित्रण मिलता है । ये चित्रण अपने आप में स्वतन्त्र होते हैं । धनी और गरीब मस्तिष्क की मनोवृत्तियों का और समाज के साथ उनके सापेक्षिक संबंध का एक प्रतीक चित्रण 'घरौंदे' में ही देखिए :—

"सिगरेट का पैकेट बीड़ी के बंडल से सटा पड़ा है । सिगरेट को पैसे का नाज़ है, बीड़ी को अपने पीने वाले की मेहनत का ।

सिगरेट कहती है—मैं कितनी गोरी हूँ, सुन्दर ! सुन्दर !

बीड़ी कहती है—मैं आती आंधी के रंग की हूँ, मैं फौजों की वर्दी हूँ ! और तू ?

सिगरेट बड़बड़ाती है—अरी मेरा रंग रुपए का सा है, तेरा ?

बीड़ी भुनभुनाती है—सिगरेट चांदी की पन्नी से उझक कर देखती है ।

'अरे', कोई कहता है, 'दो डबल का बीड़ी का बंडल तो देना ।'

तभी कोई हलके से मगर घमंड से कहता है—'प्लेयर्स नेवीकट एक पैकेट !'

और चवन्नी की हल्की खन्न की आवाज ।

पहले सिगरेट; फिर बीड़ी, और जैसे दो पैसे का बंडल एक अहसान-सा हुआ है ।"

जिस प्रकार मनोवृतियों का प्रतीकात्मक चित्रण होता है, उसी प्रकार विभिन्न

व्यक्तित्त्व का प्रतीक चित्रण

व्यक्तियों का भी प्रतीक चित्रण मिलता है । इसका आधार है आंतरिक भावचित्रों का साम्य । ऐसा चित्रण केवल व्यक्ति का ही नहीं, समष्टि का भी, और मूर्त्त का ही नहीं अमूर्त्त का भी होता है । 'घरौंदे' से एक और उदाहरण लीजिए :—

"जो बादल गरजता है, लोग कहते हैं, बरसता नहीं, कभी-कभी बरस भी जाता है, तब संसार आकाश की ओर देखता है; वह रानी है ।

अंधड़ उठता है, और जब पानी की जगह धूल बरसती है, तब संसार क्रोध करता है; वह मैक्सुअल है ।

पानी बहता है, बहता जाता है, तप्त बालू में सूख जाता है, पहाड़ों में आग लगा देता है; वह हरी है ।

एक कछुआ है; वह जीवन है, समाज है ।

एक खरगोश है; वह यौवन है, व्यक्ति है ।

एक दौड़ है; वह स्पर्द्धा है, मंजिल का अंत नहीं है ।"

'घरौंदे' का एक अन्य प्रतीक चित्रण देखिए। इसकी शैली और कल्पना में नवीनता है। यह पागलों के प्रलाप की तरह लगता है किन्तु है नहीं। है इसमें एक बड़ा तीव्र व्यंग्य। इसमें भारत की तात्कालिक अवस्था की बड़ी गहरी चुटकी ली गई है। पढ़िए :—

युग की प्रवृत्ति या परिस्थिति का प्रतीक चित्र

"एक ओर मुहम्मद गोरी बैठता है, दूसरी तरफ पृथ्वीराज। काश! मैकाले से मुलाकात होती, तो वह आज कितना खुश नजर आता! जिम्मेदारियों का कितना लाजवाब फायदा उठाया जाता है। यहां से रोशनी फैल रही है, यहां इंगलैंड की पूरी डिमोक्रेसी की झलक है। कोयला एक दिन केटली से कह रहा था, बड़ी काली है तू! हरी क्या? काम रुकने पर खुदा को भी टाल दिया जा सकता है। यह मकड़ी का जाला ज़हर से भिगोया जा चुका है, कोई इसमें से बाहर नहीं जा सकती, कैसी भी मक्खी क्यों न हो?"

कल्पनाओं और अलंकारों का अत्यधिक सहारा लेने पर यही शैली आगे बढ़कर पूर्णरूपेण आलंकारिक शैली हो जाती है। वैसे, आलंकारिकता की झलक पिछले उदाहरणों में भी है, किन्तु वहां वह इतनी स्वतन्त्र नहीं। वह शैली पूर्ण रूप से खुलकर यहां इसलिए नहीं खेलने पाती कि तब प्रधानता उसी की हो जायगी, और उपन्यास का कथात्मक तत्त्व क्षीण होता जायगा। पिछले युग में चंडी प्रसाद 'हृदयेश' के उपन्यासों और कहानियों में इसने दोष का रूप धारण कर लिया था। अतएव इसकी अधिकता पर यथासंभव नियंत्रण रक्खा जाता है। वैसे, उपन्यासकार आवश्यकता पड़ने पर इसका उपयोग करने के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आलंकारिता पहले सब किसी के लिए हो सकती थी और आज भी साधारण कोटि के उपन्यासों में इसके ऊपर कोई रोकटोक नहीं। वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों में इसका उपयोग बहुत ही संयत ढंग से हुआ है। वहां यह प्रकृति चित्रण के लिए भी है और सौन्दर्य चित्रण के लिए भी। सौन्दर्य चित्रण में इसका स्वरूप बहुत ही मर्यादित है। उसका प्रयोग बहुत ही मार्मिक स्थलों पर हुआ है। कुछ स्थल देखिए :—

आलंकारिक शैली

"कुमुद ने अंगूठी वाले हाथ में गेंदे का फूल ले लिया। हाथ, सोने, हीरे, और गेंदे के फूल के रंगों में आधे क्षण के लिए स्पर्द्धा-सी हो उठी।"[1]

कचनार बोली तो "मानसिंह को ऐसा भासा मानों कमलों से भरे हुए किसी हलके तरंगों वाले तालाब को किसी तैरने वाले ने कूद कर हिलोर दिया हो।"[2]

'झांसी की रानी' (१९४६ ई०) में इसका प्रयोग बहुत ही मार्मिक ढंग से हुआ है। वहां काव्य कल्पनाओं का उपयोग रानी के चित्रण में, देश की आदर्श नारियों के

१. 'विराटा की पद्मिनी'
२. 'कचनार' (१९४७ ई०)

चित्रण में, भावपूर्ण एवं मार्मिक स्थलों पर, या देशभक्ति को भी तड़प में उछाल देने वाले हृदयस्पर्शी स्थलों पर हुआ है। इन उपमाओं का एक और स्वरूप यह है कि प्राकृतिक दृश्यों की उपमा जीवन के कठोर और चुभते हुए सत्य से दी जाय। उदाहरण के लिए 'घरौंदे' में आधी रात का चित्रण करता हुआ उपन्यासकार लिखता है :—

"रात का अँधेरा हवा में हिल रहा है। आकाश में अनंत तारे बिखरे पड़े हैं, जैसे रईस की लाश के पीछे कोई चमकते सिक्के बिखराए हो, और जब भिखारी अंधकार उसे लूट कर जीवित रहने को संघर्ष करता है, वह रह-रह कर उस दयनीय तृष्णा पर हँस उठता है।"

इस प्रकार उपन्यासों में भाषा आवश्यकता के अनुसार अनेक शैलियों का रूप धारण कर के हमारे सामने आई है। इस दृष्टि से देखने पर वह बहुत ही सुंदर हो चली है।

भाषा-दोष

किन्तु कहीं-कहीं उपन्यासकारों की असावधानी से भाषा की बड़ी भद्दी-भद्दी भूलें मिल जाती हैं। ये भूलें प्रारंभ से लेकर आज तक के उपन्यासों में बराबर मिलती चली आ रही हैं। इन भूलों का एक कारण प्रूफ रीडर की असावधानी या अनधिकार चेष्टा भी है। फिर भी एक युग तक इतनी भूलों का बराबर मिलते रहना हिन्दी के लिए अपमानजनक बात है—चाहे वह लेखक का दोष हो, चाहे प्रकाशक का। शुद्धिपत्र जोड़ कर माफी मांग लेना और न मांग लेना कोई महत्त्व नहीं रखता। यह बहुत लचर बचाव है। आवश्यकता सतर्कता की है। तो, भाषा की ये अशुद्धियां कुछ इस ढंग की हैं :—

'गिरती दीवारें' में २२७ वें पृष्ठ पर कविता समाप्त 'करते करते' में 'करते करते' की जगह 'होते-होते' होना चाहिए क्योंकि कविता समाप्त करने का कार्य कवि करता है, न कि जनता।

'सुमंगला' (१९४७ ई०) में 'सारा वृत्तांत श्रवण किया' में 'श्रवण किया' की जगह 'सुना' कहीं अधिक अच्छा होता।

'गिरती दीवारें' में "...... कुएं की जगत से कूद कर उसके पीछे भागते हुए सहेली और वह—दोनों—चेतन के पास से गुजर गईं" में 'भागते हुए' की जगह 'भागती हुई' होना चाहिए।

राहुल सांकृत्यायन ने 'शैतान की आंख' में 'प्रथम ही से', 'काहें', 'शिर से पैर तक', 'तजर्बा ने', 'लिखे अनुसार', 'वह थपेड़े', 'नाविक क्या बतलाया है', आदि प्रयोग किए हैं।

पं० मोहन लाल महतो 'वियोगी ने 'एकाकी' (१९४५ ई०) में 'हैंडअप' का प्रयोग कराया है। होना चाहिए 'हैंड्स अप'।

'बलिदान मंदिर' (१९४२ ई०) में गौरी शंकर मिश्र के कुछ प्रयोग देखिए :—

"कभी किसी नजारे में बलिदान की सुरीली और मनहर बांसुरिया तान चहचहाती हुई सुनाई देती है;" 'लाइन क्लियर' के लिए 'लाइन साफ'; 'कुर्बान-मंदिर' आदि।

वृंदाबन लाल वर्मा जैसे प्रौढ़ कलाकार के अंदर ऐसी अशुद्धियां अब तक मिलती आ रही हैं। 'कचनार' में 'मछली का शिकार खेली है', 'तरंगें पर तरंगें उठने लगीं', 'आराम करिए', 'मैंने युद्ध में भाग न ले पाया', आदि प्रयोग हैं। वे एक उपन्यास में लिखते हैं कि:—"भुजबल उन लोगों में से न था जो घास को थोड़ी देर भी अपने पैरों तले उगने देते हों।" इस प्रकार ये अशुद्धियां व्याकरण, शब्द-प्रयोग, मुहावरे, भाषा की प्रकृति की प्रतिकूलता आदि अनेक प्रकार की होती हैं।

वातावरण (देशकाल)

वातावरण के अभाव में उपन्यास की कल्पना की ही नहीं जा सकती। यह तत्त्व उतना ही आवश्यक है जितना शरीर के लिए रक्त और मांस। रक्त और मांस के बिना जैसा शरीर लगेगा वैसा ही वातावरण के बिना उपन्यास की कहानी। यों समझा जा सकता है कि जैसे परदे और वेशभूषा के बिना नाटक के दो अभिनेताओं का कथोपकथन।

महत्त्व

वातावरण के निर्माण का एक साधन है वर्णन। यह वर्णन कई चीजों का होता है। इनमें से एक है बाह्य प्रकृति। यह वर्णन पात्रों और उनके कार्यों के समय अथवा प्रदेश से संबंधित होता है। उनके लिए समुचित पृष्ठभूमि का कार्य करता है। यह वर्णन कभी-कभी स्वतंत्र होता है और कभी-कभी पात्रों की उस समय की मनोास्थिति के अनुसार। इन दोनों प्रकार के प्राकृतिक दृश्यों के वर्णनों में भावना एवं कल्पना की पुट भी रहती है। यदि कभी लेखक भावावेश में बह गया तो ये वर्णन आवश्यकता से अधिक लंबे हो जाते हैं। यदि नायक कवि हुआ और वह स्वयं प्रकृति का वर्णन कर रहा है तब ऐसा होना स्वाभाविक लगता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'बाणभट्ट की आत्म कथा' (१९४६ ई०) में ऐसे वर्णन काफी हैं। प्रेमचंद के 'गोदान', रंगभूमि', 'कायाकल्प' आदि उपन्यासों में ऐसे वर्णन बिखरे पड़े हैं।

वर्णनों के द्वारा: प्राकृतिक दृश्य

पात्रों के कार्यों के वर्णन भी महत्त्वपूर्ण हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में तो ये वर्णन बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। ऐतिहासिक एवं घटना प्रधान उपन्यासों में इन वर्णनों की पूर्णता लेखक के अपने अनुभव, अपनी कल्पना-शक्ति पर निर्भर रहती है। यदि निर्वाह हो गया तो ये बहुत ही उच्च कोटि के होते हैं। इनकी कलात्मक आयोजना की बहुत आवश्यकता होती है। यह सरल कार्य नहीं है। 'विराटा की पद्मिनी' में वृंदावन लाल वर्मा ने तोपों और गोलों के प्रलय के समान वातावरण के बीच में कुंजर सिंह और कुमुद के अंतिम मिलन—हृदय और हृदय की शुद्ध, स्वाभाविक और मर्यादित प्रणय-भावनाओं, दोनों, के मिलन—का वर्णन किया है। वीर रस और श्रृंगार रसों के आधार

कार्य

र वर्णित यह सुन्दर वातावरण निःसंदेह उच्च कोटि का होता है। राजनीतिक उपन्यासों में भी इससे बहुत सहायता मिलती है।

स्थान और प्रदेश के वर्णन में कभी-कभी छोटे-छोटे विवरण स्वाभाविकता ला देते हैं। गलियों, सड़कों, पगडंडियों के घुमाव, उनके आसपास का, घरों, और दूकानों आदि हजारों चीजों का औचित्य और आवश्यकता के अनुसार वर्णन भी वातावरण की सृष्टि करता है। ऐसा लगता है कि लेखक उस स्थान को देख रहा है या देख आया है और उससे हमारा परिचय करा रहा है। इनमें जिनसे लेखक का वास्तविक परिचय रहता है वे तो अच्छे होते हैं और उचित वातावरण बनाने में समर्थ भी होते हैं। जिनसे लेखक अपरिचित होता है या जिनका वर्णन केवल सुनी-सुनाई दो-चार बातों के सहारे करने बैठता है उनमें या तो वह असफल रहता है या कुछ अशुद्धियां कर बैठता है या उनमें सजीवता नहीं रहती।

स्थान

कभी-कभी उस विशेष समूह का वर्णन करने में —जिसकी कुछ अपनी विशिष्टताएं ऐसी होती हैं जो उसे सामान्यतः जनसमूह से अलग करती हैं— उपन्यासकारों को उनकी उन विशिष्टताओं का ही वर्णन करना पड़ता है। इस वर्णन के लिए या तो उनसे व्यक्तिगत परिचय प्राप्त किया जाता है या अध्ययन का सहारा लेना पड़ता है। वृन्दावन लाल वर्मा ने 'कचनार' में योगियों के रस का वर्णन करने में उनकी विशिष्ट रीतियों, पद्धतियों एवं परंपराओं के परिचय का उदाहरण दिया है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने शाक्तों की पूजा-पद्धति एवं बलिदान-पद्धति का वर्णन किया है जिसका आधार अध्ययन है। उदयगिरि (जिला भेलसा, ग्वालियर) की पांचवीं गुफा में प्राप्त बाराह की मूर्ति के आधार पर महा बाराह की मूर्ति का वर्णन है।

विशेष समूह

वेशभूषा का वर्णन भी वातावरण की सृष्टि करता है। वर्तमान समाज के वर्णन के समय उसमें कोई विशेष कठिनाई नहीं पड़ती, यद्यपि इतना अवश्य है कि इसमें भी सफलता उसी वेशभूषा के वर्णन में मिलती है जिससे लेखक परिचित रहता है। अन्यथा दो-चार मोटी-मोटी बातों के उल्लेख से ही सन्तोष करना पड़ता है। ऐतिहासिक पात्रों की वेशभूषा के वर्णन के लिए इतिहास एवं पुरातत्त्व के अध्ययन की आवश्यकता पड़ती है।

वेश-भूषा

आवश्यकता के अनुसार रीति-रिवाजों का भी वर्णन करना पड़ता है। इन वर्णनों से वातावरण में प्रादेशिकता, प्रादेशिकता से विशिष्टता और विशिष्टता से स्वाभाविकता आ जाती है। इससे एक गौण कार्य यह भी होता है कि पाठक भिन्न-भिन्न स्थानों और कालों के रीति-रिवाजों से परिचय प्राप्त कर लेता है। वृन्दावन लाल वर्मा ने 'झांसी की रानी—लक्ष्मी बाई' (१९४६ ई०) में नारियों के एक उत्सव का वर्णन किया है जिसमें साधारण

रीति-रिवाज

आमोद-प्रमोद के अतिरिक्त महिलाएं एक दूसरे से उनके अपने पति के नाम कहलवाती हैं और कहलवा लेने पर खूब आनंद मनाती हैं। इसी प्रकार उन्होंने 'कचनार' में दहेज में दासियों के दिए जाने की प्रथा या खाना पकाने के लिए चूल्हा जलाने के वास्ते पहले लकड़ी के धो लिए जाने की प्रथा का उल्लेख किया है। इनके लिए भी परिचय या अध्ययन की आवश्यकता पड़ती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसी और इस तरह की अनेक बातों के वर्णनों के द्वारा उपन्यासों में अभीष्ट वातावरण की सृष्टि की जाती है।

भाषा की शैलियों द्वारा: युग और शैली

वातावरण के निर्माण का दूसरा प्रधान साधन है पात्रों की भाषा। साधारण रीति से देखने पर तो यही मिलता है कि चाहे नाटक हो, चाहे उपन्यास, और चाहे कहानी, सब में इसके लिए पात्रों की भाषा का सहारा इस प्रकार लिया जाता है कि यदि पात्र मुसलमान हुआ तो उसके लिए हिन्दी की उस शैली का प्रयोग होता है जिसमें उर्दू में प्रयोग किए जाने वाले अरबी या फारसी के शब्दों की अधिकता होती है। यदि पात्र अंग्रेज या अंग्रेजियत में डूबा हुआ ईसाई बनाम हिन्दू या हिन्दू बनाम ईसाई हुआ तो उसकी भाषा में हिन्दी के व्याकरण का--विशेष कर क्रियाओं और कारकों का--अशुद्ध प्रयोग करा दिया जाता है और उच्चारण भी कभी-कभी गलत करा दिया जाता है, जैसे 'त' के स्थान पर 'ट'। हिन्दू पात्र साधारणतया संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक हिन्दी का प्रयोग करते हैं। प्रेमचंद के देहाती पात्र बहुत-कुछ अपनी भाषा बोलते हैं, किन्तु व्याकरण उसका भी प्रायः वही होता है जो हमारी साहित्यिक भाषा का। प्राचीन काल के पात्रों के लिए जिस भाषा का प्रयोग होता है वह है संस्कृतनिष्ठ भाषा। बौद्धयुग हो, पौराणिक युग हो या वैदिक युग हो, भाषा एक ही, संस्कृतनिष्ठ हिन्दी। इन शैलियों में बातचीत करा-के उपन्यासकार अपने उपन्यासों में अभीष्ट वातावरण की सृष्टि करता है। ऐसा भी होता है कि पढ़े-लिखे और विचारशील पात्रों की भाषा-शैली में और देहात के बे पढ़े बुद्धू पात्रों की भाषा-शैली में; कर्मठ व्यावहारिक व्यक्ति की भाषा में, और आलसी दार्शनिक की भाषा में अन्तर ला दिया जाता है। उपन्यासकार के अपने आदर्शों की अभिव्यक्ति कभी-कभी इसमें व्याघात उपस्थित कर देती है। अब ऐसी भूलें सामान्यतः कम होती हैं या किसी चरित्र में कभी-कभी ही होती हैं।

वर्णन और भाषा की शैली

वातावरण के निर्माण में जिस प्रकार संभाषण की भाषा की अनेक शैलियां सहायता करती हैं उसी प्रकार वर्णन में भी भाषा की अनेक शैलियों का उपयोग होता है। ऐतिहासिक उपन्यासों को देखने से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है। सिद्धांत वही है। जिस समय प्राचीन भारत के वातावरण का चित्रण करना होता है उस समय शैली में संस्कृतनिष्ठता बढ़ जाती है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग होने लगता है। जाति वाचक एवं भाव वाचक संज्ञाएं तक उसी युग की होती हैं।

इसके लिये उस युग के ग्रंथों का अध्ययन अथवा पुरातत्त्व का ज्ञान आवश्यक है। इस दृष्टि से यशपाल के 'दिव्या' (१९४५ ई०) की भाषा उनके 'देशद्रोही' आदि उपन्यासों से बिल्कुल भिन्न है। अस्त्र-शस्त्र आदि के नाम उसी युग के हैं यहां तक कि अँगौछे और तौलियों के लिए 'प्रौंच्छन-वस्त्र' का प्रयोग हुआ है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९४६ ई०) में इत्रदान के लिये 'सौगंध पुटिका', मोमबत्ती की पिटारी के लिए 'सिक्थ करंडक', पीकदान के लिए 'पतद्ग्रह', खूंटी के लिए 'नागदंत' के प्रयोग हैं। यह प्रयोग जब तक औचित्य के साथ होता है तब तक तो ठीक रहता है। इसकी सीमा समाप्त होने पर यह उपन्यास के कथा के सौंदर्य को नष्ट कर देता है। कवींदु बेनी प्रसाद वाजपेयी 'मंजुल' के 'दिव्य गन्धा' (१९४६ ई०) को इसी ने बिगाड़ दिया। वैदिक मंत्रों के आधार पर किए गए वर्णनों और नामों की सूचियों तथा वर्णनों ने सारा सौंदर्य नष्ट कर दिया। कथा में कोई कलात्मकता नहीं; मनोविज्ञान का कोई भी प्रयोग नहीं। रामरतन भटनागर के 'जय वासुदेव' (१९४७ ई०) और अंबपाली' (१९३९ ई०) उपन्यासों की भाषा में — शब्द-प्रयोगों में — ऐतिहासिकता भी है और उपन्यास कला में उनका उचित ढंग से उपयोग भी। राहुल सांकृत्यायन के उपन्यास अध्ययन और चिंतन के आधार पर लिखे गए हैं।

इस प्रकार वर्णन, और भाषा की विभिन्न शैलियों और शब्दों की युगानुकूलता के द्वारा हिन्दी की इस अवधि के उपन्यासों में वातावरण का निर्माण किया जाता है। कभी-कभी उपन्यास में वातावरण की ही प्रधानता हो जाती है। उसके रंग इतने गहरे हो जाते हैं कि सामंजस्य बिगड़ जाता है। सामान्यतः उसका उपयोग ठीक ढंग से होने लगा है।

उद्देश्य

हिन्दी के कुछ उपन्यास ऐसे हैं जिनके विषय में यह कहा जाता है कि वे केवल कला के लिए ही लिखे गए हैं। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', ऋषभ चरण जैन और चतुरसेन आदि के अधिकांश उपन्यास, जैसे 'बुधुआ की बेटी', 'दिल्ली का दलाल' आदि इसी कोटि में गिने जाते हैं। कला केवल कला के लिए ही हो, यह सिद्धांत पश्चिम का है। भारत का साहित्यिक आदर्श दूसरा रहा है। भारत में सहस्राब्दियों से निर्मित किए जाने वाले विशाल साहित्य की आत्मा रस है, और रस को उसने ब्रह्म से किसी भी भाँति कम नहीं माना : दोनों को एक ही माना है। रस के आनंद को ब्रह्मानंद का सहोदर माना गया है। सो, भारतीय साहित्य का संबंध परमात्मा—मानव मस्तिष्क के द्वारा सोची जा सकने वाली पूर्णता के सर्वश्रेष्ठ प्रतीक—से है।

भारतीय साहित्य में लौकिकता भी अलौकिकता के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है—शायद इसीलिए कि लौकिकता की बुराइयों से नये और स्वस्थ मस्तिष्क के विकृत हो सकने की संभावना भी न रह जाय। इस दृष्टि से लिखा गया साहित्य हमारे सामाजिक जीवन में घुलमिल चुका है। आधुनिक हिन्दी के भारतीय साहित्यिक

के पीछे ऐसे साहित्य की परम्परा है। उसका मनोविज्ञान ऐसे ही सामाजिक वातावरण में बनता है। नवीनता के आग्रह और बौद्धिकता के आकर्षण से हम थोड़ी देर के लिए भले ही अपने आदर्शों के प्रतिकूल सोचने लगें किन्तु क्या हमारी आत्मा, हमारा जीवन और हमारा मन इसे स्वीकार कर लेगा? और, यदि कर ले, तो क्या अवचेतन मन का अप्रत्यक्ष प्रभाव कुछ न पड़ेगा? इस स्थान पर इसलिए यह प्रश्न उठता है कि हिन्दी के कलाबाज़ लेखक क्या वास्तव में वैसे ही हैं जैसे वे दिखाई पड़ते हैं, या जैसा शायद वे कभी-कभी कहते हैं!

हिन्दी की पृष्ठ-भूमि-सामाजिक और मनो वैज्ञानिक

एक प्रश्न और उठता है। इन उपन्यासों की कला कला के लिए ही है। यह कुछ वैसा ही लगता है जैसे कोई कहे कि मैं केवल अपने लिए हूँ। यह तो स्वार्थ की पराकाष्ठा हुई। फिर, मान लीजिए कि उनकी कला कला के लिए है। यदि यह बात सही है तो ये लेखक अपनी कला के प्रति भी तो ईमानदार न रह सके। यदि ये कला के लिए ही लिख रहे थे तो इनके उपन्यासों की कला को उन उपन्यासों की कला से कहीं अधिक बढ़-चढ़ कर होना चाहिए जो किसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर लिखे जाते थे। किन्तु यह एक सर्व विदित तथ्य है कि कला की दृष्टि से इनके उपन्यास उच्चतम कोटि के न हुए। जैसे अन्य उपन्यास थे वैसे ही ये भी थे; बल्कि प्रेमचन्द आदि उपन्यासकारों के उपन्यासों की तुलना में इन लोगों के उपन्यासों की कला कुछ कमजोर ही ठंहरती है। और, इन उपन्यासों में होता क्या है? समाज की उन बुराइयों और वासना की उन अंधी उच्छृंखलताओं का चित्रण जिनका अस्तित्व छिपी-छिपी आंखों में, अंधेरे में, सब की आंखों से दूर, पाया जाता है। जिसके देखने वाले को हथिनी मार डालने पर तैयार हो जाती है और जिसके देखने वाले को बन्दर काटने की धमकी देता है, उसी को ये सृष्टि-श्रेष्ठ अपने उपन्यासों में चित्रित करते हैं। तो, क्या इसी का नाम 'कला' है, जिसके लिए ये लोग अपने उपन्यास लिखते हैं? यदि हां, तो कला को गलत समझा गया है, यह बात मामूली लड़का भी कह सकता है। एक ही बात और? लेखक मेहनत करता है, प्रकाशक कागज लगाता है, और मजदूर-कम्पोज़ीटरों के पसीने की बूंदें ढुलकती हैं, भारत का ग़रीब पाठक उसे खरीदता है—उस देश का गरीब पाठक, जहां के विद्यार्थी अपनी पाठ्य पुस्तकें या तो 'सेकेंड-हैंड' खरीदते हैं या मांग-मांग कर काम चलाते हैं, और नहीं तो कभी-कभी कक्षा की लिखाई-पढ़ाई का ही सहारा रहता है! ऐसे देश का लेखक ऐसी पुस्तकें लिखता है और कहता है कि वह केवल कला के लिए—लिखने के लिए—लिख रहा है। हिन्दी का ग़रीब पाठक अपने खून की कमाई से पुस्तक खरीदेगा, और, वह भी सिर्फ ऐसे लेखकों के कलम की कलाबाजी देखने के लिए? किसी धनी या विलासप्रिय या उच्छृंखल देश या समाज के लिए यह संभव

किसके लिए?

हो तो हो, हिन्दी प्रदेश में ऐसी पुस्तकें भले आदमियों के घर न मिलेंगी। पुस्तकालयों के किसी कोने में ही पड़ी रहेंगी।

हिन्दी में जीवन और साहित्य एक दूसरे से बहुत दूर रहे हैं? आदर्शवादी लेखक जीवन को कोई विशेष महत्त्व नहीं दे पाते थे। उनके आदर्श और समाज के जीवन में जो संबंध था वह सैद्धान्तिक था। संबंध-सूत्र बहुत ही क्षीण था। इस आदर्श चित्रण में सिद्धांत की बातें होती थीं, एक काल्पनिक लक्ष्य की बातें होती थीं, जीवन से बहुत दूर की, बहुत आगे की, बहुत ऊंचाई की बातें होती थीं और जीवन से जो कुछ लिया जाता था वह उतना ही होता था जिससे उन सब की पूर्ति या पुष्टि हो सके। इसके अतिरिक्त जीवन में जो कुछ था उसकी उपेक्षा हुई। जीवन में सब कुछ अच्छा ही नहीं है। उसमें कुछ ऐसा भी होता है जिसे हम नहीं चाहते। प्रश्न यह है कि न चाहते हुए भी क्या उसको न देखना संभव है। क्या इससे चिन्तन का संतुलन बिगड़ न जायगा? क्या दृष्टिकोण एकांगी न हो जायगा? निश्चय ही यही हुआ। आदर्शवादियों ने सब-कुछ अच्छा ही अच्छा दिखाया। इसकी प्रतिक्रिया हुई। इन लेखकों ने सब-कुछ बुरा ही बुरा दिखाया। वे भी एकांगी थे; ये भी एकांगी। इस प्रकार इस प्रकृति को प्रतिक्रिया समझा जा सकता है।

क्या ये प्रतिक्रियाएं हैं?

कुछ भी हो, किन्तु ये लेखक जीवन के जिस अंग का चित्रण करते हैं उसको मान्यता नहीं देते। न अपनाते हैं; न अपनाने की सलाह देते हैं। कहते हैं कि चूंकि जीवन में ऐसा पाया जाता है और लोग इसे देखने से घबड़ाते हैं, इसलिए उसको दिखाने का खतरनाक उत्तरदायित्व हम उठाते हैं। इसका समर्थन ये लेखक भी नहीं करते। प्रवृत्ति मिलती है तो समाज की इस बुराई के प्रतिकूल ही मिलती है। कुछ कहने के दो ढंग होते हैं। एक यह कि चीज दिखाते गए और उसके विरुद्ध कहते गए या वस्तु न भी दिखाई और उसके प्रतिकूल कह दिया; दूसरा यह कि चीज का वह रूप दिखा दिया कि आप से आप घृणा पैदा हो जाय। इसके लिए कभी-कभी रंग गहरा भरना पडता है। इन लेखकों ने शायद यह दूसरा ढंग ही अपनाया था। कमी यह हो गई कि रंग बहुत गहरे हो गए और एकांगिता आ गई। समाज अपना इतना घृणित अंग देख कर झुंझला उठा। उसकी आदर्शवादी कल्पना को ठेस लगी। वह दिखाने वाले पर बुरी तरह बिगड़ उठा। आदर्शवादी लेखकों में बातें कहने का पहला ढंग ही मिलता है। चित्रण के साथ उपदेश की भी प्रवृत्ति मिलती है। अप्रत्यक्ष उपदेश जो होता था वह तो होता ही था, लेखक कभी-कभी स्वयं नाटक के सूत्रधार की तरह सामने आ कर उपदेश देने लगता था। कलावादी लेखक चुपचाप चित्रण करते हुए चले जाते हैं। अपना दृष्टिकोण नहीं व्यक्त करते। इस चित्रण को अपने किसी ध्येय का साधन

नहीं बनाते। स्वयं तटस्थ-से रहते हैं। इसको उपदेश वाली प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया कहा जा सकता है।

इसी से कुछ मिलती-जुलती बात कुछ यथार्थवादी उपन्यासों में मिलती है। इन उपन्यासकारों ने भी जीवन के यथार्थ पक्ष को प्रधानता दी है। परिस्थितियां और घटनाओं का यथार्थ चित्रण ही इनका लक्ष्य है। यह मानी हुई बात है कि जीवन में 'सु' कम और 'कु' अधिक है। शायद इसीलिए इन लोगों की दृष्टि भी 'कु' की ओर ही गई। इस 'कु' का चित्रण करने में ये लेखक भी उतने ही निर्भीक एवं बेझिझक होते हैं जितने केवल कलावादी लेखक। धारणा कुछ यह है कि मनुष्य के विचार उसकी परिस्थितियों और घटनाओं के अनुसार ही बनते रहते हैं। मनुष्य और उसके कार्यों का इनसे स्वतंत्र कोई भी अस्तित्व नहीं। मनुष्य कुछ भी बाहर से अपने साथ नहीं लाता। सब-कुछ परिस्थितियां ही बनाती हैं। अतएव किसी भी कार्य के लिए वह स्वयं उत्तरदायी नहीं। दूसरी बात ये लेखक यह बताते हैं कि मनुष्य की सर्वप्रधान आवश्यकता रोटी-कपड़ा है अर्थात् अपने अस्तित्व को बनाए रखना है। इसके लिए उसे संघर्ष करना पड़ता है। यह संघर्ष उनसे होता है जो अपने लिए अकूत धन और कदाचित् इसीलिए समस्त सुविधाएं और अधिकार एकत्र किए हैं। ये औरों के श्रम का अपहरण करते हैं। इनका जाल इतना पेचीदा है कि जो वंचित हैं वे बराबर वंचित होते रहते हैं। ये उन वंचितों का सब-कुछ रोटी-कपड़ा, घर-परिवार, मान-मर्यादा, इज्जत-आबरू—अपनी क्रीड़ा, अपने मनोविज्ञान, अपने व्यक्तित्त्व और अपने वर्ग की सुविधा के लिए लूटते आ रहे हैं। इसी वर्ग के प्रत्येक प्रतिनिधि की सेक्स-ज्वाला गरीब की खूबसूरत बहू-बेटी को देखकर भड़क उठती है। बेचारा निर्धन मानव जब बाहर से पिसा-पिसाया घर में आता है तो अपना प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष क्षोभ मादक द्रव्यों के सेवन और पत्नी के शरीर पर उतारता है। पहले के लिए यह क्रीड़ा है, और दूसरे के लिए जीते रह सकने के लिए एक प्रधान आवश्यकता। इन्हीं सब का चित्रण करते-करते लेखक कभी-कभी शरीर की अंधी क्रीड़ा के उसी स्तर पर उतर आते हैं जिस पर कभी-कभी कलावादी लेखक भी पाए जाते हैं। उन लेखकों में यह चीज़ व्यक्ति की उच्छृंखलता, युवा प्रवृत्तियों के उद्दाम आवेश के कारण था जो उद्दीपन विभावों को पाकर भड़क उठता था; जैसे, ऋषभ चरण जैन के उपन्यास 'मास्टर साहब' (१९२७ ई०) में मास्टर मुरारी का आवेश, जो वसंती को एकांत में पाकर बढ़ और चढ़ गया था। वहां इसका आधार एकमात्र मानव मनोविज्ञान था। यथार्थवादी लेखकों में यही बात परिस्थितियों का एक अंग बन कर आती है। यशपाल के 'देशद्रोही' और 'दादा कामरेड' के कुछ चित्रण इसी प्रकार हैं।

यथार्थवादी प्रवृत्ति

यहां तक तो ठीक है; किन्तु यहीं एक बात कहनी पड़ती है। वह यह है कि यदि इसका अभिधात्मक एवं विवरणात्मक वर्णन न किया जाय तो कोई हानि नहीं। व्यंजना

में अधिक कलात्मकता होती है। शायद लेखक यह समझते हैं कि तब यह वर्णन उतना प्रभावशाली न होगा। कहना चाहता हूं कि यह कला की कमजोरी होगी, जिसे हटाने का प्रयत्न करना चाहिए, न कि उससे भाग कर अन्य मार्ग अपनाना। उपन्यास एक कला भी है, इसका ध्यान रखना चाहिए। सब जानते हैं कि मनुष्य के अंदर वासना की चिनगारियां होती हैं। पुरुष और नारी के मनोविज्ञान का एक अंग वह भी है। उसको बहुत तूल देने की आवश्यकता नहीं।

समय और सहनशीलता की आवश्यकता

यह तो हुई लेखकों की बात। किन्तु थोड़ी-सी सहनशीलता पाठकों में भी होनी चाहिए। मतभेद को तरह देने में कोई अपमान नहीं हो जाता; काल अनावश्यक तत्त्वों को नष्ट कर देता है। वासना के जिन प्रखर तत्त्वों के चित्रण से सम्भ्रांत पाठक वर्ग इतना घबराता है उससे क्या वह अपने और अपने बच्चों को बचा पाता है ? थोड़ा-सा व्यापक दृष्टिकोण होना चाहिए। ये तो पुस्तकों के चित्रण हैं, जिन्हें छोटों की पहुँच से दूर रक्खा जा सकता है। किन्तु सर के ऊपर, आंख के सामने और प्रत्येक सांस के साथ भीतर जाकर प्राणों में समा जाने वाली वासना के लिए कोई क्या कर पा रहा है ? आयु के साथ बढ़ने वाली चेतना का क्या होता है ? रेडियो, ग्रामोफोनों और उत्सवों के समय बजने वाले रेकार्डों तथा सिनेमा के उन अश्लील चित्रों एवं उन सड़ी हुई कहानियों के लिए पाठक क्या कर रहा है जिसका आनन्द वह कभी-कभी अपनी सन्तान तक के साथ बैठ कर लेता है। बुराई बुराई की ढाल नहीं है। केवल थोड़े से संयम और सहनशीलता की आवश्यकता है।

समाज के जिन दो वर्गों के संघर्ष की बात अभी हो रही थी उसी का चित्रण इन यथार्थवादी लेखकों का प्रधान उद्देश्य है। लेखक की सहानुभूति वंचितों और शोषितों की ओर है। उनको अपने अभावों को मिटाने के लिए प्रधान आश्रय राजनीति का लेना पड़ता है। आज के युग में उसी की प्रधानता है। अतएव इन उपन्यासों में भी राजनीति की प्रधानता हो गई। यहीं इन उपन्यासकारों के दो पृथक वर्ग दिखाई पड़ने लगते हैं। पहला वर्ग विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण वालों का है। ये उपन्यासकार गांधीवाद को ठीक समझते हैं और समाज को सारी व्याधियों की दवा उसे ही समझते हैं। आदर्शवादी विचारधारा, सत्याग्रह, संयम-नियम, त्याग आदि से वे युगों-युगों से बनते आने वाले मनोविज्ञान को मिटा देना संभव समझते हैं। प्रश्न यह है कि क्या यह ठीक है। ठीक उत्तर दे सकना आसान नहीं। मतभेद अनिवार्य है। मेरा विचार है कि इनसे कुछ न होगा। अंत में दवा बदलनी पड़ेगी। प्रेमचन्द इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

राजनीतिक विश्वास: दो वर्ग

दूसरा वर्ग उन उपन्यासकारों का है जो साम्यवादी विचारधारा के मानने वाले हैं। साम्यवाद के प्रथम सफल प्रयोगकर्ता रूस देश की ओर प्रेरणा और उदाहरण

की आशा से देखा करते हैं। ये लेखक अभी क्रान्ति का आह्वान और चित्रण ही करने में लगे हैं। निर्माण की ओर अभी इनका विचार गया भी नहीं है। यथार्थ है भी यही। अभी भारत में क्रान्ति हुई ही नहीं, फिर शान्ति कैसी ? इनके चित्रण प्रभावशाली होते हैं, इससे इनकार किया नहीं जा सकता। यशपाल इस वर्ग के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि हैं।

सद्मनोरंजन

हिन्दी के अधिकांश उपन्यासों—और अच्छे उपन्यासों—का उद्देश्य चित्रण होता है। ये लेखक कुछ अच्छे और बुरे पात्रों की आयोजना करते हैं। इनमें अधिकांश बुरे पात्र भी अंत में अपनी गलती मान कर सुधर जाते हैं। इन्हीं पात्रों के मनोविज्ञान के अनुसार कथानक का निर्माण कुछ ऐसे ढंग से होता है कि उनमें आकर्षण, कौतूहल, वैचित्र्य और विविधता के लिए काफी गुंजाइश रहे। इन सब पर 'सत्यमेवजयतेनानृतम' की छाया रहती है। अन्त इसी दृष्टि से होता है। बीच-बीच में उच्चकोटि के मनोवैज्ञानिक, सामाजिक एवं राजनीतिक चित्रण भी होते हैं। मनुष्य के स्वभाव के मर्मस्पर्शी अंगों का उद्घाटन होता है। मार्मिक परिस्थितियों का चित्रण होता है। प्रधानता कहानी और चित्रण की ही होती है। इस प्रकार ये उपन्यास दो-एक घंटे के मनोरंजन के अच्छे साधन सिद्ध होते हैं। कोई एक समस्या—प्रायः सामाजिक समस्या—ले ली और उसी के आधार पर उपन्यास लिख डाला। उपन्यासों की मान्य रूपरेखा, ढांचे, के अनुसार इनके उपन्यासों का ढांचा होता था। इनके उपन्यासों में कोई नवीनता नहीं होती थी, किन्तु जितना-कुछ होता था वह अच्छा होता था। उसमें कहीं कोई खराबी नहीं दिखाई जा सकती थी। देव नारायण द्विवेदी का 'कर्तव्याघात' (१९३९ ई०), प्रताप नारायण श्रीवास्तव के 'विदा' (१९२८ ई०), 'विकास' (१९३९ ई०), और 'विजय' (१९३७ ई०); गोविन्द वल्लभ पंत के 'मदारी' (१९३५ ई०), 'जूनिया' (१९३८ ई०), और 'अनुरागिनी' (१९४५ ई०), भगवती प्रसाद बाजपेयी के 'दो बहनें' (१९४० ई०) और 'निमंत्रण' (१९४२ ई०); उषा देवी मित्रा के 'जीवन की मुस्कान' (१९३९ई०), 'बचन का मोल' (१९३६ई०), और 'पिया' (१९२७ ई०) आदि अनेक उपन्यास ऐसे ही हैं। इनमें से प्रायः सभी उपन्यासकार समय के साथ-साथ अपनी उपन्यास कला को विकसित करते रहे हैं।

मानव मन के रहस्यों का उद्घाटन

कुछ उपन्यासकार ऐसे भी हैं जिनका एकमात्र उद्देश्य मानव-मन के रहस्यों का उद्घाटन है। इन उपन्यासों की घटनाएं मानव-मन के इन्हीं रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए होती हैं। बाहर से देखने पर तो मनुष्यों का मन बहुत ही सीधा-सादा लगता है, किन्तु वैसा है नहीं। उसकी गति बड़ी ही विचित्र होती है, उसके रहस्य बड़े ही आश्चर्यजनक। अतएव उनके आधार पर आयोजित घटनाओं में वे सभी गुण मिल जाते हैं जिनका किसी अच्छे उपन्यासों में होना नितांत आवश्यक होता है। ये

उपन्यास यह दिखाते हैं कि मनुष्य के जीवन में होने वाली घटनाएँ किस प्रकार उसके मन पर अपना प्रभाव डालती हैं और फिर किस प्रकार उनकी प्रतिक्रिया होती है। अच्छे प्रभावों की क्या प्रतिक्रिया हाती है और अनिष्टकारी प्रभावों की प्रतिक्रिया किस प्रकार अनिष्टकारी कार्यों की जड़ होती है। मनोविज्ञान के इन्हीं घातों-प्रतिघातों से इन उपन्यासों का ताना-बाना बनता रहता है। इलाचन्द जोशी के सभी उपन्यासों का आधार यही है। 'अज्ञेय' और 'पहाड़ी' आदि भी ऐसे ही उपन्यास लिखते हैं। इलाचन्द जोशी इन रहस्यों के विश्लेषण के बाद अपने पात्रों को 'सद्' की ओर झुका देते हैं। 'अज्ञेय' इस विश्लेषण के आनन्द को ही अपना लक्ष्य मानते हैं। 'शेखर—एक जीवनी' (१९४१ ई० से १९४४ ई० तक) अभी अधूरा ही है। इसलिए निश्चित राय कायम की भी नहीं जा सकती। कुछ भी हो, किन्तु इन उपन्यासों में प्रधानता रहस्योद्घाटन के लिए किए गए वर्णनों और चित्रणों की ही होती है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि इस अवधि के हिन्दी उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य मनुष्य के जीवन और उसके समाज के भिन्न-भिन्न स्वरूपों के सद् और असद्, स्वस्थ और अस्वस्थ, भौतिक और मानसिक, प्रत्यक्ष एवं परोक्ष, एवं सुन्दर और असुन्दर पक्षों का चित्रण है। वह हमारे समस्त जीवन का एक चित्र है।

समाज का सफल प्रतिनिधित्व

यह आदर्शवादी उपन्यास हैं, तो हमारे अन्दर आदर्शवादी व्यक्ति भी हैं; नपे-तुले ढांचे और कला के उपन्यास हैं, तो हमारे समाज में मर्यादावादी व्यक्ति भी हैं; समाज के खोखलेपन का चित्रण है, तो हम ढोंगी व्यक्ति भी पाते हैं; कुप्रवृत्तियों का चित्रण है, तो हमारे बीच गुंडे और लोफ़र भी बसते हैं; गांधीवादी या नैतिकता प्रधान विचारों की अभिव्यक्ति है, तो हमारे समाज के अधिकांश लोग ऐसे भी हैं; यदि साम्यवादी विचारधारा पर लिखे गए उपन्यास हैं, तो हमारे अन्दर कम्युनिस्ट भी हैं; आतंकवादियों एवं क्रान्तिकारियों का चित्रण पहले बहुत था अब कम, तो १९४२ ई० तक उनका काफी जोर रहा और स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात् उनका जोर कम हो गया; और यदि हमारे उपन्यासों में हमारी बुराइयों के लिए उचित निदान नहीं मिलता, तो हमारा जीवन और समाज स्वयं संस्कृति के ऐसे संक्रमण काल से गुजर रहा है कि हमें अपना निश्चित पक्ष, निश्चित लक्ष्य, और उसके आधार पर अपनी त्रुटियों का वास्तविक उपचार विस्मृत हो चला है। हम कभी इधर भटकते हैं और कभी उधर। यह ठीक है कि कुछ उपन्यासों के चित्रों के रंग इतने गहरे होते हैं कि वैसा हमारा जीवन है नहीं, तो यह भी समाज के उन व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व है जो प्रत्येक बात में अति की सीमा तक चले जाते हैं। हमारे अधिकांश उपन्यास उच्चकोटि के नहीं हैं; हमारे समाज के अधिकांश व्यक्ति पशुओं से भी गया-गुज़रा जीवन बिताते हैं।

प्रकार

इन २६ वर्षों के अन्दर हिन्दी में कई तरह के उपन्यास लिखे गए हैं। कुछ तरह के उपन्यास बहुत लिखे गए हैं; जैसे, सामाजिक। कुछ तरह के उपन्यास बहुत कम लिखे गए हैं; जैसे, साहिसिक या धार्मिक। यहां इन सभी के वर्गीकरण का प्रयत्न किया गया है। इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में एक बात जान लेनी चाहिए। यह वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया गया है; जैसे, कथावस्तु की दृष्टि से, चरित्र की दृष्टि से, शैली की दृष्टि से, इत्यादि। अब यदि यह कहा जाय कि हिन्दी में चरित्र प्रधान उपन्यास लिखे गए हैं तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हिन्दी में जितने उपन्यास लिखे गए हैं उन सब का वर्गीकरण चरित्र की दृष्टि से किया जा सकता है। मेरा तात्पर्य इतना ही है कि हिन्दी में कुछ उपन्यास ऐसे भी हैं जिनमें पात्रों के चरित्र चित्रण को ही प्रधानता दी गई है। अन्य उपन्यास कैसे हैं, इससे इस दृष्टि को कोई मतलब नहीं। उनका किसी अन्य दृष्टि से वर्णन किया जायगा। यहां हिन्दी के उपन्यासों का वर्गीकरण निम्नलिखित दृष्टियों से किया गया है :—

वर्गीकरण का सिद्धान्त

१. कथानक की दृष्टि से,
२. पात्र की दृष्टि से,
३. वर्ण्यवस्तु की दृष्टि से,
४. काल की दृष्टि से,
५. शैली की दृष्टि से, और
६. उद्देश्य की दृष्टि से।

जिन उपन्यासों में कथानक की ही प्रधानता होती है ऐसे उपन्यास भी हिन्दी में लिखे गए हैं। इन्हें हम कथानक प्रधान उपन्यास कह सकते हैं। इनमें घटनाओं की आयोजना इस प्रकार की होती है कि पाठक उन्हीं में व्यस्त रहता है। इन उपन्यासों को दो मुख्य वर्गों में बाँटा जा सकता है:—१. जासूसी उपन्यास, और २, साहसिक उपन्यास।

कथानक प्रधान उपन्यास
१—जासूसी

जासूसी उपन्यासों में प्रारम्भ डकैती, कत्ल या इसी प्रकार के अन्य अपराधों से होता है। जनता इन अपराधियों से आतंकित हो उठती है। पुलिस की बदनामी होती है। सिद्ध होने लगता है कि वह अपना उत्तरदायित्व योग्यतापूर्वक नहीं निभा पा रही है। अपराधियों के दल को तोड़ने और उन्हें पकड़वा कर उचित दंड दिलवाने के लिए किसी जासूस की नियुक्ति होती है। उसमें और अपराधियों के प्रधान में दांव-पेंच चलती है। डाकू हाथ में आकर भी छूट जाते हैं। जासूस उनके हाथ में पड़कर मौत की घड़ियां गिनने लगता है। अंत में अपराधियों की जरा-सी असावधानी और अपनी असाधारण सतर्कता, साहस और सूझ के बल पर जासूस मुक्त होकर उन्हें पकड़वा देता है। इसी के बीच में कभी-कभी नारी-पुरुष का आकर्षण भी मिला दिया जाता है। इन

अपराधियों को कभी-कभी अच्छे स्वभाव का भी दिखा दिया जाता है। समाज के किसी अत्याचार से पीड़ित होकर वे उससे बदला लेने की भावना से ऐसा करते हैं। कभी-कभी उनको क्रान्तिकारी भी दिखा दिया जाता है। इंडियन प्रेस, प्रयाग के सरस्वती सिरीज में राजेश्वर प्रसाद सिंह का 'महान अपराधी', गोपाल राम गहमरी का 'झंडा डाकू', ठाकुर दत्त मिश्र का 'छिपा महल' आदि इस प्रकार के अनेक उपन्यास निकले हैं। जासूस आफिस, बनारस से भी इस प्रकार के अनेक उपन्यास छपे हैं। अन्य स्थानों से भी ऐसे उपन्यास प्रकाशित हुए हैं।

किन्तु ये उपन्यास बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इन उपन्यासों की प्रेरणा के स्रोत दो हैं। एक देवकी नन्दन खत्री के तिलस्मी उपन्यास हैं। समय की प्रगति के सामने जब उनके तिलस्मी ऐयार बेकार की कल्पना सिद्ध होने लगे तो वे ही विकसित होकर, और कुछ वैज्ञानिक रूप धारण कर, इन जासूसों के रूप में दिखाई देने लगे। योरप में इस प्रकार के जासूसी उपन्यास बहुत लिखे जाते हैं। वे बहुत आकर्षक होते हैं। हिन्दी में जासूसी उपन्यासों की प्रेरणा के दूसरे स्रोत अंग्रेज़ी के ही 'डिटेक्टिव नॉवेल्स' हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि हमारे जासूसी उपन्यास अंग्रेज़ी के जासूसी उपन्यासों की छाया भर हैं। उनमें कोई मौलिकता नहीं। कोई विचित्रता नहीं। अंग्रेज़ी से अनभिज्ञ हिन्दी के सामान्य पाठक को ये उपन्यास भले ही अच्छे लग जायं, क्योंकि उसको इससे अच्छी चीज़ पढ़ने को मिलती ही नहीं, किन्तु उनमें अंग्रेज़ी के जासूसी उपन्यासों वाली बात नहीं है। दोष लेखकों का ही नहीं, परिस्थितियों का भी है। जो रिवाल्वर पकड़ नहीं सकते, मोटर साइकिल से जिनका परिचय नहीं, जासूसी कला का जो क, ख, ग, भी नहीं जानते, अपराधों और अपराधियों से जिनका कभी वास्ता न पड़ा हो और जो ट्रेन से तभी उतरते हैं जब वह प्लेटफार्म पर आकर एक-दो मिनट तक खड़ी रह ले, वे बेचारे जासूसी उपन्यास क्या लिखेंगे!

प्रेरणा और कोटि

और यही हाल साहसिक उपन्यासों का भी है। साहसिक उपन्यास लिखने के लिए कुछ साहसपूर्ण जीवन भी बिताना चाहिए। जंगलों में घूमना पड़ेगा। पहाड़ों और उनकी गुफाओं का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान होना चाहिए। डाकुओं से मुठभेड़, शेर आदि अन्य पशुओं से मुलाकात, निराशा में भूख-प्यास की तीव्रता की अनुभूति आदि बहुत आवश्यक है। मौत के हाथों की उछाल कैसी होती है! हिन्दी के वे लेखक जिनमें से बहुतों को अपने शहर या कस्बे को छोड़ कर बाहर जाने का अवसर कभी-कभी ही मिलता है, जिनका जीवन परिवार और परिचितों के संकुचित दायरे में ही बंधा-घुटा रहता है, जिनका मस्तिष्क नोन-तेल-लकड़ी में ही व्यस्त रहता है, परिवार के भरण-पोषण की चिन्ता जिनके तन-मन को जर्जर कर डालती है, और जो यदि इससे बहुत ही ऊँचे उठे तो किसी सम्मेलन या संस्था की गुटबंदियों में पड़कर पद, पार्टी और क्षुद्र स्वार्थ

२—साहसिक उपन्यास

के लिए कीचड़ उछालना ही अपनी बहादुरी समझते हैं वे भला उच्चकोटि का साहसिक उपन्यास लिख ही कैसे सकते हैं ! वास्तविकता वास्तविकता ही है और अनुकरण अनुकरण ही । बहुत खोज करने पर भी उच्चकोटि के सचमुच मौलिक साहसिक उपन्यास हिन्दी में दस-पांच भी मिल जायं तो बहुत है ।

"शैतान की आंख"

राहुल सांकृत्यायन का 'शैतान की आंख' (१९४५ ई०) हिन्दी का श्रेष्ठ साहसिक उपन्यास है । इसमें एक जन शून्य द्वीप में तीन व्यक्तियों के कुछ समय के जीवन की वह कहानी है जिसके पढ़ने से तिलिस्म का आनन्द मिलता है । किन्तु इस तिलिस्मी आनन्द के पीछे बुद्धि की सतर्कता और भ्रमण के आश्चर्यजनक सत्य हैं । भूत-प्रेत और जासूसी लगने वाली बातों के पीछे भी कोई न कोई भौतिक या मनोवैज्ञानिक तथ्य छिपा रहता है, जिसे साहस, सतर्कता और बुद्धि ही खोज सकती है । कहानी कहने के ढंग में नाटकीयता है । क्रम बँधा रहता है । पहले पाठक भय, आश्चर्य या कौतूहल की चरम सीमा पर पहुंचा दिया जाता है । बाद में रहस्योद्घाटन होता है और साथ ही साथ कथानक की गति नया कौतूहल पैदा कर देती है । चित्रण बड़े ही सुन्दर हैं । इस उपन्यास में राष्ट्रीय भावनाएं भरी पड़ी हैं । इसका संदेश लेखक के ही शब्दों में देखिए:—

"देखो, महाराज कितने पवित्र काम के लिए, कितने महत्त्वपूर्ण काम के लिए अपने घरबार, अपने सुख-स्वर्ग, सभी को परित्याग कर, हजारों कोस दूर इन सुनसान खड्डों में आए । उनके श्रेणी के राजाओं और नवाबों में से आज कितने हैं जो विद्यानुराग में, देश की यशोवृद्धि में, इस प्रकार का त्याग दिखावें ! उन्हें तो अपने शरीर का सुख—अपनी इन्द्रियों का सुख—यही सब कुछ है !"

"राजाओं और नवाबों" की जगह यदि 'व्यक्तियों' कर दें तो यही समस्त राष्ट्र के लिए एक संदेश बन सकता है । यदि यह उपन्यास इतना सुन्दर बन सका है तो इसका एकमात्र कारण यही जान पड़ता है कि स्वयं राहुल सांकृत्यायन ने कई साहसपूर्ण यात्राएं की हैं, जिनका अनुभव इस उपन्यास के पीछे है ।

चरित्रप्रधान उपन्यास

कुछ उपन्यास ऐसे भी हैं जिनमें चरित्र-चित्रण की प्रधानता रहती है । लेखक के सामने उद्देश्य यह रहता है कि वह मानव-चरित्र के विभिन्न पक्षों को हमारे सामने स्पष्ट कर दे । इसके लिए पहले पात्रों के चरित्र की मोटी-मोटी बातें बता दी जाती हैं । इसके पश्चात् घटनाओं और संघर्षों के द्वारा उनके चरित्र को स्पष्ट किया जाता है । पहले इनकी गति-विधि और पात्रों के चरित्रों की रूपरेखाएँ आदर्श के आधार पर निश्चित और निर्धारित की जाती थीं । उसके बाद ज्यों-ज्यों मानव-मनोविज्ञान के अध्ययन में विकास होता गया और प्रौढ़ता आती गई त्यों-त्यों प्रधानता इसकी होती गई और आखिरकार मनोविज्ञान ही सब-कुछ संचालित करने लगा । इस प्रकार चरित्रप्रधान उपन्यास मुख्यतः दो भागों में बँट जाते हैं । पहले वे हैं जिनके पात्रों का निर्माण आदर्शवादी

विचारधारा के अनुसार होता है अर्थात् जिनमें पात्रों के चरित्रों के द्वारा परिस्थितियां बनती-बिगड़ती रहती हैं। दूसरे उपन्यास वे हैं जिनमें परिस्थितियां पात्रों के मनोविज्ञान में उलट-फेर करती रहती हैं। 'गोदान' के पहले के प्रेमचन्द के उपन्यास पहले ढंग के हैं। इलाचन्द जोशी, 'अज्ञेय', 'पहाड़ी' आदि के उपन्यास दूसरे ढंग के हैं। कुछ उपन्यास ऐसे होते हैं जिनके पात्र अपने वर्ग का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। कुछ उपन्यासों के पात्र अपने ही व्यक्तित्व की विशिष्टता में रमते रहते हैं। पीछे पात्रों पर विचार करते समय जो-जो बातें हमने देखी हैं चरित्र-प्रधान उपन्यासों में उन्हीं को विशेष रूप से पाते हैं। जिन उपन्यासों में उन्हीं सब की प्रधानता रहती है और अन्य बातें सामान्य रीति से पाई जाती हैं उन्हें हम चरित्र प्रधान उपन्यास कहते हैं।

उपन्यासों का तीसरा वर्गीकरण वस्तु की दृष्टि से किया जा सकता है। उपन्यासों की कथावस्तु में जिस प्रकार की सामग्री होती है या उनकी कहानी में जिनसे संबंधित विचार प्रकट किए जाते हैं या उनमें जिनकी समस्याओं का चित्रण होता है उन्हीं के आधार पर इन उपन्यासों का वर्गीकरण किया जा रहा है। इस दृष्टि से उपन्यासों को निम्नलिखित भागों में बांटा जा सकता है :—

वर्ण्यवस्तु की दृष्टि से

१. धार्मिक,
२. सामाजिक,
३. राजनीतिक,
४. वैयक्तिक, और
५. ऐतिहासिक।

धार्मिक उपन्यास—अधार्मिक युग

धर्म की बातें हमारे लिए गौण होती जा रही हैं। एक समय था जब धर्म जीवन के सभी अंगों पर अपना प्रभुत्व जमाए था। फिर मनुष्य ने व्यावहारिक रूप से अपनी राजनीति को उससे बहुत-कुछ मुक्त कर लिया और धर्म केवल सामाजिकता की चीज़ रह गई। समय फिर बदला और मनुष्य के पारस्परिक व्यवहार से भी धार्मिकता उठ गई और लोग अब यह कहते हुए सुने जाते हैं कि गृहस्थी में, दुनिया में, रहना है, तो एकदम से धार्मिक होकर नहीं रह सकते। आज जीवन की विषमताएं इतनी अधिक हो गई हैं कि सदियों पहले बने हुए धर्म के नियमों-उपनियमों से हमारा काम चलता हुआ नहीं जान पड़ता। हमारी बुद्धि कुछ-कुछ जागरूक हो चली है। धर्म केवल व्यक्तिगत श्रद्धा, सामाजिक मजबूरियों, परम्परागत बने हुए संस्कारों, विश्वासों एवं अविश्वासों और एकमात्र श्रद्धा का विषय हो गया है। इसलिए जब हम अपनी आज की समस्याओं का निदान खोजने लगते हैं तब हमारी बुद्धि चिंतन की धार्मिक पद्धति के अनुसार नहीं चलती। धार्मिकता एक ओर रह जाती है। बहुत अधिक धार्मिक व्यक्ति को देख कर लोग उसके बारे में कुछ अजीब-सी धारणा बनाने लगते हैं।

कदाचित् यही कारण है कि अध्ययन की इस अवधि में धार्मिक उपन्यास बहुत कम लिखे गए हैं, और जो लिखे गए हैं उन्हें पढ़कर हँसी आती है। उदाहरण के लिए पं० गौरीशंकर मिश्र के दो उपन्यास ले लीजिए। पहला है 'बलिदान मंदिर' जो १९४१ ई० में छपा है, और दूसरा है 'जयदेव' जो १९४२ ई० में।

इन उपन्यासों की भाषा अजीब ढंग की है। उर्दू, हिन्दी और अंग्रेज़ी के शब्दों को मिला कर भाषा को जो स्वरूप देने का प्रयत्न किया गया है वही एक दृष्टिकोण कदाचित् अधार्मिक है, नवीन है, किन्तु है वह भी विचित्र। भाषा के विषय में लिखते हुए इसका उल्लेख किया जा चुका है। एक प्रयोग और देख लीजिए। 'बलिदान मंदिर' में एक शिवगिरि हैं। वे बड़े ही विलासी महंत हैं। उनकी ही तरह के दो महन्त और हैं। राय होती है कि एक को तो आसानी से सुधार-मार्ग पर लाया जा सकता है किन्तु 'शिवगिरि' को 'तोड़ना' जरा कठिन है। 'तोड़ना' के इस प्रयोग से ऐसा लगता है कि मानों दो पार्टियों की दुरभिसंधियां चल रही हैं और उनमें से एक के किसी सदस्य को तोड़ना है। प्रगतिशील तत्त्व दूसरा यह है कि व्यभिचारी, विलासी, साधुओं और ढोंगियों के विरुद्ध भी कार्य होता है। इसी प्रकार दो-चार प्रगतिशील तत्त्व और भी ढूंढ़े जा सकते हैं जिसका कारण कदाचित् यह है कि लेखक आसपास के वातावरण से अपनी आंखें एकदम नहीं बन्द कर सका है।

धार्मिक वातावरण में प्रगतिशील तत्त्व

लेखक ने वातावरण कुछ ऐसा बनाया है जिससे यह लगता है कि उसकी चेतना चिन्तनधारा, दृष्टि और विश्वास बीसवीं सदी के न होकर मध्य युग के हैं। उसी युग की सी-असंभव कल्पनाएं हैं; उसी युग की-सी असंभव बातें हैं। कुछ को देखिए:—

अवैज्ञानिकता

१. जिस ब्राह्मणवाद के प्रति युगों-युगों से समाज ने विद्रोह किया है उसी की छाया पूरे के पूरे 'बलिदान मंदिर' पर है।

२. उक्त उपन्यासों में ही एक पक्षी सब के देखते ही देखते बालक—महात्मा बालक—विद्वान बालक—बन जाता है।

३. श्रीकृष्ण एक अहीर के बालक का रूप धारण करके भक्त जयदेव की सहायता गाढ़े समय पर करते हैं।

४. सुदामा के महल की तरह उसी रहस्यपूर्ण ढंग से जयदेव का मकान बनता है।

५. नारी स्वातन्त्र्य, विवाह के पूर्व परिचय, आदि का विरोध और पातिव्रत धर्म, आदि का समर्थन है। इत्यादि।

इस प्रकार की कथावस्तु एवं विचारधारा को लेकर जो उपन्यास लिखा जायगा, वह कितनी उच्चकोटि का होगा, यह सोचने की बात है; किन्तु इतना निश्चित है कि

सामान्यकोटि की उपन्यास-कला

ये उपन्यास उच्चकोटि के न हो पाए। पात्रों के चरित्र में प्रायः कोई विकास नहीं। किसी प्रकार की गतिशीलता नहीं। मनोवैज्ञानिक अध्ययन का कुछ भी सहारा नहीं लिया गया है। कथावस्तु का निर्माण धार्मिक कथाओं और अनुभूतियों के सहारे हुआ है। उसमें अस्वाभाविकताएं, आकस्मिक और चमत्कारिक घटनाएं भरी पड़ी हैं। दृष्टिकोण में सामंजस्य नहीं। चित्रणों में प्रायः अतिरंजन है। कुल मिलाकर कह सकते हैं कि इन उपन्यासों की कला बहुत ही सामान्य कोटि की होती है।

सामाजिक उपन्यास

१—अतिरंजन

धार्मिक उपन्यासों के पश्चात् हम सामाजिक उपन्यासों पर विचार करेंगे। ये उपन्यास हिन्दी में बहुत लिखे गए हैं। इन उपन्यासों के अंदर हमारे समाज की वर्तमान अवस्था का बढ़ाया या घटाया हुआ चित्रण मिलता है। तात्पर्य यह है कि हमारे समाज की जो अवस्था है उसका चित्र तो है किन्तु लेखक के अपने दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण वह अपने वास्तविक रूप में नहीं आ पाया है। इसका कारण कदाचित् यह है कि लेखक यह सोचते हैं कि अपने सामान्य रूप में समाज की अवस्थाएं साहित्य की अच्छी सामग्री नहीं बन सकतीं। अतएव उन समस्याओं पर कहीं तो अत्यधिक आदर्श का रंग चढ़ गया है और कहीं अनावश्यक यथार्थ का। अतएव इन उपन्यासों में समाज की वास्तविक अवस्था लेखकों के अपने-अपने आदर्श के अनुकूल होकर अभिव्यक्त हुई है। उदाहरण के लिए प्रेमचन्द का देहाती समाज का चित्रण ले लीजिए। 'गोदान' को छोड़कर अन्य उपन्यासों में देहात की सामाजिक अवस्था का जो चित्र उपस्थित किया गया है वह तो ठीक है किन्तु उनके पात्र जितनी उच्चकोटि की परिष्कृत सामाजिक चेतना लेकर आते हैं वह देहात में बहुत कम मिलती है। फिर, उपन्यासकार की सहानुभूति इस हद तक बढ़ गई है कि पात्र अपनी स्वाभाविक विकृतियों के साथ सामने आने की अपेक्षा एक स्पृहणीय उदात्तता लिए हुए आते हैं। देहातों में यह भी कम मिलता है। तो, यह सब देहातों में कम मिलता है, और प्रेमचन्द के उपन्यासों में बहुत अधिक। इसीलिए उनके उपन्यासों में देहात का वातावरण कुछ ऐसा खिंच गया है जो मिलता नहीं। जो एक वैयक्तिक विशेषता है प्रेमचन्द ने उसे सामूहिक स्वरूप दे दिया है। यही हाल गोविन्द वल्लभ पंत के उपन्यासों में है, भगवती प्रसाद बाजपेयी के उपन्यासों में है, प्रताप नारायण श्रीवास्तव के उपन्यासों में है, इलाचन्द जोशी के उपन्यासों में है, प्रायः सभी उपन्यासों में है।

कुछ भी हो, किन्तु ये उपन्यास हमारे सामाजिक जीवन की विषमताओं, समस्याओं एवं आवश्यकताओं को हमारे सामने ला अवश्य देते हैं। ये समस्याएं निम्न वर्ग की भी हैं, निम्न मध्यम वर्ग की भी, और उच्च मध्यम वर्ग की

भी। तात्पर्य यह है कि इन उपन्यासों में गरीब किसानों, मेहनतकश मजदूरों, स्कूलों और कालेजों के अध्यापकों, वकीलों, बैरिस्टरों, सामाजिक और धार्मिक नेताओं आदि सब के जीवन की समस्याएं हैं। प्रेमचन्द के 'गोदान' में तो मिल-मालिक, प्रोफेसर, राजा साहब आदि तक के जीवन की विषमताओं को उपस्थित किया गया है। यदि किसान और मजदूर रोटी और कपड़े की समस्या से टूटे जा रहे हैं तो ये मध्यम वर्ग वाले झूठी शान, खोखली सामाजिक मान-मर्यादा और अस्वस्थ मानसिक कुंठाओं से परेशान हैं। धन और पद के मद में चूर एक दूसरे की मेहनत और इज्जत को पी रहा है, और दूसरा धार्मिक रूढ़ियों और सामाजिक परम्पराओं, स्वार्थ और परमार्थ, में छटपटा रहा है। साथ ही, इनके बीच का वर्ग जमादार, कारिन्दा, पंडित, मौलवी, पटवारी, आदि एक ओर चूसते हैं और दूसरी ओर चूसे जाते हैं। अपने सर पर रक्खे गए अपने से ऊँचे के पैर को सहलाते हैं, और अपने से नीचे के सर पर अपने पैर रक्खे सहलवाते हैं। अपनी इज्जत दूसरों के हाथ बेच कर दूसरे से इज्जत खरीदते हैं। साथ ही पग-पग पर धर्म की दुहाई देते हैं और ईश्वर की कृपा मांगते हैं। इस प्रकार इस संघर्षमयी स्थिति का चित्रण है। प्रेमचन्द, यशपाल, 'अश्क', सर्वदानन्द वर्मा, आदि के अनेक उपन्यास इसके उदाहरण हैं।

सामाजिक समस्याएं
१—वर्ग संघर्ष

इसके पूर्व हमारे समाज की कुछ ऐसी समस्याओं का भी चित्रण था जिनमें वर्गों का यह द्वन्द्व नहीं था। इसके स्थान पर वे समस्याएं थीं जिनका संबंध व्यक्ति या समाज की ऊर्ध्व या अधो चेतना से था। उनमें अन्तर्द्वन्द्व था, वर्ग संघर्ष नहीं। वे समस्याएं या तो व्यक्ति के चरित्र से संबंध रखती थीं (यहां 'चरित्र' को उसके सीमित अर्थ में लेना चाहिए) या उसके उस व्यवहार से, जिसका संबंध समाज की मान्यताओं, परम्परा से चली आती हुई धारणाओं एवं अंधविश्वासों से था। व्यक्तियों का साहस इन्हें मिटा सकता था। वहां पूरी अवस्था नहीं बदलती थी। वर्ग संघर्ष में तो व्यवस्था के मूल पर ही आघात करना होता है। पहले की समस्याओं में से कुछ ये थीं:—विधवा विवाह की समस्या, विधवाओं के विवाह न होने से निरपराध कन्याओं की व्यक्तिगत एवं सामाजिक दुर्दशा {चतुरसेन शास्त्री का 'अमर अभिलाषा' (१९३३ ई०)}, अनमेल विवाह और पति-पत्नी का असहानुभूति पूर्ण दृष्टिकोण, {श्रीनाथ सिंह का 'उलझन' (१९३४ ई०), प्रेमचन्द का 'निर्मला' (१९२८ ई०)}, पति-पत्नी का परस्पर संदेह और अविश्वास {चतुरसेन शास्त्री का 'हृदय की प्यास' (१९३२ ई०) एवं प्रफुल्ल चन्द ओझा का 'तलाक' (१९३२ ई०)} आदि। जयशंकर प्रसाद का 'कंकाल' (१९२९ ई०) सामाजिक अवस्था के खोखलेपन को तीखेपन के साथ दिखाता है। इस प्रकार रूढ़ियों, रिवाजों की खराबियों, को लेकर ऐसे उपन्यास लिखे गए हैं। कुल मिलाकर यदि देखें, तो ये उपन्यास हमारी सामाजिक समस्याओं

२—अन्य सामाजिक समस्याएं

को ही हमारे सामने नहीं उपस्थित करते, बल्कि उनके बदलते हुए स्वरूप और तीव्रता को भी अभिव्यक्त करते हैं। आर्य समाज के द्वारा आंखें खुलवाने पर जिस समय समाज ने रूढ़ियों के पालन में की जाने वाली कठोरता और मानव-स्वभाव की दुर्दमनीयता को देखा तो हमारे यहां के उपन्यासों में उनका चित्रण था, और जब आज राजनीति की पृष्ठभूमि में हमारे समाज की समस्याएं वर्ग संघर्ष और व्यक्ति की अपनी स्वाधीन चेतना का स्वरूप धारण कर रही हैं, तो आज इनका चित्रण भी उसी प्रकार है। यहां तक कि यदि आज कुछ लोग विवाह को व्यर्थ समझने लगे हैं तो सर्वदानन्द वर्मा का 'प्रश्न' (१९३८ ई०) नामक उपन्यास इस प्रश्न को भी उठाता है। प्रताप नारायण श्रीवास्तव के 'विजय' (१९३७ ई०) और 'विकास' (१९३९ ई०) आदि उपन्यास ऐसे ही हैं। इसी प्रकार लक्ष्मी नारायण शर्मा का 'आरती' (१९४५ ई०) नामक उपन्यास गरीब साहित्यिक के शोषण और पोषण की समस्या उठाता है। निदान नहीं दे पाता, इसलिए कि निदान मिला ही नहीं। 'अंचल' के 'उल्का' (१९४७ ई०) में नारी के स्वतन्त्र और स्वस्थ व्यक्तित्त्व का प्रश्न उठाया गया है।

समाज की हमारी बहुत-सी समस्याओं का समाधान राजनीति से होता है। यह ठीक है कि १९४७ ई० तक राजनीति हमारी किसी भी समस्या को हल न कर सकी थी, किन्तु यह भी ठीक है कि हमारी बहुत-सी समस्याओं का संबंध प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से राजनीति से ही है। उदाहरण के लिए रोटी-कपड़े के प्रश्न को ही ले लीजिए। इसका सीधा संबंध राजनीति से है और अप्रत्यक्ष रूप से इसका संबंध हमारी अनेक सामाजिक समस्याओं से है। धन न हुआ, तो लड़की का ब्याह कैसे होगा? जवान लड़की का विवाह न हुआ, तो वह कुमार्ग पर पांव रख सकती है। ऐसी अवस्था में बिरादरी से निकाला जायगा। तब अनेक सामाजिक समस्याएं खड़ी हो जायंगी। विवाह के लिए कर्ज लिया, तो साहूकार के चंगुल में फँस गए आदि। गरीबी ही के कारण लोग छोटे-मोटे स्वार्थों के लिए घृणित से घृणित कार्य भी कर डालते हैं; जैसे, 'गोदान' में होरी की गाय को उसी के भाई ने जहर दे दिया और फिर इसके साथ ही कितनी समस्याएं पैदा हो गई! कहने का तात्पर्य यह है कि हमारी सामाजिक समस्याओं का संबंध राजनीति से भी है। खाली समस्याओं का चित्रणमात्र कोई उद्देश्य नहीं रखता। इसलिए भी जाने या अनजाने लेखक के उपन्यासों की सामाजिकता में राजनीति भी मिल जाती है। प्रेमचन्द का 'कर्मभूमि' (१९३२ ई०), भगवती प्रसाद बाजपेयी का 'निमंत्रण' (१९४२ ई०), यशपाल का 'दादा कामरेड' (१९४१ ई०), 'देशद्रोही' (१९४३ ई०), मोहन लाल महतो का 'एकांकी' (१९४५ ई०), 'फरार' (१९४५ ई०) आदि, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' का 'चढ़ती धूप' (१९४५ ई०) और 'नई इमारत' (१९४७ ई०) आदि अनेक उपन्यास ऐसे ही हैं।

राजनीतिक उपन्यास : सामाजिक प्रश्नों से संबंध

कथावस्तु की रूपरेखा

इन राजनीतिक उपन्यासों में कथानक-निर्माण कुछ इस प्रकार का होता था। कोई व्यक्ति समाज के किसी अत्याचार का शिकार होता था। फिर वह प्रतिक्रिया के कारण अपने ही जैसों के दल में सम्मिलित हो जाता था और समाज का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, खुले या छिपे, विरोध करता था। इस संघर्ष में क्षणिक विजय या मौत हाथ आती थी। छिप कर जो संघर्ष किया जाता था वह क्रान्तिकारियों के दल का होता था, जिसके कार्य-क्रम में डकैती, खून, आदि होते थे। खुल कर जो संघर्ष किया जाता था उसमें महात्मा गांधी के सत्याग्रह आन्दोलन की रूपरेखा होती थी। खुल कर और छिप कर दोनों तरह से जो संघर्ष होता था उसमें कम्युनिस्टों का कार्यक्रम होता था। शांति के समय मजदूरों की हड़ताल करवाई जाती थी और प्रतिबंधों के समय छिप कर काम किया जाता था। मोहन लाल महतो 'वियोगी' के 'एकाकी' और 'फरार' में क्रांतिकारियों के जीवन और मनोविज्ञान की झाँकी है। प्रेमचन्द, 'अंचल' आदि के ऐसे उपन्यासों में महात्मा गांधी के सत्याग्रह का मनोविज्ञान और कार्यक्रम है। यशपाल के उपन्यासों में कम्युनिस्ट आंदोलन की रूपरेखा है। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक पराधीनता के बंधनों का सजीव एवं सचित्र परिचय और उनसे मुक्ति पाने के लिए किए गए प्रयत्नों, आन्दो-लनों, का चित्रण उन राजनीतिक उपन्यासों का मुख्य ध्येय होता है। भगवती चरण वर्मा का 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' एक ऐसा राजनीतिक उपन्यास है जिसमें गांधीवाद, समाज वाद, क्रांतिकारी दल का कार्यक्रम, सामन्तवाद, पुलिस की राजभक्ति आदि सब का चित्रण है।

अन्य उपन्यासों में यह तत्त्व

अनुपात की दृष्टि से देखने पर जिनमें इन चित्रणों की प्रधानता होती है उन्हें राजनीतिक उपन्यास कहते हैं। अन्य ऐसे उपन्यासों की संज्ञा—जिनमें कथानक इसी का हो, किन्तु वर्ण्यवस्तु एवं प्रधान समस्या दूसरी हो—वर्ण्यवस्तु के आधार पर ही दी जाती है। उदाहरण के लिए जैनेन्द्र के 'सुनीता' (१९३६ ई०) और 'कल्याणी' (१९४० ई०) नामक उप-न्यासों को ले लीजिए। हरिप्रसन्न किसी क्रांतिकारी दल का प्रमुख है। किन्तु यह क्रांतिकारिता एक तो हरिप्रसन्न के व्यक्तित्त्व की रेखाओं को उभारने के लिए है और दूसरे कथानक को वह मोड़ देने के लिए है जिससे हरिप्रसन्न और सुनीता का पारस्परिक संबंध संघर्ष की चरम सीमा पर दिखाई पड़ जाय। इसलिए यह तत्त्व यहां स्वतन्त्र नहीं है और उपन्यास राजनीतिक नहीं। 'कल्याणी' भी क्रांतिकारियों को सहायता देती है किन्तु वह भी वहां इसी भाँति गौण है। अमृत लाल नागर के 'महाकाल' (१९४७ ई०) और रांगेय राघव के 'विषाद मठ' (१९४६ ई०) को हम राज-नीतिक उपन्यास इसीलिए नहीं कहते कि ये उपन्यास राजनीति की पृष्ठ-भूमि पर समाज की एक विशेष काल-व्यापी भुखमरी की बिगड़ी अवस्था का चित्र खींचते हैं।

वैयक्तिक उपन्यासों में एक ही व्यक्ति की समस्याओं की प्रधानता होती है। आज के युग में व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संबंध कुछ इस प्रकार के होते जा रहे हैं जिसमें अकेले व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं। परिस्थितियां कुछ ऐसी हो गई हैं कि व्यक्ति का कुछ भी शुद्ध व्यक्तिगत नहीं रह गया है। यहां तक कि उसका मनोविज्ञान भी उसका अपना नहीं। तर्क और विवेचन की उतनी बारीकी पर न जायँ, तो भी प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ न कुछ ऐसा अवश्य होता है जो यद्यपि बनता सामूहिक वातावरण से ही है किन्तु जिसे व्यक्ति औरों से छिपा कर ही रखना चाहता है। पति-पत्नी का पारस्परिक संबंध और व्यवहार उन बातों में से एक है। नारी-पुरुष का आकर्षण भी कुछ ऐसा ही है। साधारणीकरण या फ्रायड की आड़ कुछ ऐसी मिली कि लेखक अपनी गोपनीय से भी गोपनीय बात खोल कर रख देने में न झिझका। अतएव व्यक्ति की इन बातों का जिन उपन्यासों में चित्रण होता है उन्हें हम वैयक्तिक उपन्यास कहते हैं। इन उपन्यासों में सामाजिकता उतनी ही रहती है जितनी प्रायः सामान्य व्यक्ति के जीवन में (इस दृष्टि से व्यक्ति प्रायः तीन प्रकार के होते हैं। पहले वे हैं जिनके जीवन में उनके व्यक्तित्व और उससे संबंध रखने वाली बातों के अतिरिक्त अन्य बातों का कोई विशेष महत्व नहीं। अपने काम-काज और अपने सुख-दुख और उनके कारण-निवारण से ही उनको प्रयोजन होता है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनकी सामाजिक चेतना अपेक्षाकृत अधिक जागरूक होती है। कुछ ऐसे भी होते हैं जिनका व्यक्तिगत जीवन प्रायः समाप्त हो जाता है। इलाचन्द जोशी का 'सन्यासी' (१९४१ ई०), 'परदे की रानी' (१९४१ ई०), जानकी प्रसाद पुरोहित का 'अवनिका' (१९४६ ई०) और 'पहाड़ी' के 'सराय' (१९४४ ई०) आदि के प्रधान पात्र पहले ढंग के हैं। जैनेन्द्र कुमार का हरिप्रसन्न, उनकी कल्याणी, 'अज्ञेय' का शेखर, प्रेमचन्द का होरी आदि अनेक व्यक्तित्त्व दूसरे ढंग के हैं। यशपाल के 'दादा कामरेड', 'पार्टी कामरेड' इत्यादि के पात्र कुछ तीसरे ढंग के होते हैं। इन तीसरे प्रकार के पात्रों वाले उपन्यास प्रायः राजनीतिक बन जाते हैं; दूसरे वाले, पारिवारिक या सामाजिक; और पहले वाले, वैयक्तिक) वैयक्तिक उपन्यासों में पात्रों का चित्रण प्रायः मनोविश्लेषणात्मक पद्धति पर होता है। रोमांटिक वातावरण खींच कर उसमें व्यक्ति के आकर्षण-प्रत्याकर्षण के द्वारा भी वैयक्तिक उपन्यास लिखे जा सकते हैं (जानकी प्रसाद पुरोहित के 'अवनिका' की सृष्टि इसी प्रकार हुई है। ट्रेन में मुलाकात होती है। परिस्थितियां नायक और नायिका को एक दूसरे के प्रति सहिष्णु बना देती हैं। फिर शायद वे एक दूसरे के प्रति आकर्षित हो जाते हैं। पाठक आकर्षण की प्रतिक्रियाओं को देख कर उन्हें प्रेमी-प्रेमिका समझे बिना रह नहीं सकता। किन्तु लेखक ने उसकी परिणति सात्विक आकर्षण में कर दी है। तीन-चौथाई उपन्यास नायक-नायिका के रहस्यमय आकर्षण, भावुकता-भरी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं और इन सबसे बनने वाले रोमांटिक वातावरण से भरा है। अंत में

वैयक्तिक उपन्यास

जाकर दोनों परिवार में मिलते हैं। इस प्रकार इस उपन्यास में नायक-नायिका का व्यक्तित्त्व ही चित्रित है)

वर्ण्यवस्तु की दृष्टि से कुछ उपन्यास ऐसे लिखे गए हैं जिनको ऐतिहासिक उपन्यास कहते हैं। इन उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों की सामग्री निकट या सुदूर अतीत से ली है। इस प्रकार ये ऐतिहासिक उपन्यास प्रधानतः दो भागों में बंट जाते हैं। पहले उपन्यास वे हैं जिनकी सामग्री भारतीय इतिहास के मध्ययुग से ली गई है। वृन्दाबन लाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास इसी श्रेणी में आ जाते हैं। दूसरे उपन्यास वे हैं जिनकी सामग्री प्राचीन काल से ली गई है। राहुल सांकृत्यायन, रामरतन भटनागर, और कवींदु बेनी प्रसाद वाजपेयी 'मंजुल' और भगवती चरण वर्मा के कुछ उपन्यास इसी श्रेणी के हैं।

ऐतिहासिक

ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास का तत्त्व विचारणीय होता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐतिहासिक रस को आवश्यक समझते हैं। इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि उपन्यास के अन्दर के सभी पात्र, उनकी सभी घटनाएं, आदि इतिहास से अनुमोदित हों ही। यह भी हो सकता है कि केवल एक प्रधान घटना ही इतिहास की हो और शेष सब कुछ लोकोक्तियों, जनश्रुतियों और लेखक की सृजनात्मक कल्पना की दृष्टि से विनिर्मित एवं आयोजित हों। और, इतना सब होते हुए भी उपन्यास के अन्दर ऐतिहासिक वातावरण इस ढंग का हो कि ऐतिहासिक रस की उपलब्धि हो जाय। फिर भी उपन्यासकार अपने उपन्यासों में इतिहास से अनुमोदित बातों को जितना ही अधिक रख सके उतना ही अच्छा होता है।

वातावरण की आवश्यकता

इन उपन्यासों में लेखक कभी-कभी ही पूर्णतः तटस्थ रह पाता है। ऐसा रहना न आवश्यक है और न अभीष्ट ही। लेखक का अपना एक जीवन-दर्शन होता है। उसे वह आधुनिक काल की कथावस्तु के माध्यम से अभिव्यक्त कर सकता है और पुराने इतिहास की कथावस्तु के माध्यम से भी। प्रायः ऐसा होता है कि पाठक को प्राचीनता से अनुराग हो सकता है। यह शायद इसलिए होता है कि जहां वर्तमान और भविष्य दोनों अनिश्चित रहते हैं वहाँ अतीत सर्वदा के लिए निश्चित रूप से अपना हो जाता है। इसलिए जब वह किसी तत्त्व को वहां देखता है और यह समझता है कि उसकी आवश्यकता आज भी है तो उसे आज के जीवन में लाने का यथासंभव प्रयत्न करता है। यही कारण है कि उपन्यास-लेखक आज की समस्याओं एवं आवश्यकताओं को उस युग में दिखा कर और उसके लिए आवश्यक निदान को दिखा कर अप्रत्यक्ष रूप से मानो यह कहता है कि उसने वहां काम किया था; उसे आज के जीवन में ले आओ तो आज की समस्याएं भी हल हो जायंगी; (अथवा कभी-कभी ऐसा कुछ कहता हुआ लगता है कि उस युग में यह दवा न की तो उसका परिणाम आज तक भुगतते रहे हो, और यदि आज भी न की तो

ध्येय

क्या होगा, सोच लो। अतएव भगवती चरण वर्मा जिस विनाशकारी अहं को समाप्त कर देने का उद्देश्य अपने ऐतिहासिक उपन्यास 'चित्रलेखा' में देते हैं उसी को मिटाने की बात आधुनिक युग के उपन्यास 'तीन वर्ष' में भी है। इसीलिए राहुल सांकृत्यायन के प्रत्येक ऐतिहासिक उपन्यास में कोई न कोई ऐसी बात अवश्य कही गई है जिसे वे आज के या आने वाले समाज के लिए आवश्यक समझते हैं। उनके मस्तिष्क की विचारधारा, उनके निष्कर्षों, और उन निष्कर्षों से निर्मित समाज की रूपरेखाएं उनके उपन्यासों में मिलती हैं। कहीं वह वर्ग-विहीन समाज का चित्र खींचते हैं, तो कहीं भैंस-सी मोटी या गुड़िया-सी कोमल नारियों की हँसी उड़ा कर वीर नारी का स्वरूप उपस्थित करते हैं। यह बात दूसरी है कि वह नारी हमारे संकुचित साँचे में ढली हुई न निकले। इसी प्रकार वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों के पीछे उनका स्वस्थ जीवन-दर्शन एवं राष्ट्रीय दृष्टिकोण झलकता है। 'बाण भट्ट की आत्मकथा' में भी हजारी प्रसाद द्विवेदी बहुत-कुछ अपनी कह जाते हैं। 'दिव्या' में यशपाल ने अपना आधुनिक भौतिक दृष्टिकोण पूरी तरह से प्रकट किया है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार अपनी कथावस्तु इतिहास और जनश्रुतियों के आधार पर बनाता है। वृन्दावन लाल वर्मा ने 'कचनार' (१९४७ ई०) की कथावस्तु के स्रोत का उल्लेख करते हुए निम्नलिखित बातें बताई हैं। उन्होंने सागर गजे-टियर, बुंदेलखंड का इतिहास, 'छत्र प्रकाश', पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख, 'ट्रान्जैकशन्स आफ़ दि मराठा एम्पायर', एलविन की 'फ़ाक सांग्ज़ आव दि मेरवल रेंज', 'राजगोंड्स', 'फाल आफ दि मुगल एम्पायर', 'मेम्वायर्स आफ सेन्ट्रल इन्डिया', लगभग ४० वर्ष पहले 'सरस्वती' में प्रकाशित कुछ घटनाओं और उनके विशेषज्ञों से किए गए विचार विमर्श आदि का उल्लेख किया है। उनके प्रायः सभी ऐसे उपन्यासों के पीछे ऐतिहासिक तत्त्वों की इतने परिश्रम से की गई खोजों की और अध्ययन की बातें रहती हैं। 'विराटा की पद्मिनी' (१९३६ ई०) वृद्ध के द्वारा सुनी गई कहानी, अन्य जनश्रुतियों, नदी के निकट पत्थर पर देखे गए दो पग-चिन्ह आदि के आधार पर है, तो फाइलों के अंदर की गई छान-बीनों से भी काम लिया गया है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के पीछे विद्वान लेखक का कितना अध्ययन है, यह यत्र-तत्र दिए गए फुटनोटों से स्पष्ट है। इस अध्ययन के द्वारा प्राप्त तथ्य भाषा, वेश-भूषा, शैली, शासन-पद्धति आदि की रूपरेखा बनाने में और उनके द्वारा विनिर्मित वातावरण की सृष्टि में बड़ी सहायता देते हैं। 'जय यौधेय' और 'सिंह सेनापति' के पीछे राहुल सांकृत्यायन के जीवन भर का अध्ययन और अनुभव है। अध्ययन का आधार लिए बिना कल्पना सत्य प्रतीत होने वाले वैसे वातावरण की सृष्टि नहीं कर सकती। यह सत्य है कि हिन्दी के सभी ऐतिहासिक उपन्यासों के पीछे इतना गहरा अध्ययन नहीं है किन्तु यह भी एक सत्य है कि अब ऐतिहासिक उपन्यासों की यह परम्परा आगे बढ़ कर हमें ऐसी कृतियां देगी जिनके ऊपर

वातावरण के स्रोत

भारत गर्व करेगा और जिन्हें विश्व का ऐतिहासिक उपन्यास साहित्य सम्मानप्रद स्थान देगा।

इन ऐतिहासिक उपन्यासों की कला में अभी स्पृहणीय प्रौढ़ता नहीं आई। इनके अन्दर लेखकों के दृष्टिकोण में उचित सामंजस्य नहीं रह पाता। कला कहीं-कहीं विशृंखल हो जाती है। वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों में कहीं-कहीं विवरण या चित्रण की ही प्रधानता हो जाती है। कहीं-कहीं भाषा संबंधी दोष या असावधानियां बहुत खटकने लगती हैं। पात्रों के चरित्र में गतिशीलता की कमी भी मिलती है। जीवन की सर्वांगीणता का अभाव प्रायः मिलता है। यह भी हो सकता है कि लेखक उन विशेष पात्रों के जीवन में ही सर्वांगीणता का अभाव देखता हो। राहुल सांकृत्यायन जब स्वच्छंदता से मांस खाने का या चुंबनों की बौछार का वर्णन करने लगते हैं तो कभी-कभी अतिरंजन की आशंका होने लगती है।

कला

भगवती चरण वर्मा ने 'पतन' और 'चित्रलेखा' के पश्चात्, जिनके अंदर भी इतिहास से अधिक कल्पना ही थी, ऐतिहासिक उपन्यासों से संबंध तोड़-सा लिया है। रामरतन भटनागर भी कुछ हटते-से लगते हैं। किन्तु जो हमारे वास्तविक ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं—और हम मानते हैं कि वे दो ही एक हैं—वे अपनी पूरी शक्ति और साधना से अपने मार्ग पर चल रहे हैं। इस दृष्टि से वृन्दावन लाल वर्मा की शक्ति, साहस, और साधना अनुकरणीय और सराहनीय है। इनकी और राहुल सांकृत्यायन की कला में निखार आता ही जा रहा है। वृंदावन लाल वर्मा की कहानी कहने की कला, चरित्र-चित्रण की शैली, सजीव, सचित्र और यथावश्यक वातावरण निर्माण करने की शक्ति, इतिहास के अंदर प्रवेश करने वाली भेदक और सृजनात्मक कल्पना, जीवन का उदात्त और स्वस्थ दृष्टिकोण, सुसंबद्ध कथानक आदि विशेषताएं प्रौढ़ से प्रौढ़तम कृतियां देती जा रही हैं। इसी प्रकार राहुल सांकृत्यायन के ऐतिहासिक उपन्यासों की कला की भी अपनी विशेषताएं हैं। हिन्दी में यदि स्वस्थ और कर्मठ उपन्यासकारों की संख्या बढ़ जाती तो हमारे ऐतिहासिक उपन्यास साहित्य में अपूर्व वृद्धि होती।

'बाण भट्ट की आत्मकथा' को ऐतिहासिक उपन्यास माना जा सकता है किन्तु मैं उसे ऐतिहासिक से अधिक सांस्कृतिक कहूँगा। वह उस युग की राजनीति और उसकी पृष्ठभूमि में दिखाई पड़ने वाली समाज की सभ्यता की बाहरी रूपरेखा की अपेक्षा उस युग की आत्मा को अधिक टटोलता है। यह उपन्यास उस युग की धार्मिकता, पूजा-पद्धतियों, कलाओं आदि संस्कृति के अन्य पक्षों पर प्रकाश डालता है। यह उस युग की सामान्य और विशिष्ट वर्गों की जनता के व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन का अध्ययन करता है। ऐसे उपन्यासों की रचना सरल नहीं। उसके लिए गम्भीर और बहुमुखी अध्ययन और पर्याप्त मनन एवं चिन्तन की आवश्यकता है। इसके विद्वान लेखक की किसी

ऐतिहासिक या सांस्कृतिक

ऐसी ही अन्य कृति की ओर तो हमारी दृष्टि है ही, हम नवयुवक उपन्यासकारों से भी इस बात की आशा करते हैं कि वे इस कठिन किन्तु अच्छे मार्ग पर बढ़ेंगे। तब हिन्दी में अच्छे और कलात्मक सांस्कृतिक उपन्यासों की भी एक परम्परा चल सकती है। इस परम्परा से आगे चल कर सांस्कृतिक उपन्यासों का एक स्वतन्त्र वर्ग बन सकता है। उस पर हिन्दी को गर्व होगा।

शैली की दृष्टि से

उपन्यासों का चौथा वर्गीकरण शैली की दृष्टि से किया जा सकता है। इस दृष्टि से उपन्यासों की तीन श्रेणियां मिलती हैं :—

१. वर्णनात्मक शैली,
२. विश्लेषणात्मक शैली, और
३. स्वगत शैली।

वर्णनात्मक शैली के उपन्यास

हिन्दी में जिस समय उपन्यास कला बहुत विकसित नहीं हुई थी, व्यक्ति और समाज को देखने-परखने की नई, वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक दृष्टि नहीं मिली थी, और लेखक का उद्देश्य केवल कहानी कहना ही था तब वर्णनात्मक शैली का प्रयोग बहुत होता था। कथानक को गति और उसके विकास में जो कुछ कला होती थी उसी पर संतोष किया जाता था। उसी से कथा का जितना रहस्य खुल जाता था उतना खुल जाता था। रहस्य की शेष बातों को लेखक या तो स्वयं कह देता था या पात्र अथवा पात्रों से कहलवा देता था। इस शैली के उपन्यासों में किसी का विश्लेषण नहीं होता था। कहानी से, वार्तालाप से या स्वतन्त्र वर्णन से जो कुछ और जितना कुछ स्पष्ट हो जाय उतने ही पर पाठक को संतोष करना पड़ता था। इस प्रकार इस शैली में आलंकारिकता, कभी-कभी व्यावहारिकता का पुट, ध्वनि या भंगिमामय शब्द, मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग तथा चित्रात्मकता पाई जाती है। वर्णनात्मक शैली के उपन्यासों का वास्तविक रूप आजकल हमें जासूसी उपन्यासों में मिलता है। अन्य प्रकार के उपन्यासों में शुद्ध वर्णनात्मक शैली का उपयोग नहीं किया जाता। चित्रण इस शैली की प्रधान विशेषता है। यह चित्रण स्वतन्त्र भी होता है और उद्देश्य-पूर्ण भी, शुद्ध भी और आलंकारिक भी, घटनाओं का भी और प्राकृतिक दृश्यों का भी। संभाषण और मनोविज्ञान के यथासंभव उपयोग ने इस शैली को कलात्मक रूप दे दिया है। इस शैली में हिन्दी के कलापूर्ण गद्य के कुछ बहुत-ही अच्छे उदाहरण मिलते हैं। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' और राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह अपनी-अपनी शैलियों की कलात्मकता के लिए प्रसिद्ध हैं। राजा साहब की शैली का एक **उदाहरण** उनके 'संस्कार' (१९४६ ई०) से लीजिए :—

"न जाए तो खाए क्या—अपना सर! और जाए तो क्या-क्या न खाए—धक्के, डंडे, गालियां और गर्द !"

———

"पति बीमार। सास और ननद दो कदम चलने से लाचार। एक तो कोयला नहीं कि चूल्हा जले; दूजे चावल नहीं कि हांडी चढ़े। फिर, पैसे भी नहीं कि बाजार चले। उस पर शरीफ का नाम, शरीफ की शान !" इस शैली में सामाजिक उपन्यास भी अच्छे-अच्छे मिलने लगे। इस अवस्था में भी इस शैली में विश्लेषणात्मकता नहीं आ पाई थी। चरित्रों की सृष्टि मनोविज्ञान के आधार पर होती थी। मनुष्य के मन की स्वभाविक गति क्या है और विशेष परिस्थितियों में पड़ कर वह क्या कर सकता है, इसका वर्णन इस शैली से होता था। हिन्दी के अधिकांश सामाजिक उपन्यास इसी शैली में लिखे गए हैं। प्रेमचन्द, प्रसाद, ऊषा देवी मित्रा, गोविन्द वल्लभ पंत, आदि लेखकों के उपन्यास उदाहरण के लिए देखे जा सकते हैं। वर्णनात्मक शैली के इस द्वितीय स्वरूप का उपयोग इस अवधि के उपन्यासों में बहुत हुआ है। इसी में अच्छे भावपूर्ण उपन्यासों की भी रचना हुई; जैसे, जयशंकर प्रसाद का 'तितली' (१९३४ ई०) आदि।

विश्लेषणात्मक शैली के उपन्यास

धीरे-धीरे लेखकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। जो कुछ है, जो कुछ हो रहा है, या जो कुछ हो सकता है, वह तो ठीक ही होगा, किन्तु ऐसा होता क्यों है ? लेखक यह जानने और जनाने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने व्यक्ति के जीवन में अंतर्द्वन्द्व देखा और उसका कारण खोजने लगे। मनुष्य के मन की रहस्यमयी गति को देखा और वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन पर पड़ने वाले उसके स्वस्थ या विकृत प्रभावों को भी देखा। उनका कौतूहल बढ़ा जिसमें उन्होंने पाठकों का कौतूहल देखा। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के अध्ययन और प्रयोग से उनको रहस्यों के उद्घाटन में सहायता और संतोष की प्राप्ति हुई जिसमें उन्होंने पाठकों का कलात्मक कौतूहल-शमन देखा। यहीं से विश्लेषणात्मक शैली के उपन्यासों का जन्म हुआ। इसी चिन्तन-पद्धति के आधार पर इन उपन्यासों की कला को स्वरूप मिला। लेखक ने कोई आश्चर्य-जनक घटना अपने पाठक को सुनाई। फिर उसके आश्चर्य तत्त्व का ऐसा विश्लेषण किया कि उसका संबंध कर्त्ता के मन से स्थापित हो जाय। फिर यह दिखाया कि कर्त्ता का मन वैसा हुआ ही क्यों। यह विश्लेषण घटनाओं के द्वारा भी होता था और वर्णन के द्वारा भी। अन्त में कौतूहल की सृष्टि और शमन करता हुआ लेखक पाठक को एक निश्चित भावभूमि पर लाकर छोड़ देता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास प्रायः इसी शैली पर लिखे जाते हैं। इलाचन्द जोशी, 'अज्ञेय' आदि के उपन्यास ऐसे ही हैं। इन उपन्यासों में वर्णनात्मक शैली का प्रयोग प्रायः होता रहता है। विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग तभी होता है जब किसी रहस्य या आश्चर्य का विश्लेषण करना होता है। इस शैली का एक रूप हमें भगवती चरण वर्मा के 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में मिलता है जहां घटनाओं और सिद्धान्तों पर तर्क-वितर्क होता है। किन्तु इसमें अधिक कलात्मकता नहीं होती है।

इसमें लेखक दो या तीन पात्रों को अपना माध्यम बनाता है। पहले पात्र को लिया। उसकी कहानी प्रारंभ की और वर्णन करते-करते उसको किसी एक विशेष अवस्था में लाकर छोड़ दिया। अब दूसरे पात्र को लिया और पहले की ही भाँति उसके जीवन की अभीष्ट घटना का वर्णन करने लगे और इसको भी विशेष एक भावभूमि पर ला कर छोड़ दिया। इस प्रकार वर्णन करते-करते उनको मिला कर एक नई परिस्थिति पैदा कर दी और फिर उसका कुशलतापूर्वक निर्वाह करते हुए उपन्यास का अंत कर दिया। यह वर्णनात्मक शैली का एक दूसरा रूप है। इसमें वे सारी सुविधाएं रहती हैं जो वर्णनात्मक शैली में लिखने वाले को मिल सकती हैं। लेखक किसी विशेष पात्र के वर्णन तक अपने को सीमित रख कर अपने ऊपर अपने ही आप बंधन लगा लेता है। उदाहरण के लिए राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह का 'राम-रहीम' (१९३६ ई०) इसी प्रकार का उपन्यास है। उपन्यास के प्रारम्भ में 'बेला' की बात प्रथम खंड के पाँच अध्यायों में कही गई है। फिर प्रथम खंड के दूसरे चौदह अध्यायों में बिजली का वर्णन है। द्वितीय खंड के १९ अध्यायों में फिर बेला की बात है। द्वितीय खंड के दूसरे १४ अध्यायों में फिर बिजली की बात है। तीसरे खंड के ११ अध्यायों में बेला-बिजली का सम्मिलित वर्णन है। फिर, उपसंहार के साथ उपन्यास समाप्त होता है। शैली वर्णनात्मक है।

पात्रों का आधार ले कर

स्वगत शैली का प्रयोग हिन्दी उपन्यासों में हुआ है सही, किन्तु बहुत कम हुआ है। इसका एक स्वरूप पत्र शैली के उपन्यासों में मिलता है। प्रफुल्ल चन्द ओझा 'मुक्त' का उपन्यास 'पाप और पुण्य' (१९३० ई०) पत्र शैली में ही लिखा गया है। इसमें लिखे गए ३८ पत्र उपन्यास का निर्माण करते हैं। हम इसे एक शैली मान तो अवश्य लेते हैं किन्तु इसमें उपन्यास कला बिखर जाती है। कथा-सूत्र बार-बार टूटता-सा लगता है। इस शैली का प्रचार नहीं हुआ। यह कल्पना की वस्तु होकर रह गई। हिन्दी में प्रधानता वर्णनात्मक शैली के कलात्मक एवं प्रौढ़ स्वरूप की और उसके बाद विश्लेषणात्मक शैली की रही।

पत्र-शैली

वास्तविक स्वगत शैली के अनुसार उपन्यास का प्रधान नायक अपनी बात स्वयं कहता हुआ चलता है। यहां पाठक उतना ही जान सकता है जितना नायक जान ले; और चूंकि नायक भी उपन्यास के पात्रों में से एक होता है, और निश्चय ही वह ईश्वर की तरह सर्वज्ञ नहीं हो सकता क्योंकि स्वाभाविकता यही कहती है, अतएव इस शैली का निर्वाह बड़ी कठिनाई से होता है। सफल निर्वाह हो जाय तो ऐसा उपन्यास शैली की दृष्टि से बड़ा ही कलापूर्ण होता है। इलाचन्द जोशी का 'सन्यासी' (१९४१ ई०) इसी शैली में है।

स्वगत शैली

उद्देश्य की दृष्टि से

हिन्दी के उपन्यासों का पांचवें प्रकार का वर्गीकरण उस उद्देश्य के आधार पर किया जा सकता है जिसको ध्यान में रखकर वे लिखे जाते हैं। इस दृष्टि से हमें निम्नलिखित प्रकार के उपन्यास मिलते हैं--

१. मनोरंजन के लिए लिखे गए,
२. मनोविश्लेषण के लिए लिखे गए,
३. यथार्थवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए लिखे गए, और
४. आदर्श की ओर बढ़ने वाले यथार्थ के चित्रण के लिए लिखे गए।

इन सब पर पीछे विचार किया जा चुका है। उन्हीं बातों को संक्षेप में यहां दुहरा देते हैं। मनोरंजन के लिए लिखे गए उपन्यास वे हैं जिन्हें हम जासूसी उपन्यास

मनोरंजन प्रधान उपन्यास

कहते हैं। ये उपन्यास केवल इसीलिए लिखे जाते हैं कि लोग अपना खाली वक्त; जैसे, दो-चार घंटे की प्रतीक्षा, या ट्रेन आदि के लंबे सफर, में अपना मन बहला लें। उनका यह समय कट जाय। जासूसी उपन्यास या सामान्य कोटि के अन्य उपन्यास इसके अंदर आ जाते हैं।

इस ढंग के उपन्यास वे हैं जो मनुष्य के जीवन के कार्यों और उसकी घटनाओं की व्यवस्था इस प्रकार करते हैं कि उनका संबंध कर्त्ता के मन से जोड़ देते हैं। ऐसा

मनोविश्लेषण प्रधान उपन्यास

करने से घटनाओं की विचित्रता, प्रतीयमान असंगति या आश्चर्य मानव मन की विचित्रता, असंगति या आश्चर्य हो जाता है! अब इस मन का विश्लेषण मनोविज्ञान के नवीनतम अन्वेषणों के आधार पर होता है। 'अज्ञेय' इस तरह के विश्लेषण को ही ध्येय समझते-से लगते हैं। जैनेंद्र, इलाचन्द जोशी आदि अपने पात्रों को 'सद्' की ओर उन्मुख कर देते हैं।

तीसरे ढंग के उपन्यास वे हैं जिनका ध्येय जीवन का यथार्थवादी दृष्टिकोण है। यथार्थ से तात्पर्य यह नहीं है कि जीवन की घटनाएं जैसी-कुछ हैं उनकी फोटो सामने

यथार्थवादी उपन्यास

ला दी जाय। यथार्थवादी दृष्टिकोण जीवन की विशेष विचारधारा है। उसके प्रति एक निश्चित दृष्टिकोण है। इसके अनुसार मनुष्य का मन, मस्तिष्क और उसकी चिंतनशैली उसके आसपास के वातावरण, उसके जीवन की परिस्थितियों और उसके ऊपर समय-समय पर पड़ने वाले प्रभावों से निर्धारित होती है। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य परिस्थितियों का दास है, उनका मालिक नहीं; या अधिक से अधिक यह कि दोनों का परस्पर घात-प्रतिघात चला करता है। यशपाल के सभी उपन्यास इसी प्रकार के हैं।

चौथे ढंग के उपन्यास वे हैं जो जीवन की परिस्थितियों या घटनाओं का वास्तविक चित्रण उपस्थित करते हैं अवश्य, किन्तु वे उपन्यासकार के अपने आदर्श, दृष्टिकोण

के अनुसार सामने लाए जाते हैं। वह उन्हें सर्वमान्य आदर्श की ओर मोड़ देता है। इसी को प्रेमचन्द ने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहा है। पात्रों के जीवन के कार्य यदि ऐसे हैं जो धर्म प्रधान नैतिकता के विरुद्ध हैं, समाज की मान्यताओं के प्रतिकूल हैं, तो लेखक पहले तो उन्हीं का चित्रण करेगा और बाद में पात्रों की मनोवृत्ति ऐसी कर देगा कि वे अपने ऐसे कर्मों के लिए पश्चाताप करें और अपने जीवन को कल्याण-मार्ग की ओर ले चलने का सद्संकल्प करें। ऐसे उपन्यासों के एक सिरे पर प्रेमचन्द के वे उपन्यास हैं जो 'गोदान' से पहले लिखे गए हैं। दूसरे सिरे पर कुछ वे उपन्यास भी हैं जिनके लेखकों के विषय में कहा जाता है कि उनकी कला केवल कला के लिए है। चतुरसेन शास्त्री, ऋषभ चरण जैन के कई उपन्यास ऐसे हैं। इन दोनों सिरों के मध्य में हिन्दी के उच्च कोटि के अनेक उपन्यास हैं। गोविन्द वल्लभ पंत आदि के उपन्यास ऐसे ही हैं।

आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यास

विशेष

हास्य की दृष्टि से भी हिन्दी में कुछ उपन्यास लिखे गए हैं। जी० पी० श्रीवास्तव के 'लतखोरी लाल' (१९३१ ई०), और 'स्वामी चौखटानन्द' नामक उपन्यास इसी अवधि में छपे हैं। प्रवासी लाल वर्मा के 'मूर्खराज' (१९२८ ई० में लिखा गया), सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के 'कुल्ली भाट' (१९३९ ई०) और 'बिल्लेसुर बकरिहा' (१९४१ ई०) नामक उपन्यासों में हास्यरस की ही प्रधानता है। अन्नपूर्णानन्द का 'महाकवि चच्चा' नामक हास्यरस प्रधान उपन्यास १९३२ ई० में निकला। जी० पी० श्रीवास्तव' के उपन्यासों का हास्य उच्चकोटि का नहीं। वह बहुत नीचे स्तर का है। उसके पीछे कोई विशेष उद्देश्य नहीं। ऊटपटाँग कामों, बातों और अश्लीलताओं से उनके उपन्यास भरे हैं। उनके उपन्यासों में हास्य नहीं, भद्दे मज़ाक और बुद्धि का दिवाला है। प्रवासी लाल वर्मा का 'मूर्खराज' गुजराती के 'मूर्खों' नामक उपन्यास के आधार पर लिखा गया है। नायक किशन सिंह की बेवकूफी के कारण लोग उसे 'मूर्खराज' कहते हैं। उपन्यास की घटनाएं उसकी उपाधि को ऐसा चरितार्थ करती हैं कि ऐसा लगता है कि हमारे सामने शेखचिल्ली आ गया है। 'महाकवि चच्चा' को हास्य का उपन्यास न कह कर व्यंग्य का उपन्यास कहें तो अधिक अच्छा होगा। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के उपन्यासों में हास्य वर्णन की शैली में ही अधिक है। हास्य की प्रधानता बिल्कुल नहीं है।

हास्य प्रधान

हास्य रस के उपन्यासों में सबसे बड़ी कमी यह मिलती है कि उनमें उपन्यास कला नहीं निखर पाती। कारण यह है कि हास्य वर्णन की शैली, और कथोपकथन में ही होता है। कार्यों में यदि हास्य का तत्त्व देखने लगते हैं तो वे कार्य

बुद्धि-विहीनों के लगते हैं। उपन्यासों में कथानक की सुन्दर सृष्टि हो ही नहीं पाती। चरित्र-चित्रण में 'निराला' के उपन्यासों में कुछ गति मिलती है, किन्तु जहां गति है वहां हास्य के तत्त्व पर कर्मठता, राष्ट्रीयता, प्रशंसा और करुणा की प्रधानता हो जाती है। 'महाकवि चच्चा' में यदि उद्देश्य है, तो वह व्यंग्य प्रधान हो गया है। इस प्रकार उच्चकोटि की उपन्यास-कला वाले हास्यरस के उपन्यास दुर्लभ हैं।

उपन्यास कला की सामान्यता

हास्य के कुछ उदाहरण लीजिए :—

वार्तालाप की शैली का हास्य :—

"मेरे ऐसे ही स्वभाव से शायद प्रसन्न होकर सास जी ने पूछा—"अच्छा भैया, मेरी लड़की तुम्हें कैसी सुन्दरी लगती है ?" मौखिक इम्तिहान में मैं बराबर पहला स्थान पाता रहा हूँ। कहा—"मैंने आप की लड़की को छुआ तो है, बात-चीत भी की है लेकिन अभी तक अच्छी तरह देखा नहीं; क्योंकि जब मेरे देखने का समय होता था तब दिया गुल कर दिया जाता था। दूसरे दिन दियासलाई ले तो गया, जला कर देखा भी, लेकिन दियासलाई के जलते ही आपकी लड़की ने मुंह फेर लिया और झोंपड़े के अगल-बगल वाले लोग खाँसने लगे। फिर जला कर देखने की हिम्मत न हुई।"[१]

हास्य के उदाहरण

क्रिया का हास्य :—

लेखक अपने मित्र के यहां एक जरूरी काम से गया था। वे कनकैया उड़ाते रहे और जवाब दिया कि देख ही रहे हैं कि अभी फ़ुरसत नहीं। लेखक ने जब डिप्टी साहब के आने की झूठी बात कही तो कनकैया उड़ाना छोड़ कर इनके घर तक चले आए। अपने घर पर आकर लेखक ने सही बात बतलाई और स्पष्ट कह दिया कि "जैसा मेरा आना जाना व्यर्थ रहा, वैसा ही आप का; दुख न कीजिएगा। जाइए, कनकैया उड़ाइए।"[२]

शैली का व्यंग्य :—

"मेरी राय में सुखी जीवन तब कहना चाहिए, जब दस में अपनी गणना हो, बस में स्त्री हो, बकस में ठनाठन हो और नस-नस में बेफिक्री हो। गेह अपना हो—किराये का न हो, देह अपनी हो—डाक्टरों की न हो, और नेह ऐसे लोगों से हो, जो अपने को निकम्मा न समझते हों।"[३]

जी-हजूरी पर व्यंग्य :—

साहब के कुत्ते का नाम न 'सजेस्ट' कर पाने पर अफ़सोस करता हुआ नायक कहता है कि :—

१. 'निराला' : 'कुल्लीभाट'
२. 'निराला' : 'कुल्लीभाट'
३. 'अन्नपूर्णानन्द' : 'महाकवि चच्चा'

"मैं कितना बड़ा बेवकूफ था। और नहीं, अगर केवल इतना कह देता कि साहब स्वयं मेरा नाम क्या बुरा है, यही कुत्ते का भी रख लीजिए, तो भी साहब खुश हो जाते इससे उन्हें एक प्रकार सुविधा ही होती। एक नाम के पुकारने से दो जीव आ खड़े होते एक हाथ जोड़ता, दूसरा दुम हिलाता। एक कहता 'एस सर', दूसरा कहता भों भों।"

इसी प्रकार लेखक ने रायसाहबी की प्राप्ति के प्रयत्नों, फैशनपरस्त, क्रोम-पाउडर के प्रेमी विद्यार्थियों, साहित्यिकों, समाज की रूढ़ियों, रीति-काल के प्रेमियों, पराधीन मनोवृत्तियों आदि पर भी व्यंग्य कसे हैं।

साधारण कोटि का हास्य :—

एक साहित्यिक महोदय जीवन में आशा से दूर हटने पर सुखी हो सकने वाली युक्ति पर बिगड़ जाते हैं और कहते हैं कि वे इस बात को इसलिए न मानेंगे क्योंकि आशा स्वयं उनकी पत्नी का नाम है। फिर कहते हैं कि भाई, सच मानिए कि मेरी पत्नी का नाम आशा है। "वह दो बहिन है—बड़ी का नाम आशा और छोटी का नाम बताशा है।"[2]

ऐसी बुद्धि वाले व्यक्ति को क्या कहा जाय! सो, हिन्दी में हास्यरस के उपन्यास इसी प्रकार के मिलते हैं, और वह भी कम।

अध्ययन की इस अवधि के उपन्यास-साहित्य के विकास में दो सन् बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। १९२६ ई० से हमारा अध्ययन प्रारम्भ होता है। इस समय हमारा उपन्यास साहित्य विकास की जिस अवस्था तक पहुँच सका था उसका अनुमान प्रेमचन्द के 'कायाकल्प', चंडी प्रसाद 'हृदयेश' के 'मंगल प्रभात', प्रफुल्ल चन्द ओझा 'मुक्त' के 'सन्यासिनी', शिवपूजन सहाय के 'देहाती दुनिया' आदि उपन्यासों को ध्यान में रखने से लग जायगा। इसके ठीक दस वर्षों के पश्चात् हमारा उपन्यास साहित्य उस सीमा तक विकसित हो चुका था कि हम कुछ प्रौढ़ कृतियां दे सकें। यह संयोग का विषय है कि १९३६ ई० में प्रेमचन्द का अंतिम, पूर्ण, सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' प्रकाशित हुआ था। यह अब तक चली आती हुई परम्परा का एक ऐसा प्रौढ़ स्वरूप है जो भविष्य की यथार्थवादी प्रवृत्ति की ओर भी संकेत करता है। १९३६ ई० में ही जैनेंद्र कुमार का 'सुनीता' प्रकाशित हुआ था, जिसके द्वारा आने वाले मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का आभास मिला था। उक्त दो महत्त्वपूर्ण उपन्यासों के अतिरिक्त इस वर्ष प्रकाशित होने वाली अन्य महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं:—भगवती चरण वर्मा की 'तीन वर्ष', वृन्दावन लाल वर्मा की 'विराटा की पद्मिनी' और सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की 'निरुपमा'। इसके ठीक दस वर्ष बाद हिन्दी का उपन्यास साहित्य विकास की एक दूसरी सीढ़ी पर पहुंच चुका है। इसका अनुमान इस वर्ष अथवा इसके एक

तीन महत्त्वपूर्ण सन् ईस्वी १९२६, १९३६ और १९४६

---

१. अन्नपूर्णानन्द : 'महाकवि चच्चा'

२. अन्नपूर्णानन्द : 'महाकवि चच्चा'

वर्ष पहले या बाद की प्रकाशित कृतियों से किया जा सकता है। मोहन लाल महतो 'वियोगी' की 'एकाकी' (१९४५ ई०), वृन्दावन लाल वर्मा की 'झांसी की रानी' (१९४६ ई०), उपेन्द्र नाथ 'अश्क' की 'गिरती दीवारें' (१९४६ई०), वृन्दावन लाल वर्मा की 'कचनार' (१९४७ ई०), भगवती चरण वर्मा की 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' (१९४६ ई०), अमृत लाल नागर की 'महाकाल' (१९४७ ई०), हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९४६ ई०)', रांगेय राघव की 'विषाद मठ' (१९४६ ई०), यशपाल की 'दिव्या' (१९४५ ई०), रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' की 'नई इमारत' (१९४७ ई०), गोविन्द वल्लभ पंत की 'अमिताभ' (१९४६ ई०), रांगेय राघव की 'घरौंदे' (१९४६ ई०), इलाचन्द जोशी की 'निर्वासित' (१९४६ ई०) आदि महत्त्वपूर्ण कृतियां प्रकाशित हुई हैं।

जिस समय हम उपन्यास साहित्य के विकास की बात करते हैं उस समय इसका अर्थ यह कदापि न समझना चाहिए कि विकास की जिस अवस्था का वर्णन किया गया है वह अवस्था अमुक अवधि के अन्दर प्रकाशित सभी उपन्यासों की है। किसी विशेष उपन्यास में ही वे प्रवृत्तियां स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। उसकी अन्य उपन्यासों में छाया मात्र दिखाई पड़ती है। इस प्रकार विकास समय की गति के अनुसार नहीं बल्कि महत्त्वपूर्ण उपन्यासों के आधार पर देखा गया है। वैसे, यह भी एक सत्य है कि आज के सामान्य उपन्यास १९१४ ई० या उसी समय के आसपास के उपन्यासों से कहीं अधिक अच्छे और कला-पूर्ण होते हैं। महत्त्वपूर्ण उपन्यासों की भी यही स्थिति है।

विकास की बात

एक समय था, जब उपन्यासों का पढ़ना, पढ़ने की सब से खराब आदत मानी जाती थी। छोटे-छोटे लड़कों के हाथों से उपन्यास छीन कर फेंक दिए जाते थे और बदले में कहानी के शौकीन लड़कों पर डांट या मार पड़ती थी। प्रेमचन्द ने लिखा है कि उन्होंने बोरों के पीछे छिप कर उपन्यास पढ़े थे। जिस समय दुर्गा प्रसाद खत्री और देवकी नन्दन खत्री के जासूसी एवं तिलस्मी उपन्यास निकलते थे उस समय समय का ध्यान कर के बच्चों को रोका जाता था; और जब पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' आदि के उपन्यासों का प्रचार हुआ तो चरित्र निर्माण की दृष्टि से उनको लड़कों की पहुँच से बाहर रक्खा गया। किन्तु फिर प्रेमचन्द, विश्वम्भरनाथ 'कौशिक', गोविन्द वल्लभ पंत, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', प्रताप नारायण श्रीवास्तव आदि के उपन्यास निकले। उनमें उच्च कोटि की साहित्यिकता पाई गई, और स्कूल-कालेजों के पाठ्यक्रमों में भी उनको स्थान मिला। साथ ही, समय की गति के साथ रुचि में परिष्कार और दृष्टिकोण में उदारता आई। अब उपन्यासों के ऊपर से यह प्रतिबंध हटता-सा जा रहा है। यशपाल आदि के उपन्यासों का भाग्य भविष्य के हाथों में है।

उपन्यासों का स्वागत

ज्यों-ज्यों हमारे उपन्यासों की कला में निखार आता जायगा, ज्यों-ज्यों उनकी साहित्यिकता की कोटि उच्च से उच्चतर होती जायगी, और ज्यों-ज्यों उपन्यास

उपन्यासों की कोटि

हमारे जीवन के अत्यधिक समीप आते जायंगे, त्यों-त्यों उनका स्वागत अधिक से अधिक होता जायगा। अभी उनका क्षेत्र सीमित है। उनकी अपनी कला सीमित है। क्षेत्र की दृष्टि से हमारे उपन्यास अभी मध्यमवर्ग और मस्तिष्क की साहित्यिक रुचि रखने वालों के लिए हैं। मस्तिष्क और साहित्यिकता के संकुचित घेरे में ही अभी लेखकों की कल्पना चक्कर लगाया करती है। यहां तक कि जीवन के एक आवश्यक तत्त्व—हास्यरस—के अच्छे उपन्यासों की संख्या उंगलियों पर भी मुश्किल से गिनी जा सकती है। उच्चकोटि के जासूसी उपन्यासों का भी अभाव है। साहसिक उपन्यास भी प्रायः नहीं हैं। कला की यह स्थिति है कि अंग्रेज़ी साहित्य के, फ्रांसीसी साहित्य के, या रूसी साहित्य के उपन्यासों के भारतीय पाठक के लिए अधिकार और विश्वास के साथ हिन्दी का कोई उच्चकोटि का उपन्यास आगे बढ़ाते हुए हिचक लगेगी। हिन्दी के अच्छे उपन्यासों को पढ़ कर कोई यह तो न कह सकेगा कि उनमें कौन-सा भारी या अक्षम्य दोष है, और यदि है तो वह कहां है, किन्तु फिर भी कला का जो सामूहिक प्रभाव मस्तिष्क या हृदय पर पड़ता है और जिसकी ठीक-ठीक बौद्धिक व्याख्या प्रायः असंभव होती है उस दृष्टि से उन विदेशी साहित्यों के उपन्यासों की तुलना में हमारे उपन्यास प्रायः हलके लगते हैं। फिर, हिन्दी के ऐसे उपन्यास भी अल्प संख्या में हैं। पाठकों में हिन्दी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण या विश्वास के दृष्टिकोण की इतनी कमी है कि किसी अच्छे उपन्यास के निकलते ही उसका संबंध किसी अच्छे विदेशी उपन्यास से जोड़ने की खोज जारी हो जाती है। फिर भी, इतना तो विश्वास के साथ कहा ही जा सकता है कि हिन्दी का उपन्यास साहित्य इन्हीं कठिनाइयों के बीच से गुज़रता हुआ विकास की इस स्थिति तक पहुँचा है। आगे भी उसका भविष्य उज्ज्वल है।

कहानी

कला-रूप में विकास

यदि हम हिन्दी के नवीन कहानी साहित्य का अध्ययन करें तो स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि इन बीस-इक्कीस वर्षों में हमारा कहानी साहित्य काफ़ी आगे बढ़ा है। यह विकास नवीन अध्ययन और प्रतिभा-सम्पन्न कहानी लेखकों के आने के कारण भी हुआ है और पहले के लेखकों में विकास होने के कारण भी। अमृतराय, 'अज्ञेय', 'पहाड़ी', रांगेय राघव, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा आदि नवीन लेखक इस क्षेत्र में आये हैं। प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, आदि पहले के लेखक भी कहानियां लिखते रहे। जो मस्तिष्क या जो प्रतिभा किसी सीमा तक बढ़ चुकी है और वहां पहुँच कर उसी के अनुसार काफी कार्य कर चुकी है उसके लिए पुनः अपने में आमूल परिवर्तन करना या उल्लेखनीय विकास करना प्रायः असंभव हो जाता है। अभ्यास से बनी हुई उसकी कला तो प्रायः वैसी ही रह जाती है। विषय का विस्तार हो सकता है, किन्तु कला-रूप का प्रायः नहीं। लेखक असमर्थता देख कर प्रायः लिखना ही बन्द कर देता है। तो, जब हम प्रसाद, प्रेमचन्द, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, 'हृदयेश', 'कौशिक', चतुरसेन शास्त्री, सुदर्शन, भगवती चरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, 'उग्र', विनोदशंकर व्यास, वाचस्पति पाठक, राय कृष्ण दास, होमवती देवी, कमला त्रिवेणीशंकर, उषादेवी मित्रा, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, महादेवी वर्मा, 'अज्ञेय', यशपाल, 'पहाड़ी', रांगेय राघव, अमृतराय आदि की कहानियों को तुलनात्मक दृष्टि से पढ़ते हैं तो कला-रूप के विकास की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है। प्रेमचन्द, राय कृष्णदास, जैनेन्द्र और 'अज्ञेय' की कहानियां एक दूसरे से इतनी भिन्न हैं कि बिना सोचे ही उनका अन्तर स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। कला-रूप के विकास के ये ही स्तम्भ हैं।

विकास के स्तम्भ

हमारे अध्ययन की अवधि प्रारंभ होने तक हिन्दी कहानियां अपने कलात्मक विकास की तीन प्रधान सीढ़ियां पार कर चुकी थी। अभौतिक-अतिभौतिक, अप्राकृतिक-अतिप्राकृतिक, एवं अमानुषिक-अतिमानुषिक तत्त्वों के उपयोग का युग समाप्त हो चुका था। 'रानी केतकी की कहानी' और 'राजा भोज का सपना' आदि कहानियां अपना आकर्षण खो चुकी थीं। इसके बाद मानव की जिज्ञासा, आश्चर्य एवं कुतूहल वृत्ति के शमन के लिए आकस्मिक घटनाओं और संयोगों का उपयोग प्रारम्भ हुआ। आकस्मिक घटनाएं एवं दैव-संयोग की बातें मन को एक क्षण के लिए उसी स्थिति में पहुँचा देती हैं जिस स्थिति में अमानुषिक एवं अतिप्राकृतिक आदि तत्त्व पहुँचा देते थे। संयोग और दैव घटनाओं का उपयोग अध्ययन की इस अवधि में भी भी मिलता है। अच्छी-अच्छी कहानियों तक में कहानी की चरम सीमा एवं चमत्कारपूर्ण

१९२५ ई० तक की कहानियों का कलात्सक विकास

स्थल प्रायः इन्हीं के द्वारा निर्मित होते हैं। चतुरसेन शास्त्री की एक प्रसिद्ध कहानी 'दुखवा मैं कासो कहूं मोर सजनी' में कहानी की चरम सीमा तथा उसके पश्चात् का समस्त कार्य-कलाप संयोगवश हुई एक घटना पर आधारित है। वह घटना है बाँदी का महारानी को चूमते हुए बादशाह के द्वारा देखा जाना। यह संयोग की बात थी कि बाँदी जिस समय महारानी को चूम रही थी ठीक उसी समय बादशाह शिकार से आ गए और महल के भीतर महारानी के कमरे में पहुँच कर उसे वैसा करते हुए देख लिया। संयोग की इसी घटना-पर आगे की सारी बातें आधारित हैं। तर्क और बौद्धिक विश्लेषण के इस युग में यह आकस्मिक घटनाओं और संयोगों का प्रयोग हमें अधिक न आकृष्ट कर सका। अध्ययन ने हमारे ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत किया और हम अपने कहानियों को मनोविज्ञान के प्रयोग से सजाने लगे। इसका प्रयोग यों हुआ कि कहानी के पात्रों की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं को मनुष्य मात्र के एवं उस वर्ग विशेष के, जिसका वह है, मनुष्य के स्वभाव के अनुकूल होना चाहिए। यदि किसी कंगाल को घड़े भर अशर्फियां मिल जायँ तो वह क्या-क्या सोच सकता है और सोचने की यह क्रिया कितनी दूर तक बढ़ सकती है एवं इस चिन्तन से प्रेरित होकर वह क्या-क्या करने लग सकता है, इसका चित्रण प्रारंभ हुआ। मनोवैज्ञानिक यथार्थता एवं वास्तविकता ही कहानियों का प्रधान तत्त्व हो गया। प्रेमचन्द आदि सभी लेखकों की प्रायः सभी कहानियां इसी के अनुरूप हैं। आधुनिक हिन्दी कहानियों के विकास की तीसरी अवस्था तब आई जब कहानियों में चिरन्तन सत्य का प्रत्यक्षीकरण या उसकी अभिव्यंजना कहानियों के रूप में होने लगी। कहानियों का यह स्वरूप पुराण-कथा अथवा रूपक-कथा की तरह होता है। यह स्वरूप अत्यंत कलापूर्ण है। सुदर्शन की 'कमल की बेटी' या 'संसार की सब से बड़ी कहानी' ऐसी ही है।

ऊपर चिरन्तन सत्य की अभिव्यंजना एवं उस अभिव्यंजना शैली से विनिर्मित कहानी कला के स्वरूप का उल्लेख किया जा चुका है। इस युग में आते-आते ये दोनों

सामयिक एवं मनोवैज्ञानिक तथ्य तथा कला-रूप

तत्त्व दो पृथक-पृथक दिशाओं में मुड़ गए। पहले चिरन्तन सत्य की बात ले लीजिए। 'कमल की बेटी' नामक कहानी जिस चिरन्तन सत्य की बात कहती है वह केवल इतनी है कि कवि का हृदय ही सौंदर्य का चिरन्तन निवास है। क्या यह एक चिरन्तन सत्य है ? यदि हां तब कवि की परिभाषा बदलनी पड़ेगी। उसको ऐसा बनाना पड़ेगा कि वह चित्रकार, संगीतज्ञ, मूर्तिकार, नृत्यकार, आदि कलाकारों पर भी लागू हो सके। आज का युग किसी भी सत्य को चिरन्तन मानने के लिए तैयार नहीं। उपर्युक्त कहानी में अभिव्यक्त सत्य पर नहीं, बल्कि उसके रूपकत्व पर मन मुग्ध होता है। आज का सत्य मानव का मनोविज्ञान है। अतएव आज की कहानियों में जो-कुछ अभिव्यक्त होता है उसे प्रधानतः तीन भागों में बांट सकते हैं :—

(१) निकटतम युग का तथ्य, (२) सुदूर युग का तथ्य-सत्य, और (३) मानव-

मनोविज्ञान के रहस्य। इस समस्या प्रधान युग में कमल की बेटी और कवि का हृदय अधिक देर तक आकृष्ट नहीं किए रह सकते। अस्तु, जब अभिव्यक्त होने वाला बदला तब अभिव्यक्ति का माध्यम एवं उसका स्वरूप भी बदल गया। भावुकता की वह ऊंची उड़ान कम ऊंची हो गई। उतना अधिक रूपकत्व भी नहीं रह गया। मानव मन की प्रवृत्तियों को प्रतीक के सहारे स्पष्ट किया जाने लगा। देवताओं के बरदान देने वाली जैसी कुछ बातों का सहारा लिया जाने लगा। तब इसका जो स्वरूप सामने आया वह राय कृष्ण दास की 'तापसी की तितिक्षा', अन्तःपुर का आरम्भ' या हरिवंश राय 'बच्चन' की 'चुन्नी-मुन्नी' की तरह की कहानियों में मिलता है। 'तापसी की तितिक्षा' नामक कहानी में एक तापसी की तितिक्षा का वर्णन है। यह तापसी इतनी घोर तपस्या करती है कि समस्त देवताओं के आसन डोल उठते हैं। वे बरदान देने आते हैं, किन्तु असफल होकर लौट जाते हैं। एक दिन एक राजकुमार अपने घोड़े पर आता है। तापसी उसकी छवि पर मुग्ध हो जाती है। इस कहानी में भी एक सत्य है। चाहें तो चिरन्तन, कह सकते हैं। इसी प्रकार, 'अन्तःपुर का आरम्भ' भी पुरुष का नारी के प्रति क्या दृष्टिकोण प्रारम्भ से रहा है और तभी से नारी ने पुरुष को कैसा माना है, इसी का एक चित्र है। गोविन्द वल्लभ पंत की 'संध्या प्रदीप' कहानी भी ऐसी ही है। विश्वास से ही चिन्ता पर विजय मिलती है, यह सिद्ध करने के लिए यह छोटी कहानी है। इसमें सुन्दरी, नौकरी, नौकरी की शर्त, आदि सब कुतूहलवर्द्धक हैं। ठीक सूर्य डूबने पर दीपक जलाना है। बादल घिरे हैं। सूर्य ठीक कब डूबा, यह कैसे मालूम हो। नायक ने विश्वास कर लिया कि इस समय सूरज डूबा है और यह सोच कर दीपक जला दिया। बस, उसकी सारी चिन्ताएं समाप्त हो गईं। इसी प्रकार जैनेंद्र की 'नीलम देश की राजकन्या' शीर्षक कहानी भी है। ये भी चिरन्तन कहे जा सकते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि इनमें पहले जैसी भावुकता और कलात्मकता नहीं।

मनोविज्ञान का जो तत्त्व पिछले युग में हिन्दी कहानियों में आया था उसका भी स्वरूप इस युग में आकर बदल गया। यह परिवर्तन विकास की ओर रहा।

अन्तर्द्वन्द्व

इसने दो स्वरूप धारण किए:—(१) अन्तर्द्वन्द्व या अन्तर्संघर्ष, और (२) प्रतीकत्व या प्रतिनिधित्व। उस युग की कहानियों में मनोविज्ञान का बहुत सरल स्वरूप मिलता है। डर, आशंका, घृणा, प्रेम, आदि सीधे-सादे और पृथक-पृथक चित्रित होते थे। सन्देह की अवस्था में वह क्या सोचेगा और उसके कार्यों पर इस मनोवृत्ति का क्या प्रभाव पड़ेगा, ये ही सब चित्रित होते थे। इन मनोवृत्तियों का समाज के ऊपर या समाज का इन मनोवृत्तियों के ऊपर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसका चित्रण नहीं होता था। इस युग में आते-आते यह भी चित्रित होने लगा। हम जिससे

जितनी अधिक घृणा करते हैं उससे उतना ही अधिक प्रेम भी कर सकते हैं। हम जिससे जितना अधिक प्रेम करते हैं उसके प्रति उतनी ही अधिक उपेक्षा भी दिखा सकते हैं। हम किसी से प्यार करते हैं। समाज उसे हमें न देकर दूसरे को दे देता है। न हमें उसका प्यार मिल पाता है, न हम उसे अपना प्यार दे पाते हैं। इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी ? जैनेंद्र की 'एक रात' या 'चलित चित' नामक कहानियों में क्रमशः नायक और नायिका की इसी अवस्था का चित्रण है। समाज की दूषित प्रवृत्तियों का व्यक्ति के ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है और उसकी प्रतिक्रिया में व्यक्ति अपने को किस प्रकार नष्ट कर सकता है, यह इलाचन्द जोशी की 'अभिनेत्री' शीर्षक कहानी में चित्रित है। अभिनेत्री शुद्ध-मुक्त मन से पुरुष को प्यार करना चाहती है, किन्तु वह जिन-जिन को इस ढंग से प्यार करती है वे सब अपने मन की पाप-वृत्ति के कारण उसे अपनी प्रेमिका समझने लगते हैं। प्रतिक्रिया उसे शादी कर लेने को मजबूर करती है। वहां भी उसे धोखा होता है। अंत में वह पुरुष जाति से घृणा करने लगती है और अन्त में उसकी मृत्यु बड़ी करुण होती है। हम किसी को प्यार करते हैं। एक परिस्थिति वह आ जाती है जब हमें उसी को मारना पड़ जाता है या मारने की आज्ञा देना पड़ता है। क्रांतिकारियों के चित्रण वाली कहानियों में इस परिस्थिति द्वारा उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व भी चित्रित होता है। अन्तर्द्वन्द्वों का इस प्रकार का चित्रण आज की कहानियों का प्रमुख तत्त्व हो गया है। जहां यह नहीं होता वहां कहानी प्रायः निर्जीव समझी जाती है। अन्तर्द्वन्द्वों का यह तुमुल संघर्ष कहानियों के वातावरण को इतना पेचीदा, सघन, भारी एवं बोझिल या तना हुआ-सा कर देता है कि मस्तिष्क चकरा उठता है। कहानी समाप्त करने के पश्चात् कुछ मिनटों के लिए ऐसा लगने लगता है जैसा उस समय लगा करता है जब मस्तिष्क कोई समस्या हल कर लेता है। जाल से बाहर निकलने पर जैसी-कुछ हालत होती है इन कहानियों की समाप्ति पर कुछ वैसा-ही अनुभव होता है। ऐसे चित्रणों की पृष्ठभूमि में फ़ायड का मनोविज्ञान संबंधी वह अध्ययन है जिसमें चेतन, अचेतन या अवचेतन मन संबंधी निष्कर्ष उपस्थित किये गए हैं। बीते युग की कहानियां भावना के क्षेत्र में इतनी पेचीदगी लिए हुए नहीं होती थीं।

मनोविज्ञान का दूसरा विकास प्रतीक की ओर हुआ। समाजवादी विचारधारा के प्रसार के साथ-साथ मनुष्य के ऐकांतिक जीवन एवं व्यक्तिगत व्यक्तित्त्व का महत्त्व कम होता गया। व्यक्ति को अपने समाज और अपने वर्ग का प्रतीक भी समझा गया। अपने परिवार वालों के साथ या स्वयं अपने संबंध में वह जैसा कुछ होता है वह तो है ही; किन्तु इसके साथ ही साथ वह समाज को प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व भी करता है। उसके अन्तर्मन की प्रवृत्तियां भी एक विशेष प्रकार या वर्ग के अन्तर्मन की प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व भी कर सकती हैं। तात्पर्य यह है कि उसका बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रतीक या प्रतिनिधि के रूप में चित्रित हो सकते हैं। पत्नी या प्रेमिका के साथ हमारा जो कुछ संबंध या

प्रतीकत्व या प्रतिनिधित्व

व्यवहार या जीवन है. सच पूछिए तो, वह बिल्कुल निजी बात है। उसमें कुछ बातें ऐसी भी होती हैं जिनके देखे जाने पर पशु भी शरमा जाते हैं। मानव की लेखनी उसके इर्द-गिर्द का चित्रण भी निडर और बेहिचक होकर कर देती है। सब-कुछ समाज का होने पर भी मनुष्य के पास कुछ गोपनीय व्यक्तिगत भी रह जाता है। कला उसके चित्रण में अपनी सफलता न समझे तो अच्छा रहेगा। जीवन के इस स्वरूप के केवल उस अंश का चित्रण होना चाहिये जिसका प्रत्यक्ष संबंध समाज के व्यापक स्वरूप से हो। सुगृहिणी केवल अपने देवर की ही भाभी है। शेष समाज के लिए वह आदरणीय महिला है। अवांछित साहित्य में जो वैसा अनिष्टकारी चित्रण प्रारंभ हुआ है उसके स्थान पर व्यक्ति का प्रतिनिधिस्वरूप ही सद् साहित्य में चित्रित होना चाहिये। ऐसा होना बहुत ही आवश्यक है क्योंकि कलात्मकता से शून्य अनिष्ट चित्रण की कलापूर्ण अभीष्ट चित्रण में परिणति तभी हो सकेगी। टाइप चित्रण, प्रतिनिधि स्वरूप का चित्रण या वर्ग विशेष की प्रवृत्तियों के द्योतक व्यक्ति का चित्रण इसलिए स्वागतार्ह है। ऐसा चित्रण सरल तो नहीं है किन्तु इसका सफल प्रयोग हिन्दी कहानियों में हो चुका है और हो रहा है। १९३५ ई० में प्रकाशित जैनेंद्र के 'एक रात' नामक कहानी-संग्रह में 'टाइप' नामक एक कहानी है। इसमें एक बातूनी व्यक्ति का चित्रण है जो जब तक साथ रहता है तब तक न चुप बैठता है और न चुप बैठने देता है। अन्त में जाते समय एक पत्रिका भी उठा कर मांगता हुआ ले जाता है। ऐसे व्यक्ति समाज में बहुत हैं और वह उन्हीं का एक प्रतिनिधि है। पात्रों की कुछ विशेषताएं व्यक्तिगत हो सकती हैं और कुछ इस प्रकार की प्रतिनिधि। कुछ पात्र ऐसे भी होते हैं जिनकी सारी की सारी विशेषताएं प्रतिनिधि या प्रतीक हो सकती हैं। जो चरित्र या जो विशेषताएँ ऐसी न हों कि शायद ही कभी और कहीं ढूंढ़ने पर मिल सकें वे यदि कलात्मक ढंग से चित्रित हों तो प्रतीक या प्रतिनिधि स्वरूपिणी हो सकती हैं।

प्रतीक का एक दूसरा प्रयोग इस प्रकार होता है कि किसी मानवेतर प्राणी को किसी विशेष भावना का प्रतीक मान कर कहानी में रख लिया जाता है। नायक या नायिका की उस विशेष भावना के चढ़ाव-उतार के साथ-साथ इस मानवेतर प्राणी में परिवर्तन दिखाया जाता है। यशपाल की 'पुलिस की दफा' नामक कहानी में, जो 'पिंजड़े की उड़ान' (१९३९ ई०) में संग्रहीत है, नर और मादा बतख नायिका अर्थात् विधवा गुरो के मन की रति भावना के प्रतीक रूप में काफी हद तक ठहरती है। कबूतर के जोड़े, पुष्पहार, या ऐसी ही अन्य वस्तुएं इस प्रतीक रूप में आ सकती हैं। कभी-कभी ये कुछ ही क्षणों के लिए सामने आती हैं। ये प्रायः भावनाओं को तीव्र या उद्दीप्त करने के लिए प्रतीक के रूप में सामने आती हैं।

हिन्दी कहानियों के कला-रूप में परिवर्तन उपस्थित करने वाली दूसरी महत्त्व-पूर्ण बात बौद्धिकता का समावेश है। बौद्धिकता के समावेश को काव्यात्मक तत्त्वों

के अभाव के रूप में भी देखा जाता है। 'अज्ञेय', 'पहाड़ी', चन्द्रकिरण सौनरिक्सा आदि की प्रतिनिधि कहानियों में से एक ले लीजिये और चंडी प्रसाद 'हृदयेश' या जयशंकर प्रसाद या यशपाल की प्रतिनिधि कहानियों में से एक ले लीजिए। इनका तुलनात्मक अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जायगी। इस दृष्टि से देखने पर आधुनिक कहानियों की सबसे प्रमुख बात यह मालूम पड़ती है कि भाषा के काव्यात्मक तत्त्वों को लगभग बिल्कुल छोड़ दिया गया है। वृत्ति, गुण, अलंकार आदि पर बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया जाता। अब, यदि 'लड़के लड़ते हैं' या 'वह तो इन्द्र की परी है' या 'हमारी बिटिया गंगा की तरह पवित्र और चांद की तरह अच्छी है' को कोई गुण-वृत्ति-अलंकारयुक्त भाषा मानने की जिद करे तो इस जिद को मान लेने मे कोई हानि नहीं। काव्य सुलभ कल्पनाएं नहीं हैं। भावना प्रधान शैली नहीं है। पात्रों में भावुकता बिल्कुल कम है। कथानक की सृष्टि एवं वातावरण के निर्माण में केवल काल्पनिकता या रस प्रधान तत्त्वों का ही उपयोग नहीं होता। ये सब थोड़े-बहुत मिल सकते हैं किन्तु इनका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं।

काव्यात्मकता का अभाव

बौद्धिकता का दूसरा स्वरूप हमें कहानी के विषय या उपादान में मिलता है। आज की कहानियों के बहुत बड़े भाग का मूलस्रोत मस्तिष्क है। उद्देश्य या प्रधान तत्त्व बौद्धिक होता है; जैसे गरीबी का चित्रण, विद्रोह की अभिव्यक्ति, या 'अज्ञेय' की 'शत्रु' कहानी, जिसका तात्पर्य यह सिद्ध करना है कि हमारी सब से बड़ी कठिनाई यह है कि हम सतत सरलता की ओर ही मुड़ जाते हैं। इसकी अभिव्यक्ति को प्रभावपूर्ण बनाने के लिये कथानक में या भाषा में या शैली में कभी-कभी भावनात्मकता आ जाय तो भी उसका स्थान गौण होता है। कुछ कहानियां तो राजनीतिक सिद्धांतों के कथा के रूप में सामने लाने के लिए ही लिखी जाती हैं। वर्ग संघर्ष आदि साम्यवादी सिद्धांतों को लेकर लिखी गई कहानियां ऐसी ही हैं। गरीबी-अमीरी का संघर्षपूर्ण चित्रण, नारी का विद्रोह, धर्म और धार्मिकता का खोखलापन, सेठ की दानवृत्ति का रहस्य, भगवान राम का भी द्विजों के प्रति पक्षपात, आदि से संबंध रखने वाली कहानियां ऐसा ही आधार लेकर चलती हैं। 'अज्ञेय' की 'जीवन शक्ति' साम्यवादी विचार धारा पर आधारित कहानी है।

विषयवस्तु और बौद्धिकता

बौद्धिकता की तीसरा स्वरूप आलोचनात्मक कहानी में मिलता है। इसके उदाहरण बहुत कम मिलेंगे। १९४४ ई० में प्रकाशित 'अज्ञेय' के 'परम्परा' नामक कहानी-संग्रह की अंतिम कहानी 'परम्परा—एक कहानी' ऐसी ही है। इस कहानी के आधे भाग में लेखक एक छोटी-सी कहानी कहता है जिसमें मानव की पतन की परम्परा यों दिखाई गई है कि पतन से प्राप्त धन किस प्रकार पतन के नए स्वरूप का निर्माण करता है। इस कहानी के उत्तरार्द्ध में लेखक इसी कहानी

बौद्धिकता अर्थात् कहानियों में ही कहानी की आलोचना

की व्याख्या करता है। लोग कहते हैं कि कहानियों में निष्ठा और विश्वास होना चाहिए किन्तु लेखक पूछता है :—

"किन्तु क्या मेरी कहानी में सचमुच विश्वास और निष्ठा की कमी है? क्या उसका व्यंग्य एक बन्द गली में जाकर समाप्त होने वाला वह करुण विश्वास ही नहीं है जो प्रत्येक मानव में, समूची मानवता की आत्मा में, समाया है और जो मेरी कहानी को उसकी epic quality देता है—इतनी विराट और इतनी कटु ! मेरी कहानी की सड़क का मोड़ आप की समूची सभ्यता का चित्र है—पहली सन्तान के होने की खुशी में फूली न समाती हुई वह मदहोश होकर बाहर को भागी जा रही है, एक नृशंस दानवी यंत्र के नीचे, बजरी से लदी हुई एक निष्प्राण मशीन के नीचे कुचली जाने के लिए !

मेरी कहानी में आपको विश्वास नहीं दीखता, तो मैं क्या करूं ? जब कि वह आप के विश्वास की ट्रेजेडी की कहानी है, आप को लगता है जैसे आप के पेट में किसी ने लात मार दी हो, तो मैं क्या करूं जब कि लात आप की है !"

सूक्तियों-जैसे कुछ वाक्यों अथवा सामाजिक एवं मनुष्य की मनोवृत्तियों आदि को लेकर सिद्धांत या नियम-उपनियम जैसे वाक्यों को कहानियों के बीच-बीच उपयुक्त स्थलों पर लिख देने वाली प्रथा पिछले युग से चली आई है। तथ्य या सत्य को स्पष्ट करने वाले ऐसे वाक्य प्रेमचन्द की कहानियों और उपन्यासों में भरे पड़े हैं। उदाहरण लीजिए :—

विश्लेषण और बौद्धिकता

"दुनिया में कुछ ऐसे लोग होते हैं जो किसी के नौकर न होते हुए सब के नौकर होते हैं, जिन्हें कुछ अपना खास काम न होने पर भी सिर उठाने की फुरसत नहीं होती।"[१]

"सीधे-सादे किसान धन हाथ आते ही धर्म और कीर्ति की ओर झुकते हैं। दिव्य समाज की भाँति वे पहले अपने भोग-विलास की ओर नहीं दौड़ते।"[२]

"दफ्तर में जरा देर से आना अफ़सरों की शान है। जितना ही बड़ा अधिकारी होता है उतनी ही देर में आता है और उतने ही सबेरे जाता है।"[३]

"सिपाही को अपनी लाल पगड़ी पर, सुन्दरी को अपने गहने पर और वैद्य को अपने सामने बैठे हुए रोगियों पर जो घमंड होता है वही किसान को अपने खेतों को लहराते हुए देख कर होता है।"[४]

इन विश्लेषणों का स्वरूप और क्षेत्र आजकल इतना बढ़ गया है कि कथात्मकता के ऊपर वह भार-सा हो रहा है। पढ़े-लिखे दो या दो से अधिक व्यक्ति ऐसी भाषा में वार्तालाप करते हैं कि वह सिद्धांतों पर किए गए वाद-विवाद का स्वरूप धारण कर

१. 'हिंसापरमोधर्मः'
२. 'सुजान भगत'
३. 'प्रायश्चित'
४. 'मुक्तिमार्ग'

लेता है। आत्म प्रधान कहानी में सिद्धान्त, पात्र, परिस्थिति आदि का विश्लेषण होते हुए भी यह चीज पाई जाती है। कभी-कभी तो कहानी के प्रारंभ और अन्त में भी किसी लेख की भूमिका और उसके उपसंहार की तरह ये विश्लेषण पाए जाते हैं। व्याख्यान के अन्दर भी ऐसा विश्लेषण मिल सकता है। ये विश्लेषण मानवीय वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों, समाज के द्वारा व्यक्ति पर होने वाले प्रहारों, मन के गुप्त रहस्यों, नारी-पुरुष के संबंधों एवं परस्पर के आकर्षणों से संबंध रखते हैं। जैनेंद्र, 'अज्ञेय' और जोशी आदि प्रायः सभी अच्छे लेखकों की रचनाओं में ये मिलते हैं। ये विश्लेषण या व्याख्याएँ सरस और नीरस दोनों तरह की होती हैं। सरस विश्लेषण का एक उदाहरण लीजिए जिसमें भाभी के प्यार का विश्लेषण है :—

"यह भाभी का प्यार था, जो मां का प्यार नहीं होता क्योंकि उससे स्निग्ध होता है; स्त्री का प्यार नहीं होता क्योंकि उससे निरपेक्ष होता है। बहन का प्यार नहीं होता जो क्रमशः पुष्ट और परिपक्व होता है; यह जैसे सोता फूट निकला, हृदय में से स्वतः स्फुरित होता है।" [१]

युवावस्था का विश्लेषण देखिये :

"बीस-बाईस वर्ष की अवस्था में मनुष्य की आकांक्षाएँ स्वप्निल होती हैं। उनको परवरिश मिले, तो वह पनपें, नहीं तो सूख कर मुरझा जाती हैं, और यौवन बीतते-बीतते आदमी अपने को चुका हुआ अनुभव करता है। वे आकांक्षाएं स्नेह मांगती हैं। स्नेह अनुकूल समय पर और यथानुपात मिले तो वे हरी-भरी हो कर कैसे-कैसे फूल न खिला आएं, कहा नहीं जा सकता। नहीं तो वे अपने को ही खाती-चुकाती रहती हैं। मूल जिनके दृढ़ हों, ऐसी प्रकृतियां विरोध में भी रस खींचती हैं, अवश्य; और वे मानो चुनौती पूर्वक बढ़ती रहती हैं। पर इस शक्ति को प्रतिभा कहा जाता है, और प्रतिभा सरल नहीं है, वह तो विरल ही है।" [२]

और, अब सरस एवं काव्यात्मक शैली में लिखे गये दर्शन एवं मनोविज्ञान की पुस्तकों में पाए जाने के योग्य विश्लेषण देखिए :—

"मैं देखता हूँ, संसार दो महच्छक्तियों का घोर संघर्ष है। ये शक्तियां एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं, एक ही प्रकृति की प्रगति के दो विभिन्न पथ हैं। एक संयोजक है—इसका भास फूलों से भौरों के मिलन में, विटप से लता के आश्लेषण में.............. होता है; दूसरी शक्ति विच्छेदक है—इसका भास आंधी से पेड़ों के विनाश में.............. होता है: कभी-कभी दोनों शक्तियों का एक ही घटना में ऐसा सम्मिलन होता है कि हम भौचक हो जाते हैं, कुछ भी समझ नहीं पाते। प्रेम भी शायद ऐसी ही एक घटना है ....।" [३]

---

१. जैनेंद्र : 'भाभी' (१९३१ ई०)
२. जैनेंद्र : 'राजीव और भाभी' (१९३५ ई०)
३. 'अज्ञेय' : 'अमरबल्लरी' (१९३३ ई०)

इन्हीं की 'मिलन' कहानी का प्रारम्भ "संसार की कितनी ही विचित्र घटनाएं होती हैं जिन्हें देख-सुन कर हम सोचने लगते हैं, यह क्यों हुई" इस वाक्य से होता है। यह व्याख्या लगभग पचास पंक्तियों तक चलती है। इसके बाद कहीं जा कर कहानी प्रारंभ होती है। ये व्याख्याएं, ये चिन्तनायें एवं ये विश्लेषण, जो किसी न किसी रूप में प्रायः सभी लेखकों में पाए जाते हैं, हिन्दी कहानियों में प्रविष्ट बौद्धिकता की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। ये आज की कहानियों के कला-रूप को पुरानी कहानियों के कलारूप से बिल्कुल भिन्न कर देते हैं।

अस्तु, गत युग की उन और इस युग की इन विशिष्टताओं से आज की कहानियों का कला-रूप विनिर्मित होता है। काव्यात्मकता आदि का भी पूर्ण परित्याग नहीं हुआ है। लेखक गण अपनी प्रतिभा, शक्ति और रुचि एवं अभिव्यक्त होने वाले विषय की प्रकृति के अनुसार इन विशिष्टताओं को अपनाते या छोड़ते हैं। अपनाए हुए तत्त्वों के अनुपात के अनुसार आज की कहानियों के कला-रूपों में विभिन्नता आती है। यशपाल बौद्धिक व्याख्याओं या चिन्तनाओं का प्रयोग अधिक नहीं करते, 'अज्ञेय' करते हैं, तो इन दोनों की कहानियों के कला-रूपों में पर्याप्त अन्तर मिलता है। प्रसाद में प्रेमचन्द की अपेक्षा अधिक कवित्व है, तो प्रेमचन्द की कहानियां प्रसाद की कहानियों की तरह नहीं होतीं।

कला रूप और इन तत्त्वों का अनुपात

आधुनिक कहानियों के कुल विकास को हम चार प्रधान स्थितियों में विभाजित कर सकते हैं :—

१. कथानक , सामान्य ढंग से उसका कथन या विवरण;

२. कुछ कम कथानक, सामान्य ढंग के कथन में वर्णनों की अधिकता;

३. और भी कम कथानक, (क) रूप वर्णन, प्रकृति वर्णन, चरित्र वर्णन आदि,
(ख) आलंकारिक भाषा और आलंकारिक चित्रण आदि,
(ग) सूक्तियों-जैसे वाक्य,
(घ) मनोवैज्ञानिक चित्रण, भाव चित्रण, सत्य की अभिव्यक्ति, आदि, और

४. कथानक बिल्कुल कम मान्य जीवन की बाह्य और आंतरिक समस्याओं का बौद्धिक चित्रण एवं विश्लेषण।

अतएव यदि कहें तो कहानी साहित्य के कला रूप के विकास की गति ऐसी है :—

शैली— १. वर्णन → चित्रण → विश्लेषण

विषय— २. बाह्य → बाह्य और आन्तरिक → बाह्य और आन्तरिक रहस्य एवं सिद्धान्त।

वर्गीकरण

इस युग की कहानियों का वर्गीकरण हम दो दष्टियों से कर सकते हैं :—

(अ) सामग्री की दृष्टि से; और

(आ) प्रतिपादन के स्वरूप की दृष्टि से।

सामग्री की दृष्टि से ये कहानियाँ प्रधानतया दो भागों में बंट जाती हैं :—

(क) लौकिक; और

(ख) धार्मिक।

लौकिक कहानियों का एक महत्त्वपूर्ण रूप सामाजिक कहानियों में मिलता है। सामाजिक कहानियाँ समाज के आधुनिक स्वरूप और उसकी समस्याओं को लक्ष्य करके लिखी जाती हैं। समाज की समस्याओं एवं विषमताओं का हल या समाधान इनका लक्ष्य नहीं होता। ये उनका वास्तविक स्वरूप, यथार्थचित्रण, उनकी भीषणता एवं उनकी प्रवृत्तियों को हमारे सामने उपस्थित करती हैं। कहानियों के रूप में उनका मार्मिक चित्रण देखने को मिलता है। प्रेमचन्द, विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' आदि कहानी-लेखक जब आदर्श-वादी दृष्टिकोण को लेकर इन समस्याओं को चित्रित करने बैठते हैं तब ये समस्यायें इतने भीषण रूप में हमारे सामने नहीं आती थीं। इसके दो करण हो सकते हैं। पहला यह कि इन लेखकों के सामने प्राचीन नीतिशास्त्र था, प्राचीन आदर्श थे और उनकी नित्यता पर विश्वास था। भौतिकवादी दृष्टिकोण की यथार्थता इनके सामने इतने भयानक रूप में नहीं आई थी कि सब कुछ आँधी के तिनके की तरह लगने लगता। दूसरा कारण यह हो सकता है कि इनके समय की सामाजिक अवस्था इतनी विषम नहीं थी जितनी आज है। जब जीवन की भौतिक आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो पातीं तब मनुष्य क्या-क्या कर डालता है, यह आज हमारे सामने प्रत्यक्ष है। उसके सामने धर्म, दर्शन, जीवन की अन्य अमूर्त्त मान्यताएँ, नीति की ऊँची-ऊँची बातें, सब हवा हो जाती हैं। इस युग के पूर्वार्द्ध में समाज सुधार; जैसे, अछूत-उद्धार, विधवा-विवाह, बाल-विवाह, संबंधियों की स्वार्थवृत्ति, आदि कहानी के विषय थे। उस समय समाज की बाहरी या ऊपरी बुराइयों या विषमताओं का ही चित्रण होता था। गरीबी का सहानुभूति-पूर्ण चित्रण होता था। वहाँ समाज की प्रवृत्तियों का सुधार चित्रित होता था। उसकी प्रवृत्तियों का सूक्ष्म अध्ययन और उसके आधार पर किया गया वैज्ञानिक, सूक्ष्म एवं क्रान्तिकारी विद्रोहात्मक चित्रण नहीं था। यह अध्ययन काल के उत्तरार्द्ध में हुआ। उस समय दृष्टिकोण व्यक्तिगत था, व्यापक सामाजिक या ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर विनिर्मित विस्तार एवं पूर्णता युक्त नहीं था। दृष्टि में यह नवीनता नहीं थी। समाज के अन्दर ये विचार एवं ऐसी परिस्थितियां उस समय भी थीं। किन्तु साहित्य में उस समय मान्य एवं मर्यादित चित्रण ही होता था। आज नेता से लेकर भिखारी तक, पतिव्रता से लेकर व्यभिचारिणी एवं विद्रोहिणी तक, मजदूर से लेकर मिल-मालिक तक, मालिक से लेकर भिखारी तक, एवं ब्राह्मण से लेकर 'चतुरी चमार' तक चित्रित होते हैं। अस्तु, विषमता को जब बुद्धि और वैज्ञानिकता मिलेगी

विद्रोह तभी तो जनमेगा! प्रेमचन्द, प्रसाद, विश्वम्भरनाथ 'कौशिक', सुदर्शन, विनोद-शंकर व्यास, चतुरसेन शास्त्री आदि लेखकों की कहानियों में सामाजिक समस्याओं की उतनी सघनता , उतनी विषमता, परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों की उतनी भीषणता नहीं जितनी यशपाल, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और चन्द्रकिरण सौनरिक्सा आदि की कहानियों में है । इन नवीन कहानियों में या तो वर्तमान परिस्थितियों की भीषणता दिखाई जाती है या समाज की प्राचीन एवं परम्परा-प्राप्त मान्यताओं की निरर्थकता सिद्ध की जाती है या उनके प्रति होता हुआ स्पष्ट विद्रोह चित्रित किया जाता है। समाज की बुराइयों पर करारा व्यंग्य भो किया जाता है। उनकी हँसी भी उड़ाई जाती है। चंद्रकिरण सौनरिक्सा ने 'कमीनों की जिन्दगी' (१९३९ ई०) में नारी के विद्रोह का सबल चित्र उपस्थित किया है। कुसुम मध्यम वर्ग की मान्यताओं को हर हालत में स्वीकार कर लेने वाली दुर्बल नारी है । पति के अन्यायों के विरुद्ध उसकी जबान नहीं खुलती। इसी में वह घुल-घुल कर मरती है। उसके ठीक प्रतिकूल वसंती नारी होते हुए भी दबंग है। एक सीमा तक वह पति की सेवा, मार-पीट आदि सब कुछ सहती रहती है मगर जब जान पर आ बीतने की नौबत आती है तब वह क्रुद्ध सर्पिणी की भाँति विद्रोह करती है। इस पति को छोड़ कर दूसरे से शादी करती है। ठीक उस समय जब कि कुसुम मौत के द्वार पर खड़ी है, वह उसे इस विद्रोह की मंगलमयी परिणति, अपनी मांग का सिंदूर और अपनी गोद का बच्चा, दिखाती है। कुसुम इसको अपनी मौन स्वीकृति देती है। 'गोटे की टोपी' (१९३९ ई०) में होमवती देवी ने विद्रोह कराकर विधवा-विवाह दिखाया है। अमीर के प्रति गरीब का स्वाभिमान एवं विद्रोह अमृतराय के 'इतिहास' (१९४७ ई०) में देखिये कि गरीब प्रतिभाशाली सुमेर को विलासी कुंवर साहब लेखन कार्य के मेहनताने के रुपए के पूरे-पूरे नहीं देते और तब सुमेर विद्रोह करता है । उसके विद्रोह का स्वरूप देखने लायक है:—

"कुंवर साहब के शब्द बांस की एक बहुत पतली सटकन की तरह सीधे सुमेर के दिल पर चिपके और अलग हो गए, सांट उभर आई—एक बैंगनी मायल लाल, उभरी हुई रंग की तरह एक सीधी लकीर , निर्धन व्यक्ति के कुचले हुए स्वाभिमान की क्षुब्ध, सर्प ललकार—मेरा जी खुश करने की कोशिश आप न करें कुंवर साहब, मैंने मेहनत की है; मैं सिर्फ उसकी ठहराई हुई मजदूरी चाहता हूं।

ललकार सुन कर कुंवर साहब का सोया हुआ क्षात्र-तेज जाग पड़ा और उन्होंने राजसी तेवर के साथ कहा—'मैं इससे ज्यादा एक पाई भी न दे सकूंगा।'

इसके बाद सुमेर ने कुछ कहा नहीं। उसने आगे बढ़कर मेज से अपनी कापी उठाई.......................एक पल को बीमार नरेश की तसवीर उसके मन में कौंध गई और उसके हाथ रुके, लेकिन एक पल के ही लिए...................उसने अपनी कापी उठाई और उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले।"

हड़ताल और अनशन इसी सामाजिक विद्रोह के सामूहिक स्वरूप हैं। नारी की विवशता का बहुत ही मार्मिक और सफल चित्रण चंद्रकिरण सौनरिक्सा की 'अकीला' और 'दो रोटियां' नामक कहानियों (१९३९ ई०) में मिलता है। बेजुबान नारी की करुणा भरी मजबूरी को चंद्रकिरण की कहानियों ने सशक्तवाणी दी है। नारी को ननद, सास, पति के पाट में इतना पिसना पड़ता है कि वह एक काम कर नहीं पाती कि दूसरे का हर्ज होने लगता है। दिन भर और आधी रात तक भी घर का काम खतम नहीं कर पाती कि पति के पास जाना पड़ता है। इतने बच्चे देती है कि मर जाती है! उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की 'चपत' और 'रसपान' शीर्षक कहानियाँ रोमांस वाली प्रवृत्ति का, 'केवल जाति के लिए' नामक कहानी अर्थलोलुपता वाली प्रवृति का, रांगेय राघव की 'साम्राज्य का वैभव' (१९४७ ई०) समाज की अनेक अवांछनीय प्रवृत्तियों का चित्रण उपस्थिति करती हैं। ये चित्रण इन प्रवृत्तियों के प्रति पाठकों के मन में अरुचि पैदा कर देते हैं—यहाँ तक कि कुछ पाठक इन कहानियों का पढ़ना ही छोड़ बैठते हैं। अस्तु, ये सामाजिक कहानियाँ समाज की परिस्थितियों, प्रवृत्तियों आदि का चित्रण उपस्थित करती हैं।

राजनीतिक कहानियाँ

लौकिक कहानियों का दूसरा रूप हमें राजनीतिक कहानियों में मिलता है। हिन्दी जनता की जागृति और हिन्दी साहित्य के विकास का इंडियन नेशनल कांग्रेस के आन्दोलनों से बड़ा गहरा संबंध है। जेलों की भूख-हड़ताल, तथा जेलों में इन राजनीतिक सत्याग्रहियों के साथ होने वाले दुर्व्यवहार, हड़ताल, सत्याग्रह, नमक आन्दोलन, असहयोग आन्दोलन में सत्याग्रहियों का धरना आदि, विदेशी कपड़ों की होली एवं विदेशी बायकाट, क्रान्तिकारियों के कार्यकलाप आदि साहित्य—और विशेषकर कहानी साहित्य—के विषय बने। इन विषयों में द्वन्द्वों के लिए पर्याप्त अवसर था।

होता यह था कि पुत्र कांग्रेस की राष्ट्रीय विचारधारा का प्रतीक है और पिता विदेशी साम्राज्यशाही के कल पुर्जों में से एक। जब आन्दोलन होते थे तब अपने इन्हीं कल-पुर्जों के द्वारा ब्रिटिश साम्राज्यशाही अपना दमन-चक्र चलाती थी। इस प्रकार पुत्र के ऊपर पिता को लाठी चार्ज कराना पड़ता था, एवं गोली चलवानी पड़ती थी। उस समय पिता के हृदय में जो तुमुल संघर्ष होता था वह उच्चकोटि की साहित्यिक अभिव्यक्ति का विषय है। इससे चमत्कारपूर्ण चरम सीमा का भी निर्माण हो सकता था। दारोगा पिता बाहर ड्यूटी पर हैं। युवक विद्यार्थी बाहर कालिज में पढ़ने के लिये गया है। जुलूस निकलता है। लाठी चार्ज या फायरिंग होती है। पिता को अन्त में सुपरिन्टेन्डेन्ट की ओर से बधाई मिलती है। इस बधाई को लिए हुए वह घर लौटता है तो बधाई पुत्र की लाश पर न्यौछावर हो जाती है। बधाई प्राप्त पिता जब पुत्र की लाश देखता है तो वह स्थल चरम सीमा का सुन्दर विन्दु बन जाता है। सामाजिक बंधन तरुण हृदय से उसकी प्रेमिका छीन लेते हैं। जीवन के

सुखों से निराश होकर वह क्रान्तिकारी हो जाता है। प्रेमिका की शादी खूंखार पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट से हो जाती है। पार्टी नवयुवक क्रान्तिकारी को उसकी हत्या का भार सौंपती है। नवयुवक जब हत्या के लिए घर में घुसता है तब सुपरिन्टेन्डेन्ट की हत्या में प्रेमिका का आहत सुहाग झलकता है। प्रेमिका का ऐसा प्रथम दर्शन एवं उसके बाद की हृदय की परिस्थिति, हृदय की क्रियायें-प्रतिक्रियायें कहानी कला के लिए सुन्दर विषय देती हैं। नेता जी ने बचपन में किसी सुनयना को प्यार किया था। उसका विवाह दूसरे से हो गया। ये आजन्म अविवाहित रह गए। अब संयोगवश उन्हें प्रेमिका के इसी पति के गांव, कस्बे या शहर में राजनीतिक कार्यकर्ताओं के बीच जाना है। जाने के पूर्व, जाने पर और लौटते समय उनके भावुक मन की (क्योंकि अविवाहित मन कुछ अधिक भावुक होता है) जो दशा हो सकती है उसकी अभिव्यक्ति किसी समर्थ कलाकार की लेखनी का ही विषय है। हिन्दी की आधुनिक काल की राजनीतिक कहानियों में इन्हीं सब की अभिव्यक्ति हुई है।

प्रेमचन्द की 'समर यात्रा तथा अन्य कहानियाँ' (१९३२ ई०)', कृष्णानन्द गुप्त को 'पुरस्कार' शीर्षक कहानी (१९३९ ई०), तारा पांडेय की 'दारोगा की बेटी' (१९३८ ई०), आदि कहानियों का संबंध सत्याग्रह से है। 'अज्ञेय' की 'छाया' (१९४५ ई०), 'द्रोही' (१९४५ ई०) एवं 'पगोडा वृक्ष' (१९३९ ई०) शीर्षक कहानियाँ भी ऐसी ही हैं। कुछ कहानियों के पात्रों के नाम विदेशी होते हैं पर इनमें विदेशी वातावरण कम चित्रित रहता है। 'अज्ञेय' की 'विपथगा' शीर्षक कहानी में रूसी क्रान्ति की पृष्ठभूमि में एक क्रांतिकारिणी के चित्र के सहारे क्रान्तिकारियों का अपूर्व त्याग चित्रित है। भावना का एक उदात्त क्षण मनुष्य के अन्दर ज्योतिर्मयी स्फूर्ति फूंक देता है। मेरिया अपने और अपने नारी सुलभ सौन्दर्य की रक्षा नहीं कर पाती। जैनेंद्र की 'स्पर्द्धा' में भी ऐसे ही क्रान्तिकारियों के बहाने मानव की स्पर्द्धा प्रवृत्ति का चित्रण है। उनकी 'एक रात' में भावुक नेता और भावनामयी सुनयना (ये दोनों पहले के प्रणयी थे) के अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण किया गया है। इन कहानियों में देशभक्ति तथा मानव की प्रणय वृत्ति का चित्रण होता है। कहानी कला की दृष्टि से 'विपथगा' एक सफल रचना है। आकस्मिकता, रहस्य के शनैः-शनैः उद्घाटन, मनोभावनाओं तथा भावावेशों के चित्रण से यह कहानी बनी है।

पुष्पा भारती का 'इनक़लाब' शीर्षक कहानी संग्रह भी ऐसी ही राजनीतिक कहानियों का संग्रह है। १९४२ ई० के आन्दोलन को लक्ष्य बना कर कम कहानियाँ लिखी गई हैं। इस प्रकार आई० एन० ए० इत्यादि राजनीतिक आन्दोलनों का इतना बड़ा प्रभाव नहीं पड़ा कि इससे हिन्दी में उच्चकोटि की स्थायी और कलात्मक रचनाएं उपस्थिति की जा सकतीं। इसका कारण यह है कि ये आन्दोलन इतने कम समय का अन्तर दे-दे कर हुए हैं कि जनता के मन से पिछले आन्दोलन का प्रभाव अगले आन्दोलन के कारण प्रायः मिटता-सा रहा है। अगस्त आन्दोलन की भीषणता आई० एन०

ए० की आंधी ने, और उसकी आंधी को १९४७ ई० में स्वतन्त्रता की आंधी ने लगभग मिटा-सा दिया। इधर स्वतन्त्रता मिलते ही जीवन की विभीषिका विकराल रूप में हमारे सामने आ गई है. और हम उसी में बझे हैं। १९३९ ई० का व्यक्तिगत सत्याग्रह, उसके ठीक ३ वर्षों के बाद १९४२ ई० का विद्रोह (जिसके कारण और जिसकी अभिव्यक्ति पर कड़े से कड़े प्रतिबंध लगे थे), उसके तीन वर्षों के बाद आजाद हिन्द वाला तूफान, और उसके दो ही वर्षो के बाद १९४७ ई० की स्वतन्त्रता, और तत्पश्चात् महँगी साहित्य को स्थायी रूप से प्रभावित न कर सकी। वैसे, इनमें से हर एक के ऊपर थोड़ी-बहुत कहानियाँ आदि लिखी जा चुकी हैं किन्तु उनमें स्थायित्व नहीं आ पाया। १९३९ ई० में प्रारम्भ होने वाले महायुद्ध को मित्र राष्ट्रों के दृष्टिकोण से समझने और कहने की अनुमति थी, किन्तु तब भारतीय साहित्यिकों का मस्तिष्क दमन के गतिरोध में था। जब अपना घर जल रहा हो तब मस्जिद में दिया जलाने कोई नहीं जाता। इसलिए इससे संबंधित साहित्य भी कलात्मक एवं स्थायी न हो सका। यही बात कहानियों के विषय में भी सही है।

सैद्धांतिक कहानियाँ

कुछ कहानियाँ ऐसी होती हैं जिनको पढ़ने पर यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि वे किसी विशेष दृष्टिकोण या सिद्धान्त को लेकर लिखी गई हैं। ये सिद्धान्त साहित्यिक भी हैं और राजनीतिक भी। अतएव जब प्रेमचन्द, सियारामशरण गुप्त, 'कौशिक' आदि की कहानियाँ पढ़ते हैं तब यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि ये लेखक आदर्शवादी विचारधारा के हैं, किन्तु यथार्थ परिस्थितियों की उपेक्षा नहीं करते। यथार्थ को आदर्श की दृष्टि से देखते हैं। अतएव इनका दृष्टिकोण, प्रेमचन्द के शब्दों में, 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' वाला है। जब हम पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' आदि की कहानियाँ पढ़ते हैं तब ऐसा लगता है कि ये लेखक 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त के अनुसार लिख रहे हैं। इन्हीं को श्रीकृष्णलाल ने प्राकृतवादी कहानियों की संज्ञा दी है। जब इलाचन्द जोशी और जैनेंद्र आदि की कहानियाँ पढ़ते हैं तब मनोविज्ञान का अचेतन एवं अर्द्धचेतन मन वाला सिद्धान्त स्पष्ट रूप से लागू होता हुआ दिखाई पड़ता है। प्रेमचन्द, सियारामशरण गुप्त, आदि की अधिकांश कहानियाँ—विशेषकर सत्याग्रह आदि पर लिखी गई कहानियाँ गांधीवादी विचारधारा को लेकर लिखी गई जान पड़ती हैं। यशपाल, 'पहाड़ी', आदि की कहानियाँ मार्क्सवादी विचाराधारा से ओतप्रोत हैं। अस्तु, 'अज्ञेय' जब 'जीवनी शक्ति' में यह दिखाते हैं कि जब एक भिखारी और भिखारिणी का साथ होता है तब उनमें परस्पर प्रीति पैदा हो जाती है, वे धीरे-धीरे एक घर-सा बना लेते हैं, और एक नए मानव को जन्म देते हैं, दूकानदार और पुलिस वाला उसकी यह झोपड़ी आदि नष्ट कर देते हैं, तब अस्तित्व के लिए संघर्ष वाला सिद्धान्त और व्यक्ति तथा समाज के बीच युगों-युगों से चला आने वाला द्वन्द्व स्पष्ट हो जाता है। यशपाल जब 'मोटरवाली—कोयले वाली' कहानी (१९४१ ई०) में सभी वर्गों की

अर्थ-लोलुपता, 'तूफान का दैत्य' में अंधविश्वासों की यथार्थता, 'संन्यासी' में रुपए-पैसे के अभाव में एक युवक का घरबार छोड़ कर सन्यास लेना, 'शंबूक' में राम का द्विजों के प्रति पक्षपात, 'अभिशप्त' में एक बच्चे का अपने नन्हें भाई का इस कारण गला घोटना कि उसका पेय उसके भाई को दे दिया जाता है, दिखाते हैं, चन्द्रकिरण जब अपनी कहानियों में नारी की परवशता और पुरुष का उस पर अत्याचार-दबाव दिखाती हैं, तथा अमृतराय जब अपनी कहानियों में गरीबी-अमीरी का तुमुल संघर्ष और रुपए के लिए मानव की स्वार्थवृति का नंगा नाच दिखाते हैं तब लगता है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वाले सिद्धान्त पर ही हमारा नवीनतम कहानी साहित्य लिखा जा रहा है। विद्रोह, सुधार और संघर्ष की उत्कट भावनाओं की अभिव्यक्ति—जो आधुनिक कहानी साहित्य में प्रारम्भ से आज तक मिलती जा रही है—ईश्वर के प्रतिपूर्ण आस्था की कमी और पुनर्जन्म के सिद्धान्त के प्रति अविश्वास को ही प्रकट करती है। तात्पर्य यह है कि कुछ कहानियों में यह सिद्धांतवाद बहुत ही स्पष्ट रूप से मुखरित रहता है और कुछ में उस ढंग का रहता है कि वह सिद्धान्त की परिभाषा में न आ सके किन्तु प्रवृत्ति झलकती रहे।

धार्मिक कहानियाँ

सामग्री की दृष्टि से लिखी गई कहानियों का दूसरा प्रधान रूप हमें धार्मिक कहानियों में मिलता है। इन कहानियों में से कुछ उपनिषदों एवं पुराणों की कहानियों को आधुनिक कहानियों के रूप में उपस्थित करती हैं। कुछ कहानियों के आधार होते हैं प्राचीन या नवीन महात्माओं के चमत्कार, दन्त-कथायें एवं भक्तगाथायें, आदि। श्रद्धालुओं के व्यक्तिगत अनुभव भी कभी-कभी कहानी बन जाते हैं। सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए भी कल्पना से कथानक आदि का निर्माण करके कहानियों की रचना की गई है। प्रसिद्ध धार्मिक मासिक पत्र 'कल्याण' में समय-समय पर प्रकाशित होने वाली, एवं गीता प्रेस, गोरखपुर से पुस्तक रूप में प्रकाशित अनेक कहानियाँ इसी श्रेणी में आती हैं। 'चक्र' जी प्रायः ऐसी कहानियाँ लिखते रहते हैं। १९३० ई० में दुर्गा प्रसाद खत्री ने 'माया' नामक कहानी-संग्रह में अच्छी धार्मिक कहानियाँ लिखी हैं। उदाहरण के लिए इस संग्रह की 'संन्यासी' शीर्षक कहानी लीजिए। गीता के पांचवें अध्याय का तीसरा श्लोक है:—

ज्ञेयः स नित्य संन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।

तात्पर्य यह है कि वही नित्य संन्यासी होता है जो न द्वेष करता है और न आकांक्षा। वह रागद्वेषादि द्वन्द्वों से रहित होकर सुखपूर्वक बन्धनों से छूट जाता है। उपर्युक्त कहानी के नायक के चरित्र में ये ही विशेषताएं मिलती हैं। बिन्ध्येश्वरी की पत्नी का, जिस पर उसको पूरा विश्वास था, राजा गिरवर नारायण से, और राजा की छोटी रानी का राजेन्द्र से अनुचित संबंध है। राजा साहब विन्ध्येश्वरी को काफी

धोखा देते हैं किन्तु अन्त में छोटी रानी के द्वारा उसे सब रहस्य मालूम हो जाता है। एक संन्यासी के आदेशों के अनुसार चलता हुआ विन्ध्येश्वरी धीरे-धीरे इन सभी माया बंधनों से मुक्त हो जाता है। उसे न राजा से द्वेष रह गया और न अपनी पत्नी से घृणा।

साहित्यिक दृष्टि से देखने पर ये कहानियां अच्छी कोटि की नहीं ठहरतीं। इन कहानियों में घटनाओं की प्रधानता होती है। दृष्टिकोण पूर्णतः आदर्शवादी या धार्मिक होता है। नीति और धार्मिकता की सीमाओं को ये पार नहीं कर सकतीं। इनमें मनोविज्ञान, अन्तर्द्वन्द्व, स्वाभाविकता या यथार्थ आदि पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जाता। दैवी चमत्कारों की कमी नहीं रहती। इनमें घटनाओं को आदर्श की रुचि के अनुकूल मुड़ना पड़ता है। इनमें मानव चरित्र उतना उदात्त होता है या ऐसी विशेषताओं से युक्त दिखाया जाता है कि वह सब का सब कल्पना की बात लगता है। वह किसी ऐसे देश का लगता है जिससे हम बिल्कुल अपरिचित हैं। मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और राजनीतिक कहानियों के लेखक प्रेमचन्द ने मानसरोवर भाग ६ में संग्रहीत अपनी 'शाप' शीर्षक कहानी में एक ऐसी ही पतिव्रता महिला का चित्र खींचा है। बर्लिन नगर निवासी एक महाशय इस महिला के सम्पर्क में आते हैं। उन्हें पता लगता है कि इस महिला का पति एक दूसरी सती के शाप से सिंह हो तो गया है किन्तु उसके समस्त मनोभाव मनुष्य जैसे हैं। अंत में उसी सती की शुभ कामना से यह सिंह फिर मनुष्य योनि प्राप्त करता है। इस कहानी की शैली भी कुछ अलिफ़ लैला जैसी कहानियों की है। उदाहरणार्थ, सिंह-पत्नी जब कहानी सुनाती है तो कहती है—'ऐ मुसाफिर'। यह ढंग बहुत पुराना है। इस प्रकार कला की दृष्टि से ये कहानियां इस युग के बहुत पीछे की लगती हैं। ऐसी कहानियां लोग लिखते भी बहुत कम हैं। जिनका दृष्टिकोण पूर्ण रूप से साहित्यिक होता है उनका इन कहानियों से प्रायः विशेष संबंध नहीं रहता। ये समय के बहुत पीछे पड़ गई हैं।

हिन्दी की आधुनिक कहानियों का दूसरे प्रकार का वर्गीकरण हम ध्येय-प्रतिपादन के स्वरूप की दृष्टि से कर सकते हैं। इस दृष्टि से देखने पर हमें कहानियों के निम्नलिखित प्रधान वर्ग प्राप्त होते हैं:—

१. वातावरण प्रधान कहानी :—
   (अ) आधुनिक युग, और
   (आ) इतिहास युग।

२. चित्रण प्रधान कहानी :—
   (अ) मनोवृत्तियों का चित्रण,
   (आ) अन्तर्द्वन्द्वों एवं द्वन्द्वों का चित्रण,
   (इ) कल्पना या भावना युक्त चित्रण, और
   (ई) हास्य व्यंग्यमय चित्रण।

३. अन्य :—

(अ) कथानक प्रधान कहानियां,

(आ) कार्य प्रधान कहानियां, और

(इ) अन्योक्ति या प्रतीक कहानियां।

१. वातावरण प्रधान कहानी

हिन्दी में ऐसी कहानियां बहुत लिखी गई हैं जिनमें एक तो परिपार्श्व अर्थात् सेटिंग का सुन्दर एवं पूर्ण रूप से वर्णन किया जाता है और दूसरे, कहानी की परिस्थितियों में से किसी एक अंग या पक्ष पर बहुत जोर दिया जाता है। पृष्ठभूमि या परिपार्श्व का वर्णन करते समय लेखक को यह स्वतन्त्रता रहती है कि वह चाहे यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाए चाहे कवित्व एवं कलापूर्ण स्वच्छंदवादी। कहानी के उद्देश्य एवं लेखक को अपनी रुचि विशेष के अनुसार विनिर्मित शैली का स्वरूप, पात्रों की अपनी एवं वर्णन के समय लेखक की अपनी भाषा, तथा कहानी का कथानक एवं विषय-वस्तु मिलकर कहानी का वातावरण बनाते हैं। कहानी समाप्त करने के पश्चात् पाठक का मन एक विशेष प्रकार की भावना से अनुप्राणित हो उठता है एवं उसका मस्तिष्क एक विशेष प्रकार के वातावरण से आच्छादित हो उठता है। यही कहानी-लेखक की सफलता है और ऐसी ही कहानी एक सफल वातावरण प्रधान कहानी है। इन कहानियों में आज के युग का भी वातावरण चित्रित किया जा सकता है, और बीते युग का भी।

इन वातावरण प्रधान कहानियों में परिपार्श्व का चित्रण कई प्रकार से किया जाता है। कभी-कभी तो उसका सीधा-सादा एवं स्पष्ट वर्णन कर दिया जाता है :—

"संध्या का समय है और गर्मी का मौसम। दिन भर की तपिश से तंग आकर लोग ऊपर छतों पर जा रहे हैं। कहीं छतों पर छिड़काव हो रहा है; कहीं फूलों के गमले सींचे जा रहे हैं; कहीं बिस्तर ठंडे किये जा रहे हैं। पुरुष या तो अभी दूकानों से आये नहीं या सैर को निकल गए हैं। स्त्रियां घर के काम-काज से छुट्टी पाकर खाने का सामान ऊपर ले जाने में व्यस्त हैं। नीचे भोजन का क्या आनन्द! ऊपर छत पर खायेंगे, गप्पें हांकेंगे और हवा चली तो ठंडे झोंकों का भी आनन्द लेंगे। दिन भर खूब गरमी पड़ी है। ईंट पत्थर तक भुन गए हैं। शायद रात को ठंड हो, वायु चले, पर आशा तो नहीं है।"[१]

चित्रण अमीरी का भी हो सकता है और गरीबी का भी। ये वर्णन अच्छे से अच्छे चित्र भी उपस्थित कर देते हैं :—

"सांझ का वक्त था। गायें लौट रही थीं। उनके पैरों से उठी धूल झोंपड़ियों पर बरस रही थी और गधों के लोटने से रास्ता बिल्कुल धूमिल हो गया था। उसके पीछे वह डूबता सूरज था और झोपड़ियों में से संध्या की रोटी पकने का धुआं धूल में

---

१. उपेन्द्रनाथ 'अश्क' : 'दूलो' (१९४५ ई०) कहानी

मिल कर एक दमघोट वातावरण तैयार कर रहा था। ताल पर उजाला था; लेकिन डरा-डरा, काँप रहा था। शायद उसे काले पानी की स्तब्ध पर्त पर फिसल जाने का डर था।"[१]

ये ही चित्रण आगे बढ़कर आलंकारिक प्रकृति-चित्रण बन जाते हैं जिनमें कवित्व भी रहता है :—

"धीरे-धीरे रात का रंग बदल चला। हवा में एकाएक शीतलता भी बढ़ गई और नमी भी। उस गीले स्पर्श से मानो एकाएक रात ने जान लिया कि वह नंगी है और लज्जित होकर, कुछ सिहर कर, धुंध के आवरण में छिप गई।"[२]

इस चित्रण में व्यक्ति भी आता है। उसका चित्रण उद्देश्यपूर्ण होता है। उच्चकोटि की कला आधे वाक्य में ही पूरे का पूरा चित्र तो उपस्थित कर ही देती है, साथ ही साथ व्यंग्यात्मकता भी लिये हुए होती है। एक छोटा-सा चित्र देखिए:—

"दूसरे दिन सुबह आदत के मुताबिक आनन्दी ने ताल पर हाथ मुंह धोये, उसी पानी से कुल्ला किया, उस में थूका और वही घड़े में भर झोंपड़े में रखकर रोटियां बाँध, टोली में जा मिली.........................।"[३]

यह क्रिया प्रधान चित्र है। बाह्य वेशभूषा का भी कलात्मक चित्र देखिए :—

"भींगे कपड़ों के कारण जाड़े से ठिठुरती, सिमटती, जैसे बन्दर दो पैरों पर खड़ा हो असुविधा से चलता है, वैसे ही कोयले वाली आगे बढ़ी।"[४]

साहित्यिकता प्रधान गद्य में एक कलापूर्ण व्यक्ति-चित्र देखिए :—

"उसका मुख चिकनी काली मिट्टी से गढ़ा जान पड़ता था, परन्तु प्रत्येक रेखा में साँचे की वैसी ही सुडौलता थी जैसी प्रायः पेरिस प्लास्टर की मूर्तियों में देखी जाती है। आँखों की गढ़न लंबी न होकर गोल-गोल होने के कारण उनमें मेले में खोये बच्चे-जैसी सभय-चकित दृष्टि थी। हाथ-पैर में मोटे-मोटे पर चमकहीन गिलट के कड़े उसे कैदी की स्थिति में डाल देते थे। कुछ कम चौड़े ललाट पर जुड़ी भौंहों के ऊपर लगी पीली काँच की टिकुली में जो सिंगार था वह भटकटैया के फूल से घूरे के श्रृंगार का स्मरण दिलाता था। कभी लाल पर अब पुराने घड़े के रंग वाली धोती में लिपटी सबिया ऐसी लगी मानों किसी अपटु शिल्पी की सयत्न गढ़ी मिट्टी की मूर्ति हो जिसके सब कच्चे रंग धुल गए हैं और जहां-तहां से केवल सुडौल रेखाओं में बँधी मिट्टी झाँकने लगी है।"[५]

---

१. रांगेय राघव : 'अभिमान' (१९४७ ई०) कहानी
२. अज्ञेय : 'नंबर दस' (१९४४ ई०) कहानी
३. रांगेय राघव : 'अभिमान' कहानी
४. यशपाल : 'मोटर वाली—कोयले वाली' कहानी (१९४१ ई०)
५. महादेवी वर्मा : 'अतीत के चलचित्र' (१९४१ ई०)

व्यक्ति का अभिधात्मक चित्र भी देखिए :——

"इस गरमी में भी, इस शरीर को झुलसा डालने वाली गर्मी में भी वह बुड्ढा और उसकी पत्नी नीचे मुहल्ले में , जहां दिन भर धूप का राज्य रहा है, जहां इर्द-गिर्द गायें-भैंसें बँधी रहती हैं, जहां नालियों से बदबू आती रहती है, और जहां कूड़े-करकट के मारे बैठना मुहाल है, दो चारपाइयाँ डाले पड़े हैं। बूढ़े की चारपाई पर इस गर्मी की ऋतु में भी लिहाफ बिछा हुआ है, मैला-कुचैला और सड़ा-गला। शायद उसे साफ चादर नहीं मिली या इस मैले और बदबूदार लिहाफ के लिए घर में कोई जगह नहीं। उसकी पीठ कुबड़ी है, कंधों की हड्डियाँ ऊपर को उठी हुई हैं, छाती अन्दर को धँस गई है , आँखों पर एक बड़ा पुराना और फ्रेम टूट जाने के कारण धागों में बाँधा हुआ चश्मा है; मुख पर दाढ़ी बढ़ आई है; सिर पर मलमल की मैली-सी गोल टोपी है, शरीर नंगा और कमर में मोटे खद्दर का डेढ़ गज का अँगौछा है।"[१]

वर्णन और वार्तालाप आदि के द्वारा इस प्रकार पृष्ठभूमि या परिपार्श्व का चित्र उपस्थित कर दिया जाता है। स्थान-चलन अर्थात् 'लोकल-कलर' लाने के लिए भाषा में प्रादेशिक प्रयोग एवं वार्तालाप में स्थानीय बोलचाल का भी प्रयोग कर दिया जाता है। लघु कोष्ठक में उनका साहित्यिक रूप भी, यदि आवश्यकता समझी जाय तो, लिख दिया जाता है : ——

"'रे'–'रे', अठे के करे है ? (अरे, तू यहाँ क्या कर रहा है ?)"। "'आ एक ही के, इह तो सगली फूटरी हैं। हूं तो इन्हें चारा फलूंसी निरिया करूं।" (यह एक ही क्या, यह तो सबही सुन्दर हैं इन्हें चारा और फलूँसी (ज्वार और मोठ) देता हूँ।)"

कभी-कभी मानसिक परिस्थितियों के भी चित्र उपस्थित कर दिये जाते हैं।

वातावरण प्रधान कहानी में परिपार्श्व के अतिरिक्त जो दूसरा तत्त्व होता है उसका प्रारम्भ इन्हीं उपर्युक्त वर्णनों से हो जाता है। पृष्ठभूमि का चित्र दे दिया गया। तत्पश्चात् उसमें व्यक्ति उपस्थित कर दिया गया। कहानी का संबंध उस बुड्ढे की जीवन-गाथा ही से है। आगे चलकर उसमें यह दिखाया गया है कि इस वृद्ध का कृतघ्न एवं निर्दयी पुत्र इसके प्रति बहुत बुरा व्यवहार करता है। पिता के प्रति पुत्र के ऐसे दुर्व्यवहार के चित्रण-द्वारा पाठकों में उसके प्रति घृणा पैदा कर देना ही कहानी का ध्येय है। मानव की प्रेमवृत्ति या नारी-पुरुष के परस्पर आकर्षण वाली वृत्ति जो रोमांटिक वातावरण बनाती हैं उनसे रोमांटिक कहानियां बनती हैं। इस प्रकार वातावरण प्रधान कहानियों की परिणति होती है।

इस विषय में एक उल्लेखनीय बात यह है कि ये वातावरण प्रधान कहानियाँ विषय-वस्तु की दृष्टि से दो भागों में बाँटी जा सकती हैं। एक भाग में वे कहानियाँ आयेंगी जिनका संबंध किसी एक व्यक्ति या किसी एक व्यक्ति विशेष आदि से रहता है। दूसरी कहानियां वे हैं जो समाज की प्रवृत्तियों से संबंध रखती हैं। यहां उनसे संबंधित

१. 'अश्क' : 'दूलो' शीर्षक कहानी

परिपार्श्व का चित्रण करके उसमें प्रतीक रूप से किसी व्यक्ति को रखकर उसके माध्यम से समाज की उस प्रवृत्ति विशेष के प्रति मन में घृणा या आदर की भावना पैदा की जाती है। अमृतराय 'चावल, मीठे और खुशबूदार' में चोरबाजारी के प्रति घृणा की भावना पैदा करते हैं। इसी प्रकार मानव की घोर स्वार्थ वृत्ति, अमीरों की क्रूरता, मानव की क्षुद्रता एवं संकीर्णता, आदि के प्रति मन में क्षोभ की भावना पैदा कर दी जाती है। साथ ही, ये समाज के अन्दर पाए जाने वाले विभिन्न प्रकार के वातावरणों का चित्र भी सम्मुख उपस्थित करती हैं। इस प्रकार वातावरण प्रधान कहानियां पूरे समाज का वातावरण खींच देती हैं।

ऐतिहासिक कहानियाँ

जो कहानियाँ पिछले युगों से संबंधित होती हैं उन्हें हम प्रायः ऐतिहासिक कहानियां कहते हैं। कहानी-लेखक वर्त्तमान काल से पीछे की ओर मुँह मोड़कर इतिहास के किसी अन्य युग में जाता है या इतिहास को भी अज्ञात किसी अन्धकार युग में जाता है और उस युग विशेष के वातावरण अर्थात् समाज की परिस्थितियों एवं व्यक्ति के भावों-मनोभावों का चित्रण उपस्थित करता है। तत्कालीन वातावरण के परिपार्श्व में इतिहास प्रसिद्ध किसी व्यक्ति विशेष या उससे संबंधित किसी व्यक्तित्त्व विशेष या ऐतिहासिक किंवदंतियों के व्यक्ति एवं कथाओं का वर्णन होता है। ऐसी कहानियों के लिए अध्ययन और कल्पना-शक्ति, दोनों की आवश्यकता पड़ती है। कल्पना-शक्ति के अभाव में ऐतिहासिक कहानियाँ घटनाओं एवं विवरणों की ठूंठ मात्र रह जाती हैं। जब अध्ययन एवं अन्तर्दृष्टि नहीं होती तब ऐसी कहानियों में नाम आदि तो ऐतिहासिक होते हैं, किन्तु बाकी सब-कुछ आज के युग का ही चित्रित हो जाता है। कुछ ऐतिहासिक कहानियां ऐसी भी हैं जिनका वातावरण, जिनमें वर्णित घटनाएं, तो इतिहास के किसी गत युग की होती हैं किन्तु जिनमें प्रतिपादित विचारधारा आधुनिक युग की होती है। ऐसी कहानियों का आधार मानव-मनोभावों की शाश्वतता है। रूप बदल जाय, किन्तु प्रवृत्ति एक-सी ही रहती है।

'यशपाल की 'ज्ञानदान' नामक कहानी (१९४४ ई०) ऋषि युग की है। उसमें आश्रम की एक तरुणी तापसी एवं एक तरुण ज्ञानी का चित्रण है। तापसी संयम से सधा जीवन व्यतीत करती आ रही है। तरुण संन्यासी उपदेश के लिए आया था। उपदेश देते समय उसका ध्यान श्रोता-मंडली में बैठी इस तरुणी तापसी की ओर गया जो " ....बिखरी खाद के बीच उगे सूरजमुखी के फूल के समान जान पड़ती थी।" वह इसकी ओर आकृष्ट हो गया और उसकी कल्पना के नेत्रों के सम्मुख यही ब्रह्मचारिणी आने लगी। सद्यः स्नाता ब्रह्मचारिणी को इस तरुण संन्यासी ने अपने तर्क बल से निरुत्तर करके उसे उसी एकान्त कुंज में जीवन का एक 'नवीन सुख' दिया। इस कहानी में वातावरण उसी युग का है किन्तु जीवन का यह नवीन दृष्टिकोण निश्चित रूप से आधुनिक है। इनकी 'दास धर्म' नामक कहानी भी ऐसी ही है।

चतुरसेन शास्त्री का 'सिंहगढ़ विजय' नामक कहानी संग्रह (१९३९ ई०) अच्छी ऐतिहासिक कहानियों का संग्रह है। 'मुगल बादशाहों की अनोखी बातें' (१९३८ ई०) भी ऐतिहासिक कहानियों का सुन्दर संग्रह है। इन कहानियों के द्वारा लेखक ने पृथ्वीराज से लेकर मुअज्जम तक के बीच के भारत का कथात्मक चित्र उपस्थित कर दिया है। इनमें ऐतिहासिक सत्य कम है। इतिहास का स्थूल आधार लेकर भावना और कल्पना के द्वारा तत्कालीन वातावरण का सजीव चित्रण किया गया है। ये कहानियाँ वातावरण प्रधान हैं। वर्णनात्मकता अधिक है। भाषा तथ्य को उपस्थित करने में सर्वथा समर्थ है। वार्तालाप और पात्र वातावरण का निर्माण करते हैं। मानव के शाश्वत मनोविज्ञानका आधार इतना लिया गया है कि नाम को हटा दें तो ऐतिहासिकता समाप्त-सी हो जायगी। ये कहानियां प्रायः चरित्रों के द्वारा प्रभाव डालती हैं। वृन्दावन लाल वर्मा ने भी ऐसी ही कहानियाँ लिखी हैं। वे प्रायः राजपूत युग की वीरता और एवं उदारता पर आधारित हैं। भगवत शरण उपाध्याय ने भारत के प्राचीन काल को आधार मान कर कई अच्छी ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी हैं। प्रसाद और प्रेमचन्द की कुछ कहानियाँ अर्द्ध-ऐतिहासिक हैं। जैनेंद्र की 'ग़दर के बाद' (१९३३ ई०) नामक ऐतिहासिक कहानी घटना प्रधान हैं। इसमें अन्तर्द्वन्द्व एवं मानसिक अध्ययन उतना नहीं जितना उनकी बाद की सामाजिक कहानियों में है। इसमें एक चौधरी का चित्रण है जो अपने साथियों से विद्रोह कर के भी ग़दर के जमाने में एक अंग्रेज महिला को बचा लेता है किन्तु गदर के बाद उसे फाँसी हो जाती है।

राहुल सांकृत्यायन की लिखी हुई ऐतिहासिक कहानियों में अध्ययन का उपयोग बहुत और कल्पना-शक्ति का कम है। 'सतमी के बच्चे' कहानी संग्रह (१९३८ ई०) में संग्रहीत 'डीह बाबा' नामक कहानी के प्रारंभ के लगभग आठ पृष्ठों में ईसा के लगभग दो हज़ार वर्ष पूर्व से लेकर आज तक का भर जाति का इतिहास वर्णित है। इससे हमारे ज्ञान का क्षितिज तो विस्तृत होता है किन्तु कथात्मकता की प्यास नहीं बुझती। 'स्मृति विज्ञान कीर्ति' नामक कहानी में १०३० ई० के आसपास के तिब्बत के जीवन का चित्रण है। इस कहानी में एक विद्वान की संतोष वृत्ति दिखाई गई है और दाम्पत्य जीवन का करुणा प्रधान चित्रण है। पहाड़ी वातावरण निर्मित करने के लिए लेखक ने तिब्बती भाषा के कुछ छंद भी दे दिये हैं। उनमें से एक पद देखिये :—

(सो—ो—ो) ङोन्—पो दब् के थोङ (ला—ा) वुङ।
क्यि—पो चे पाङन् (ला—ा) जुङ।
नग्—पो छेर—मा यू (ला—ा) दुङ।
सेम्—पा चो के मि (ला—ा) डु।

इसका अर्थ यह है :—

हरी पत्तियों को देखते समय,
सुखी होने की स्मृति हो आती है।
काले काँटों के लगते समय,
चित्त में वेदना मात्र ही रह जाती है।

और, हिन्दी की ऐतिहासिक कहानियों के विषय में लिखी गई कोई भी बात तब तक अधूरी ही रहेगी जब तक राहुल सांकृत्यायन की 'वोल्गा से गंगा' (१९४२ ई०) का उल्लेख न किया जाय। इस पुस्तक के विषय में एक महाराष्ट्रीय विद्वान ने लिखा है—"किसी भारतीय भाषा में इस हिन्दी पुस्तक के समान कोई ग्रंथ नहीं।" ये हमारे देश के एक आसाधारण चिन्तक के जीवन भर के अध्ययन का परिणाम हैं। संस्कृत की उत्तमोत्तम पुस्तकों के अतिरिक्त अंग्रेज़ी के असामान्य अध्ययन, स्वतंत्र एवं मुक्त चिन्तना ने ये कहानियाँ जन्मी हैं। इसकी शुरू-शुरू की कुछ कहानियाँ कहानियाँ कम और इतिहास अधिक हैं। इस ओर जब लेखक का ध्यान आकृष्ट किया गया तो उसने उत्तर दिया कि तब इन्हें कहानी न समझकर इतिहास ही समझ लिया जाय। इन कहानियों के लिखने के पूर्व प्रागैतिहासिक काल, इन्दु-यूरोपीय तथा इंदु-ईरानी भाषा शास्त्र और एंजिल की 'ओरिजिन आफ फ़ेमिली' आदि के अध्ययन के अतिरिक्त वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, महाभारत, पुराण आदि और बौद्ध ग्रंथों, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, यवन यात्रियों के वृत्तांत, विंसेंट स्मिथ वाला इतिहास, काशी प्रसाद जायसवाल की 'हिन्दू पालिटी' आदि का अध्ययन भी किया गया है। लेखक ने अपनी इन कहानियों में जहाँ-जहाँ प्राचीन हिन्दू धर्म, विश्वास एवं मान्यताओं आदि पर कठोरतम, निर्मम, तीखे, एवं दाहक आघात किये हैं वहाँ-वहाँ वेद, पुराण एवं उपनिषद् आदि उपर्युक्त ग्रंथों से उदाहरण दिये हैं एवं उनका हवाला दे दिया है। जो चाहे, देख सकता है। ये कहानियाँ जिन अज्ञात युगों का चित्रण करती हैं उनका जो उल्लेख कर दिया गया है वह यों है :—

कहानी	युग	पीढ़ी
१. निशा	६००० ई० पूर्व	३६१ पीढ़ी पहले
२. दिवा	३५०० ,,	२२५ पीढ़ी पूर्व
३. अमृताश्व	३००० ,,	२०० पीढ़ी पहले
४. पुरहूत	२५०० ,,	१८० ,,
५. पुरुधान	२००० ,,	१६० ,,
६. अंगिरा	१८०० ,,	१५२ ,,
७. सुदास	१५०० ,,	१४४ ,,
८. प्रवाहण	७०० ,,	१०८ ,,
९. बंधुलमल्ल	४९० ,,	१०० ,,; इत्यादि

बाद की कहानियाँ ऐतिहासिक युग की हैं। ये कहानियाँ ६००० ई० पूर्व से लेकर

१९४२ ई० तक के बीच के काल में आर्यों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियों के चित्र उपस्थित करती हैं। ये चित्र एक दूसरे से संबंधित नहीं हैं। अतएव अल्बम के चित्रों की भाँति ये कहानियाँ पृथक-पृथक चित्र उपस्थित करती हैं। यदि चाहे तो पाठक अपने मन में इनका संबंध स्थापित कर ले। विषय-वस्तु की वैज्ञानिकता, तर्कसम्मतता और क्रांति का अनुमान 'प्रवाहण' कहानी के निम्न-लिखित कुछ उद्धरणों से किया जा सकता है :—

"लोपा, मैं और तू नहीं रहेंगे; किन्तु वह समय आयेगा जब कि सारी दरिद्र प्रजा इस पुनरागमन के भरोसे सारे जीवन की कटुता, कष्ट और अन्याय को बरदाश्त करने के लिए तैयार हो जायगी। स्वर्ग और नरक को समझाने के लिए कैसा सीधा उपाय निकाला, लोपा!"

"तू बच्ची है, गार्गी। जानती है कि यह ब्रह्मवाद सिर्फ मन की उड़ान है, मन की कलाबाजी है। नहीं गार्गी, इसके पीछे राजाओं और ब्राह्मणों का भारी स्वार्थ छिपा हुआ है।"

"प्रजा की कमाई को मुफ्त में खाने का तरीका है यह राजवाद, ब्राह्मणवाद, यज्ञवाद।"

"राजा को अवलंब देने ही के लिए हमारे पूर्वज राजाओं ने वशिष्ठ और विश्वा-मित्र को उतना सम्मानित किया था। वह ऋषि, इन्द्र, अग्नि, और वरुण के नाम पर लोगों को राजा की आज्ञा मानने के लिए प्रेरित करते थे.............पीढ़ियों से किसी ने इन्द्र, वरुण, ब्रह्मा को नहीं देखा। अब कितनों के मन में सन्देह होने लगा है............. ब्रह्म का स्वरूप मैंने ऐसा बतलाया है कि कोई उसके देखने की माँग नहीं पेश करेगा। जो आकाश की भाँति देखने-सुनने का विषय नहीं, जो यहाँ-वहाँ सर्वत्र है, उसके देखने का सवाल कैसे उठ सकता है.............................।"

जो रूढ़िवादी मस्तिष्क इन तर्कों का जवाब नहीं दे पाता वह इस पुस्तक पर प्रतिबंध लगवाने या इसके बायकाट करवाने की व्यवस्था करने की बातें सोचता है क्योंकि वह कभी यह मान ही नहीं सकता कि उसके पूर्वजों की किसी पीढ़ी में एक ऐसा भी युग रहा होगा जब मांस वैसे ही खाया जाता था जैसे आज शकरकन्द या आलू; जब लोग वैसे ही संभोग करते रहे होंगे जैसे आज भोजन; जब भाई-बहन का यौन संबंध वैसे ही प्रतिबंधरहित एवं सार्वजनिक रहा होगा जैसे आज उनकी शैशव क्रीड़ा में उनका परस्पर चुम्बन; आदि। ये कहानियाँ अधिकतर वर्णनात्मक हैं। कहानी-कला के ऊपर ज्ञान एवं अध्ययन का बोझ है। चित्र विवरणात्मक हैं, यद्यपि वातावरण के निर्माण के भी कुछ तत्त्व हैं जैसे वैदिक आदि युग के लिए संस्कृतनिष्ठ शैली या उस समय की भाषा में नमक के लिए 'लवण', अशर्फी के लिए 'निष्क', घोड़ी के लिए 'बड़वा', ओढ़नी और चादर के लिए 'उत्तरासंग' एवं वोट के लिए 'छंद', इत्यादि। इस वातावरण में अध्यात्म दर्शन के खोखलेपन को सिद्ध करके भौतिक

वादी दर्शन की प्रतिष्ठा पर प्रकारांतर से पड़ने वाला जोर इन ऐतिहासिक कहानियों को वातावरण प्रधान कर देता है। कुछ ऐतिहासिक कहानियों में वातावरण से महत्त्व-पूर्ण होता है किसी प्रधान पात्र के चरित्र की कोई उदात्त रेखा। चतुरसेन शास्त्री की कहानियों में यह तत्त्व बहुत मिलता है। ऐसी स्थिति में वे सुन्दर ऐतिहासिक कहानियाँ नहीं बन पातीं क्योंकि ऐतिहासिक कहानियों में ऐतिहासिक वातावरण अनिवार्य होता है। यदि किसी ऐतिहासिक कहानी में ऐतिहासिक वातावरण और चरित्र दोनों एक ही स्तर––उच्चकोटि––के हों तो वह कहानी वातावरण प्रधान ऐतिहासिक कहानी का एक और प्रकार बनाएगी। हिन्दी में ऐसी कहानियाँ प्रायः नहीं हैं। फिर भी, अब हिन्दी में उच्चकोटि की ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी जा रही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

रघुवंश का 'छायातप' शीर्षक कहानी-संग्रह (१९४७ ई०) भी वातावरण प्रधान कहानियों का संग्रह है। इसमें कुछ कहानियाँ ऐतिहासिक कहानियों की श्रेणी में आ सकती हैं। ये ऐतिहासिक कहानियाँ नये ढंग की हैं। इनमें इतिहास कल्पना के माध्यम से आता है। इनमें यथार्थवादी कल्पना है। मनुष्य कुछ देखता है और उस पर सोचता-सोचता कल्पना के राज्य में जा पहुँचता है। इस कल्पना में आने वाले चित्र अध्ययन पर आधारित होते हैं। इस प्रकार इन कहानियों में बुद्धिमयी भावुकता या भावुक बुद्धि है। चित्र विचार के आगे कल्पना-चित्रों में शुरू होकर क्रमशः स्वप्नों में डूब जाते हैं। पात्र विचार नहीं करते बल्कि स्वप्न-चित्र देखते हैं। पात्र चाँदनी रात में एक राज महल को देखता है :––

"चाँदनी में डूबा राजमहल खड़ा है.................पास ही अन्तःपुर के बिखरे हुए पत्थरों पर चाँदनी फैली है ––राजमहल किसी भूली सुधि में खोया खड़ा है––और चाँदनी बिखरे हुए पत्थरों से जैसे वही भूली बात बटोर रही है। राजमहल के पीछे ही पद्मला सरोवर अपनी लहरियों से कुमुदिनियों को छेड़-छेड़ कर खेल रहा है। चाँदनी सरोवर पर नृत्य करती हुई कुमुदों को हँसा रही है––जैसे सरोवर अपने में ही भूला हो। राजमहल के अन्दर अँधेरा छाया है––और चाँदनी महल पर छाई हुई है।

राजमहल के दर्शनी झरोखे पर मुकुट दिखाई देता देता लुप्त हो गया।

झरोखे पर जैसे मुकुट की चमक झलक उठी। बाहर लीन-लीन से असंख्य सैनिक एकत्रित हो रहे थे––उनके पीले वस्त्र जैसे दिखाई दे जाते हों। रात अभी बीती नहीं है––अँधेरा अभी धुंधला नहीं हुआ था। झरोखे पर आवाज आ रही थी––"वीरो! तुम जानते हो, आज हम अपने अन्तिम कर्त्तव्य के लिए विवश हैं। हमको अपने आप से धोखा हुआ है। जानते हो––रणमल और भोजदेव शत्रुओं से मिल गया है––अब हमारे अस्त्रागार खाली हैं.....................................।"

इस प्रकार लेखक राजपूत युग का एक चित्र उपस्थित करने लगता है।

चित्रण प्रधान कहानियाँ बहुत ही उच्चकोटि की होती हैं। वातावरण प्रधान कहानियों में वर्णनात्मकता और कभी-कभी तो विवरणों की ही प्रधानता रहती है। लेखक की उच्चकोटि की शैली उसमें चित्रात्मकता ला देती है। चित्रण में वर्णन एवं विवरण की कोई आवश्यकता नहीं। प्रतिभावान लेखक एक वाक्य में ही चित्रण का उद्देश्य पूरा कर सकता है। चित्रण प्रधान कहानियाँ मनोवृत्तियों, अन्तर्द्वन्द्वों, परिस्थितियों, कल्पनाओं और भावनाओं तथा हास्य और व्यंग्य का चित्रण करती हैं। इन्हीं में प्रकारान्तर से पात्रों का चरित्र-चित्रण भी हो जाता है। ध्यान रहे कि आज के चरित्र-चित्रण में त्याग, बलिदान, प्रेम, अत्याचार आदि चरित्र की स्थूल रूपरेखाओं का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह गया है। चरित्र की किसी एक विशेषता के अंग विशेष के किसी भाग विशेष के किसी अंश का सूक्ष्म, आन्तरिक एवं द्वन्द्व-संघर्ष प्रधान चित्रण होता है। यह पात्र को व्यक्तित्त्व देता है।

चित्रण प्रधान कहानी

चित्रण प्रधान कहानियों का एक सुन्दर रूप हमें मनोवृत्तिमूलक कहानियों में में मिलता है। इनमें पात्र विशेष की किसी एक मनोवृत्ति का चित्रण किया जाता है। उस विशेष मनोवृत्ति का जो रूप लेखक हमारे सामने रखना चाहता है वह जैसे ही रख चुकता है तैसे ही कहानी समाप्त हो जाती है। इन कहानियों में घटनाओं की प्रधानता नहीं होती। भावनाओं की पूर्णता एवं परिपक्वता का भी विशेष ध्यान नहीं रक्खा जाता। कथावस्तु कैसी है, उसका विकास कैसे हो रहा है, आदि प्रश्नों के लिए कोई चिन्ता नहीं की जाती। इन कहानियों की विशेषता, सच पूछिए तो, यही है कि इनमें घटनाएं न रहें। जहां चरित्र की मनोवृत्ति विशेष की सफल अभिव्यक्ति हो जाय वहीं इन कहानियों की परिणति समझनी चाहिए। मनुष्य की मनोवृत्ति बड़ी गूढ़ और रहस्यमयी होती है। इसी कारण देखने वाला देखने वालों को ठीक से कभी-भी नहीं समझ पाता, किन्तु व्यक्ति विशेष की ये विचित्र मनोवृत्तियां—या सनकें या धुन आदि—ही उसका ध्यान संसार एवं समाज की अन्य मांगों से हटाकर उसे किसी विशेष दिशा में नियोजित कर देती हैं और मानव एवं मानव-समाज के विभिन्न प्रकार के विकास का कारण बनती हैं। इन मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति कुतूहलजनक, आकर्षक, आह्लादकारिणी एवं रोचक होती हैं। ये सामान्य नहीं होतीं। इनकी असामान्यता और इसी लिए इनसे युक्त व्यक्ति के क्रिया-कलापों की विचित्रता कहानी में चमत्कार की सृष्टि करती है। राय कृष्णदास के 'सुधांशु' नामक कहानी संग्रह (१९२९ ई०) की कहानियां मनोवृत्तिमूलक हैं। इनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ है। वास्तविकता लाने के लिए एक आध जनपदीय प्रयोग भी कर दिये गए हैं; जैसे 'रहौ' आदि। इनकी 'प्रसन्नता की प्राप्ति' शीर्षक कहानी में एक कलाकार की मनोवृत्ति स्पष्ट की गई है। कलावन्त पिता भी है, पति भी है, और राजा का आश्रित भी है। राजा की आज्ञा है कि

मनोवृत्तियों का चित्रण

प्रसन्नता की एक मूर्ति बने। कलावन्त प्रसन्नता का स्वरूप खोजता है। उसकी कल्पना खूब भटकती है। अन्त में वह आगतपतिका को प्रसन्नता की अभिव्यक्ति का आधार बनाना निश्चय करता है। मूर्ति बनने लगती है। वह कुछ देर के लिए कमरे से बाहर जाता है और जब कमरे में लौटता है तब पाता है कि उनका नन्हा-सा पुत्र छुल्लक उस मूर्ति को गिरा कर उसे तोड़ कर उस पर हँस-हँस कर नाच रहा है। इस समय छुल्लक के मुँह पर प्रसन्नता की जो अभिव्यक्ति दिखाई पड़ी कलावन्त उसी में अपनी समस्या का सुन्दरतम निदान पा गया। इस प्रकार इस कहानी में एक कलाकार पिता की मनोवृत्ति की सफल अभिव्यक्ति हुई है। 'सम्राट का स्वत्व', 'सुनार का स्वप्न ,आदि अनेक कहानियाँ इसी श्रेणी की हैं।

मनोवैज्ञानिक कहानियाँ वे होती हैं जो मानव-मनोविज्ञान के ऊपर आधारित रहती हैं। इन कहानियों में मनुष्य के मनोविज्ञान से संबंध रखने वाले कलात्मक चित्र रहते हैं। यथार्थ का तत्त्व और मनोविज्ञान प्रायः सभी कहानियों में विद्यमान रहता है। बिना इसके कहानी अवास्तविक एवं निष्प्राण लगती है।

मनोवैज्ञानिक कहानियाँ

मनोवैज्ञानिक कहानियों में मनोवैज्ञानिकता ही कहानी का सब-कुछ होती है। अन्य कहानियों में मनोविज्ञान पृष्ठभूमि का काम देता है। इनमें यह पृष्ठभूमि का काम भी देता है और ध्येय भी होता है। पूरी कहानी मनोविज्ञान के चित्रण में ही समाप्त हो जाती है।

नारी और पुरुष दोनों का मनोविज्ञान एक दूसरे से काफी पृथक होता है। उनके ये विरोधी तत्त्व ही उनके परस्पर आकर्षण के कारण हैं। समाज की मर्यादायें और बंधन उन्हें एक दूसरे से पृथक रख कर उन्हें एक दूसरे की ओर और भी आर्कषित करते हैं। वे प्रतिबंध और यह आकर्षण मिल कर चित्रण में रोचकता ला देते हैं। किसी प्रच्छन्न-वेश में यदि कोई नारी किसी उस पुरुष के साथ लेटी हो जो उसे पुरुष समझता हो तो निशीथ के सुनसान वातावरण में उसके मन में कैसी-कैसी उथल-पुथल मच सकती है, इसका एक चित्र नरोत्तम प्रसाद नागर के 'वर्जित प्रदेश' शीर्षक कहानी में देखिए :—

"चारों ओर सन्नाटा छाया था। कमरे का क्षीण प्रकाश बुदबुदा कर बुत गया। अंधकार की दीवार हम दोनों के बीच आ गई। लगा कि जैसे सब-कुछ खो गया है और अपने जीवन से भी जैसे मैं बेगाना हो गई हूँ। एक बार जी में आया कि उठ खड़ी होऊं, लेकिन फिर तुरन्त ही इस प्रयत्न की व्यर्थता सामने आ गई और संपूर्ण अंगों को ढीला छोड़कर लेट रही।

सीधी लेटी मैं कुछ सोचना चाहती थी लेकिन कुछ सोच भी न पाती थी। इधर उधर घूमघाम कर यही सत्य सामने आ खड़ा होता था कि पुरुष रूप में मैं एक ही बिस्तरे पर लेटी हूँ। इस ख्याल ने मुझे इतना घेर लिया था कि मैं आशंकित हो उठी, हृदय जैसे मचल उठा, एक बार जगा कर उसे दिखाने के लिए कि मैं पुरुष नहीं, नारी

हूँ। मेरा हाथ अनायास ही आगे बढ़ा भी, लेकिन कपड़ों में उलझ कर रह गया ....
........................" आदि।

परिस्थिति विशेष में पड़कर व्यक्ति की बड़ी विचित्र दशा हो जाती है। उसके अनुभावों का चित्रण उसके मन की स्थिति स्पष्ट कर सकती है। यहीं से द्वन्द्व की सृष्टि हो जाती है। मानव-मन के उद्‌घाटन में कलात्मकता तभी आती है जब वह द्वन्द्व एवं संघर्ष में पड़ा हो। यदि ऐसा न हुआ तो वह फीका रह जाता है। किसी भिखारी को देखकर मन में करुण भावना जागृत हो ही उठती है। गरीब होते हुए भी यदि सम्भव हुआ तो उसे कुछ न कुछ भीख दे ही दी जाती है। इसके चित्रण में कोई कला नहीं। किन्तु जब मनुष्य अन्तर्द्वन्द्वों में झकझोर उठता है तब उसके चित्रण में कमाल है। जैनेंद्र ने 'चलित चित' (१९३१ ई०) में ऐसा ही चित्रण उपस्थित किया है। एक मौलवी साहब थे। वे एक स्टेशन में वेटिंग रूम में बैठे थे। एक अंग्रेज आया और उसके सामने की मेज पर अपनी अँगूठी रखकर स्नानागार में चला गया। मौलवी साहब उस अँगूठी से अपनी अँगूठी की तुलना करने लगे। मन विचलित हुआ। उन्होंने वहीं उस अँगूठी को ढँक दिया। गाड़ी आ जाने पर उसके छूटने के समय अंग्रेज निकला और कुछ सेकेंड तक सोच कर अँगूठी के बारे में बिना कुछ पूछे हुए गाड़ी में बैठकर चला गया। मौलवी साहब शरीफ थे और उनको अपनी कुलीनता पर गर्व था। चोरी की भावना और कुलीनता की भावना दोनों परस्पर टकराने लगीं। इस सच्चे और भावुक हृदय वाले मौलवी पर इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई, कल्पनाएँ कैसे प्रारम्भ हुईं, वे कैसे आगे बढ़ीं, किस प्रकार उनमें तीव्रता आती गई, उन्होंने मौलवी साहब को किस प्रकार चकरा दिया, ये सब मनोवैज्ञानिक क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ कहानी को उस स्थिति पर ले जाकर समाप्त करती हैं जहाँ मौलवी साहब मर जाते हैं और अँगूठी भंगी के पास से होती हुई फिर अंग्रेज के पास पहुँच जाती है। यह एक सुन्दर और कलापूर्ण मनोवैज्ञानिक कहानी है।

फ्रायड के अवचेतन एवं अर्ध चेतन मन वाले सिद्धान्त के अनुसार भी मनोवैज्ञानिक कहानियाँ लिखी गई हैं। इस सिद्धान्त को आधार मान कर बहुत अच्छी-अच्छी कहानियाँ लिखी गई हैं और लिखी जा रही हैं। जैनेन्द्र, इलाचन्द जोशी और 'पहाड़ी' आदि लेखक इस प्रकार की कहानियाँ लिखने में बहुत पटु हैं। नारी का आकर्षण बड़ा ही प्रबल होता है। प्यार की इस भावना को दबा लिया जाता है किन्तु समय-समय पर वह बड़े प्रबल उभार लेती है। बहुत दबाये जाने पर वह अनिष्टकारी परिणाम भी उपस्थित करती है। अपने उपन्यासों और कहानियों में इलाचन्द जोशी इस प्रकार के मन में बहुत गहरे पैठ कर उसका निर्मम विश्लेषण करते हैं। 'होली और दीवाली' (१९४२ ई०) और 'रोमांटिक छाया' में उनकी कहानियाँ मानव-मन के इसी स्तर से संबंधित हैं। मनोविज्ञान के यौन आकर्षण वाले पक्ष को लेकर 'पहाड़ी' ने बहुत सी कहानियाँ लिखी हैं। वे भिन्न-भिन्न बिखरी रेखाएँ खींच कर उन्हें अव्यवस्थित लगने

वाले रूप में रखकर भी पाठक के मस्तिष्क पर इच्छित प्रभाव डाल देते हैं। चित्र पूरे भी होते हैं और अधूरे भी। प्रेमचन्द के चित्र प्रायः पूरे होते थे। 'पहाड़ी' के 'बया का घोंसला' (१९४४ ई०), 'मौली' (१९४३ ई०), आदि कहानी संग्रहों में इसी प्रकार की कहानियाँ संग्रहीत हैं। जैनेंद्र की कहानियों के पात्रों में एक अजीब-सी भावुकता है। मनोविज्ञान के चित्रण में वे इतना घुल-मिल जाते हैं कि यह भी भूल जाते हैं कि पात्रों की कोई सामाजिक स्थिति भी होती है। उनके पात्र कभी-कभी तो सिर्फ भावुक ही नहीं होते बल्कि विशुद्ध भावनायें ही बन जाते हैं। तब वे मानव के स्तर से इतने अलग हो जाते हैं कि अपरिचित से लगने लगते हैं। यदि उन्हें शुद्ध भावनायें ही मान लें तब कोई बात नहीं रह जाती। उदाहरण के लिए यह ले लीजिए कि यदि हमारे घर के अन्दर कोई साधु घुस आये तो हमें क्रोध तो जरूर आयेगा—और शायद इतना भी आ जाय कि हम सोचने लगें कि मार-मार कर इसको ढहा दें—किन्तु हम इतना मारेंगे नहीं। पहली बात जितनी स्वाभाविक है, दूसरी उतनी ही अस्वाभाविक, यद्यपि भावनाओं का सत्य पहले में ही है। किन्तु जैनेंद्र की 'साधु की हठ' (१९३१ ई०) वाली कहानी में गृह स्वामी एक साधु को सचमुच इसी तरह मारता है। पत्नी कुछ कहती है, तो उसे भी खूब मारता है। साधु टलता नहीं; पत्नी और भी मारी जाती है। किन्तु जहाँ इतनी अति नहीं वहाँ उनकी कहानियाँ सचमुच सुन्दर और कलात्मक हैं। मनोवैज्ञानिक चित्र रोचक हैं। पति खीझता है, पत्नी खिझाती है :—

"पत्नी को नाराज होने का कारण न था। उन्हें तो एक तरह का वैसा कुछ संतोष मिलता था जैसा बालक को बोलने वाले खिलौने को पीच कर उन्हें बुलवाने में। अन्तर यह था कि बालक को ज्ञान नहीं होता कि उसके दबाने और पक्षी के बोलने में क्या संबंध है, और महिला ऐसी बातें सुनने के ही लिए छेड़ रही थी। वह यह तो जानती ही थी कि अब पति के लिए साधु को मारना उतना सम्भव, आसान और प्रिय कार्य न होगा। जैसे पति का क्रोध पत्नी को शारीरिक प्रहार देकर तुष्ट होता था वैसे ही उसके एवज में, उसी का लगभग समकक्ष पत्नी में एक स्त्रियोचित भाव था जो पति की यह मानसिक कुलबुलाहट और आक्रोश देख कर तुष्टि पाता था, या यह कहिए कि अबला का क्रोध था जिसका जहर निकाल डाला गया था।

आज 'अज्ञेय' और इलाचन्द जोशी आदि की कहानियों में जो गहन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मिलता है यह उसी का पूर्व रूप कहा जा सकता है। जैनेंद्र की ऐसी कहानियों में 'फिर जो', 'तभी', 'तो', 'हां', 'तो साहब', 'शायद', 'बात यह हुई' आदि का प्रयोग उसमें बोलचाल की भंगिमा का समावेश करा देता है। 'हमें जी नींद आ रही है', 'हमें नींद आ रही है, हां तो!', 'तुम लेट न जाओ, मैं कहती हूँ।'[१]—'तो मत लाना, बस! हां तो।' आदि के प्रयोग से दिन-प्रति-दिन के वार्तालाप का

१. जैनेंद्र: 'एक रात'

स्वरूप आ जाता है। बाल्यावस्था में प्रतिद्वन्द्विता या प्रतिक्रिया का मनोरंजक स्वरूप 'खेल' कहानी में तब मिलता है जब हम देखते हैं कि चूंकि मनोहर सुरो का बनाया हुआ घरौंदा लात से गिरा देता है इसलिए सुरो मनोहर से घरौंदा बनवाती है और जब वह बन कर तैयार हो जाता है तब उसे लात मार कर गिरा देती है और फिर दोनों हँस पड़ते हैं। इन मनोवैज्ञानिक कहानियों में पात्रों का मनोविज्ञान ही कहानी को गति देता है। उसकी कथावस्तु को विकसित करता है। उसे आवश्यक मोड़ देता है। मनोविज्ञान का सत्य ही कहानी के पात्रों की मनोस्थिति में आमूल परिवर्तन उपस्थित कर देता है। जैनेंद्र के 'एक रात' कहानी संग्रह (१९३५ ई०) में 'बिल्ली बच्चा' नामक एक कहानी है। इसकी प्रधान पात्री, 'शरबत' नामक बच्ची, अपने भैय्या बिज्जू को बहुत प्यार करती थी। बिज्जू मर गया। शरबत इतनी दुखी हुई कि न बोली, न रोई और न कुछ किया। वह बीमार पड़ गई। उसको स्वस्थ करने के सभी प्रयत्न निष्फल होते गए। उसके मां-बाप बड़ी उलझन में पड़ गए। अन्त में बिल्ली के एक बच्चे को देखकर उसकी जड़ता टूटी। उस बच्चे को पकड़ कर वह जिस व्यग्रतापूर्वक उसकी भूख मिटाने का प्रयत्न करने लगी उसी में भाई की मृत्यु का चोट बह गया। उसके मोह को निष्कासन मिल गया।

यह मनोवैज्ञानिक अध्ययन केवल व्यक्ति या व्यक्तित्त्व तक ही नहीं सीमित रह गया है। वह सामाजिकता की ओर भी बढ़ा और लेखक किसी व्यक्तित्त्व के माध्यम से उस व्यक्तित्त्व के वर्ग के मनोविज्ञान को प्रतिबिंबित करने लगा। अस्तु, रांगेय राघव अपने 'अभिमान' शीर्षक कहानी में यह वार्तालाप कराते हैं:—

"मैं कहूं, अपने बाप-दादा सदा से क्या करते आए हैं?"—उसने बात शुरू की।

"भगवान की दया पर रहे हैं। और क्या?" बूढ़े ने शंकित-सा उत्तर दिया।

"तो हम किसी के नौकर-मजूर तो नहीं हैं।"—बुढ़िया ने चूल्हे में फूंक मारते हुए कहा।

बूढ़ा रोटी खाता हुआ बोला'—नहीं, हरगिज नहीं। अपना-अपना काम है। मगर हम किसी के नौकर नहीं हैं। जिसने दिया, उसका भला; न दे, कल देगा। बिल्कुल न देगा, तो परमात्मा ही उसे न देगा। मगर हम किसी के नौकर-चाकर नहीं हैं। मन करेगा, माँगने जायँगे; न करेगा, अपने ही घर रहेंगे।"

यह रहा भिखारियों का मनोविज्ञान! वे अपने को मजदूरों से अच्छा समझते हैं। संतोष के लिए कोई तर्क एवं विश्वास तो चाहिए ही!

आधुनिक कहानी साहित्य ने मानव-मनोविज्ञान को यहीं तक नहीं सीमित रखा। उसने उसकी सीमा मानवेतर योनियों तक भी बढ़ाई। प्रकृति के जड़ तत्त्वों का मानवीकरण काव्य के लिए नवीन नहीं। कथा साहित्य में पशुओं का उपयोग भी नवीन नहीं। 'हितोपदेश' एवं 'पंचतंत्र' की अनेक कहानियों में पशु-पक्षियों को माध्यम बनाया गया है। उनमें मानव-मनोविज्ञान का समावेश इस युग की चीज है। १९४६

ई० के दिसम्बर की 'सरस्वती' में रामगोपाल विजयवर्गीय की 'दो घड़ी के साथी' शीर्षक कहानी प्रकाशित हुई है। इसमें लेखक ने एक घोड़े, एक बैल और एक कुत्ते के ऊपर बीती हुई बातों के वर्णन के द्वारा यह दिखाया है कि मानव पशुओं की भावनाओं का बिल्कुल ध्यान न रखकर किस प्रकार उन पर अत्याचार किया करता है। बैल अपने रोमांस की कहानी सुनाता है कि किस प्रकार तरुणाई में उसने एक गाय से प्रेम किया था। वे दोनों एक दूसरे को बेहद प्यार करने लगे थे किन्तु मालिक ने एक दिन गाय बेच दी और इस प्रकार उन दोनों का बिछोह हो गया। बैल ने चारा छोड़कर मूक सत्याग्रह भी किया था। घोड़ा भी इसी प्रकार अपनी एक प्रेमिका की बातें सुनाता है। रोमांस की यह चहल-पहल रोचक और मर्मस्पर्शी है। अन्त में ये लोग मालिक के द्वारा की गई ज्यादतियों एवं निर्ममताओं को सुना-सुना कर एक दूसरे के प्रति सहानुभूति दिखाने लगते हैं। घोड़ा अपने घास-दाने में से कुछ बैल को देता है और प्रतिदिन खाते रहने का निमंत्रण देता है। जब उसका मालिक आता है तब मानव का फिर वही सहानुभूतिशून्य स्वरूप देखने को मिलता है। इसी प्रकार एक दूसरी कहानी में सारस के एक जोड़े के मिलन और वियोग का करुण एवं मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है।

उपर्युक्त कहानी को लेखक की कल्पना मात्र कह सकते हैं किन्तु १९३८ ई० में संग्रहीत जैनेंद्र की 'एक गौ' शीर्षक कहानी में एक गौ के अन्दर मानव-सुलभ अनुराग की उपस्थिति दिखलाई गई है। हीरा की गौ है। हीरा उसे प्यार करता है। वह हीरा को प्यार करती है। मजबूर होकर हीरा उसे सेठ के हाथ बेच देता है। वह जब सेठ के यहाँ जाती है तो उसका दूध कम हो जाता है। हीरा उससे पूरा दूध देने का अनुरोध करता है। वह कहती है कि वह जान-बूझ कर दूध कम नहीं देती। दूध उतरता ही नहीं तो वह क्या करे! झुंझला कर सेठ उसे वापस कर देता है। इसमें थोड़ी-सी अत्युक्ति है। वह यह कि एक बार गौ रात के समय हीरा के पास चुपके से जाती है। हीरा के पास पहुँचकर उसमें इतनी ममता पैदा हो जाती है कि उसका दूध जो बह निकलता है तो प्रातःकाल लोग उसे देखकर आश्चर्य में पड़ जाते हैं। 'पंचतंत्र' या 'हितोपदेश' की कथाओं की तरह इसमें भी यह पशु—गौ—मानव की बोली बोलता है। 'चिड़िया की बच्ची' (१९३८ ई०) नामक कहानी में भी चिड़िया मानव की बोली बोलती है। इस कहानी में ऐश्वर्य और स्नेह की तुलना है। चिड़िया सेठ का वैभव त्याग कर अपनी मां के पास जंगल में भाग जाती है। उसका यह कार्य एवं उसकी यह भावना आधुनिक युग की प्रवृत्तियों के अनुकूल है। इन कहानियों को मनोवैज्ञानिक कहानियाँ मानने का मेरा अधिक आग्रह नहीं है। कहना केवल यही है कि मनुष्य ने अपनी मनोभावनाओं का विस्तार पशु जगत तक भी किया है।

अस्तु, ये मनोवैज्ञानिक कहानियाँ आज के युग के मानव-मन की प्रायः सभी अवस्थाओं को, जिनमें प्रीति, वासना, दया, करुणा, विद्रोह, क्रांति, आदि हैं, वार्तालाप, अनुभाव एवं व्याख्या आदि के द्वारा उपस्थित करती हैं। इनमें वास्तविकता के

साथ-साथ कुछ विशिष्टता रहती है किन्तु व्यापक प्रभाव की दृष्टि से ये अपने उद्देश्य में सफल हैं।

कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जिनमें कल्पनाओं के अथवा भावनाओं के चित्रण का ही प्राधान्य रहता है। यह ठीक है कि प्रत्येक साहित्यिक कृति में इन दोनों का समावेश होता है। किन्तु इन कहानियों में ये तत्त्व इतने अधिक रहते हैं कि उनके आगे कहानी का और सब-कुछ फीका लगने लगता है और यदि उनको निकाल दिया जाय तो जो कुछ बाकी रह जायगा वह बिल्कुल नगण्य रह जायगा। कोई भी कल्पना या भावना किसी तत्त्व या तथ्य को आधार बनाये बिना नहीं पनप सकती। अब यह बात दूसरी है कि उसको आधार बना कर उड़ने वाली कल्पनाएँ इतनी या इस तरह की हों कि उस काल्पनिकता-भरे वातावरण के आगे आधारभूत तत्त्व या तथ्य नगण्य-सा हो जाय। यह तथ्य मनोवैज्ञानिक, धार्मिक एवं विश्वास संबंधी होता है। यह तथ्य नींव के पत्थर की तरह होता है जिसके ऊपर बना हुआ महल एवं उसकी सुन्दरता ही सब-कुछ होती है। गोपाल नेवटिया ने 'वीथिका' नामक कहानी संग्रह (१९३९ ई०) में 'मंदिर की ओर' शीर्षक कहानी भी दी है। यह कल्पना या भावना प्रधान कहानी है। इनमें जन्माष्टमी के दिन एक बालक के मन में श्रीकृष्ण जन्मोत्सव देखने की इच्छा का वर्णन है। बच्चा हठ करता है और मां बार-बार उसे मंदिर जाने से मना करती है। वह बच्चे को छोड़ कर चली जाती है। पानी बरस रहा है। बच्चा अपने को नहीं रोक पाता। वह गिरता-पड़ता मंदिर की ओर चलता है किन्तु वहां पहुँचने के पहले ही मर जाता है। इसी प्रकार प्रफुल्लचन्द ओझा 'मुक्त' की 'चरणचिन्ह' (१९२७ ई०) नामक कहानी में भी भावुकता-भरे चित्रों की ही प्रधानता है। उपासक शाश्वत भक्ति चाहता है। वह तपस्या प्रारम्भ करता है। तपस्या घोर से घोर तर होती जाती है। देवता वरदान देने के लिये आता है। भक्त अपने भगवान से यही वर मांगता है। लालच छोड़ चुका है। उसको तपस्या ही स्वीकार है। उसे लगता है कि देवता आ गये। वह बढ़ता है किन्तु हन्त! मरीचिका! लौट कर दूने उत्साह से तपस्या प्रारंभ कर देता है। इस मरीचिका का कारण क्या था? देवता के 'चरण चिन्ह'। स्पष्ट है कि इस प्रकार के कथानकों में कल्पना की मुक्त उड़ान के लिये पर्याप्त क्षेत्र रहता है। इन कहानियों की भाषा संस्कृतनिष्ठ हिन्दी होती है। उनमें कवित्त्वपूर्ण वातावरण के चित्रण, प्रकृति के सुन्दर और सुरम्य चित्रों की अभिव्यंजना, नाद-ध्वनि की व्यंजना, हृदय को मुग्ध कर देने वाले तत्त्व, बहुत रहते हैं। इनके चित्र गद्य काव्य की तरह लगते हैं। ऐसी जिन कहानियों में मासूम भावना का चित्रण होता है वहाँ ये कहानियाँ मर्म को छू कर कसक पैदा कर देने की शक्ति रखती हैं। १९२६ ई० में लिखी हुई 'सागरतट' नामक कहानी में एक ऐसे भावुक और नन्हें बालक की मातृ-चाह का चित्रण है जिसकी मां मर चुकी है :—

कल्पना या भावुकता प्रधान कहानियाँ

"मरा आदमी क्या फिर लौट आ सकता है ?"

"नहीं। क्यों ?"

बालक ने उत्तर न दिया। चुपचाप समुद्र का गर्जन सुनने लगा। उसके मन में कितने ही विचार आ रहे थे। वह सोच रहा था—"मर जाने पर आदमी स्वर्ग में जाता है। स्वर्ग कहां है ? क्या इस नीले आसमान में —नहीं, समुद्र के उस पार तो अवश्य ही है। वहां कैसे जाया जाता है ? नाव से ? इन लहरों से नाव डूब नहीं जाती ? स्वर्ग में अम्मा हैं, मैं भी जाऊंगा। मेरी अम्मा मिलेंगी। पर यदि अम्मां से भेंट न हुई ? क्यों बहिन—"हठात् चिन्ता स्रोत में बाधा पड़ी। उसका हृदय व्याकुल हो गया। बहिन की गोद में मुंह छिपा कर रो पड़ा। बहिन भी रो पड़ी। संसार के एक मात्र बंधन—जीवन-मरुभूमि की एकमात्र छाया—शोक की एकमात्र शान्ति—भाई के मर जाने पर उसकी क्या हालत होगी? आँख के आँसू पोंछ कर उसने पूछा—"रोते क्यों हो भैया ?"

रोते-रोते बालक ने कहा—"तुम तो चलोगी नहीं ?"

"कहाँ भाई ?"

"उस पार—अम्मां के यहां।"

युवती ने बालक की वेदना समझी। बोली —"चलूंगी क्यों नहीं, दद्दा !"

"चलोगी ? मेरे साथ ?"

"हां, तुम्हारे ही साथ। तुम्हें छोड़ मैं कहां रहूँगी !"

आनन्द से बालक का हृदय भर गया।"

हास्य-व्यंग्य-मय चित्रण

प्रायः सभी अच्छी कहानियों में कुछ न कुछ वाक्य या स्थल ऐसे मिल जाते हैं, जो हँसा दें या छोटा-मोटा व्यंग्य कस दें। महादेवी वर्मा के संस्मरण चित्रों में इस तरह की-बहुत सी रेखायें मिलती हैं। उनका एक शुद्ध हास्य देखिये :—

"पर २७ वर्ष की अवस्था में मुझे १८ वर्षीय लड़की और २८ दिन के नाती का भार स्वीकार ही करना पड़ा।"[१]

इसी प्रकार सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने 'सुकुल की बीबी' में हँसी की है:—

"वली मुहम्मद कहता था, जब ये लोग हाकी में नाचते हैं, बी चोटियां सर पर ठेका लगाती हैं।"

उसी पुस्तक से एक और उदाहरण लीजिए :—

"सुकुल-जैसे चोटी के एकांत उपासकों से चोटी की आध्यात्मिक व्याख्या कई बार सुनी थी, पर सग्रंथि बालों के बल्ब में आध्यात्मिक इलेक्ट्रिसिटी का प्रकाश न मुझे कभी देख पड़ा, न मेरी समझ में आया।"

व्यक्ति के ऊपर किया गया एक व्यंग्य देखिए :—

---

१. 'अतीत के चलचित्र' (१९४१ ई०)

"......................चतुरी चतुर्वेदी (बनारसीदास चतुर्वेदी) आदिकों से संत साहित्य का अधिक मर्मज्ञ है। केवल चिट्ठी लिखने का ज्ञान होने के कारण एकक्रिय होकर भी भिन्न फल है—वे पत्र और पुस्तकों के संपादक हैं, यह जूतों का।"

वृद्ध के साथ गरीब की सुन्दर लड़की के विवाह और उसके अन्त पर व्यंग्य करते हुए शिवपूजन सहाय 'कहानी का प्लाट' (१९२८ ई०) नामक कहानी में लिखते हैं :—

"भगजोगनी जीती है। आज वह पूर्ण युवती है। उसका शरीर भरा-पूरा और फूला-फला है। उसका सौन्दर्य उसके वर्तमान नवयुवक पति का स्वर्गीय धन है। उसका पहला पति इस संसार में नहीं है। दूसरा पति है—उसका सौतेला बेटा !"

इसी प्रकार यशपाल, 'पहाड़ी', 'अज्ञेय', रांगेय राघव आदि की कहानियों में व्यक्ति एवं समाज की प्रवृत्तियों पर किए गए व्यंग्य प्रधान सैकड़ों वाक्य मिलते हैं।

जिन कहानियों में ऐसे चित्रण की ही प्रधानता होती है वे हास्य कहानियां या व्यंग्य कहानियां कहलाती हैं। हास्य की सृष्टि कई प्रकार से होती है। किसी बड़े आदमी की सनक या उसकी किसी कमजोरी (पत्नी से डरना, आदि) के चित्रण से हास्य उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता है; जैसे, 'शिक्षार्थी' की 'नई कला' (१९४३ ई०) में एक प्रोफेसर का चित्रण है :—

"उनकी नेकनीयती का सुबूत भी है। एक बार बेचारे घंटों परीशान घूमते रहे कि घर में क्या लाने को कहा गया था। रह-रह कर प्रोफेसर साहब गांठ टटोलते (रूमाल की स्मरण-ग्रंथि) और खीझ-खीझ कर सोचते। बाद को उन्हें ध्यान आया कि यह गांठ रूमाल की गांठ नहीं है, बल्कि उनके गले की टाई की गांठ थी जिस पर उनकी उंगलियां इतनी देर से खेल रही थीं।"

दूसरे की बात को गलत समझना भी, और ऐसा गलत समझना कि गलत जो कुछ समझा जा रहा है, वह वस्तुतः किसी भी दशा में उस वस्तु के लिए उचित नहीं, हास्योत्पादन का एक साधन बनाया गया है। उदाहरण के लिए उपर्युक्त कहानी के प्रोफेसर से उनकी एक कक्षा में कुछ लड़कियां फैन्स के लिए चन्दा मांगने जाती हैं। अंग्रेज़ी में फैन्स के दो अर्थ हैं—एक है पंखे; दूसरा, प्रशंसक। प्रोफेसर समझता है कि लड़कियां अपने प्रशंसकों की व्यवस्था करने के लिए चंदा मांगती हैं और लड़कियां समझती हैं कि प्रोफेसर साहब पंखे को ध्यान में रखकर ही उनसे प्रश्न कर रहे हैं। इसी प्रकार अत्युक्ति से पूर्ण बात या चित्रण के द्वारा हास्य की सृष्टि की जाती है। उसी प्रोफेसर की जेब में क्या-क्या वस्तुएं रहती हैं, इसको बताते समय पचासों वस्तुओं के नाम गिना दिये। उनमें कुछ बेकार की चीज़ें भी हैं; जैसे, कंकड़ आदि।

नीचे लिखी शैलियां भी हँसी पैदा करने के लिए अपनाई जाती हैं :—

---

१. 'निराला': 'चतुरी चमार' (१९४५ ई०)

"आदमी से ही भूल होती है," प्रोफेसर साहब अपनी समझ में पत्नी को क्षमा-दान-सा देते ।

"हां, भूल आदमी से ही होती है ; पर औरत से नहीं होती ।" और बेचारी बिना उस वस्तु के काम चलातीं ।"

यहां आदमी के भिन्न-भिन्न अर्थ लेने ही के कारण यह सवाल-जवाब हुआ ।

"उलझन बढ़ती गई, परीशानी बढ़ी, पर पैर नहीं बढ़ सके; ....।"

यहां उलझन और परीशानी के बढ़ने के साथ-साथ पैर का बढ़ना कहा गया है। ये दोनों भिन्न-भिन्न क्षेत्र की असमान वस्तुएं हैं, जिनको एक क्रिया के साथ लाकर हँसाने की कोशिश की गई है । "दिमागी पनचक्की" का प्रयोग भी ऐसा ही है । ऐसा ही असाम्य यहां भी है :—

"अभिप्राय यह कि विमला का घर मेरे लिए मंदिर, मस्जिद, काबा, बुतखाना ही नहीं, बल्कि स्टेशन, घंटाघर, अस्पताल, थाना, सब-कुछ था ।"

'सज्जन' जैसे प्रचलित शब्द के साथ 'सज्जना' का प्रयोग भी हँसा देता है । इसी प्रकार, वकालत चलने के लिए एक वकील साहब ने जज साहब के लड़के खिलाये, उनके लिए बाजार से तरकारियाँ लाए । अपने वकील साथियों को देख कर बचने के लिए भागे, तो धोती खुल गई । अब धोती बांधते हुए दौड़ रहे थे । यह असाधारण परिस्थिति हास्योत्पादक है । शुद्ध हास्य संबंधी एक और वाक्य 'बनारसी एक्का' (१९३२ ई०) का देखिए:—"मैंने लड़कपन में सुन रक्खा था कि पशु को भी मामा पुकारने पर दया आ जाती है । घोड़ा होता, तो मामा कहता । मेरे मुख से निकल पड़ा–'मामी, बस करो ।' यह दशा उस बेचारे की हुई जो डिप्टी इन्स्पेक्टरी के कम्पटीशन के लिए घोड़े की सवारी सीख रहा था । घोड़ी उसे लेकर सरपट भाग चली थी ।

"प्रोफेसर साहब यदि महात्मा जी थे तो श्रीमती जी उन्हें डराने में कायदे आजम जिन्ना से कम न थीं ।"

पत्नी को कायदे आज़म जिन्ना कहना अत्युक्ति एवं असाम्य की वह सीमा है जो हँसाने का सामर्थ्य रखती है । दिल का हाई जम्प करना भी कुछ ऐसा ही है, जो बेढब बनारसी ने 'बनारसी एक्का' (१९३२ ई०) में कराया है । 'शिक्षार्थी' की 'अंग्रेज़ी सुहाग रात' में पति की जिस सनक का चित्रण है वह यथार्थ तो नहीं किन्तु पक्के मूर्ख की अवश्य है । ऐसे व्यक्ति को देख-सुन कर हंसी आ ही जाती है ।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क', बेढब बनारसी, अन्नपूर्णानन्द आदि ने व्यंग्य और हास्य की सुन्दर कहानियां लिखी हैं । 'अकबरी लोटा' कहानी में अन्नपूर्णानन्द ने बिलवासी मिश्र की बुद्धिमता का वर्णन किया है । एक अंग्रेज इसलिए बिगड़ा हुआ था कि मिश्र जी के एक मित्र का लोटा गिर कर उसके लग गया था । बात बिगड़ रही थी कि मिश्र जी पहुंच गए और यह कह कर, कि वह लोटा अकबरी था, अंग्रेज़ को चकित कर दिया । वह

लड़ने-के बजाय लोटा खरीदने पर उतारू हो गया। मित्र महोदय को रुपये मिल गए। उस अंग्रेज ने आखिर में यह बात बताई कि अब उसके देश में उसका अपना मित्र, जो यहीं भारत से जहांगीरी अंडा ले गया था, उससे बढ़-बढ़ कर न बोल सकेगा। जहांगीरी अंडे वाली यह बात भी हँसाती है। इन कहानियों में भाषा और शैली हास्य का कारण है।

'अश्क' की व्यंग्यात्मक कहानियों का व्यंग्य विषय पर आधारित है, प्रत्येक वाक्य पर नहीं। 'चपत' (१९३६ ई०) शोर्षक कहानी में उन पर व्यंग्य है जो राह-चलते लड़कियों से सफल रोमांस करने का दम भरते हैं। बलवन्त को ख्याल था कि वह बहिन जी को जीत लेगा। इसलिए वह नुमाइश भर में उनका पुछल्ला बना घूमता रहा। कभी पानी लाकर पिलाता है। कभी उसके खरीदे सामान स्वयं ले लेता है। अंत में उसके घर तक पहुँचाने जाता है। व्यंग्य अंत में बहन जी की कही बात से स्पष्ट होता है। वे अपनी बहन से कहती हैं कि जब देखा कि यह हज़रत पीछे पड़े हैं तो सोचा कि जाता क्या है; चलो, मुफ्त का मजदूर मिल गया। इसी प्रकार 'केवल जाति के लिए' शीर्षक कहानी (१९३३ ई०) मानव कि स्वार्थ वृत्ति पर व्यंग्य करती है। डा० शर्मा नेताओं के पुनर्विवाह पर आक्रोश प्रकट करते हैं। जब अपनी बारी आती है तो अपनी ओर से कुछ अधिक रुपये देकर भी शादी कर लेते हैं। कारण बतलाते हैं कि यह जाति के लिए किया है। ऐसा न करते तो अपनी जाति की इस लड़की का उद्धार कैसे होता! होली आदि के अवसर पर निकलने वाले पत्र-विशेषांकों में ऐसी हास्य या व्यंग्य की कहानियाँ खूब निकलती हैं। साप्ताहिक पत्रों; जैसे, 'समाज', 'संसार' आदि में भी सामयिक तत्त्वों को लेकर व्यंग्य प्रधान कहानियां लिखी गई हैं। इतना होने पर भी यह मानना पड़ता है कि हास्य या व्यंग्य कहानियाँ कम हैं—उच्चकोटि की ओर कला-पूर्ण तो और भी कम!

हिन्दी में बहुत-सी ऐसी कहानियां लिखी गई हैं जिन्हें हम कथानक प्रधान कह सकते हैं। इन कहानियों में न तो मनुष्य की प्रकृति के किसी रहस्य पर प्रकाश पड़ता है और न उस वातावरण का ही कोई विशेष चित्रण मिलता है जिसमें रह कर किसी व्यक्ति विशेष का चरित्र बनता या निखरता है। श्री कृष्ण लाल ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' में लिखा है कि इनमें "उन उलझनों पर विशेष जोर दिया जाता है जो विविध चरित्रों के विविध परि-स्थितियों में पड़ने के कारण पैदा हो जाती है"। ये कहानियां राय कृष्णदास के 'सुधांशु' शीर्षक कहानी संग्रह की कहानियों से जिनमें घटनाओं के विकास पर नहीं, बल्कि मानव की मनोवृत्तियों एवं चरित्र के विकास पर ध्यान दिया जाता है, ठीक उलटी पड़ती हैं। कहानी सामान्यतः क्या होती है?—घटनाओं और उनकी विचित्रताओं और उनके कारण मनुष्य के मन पर पड़ने वाले हलके प्रभाओं का वर्णन। माँ-दादी से

अन्य
१—कथानक प्रधान कहानी

सुनी हुई कहानियों का रूप प्रायः ऐसा ही होता था। विकसित होकर कहानी अपने उस स्वरूप को छोड़ तो चुकी है किन्तु कथानक प्रधान एवं कार्यक्रमात्मक कहानियों में उसका यह रूप थोड़ा-बहुत अब भी पाया जाता है। सद्गुरुशरण अवस्थी के 'फूटा शीशा' कहानी संग्रह की एक कहानी में 'झुरही' का चित्रण है। यह झुरही पहले "केले की भाँति कोमल, किसलय की भाँति सुकुमार और फूल की भाँति सुगन्धित थी।" १६ वर्ष की यह कन्या ३६ वर्ष के एक तेली जमींदार के साथ ब्याही गई। दोनों में अनुपम प्रेम था। एक रात डाकुओं ने ज़मींदार साहब को मार डाला। झुरही को भी उठा ले गये और एक दिन "चतुष्पदों के खुरों से मसली हुई अनायास पतिता एक कली की भाँति मार्ग के कोने पर निसंज्ञ पड़ी हुई" झुरही पुलिस वालों को मिली। अस्पताल से निकली तो समाज ने सभी दरवाजे बन्द कर दिये। तीन दिन वह पति के घर के द्वार पर पड़ी रही मगर बेकार। और, अन्त में रघुबर तेली के घर बैठ गई। दोनों का स्वार्थ था। झुरही को चरस की बेहद आदत थी। अन्त में दोनों एक दूसरे के लिए बोझ हो गए। झुरही को चरस ने चूस लिया, गरीबी ने रघुबर को। फिर मार-गाली तक नौबत पहुँची। एक दिन झुरही की एक प्यारी चीज—फूटे शीशे वाली सुहाग की डिब्बी—खो गई। रघुबर ने आखिर में ढूंढ़ कर दिया तो झुरही ने समझा कि उसी ने चुराई थी। इसी आवेश में वह उसका घर छोड़ कर कानपुर से लखनऊ आ गई। वहाँ वह गरीबी एवं मानसिक वेदना के कारण पागल हो गई और एक दिन एक मोटर से दब कर मर गई। यह सारी की सारी कहानी कथानक प्रधान है। इसमें विनोद का डाकुओं के द्वारा मारा जाना, झुरही का डाकुओं द्वारा दलित-मर्दित होना, रघुबर के यहाँ उसकी सुहाग-डिब्बी का खोया जाना एवं रघुबर के द्वारा उसका मिलना, आदि ऐसी बातें हैं जो झुरही के चरित्र को मोड़ देती रहती हैं। यहाँ झुरही का चरित्र कहानी के कथानक पर नहीं, बल्कि कथानक झुरही के चरित्र पर प्रभाव डालता है। प्रेमचन्द, सुदर्शन, 'कौशिक' आदि की कई कहानियाँ कथानक प्रधान हैं। कौन हैं, इनमें मतभेद हो सकता है!

सच बात तो यह है कि अब ऐसी कहानियाँ जिन्हें पूर्णतः कथानक-प्रधान ही कहा जा सके प्रायः नहीं लिखी जा रही हैं। इसका कारण यह है कि मानव-मनोविज्ञान एवं परिस्थितियों के सुन्दर भावपूर्ण एवं कलात्मक चित्रणों की इतनी प्रधानता हो गई है कि प्रायः कोई ऐसा कहानी लेखक जो साहित्य को कुछ भी ध्यान में रक्खेगा अपनी कहानियों में ज्ञात या अज्ञात रूप से इनका समावेश किए बिना रह नहीं सकता। कहानी-कला का कोई भी स्वरूप इनसे बचा नहीं। यही कारण है कि कथानक प्रधान कहानियों में भी ये मिल जाते हैं। कथानक की प्रधानता रहे किन्तु वातावरण और चरित्र-चित्रण नगण्य नहीं हो सकता। होमवती देवी, कमला त्रिवेणी शंकर, प्रेमचन्द, 'कौशिक', वाचस्पति पाठक आदि लेखकों की कहानियों में कथानक और चरित्र चित्रण

साथ-साथ रहते हैं। यशपाल आदि कहानीकार कथानक के साथ वातावरण—विशेष रूप से सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक वातावरण—रखते हैं।

कथानक प्रधान कहानियों और कार्य प्रधान कहानियों में सब से बड़ा अन्तर यह है कि जहां कथानक प्रधान कहानियां कथानक के साथ-साथ चरित्र और वातावरण भी देती हैं—और कभी-कभी बहुत अच्छी-अच्छी देती हैं—वहाँ इन कहानियों में केवल कार्य पर ही जोर रहता है। कथानक का मोड़ इस ढंग से होता रहता है कि उसके कारण कार्य में जितनी तीव्रता और उत्सुकता पैदा हो जाती है उसके बीच प्रकृति के अलंकार-पूर्ण चित्र एवं मनोविज्ञान के रहस्यों के समाधान असामयिक लगेंगे। इनसे संबंधित एकाध चलती बातें ही कही जा सकती हैं। इनमें यह न प्रधान तत्त्व हो सकता है, न महत्त्वपूर्ण, और न किसी भी प्रकार उल्लेखनीय। उससे उत्सुकता, कुतूहल एवं आश्चर्य वृत्ति की ही तृप्ति हो सकती है। जासूसी, साहसिक आदि कहानियां कार्य प्रधान कहानियां होती हैं। श्री राम शर्मा की शिकार-कहानियां; जैसे, 'बाघ से भिडंत' आदि इसी ढंग की हैं। इसमें जब तक बाघ से भिडंत नहीं होती तब तक तो थोड़ा-सा प्रकृति चित्रण, थोड़ा-सा मानव के चरित्र पर प्रकाश, थोड़ी-सी दार्शनिक बातें, आदि रहती हैं, किन्तु जहां बाघ का दर्शन हुआ वहीं सारा का सारा आध्यात्मिक एवं मानवीय दर्शन हवा हो जाता है और कार्य की तीव्रता प्रारंभ हो जाती है। कुछ मासिक पत्रों में अथवा जासूस सिरीज के प्रकाशनों में भी जासूसीकहानियां मिल जाती हैं किन्तु उनमें मौलिकता अथवा चमत्कार बिल्कुल नहीं। ये कहानियां अपना साहित्यिक महत्त्व खो बैठी हैं। कारणों में पहली बात तो यह है कि हमारा आज का समस्त साहित्य—और इसीलिए कहानी साहित्य भी—समस्या प्रधान एवं मनोवैज्ञानिकता प्रधान हो चला है। ये तत्त्व इन कहानियों में अपने लिए समुचित क्षेत्र नहीं पाते। दूसरी बात यह है कि हमारा और हमारे लेखकों का जीवन साहसपूर्ण नहीं है। अध्ययन और चिन्तन मात्र साहित्य में प्राण-प्रतिष्ठा नहीं कर सकता।

कार्य प्रधान कहानियां

इन कहानियों में ऐसा होता है कि लेखक अपनी कहानियों में जो-कुछ कहता है उसका अर्थ केवल वहीं तक सीमित न रह कर किसी दूसरी ओर भी जाता है। ऐसा कई प्रकार से होता है। कभी-कभी तो यह होता है कि कुछ ऐसे पात्र रख दिये जाते हैं जो किसी विशेष तत्त्व के प्रतीक रहें। फिर उस तत्त्व से संबंध रखने वाली उल्लेखनीय बातें किसी कलापूर्ण ढंग से कह दी जाती हैं। (१९४९ ई०) में प्रकाशित 'हरसिंगार' नामक कहानी-संग्रह में संग्रहीत तरुण कलाकार धर्मवीर भारती की 'पूजा' शीर्षक कहानी ऐसी ही है। इसका नायक वैष्णव भक्त-वर्ग का प्रतीक है और नायिका—पूजा—मानव की प्रिय भावनाओं की। नायक पूजा को प्राणाधिक प्यार करता हुआ भी उसे—स्वयं उसकी और अपनी, दोनों की इच्छा के प्रतिकूल—देवता को समर्पित कर देता है। अस्तु,

अन्योक्ति या प्रतीक कहानियां

यह कहानी वैष्णव भक्तों की उस प्रवृत्ति की प्रतीक है जिसके अनुसार उन्होंने अपनी समस्त प्रिय वस्तुएं—लौकिक या अलौकिक एवं भौतिक या मानसिक—अपने आराध्य देव को अर्पित कर दी थीं। मनोविज्ञान और भाषा की रंगीन शक्ति ने मिल कर इस कहानी को उच्चकोटि की कलात्मक रचना का स्वरूप दे दिया है।

कभी-कभी कथा का मोड़ अथवा कहानी का झुकाव उसे अन्योक्ति का रूप दे देता है। सद्गुरुशरण अवस्थी के 'फूटा शीशा' शीर्षक कहानी-संग्रह की नवीं कहानी एक अन्योक्ति है। इस कहानी के प्रमुख पात्र का नाम है निर्मल। यह एक बार काम-प्रेरणा के वशीभूत होकर अपने को और अपने ध्येय को भूल जाता है। चेतना आने पर लौटता है। किन्तु फिर, धीरे-धीरे उसके ऊपर क्रोध का अधिकार होता जाता है। अपनी भूल समझ जाने पर वह पछताता है और अपने को सँभालने का प्रयत्न करता है। तभी अनजाने वह लोभ के जाल में पड़ जाता है। इस प्रकार वह काम, क्रोध, मोह, लोभ, और मद के आकर्षणों में फँसता है और बचता है। विश्व के तमाम आकर्षणों के बोझ के नीचे दब कर उठता है और उठ कर फिर दबता है। स्पष्ट है कि यह कथा मानव-मन और उसके ऊपर काम, क्रोध, लोभ, मोह, और मद, आदि प्रवृत्तियों के पड़ने वाले प्रभाव की ओर इशारा करती है। राय कृष्णदास की 'बीज की बात' (१९३९ ई०) भी एक अन्योक्ति है। किन्तु, फिर भी इतना मानना पड़ता है कि इन कहानियों की संख्या अधिक नहीं है। कदाचित् इसके लिखने और पढ़ने, दोनों में परिश्रम की आवश्यकता है और लोग यह चाहते नहीं!

(शैलियाँ)

वर्णन-वार्ता शैली

जैसा कि इस शैली के नाम से स्पष्ट है, इस शैली के मुख्यतः दो प्रधान भाग हैं। पहला है वर्णन, और दूसरा वार्तालाप या संलाप। पहले कुछ कहानियां केवल वर्णनात्मक शैली में लिखी गई थीं। अब इस अवधि में कदाचित् ही कोई ऐसी कहानी मिले जिसमें आदि से अंत तक केवल वर्णन से ही काम लिया गया हो। केवल वार्तालापों में ही समाप्त होने वाली किसी कहानी के मिलने में भी सन्देह है। इसका कारण यह है कि तब कहानी एकांकी नाटक का एक कलाशून्य रूप धारण कर लेगी। प्रायः यही होता है कि कहानी में कुछ वर्णन भी होते हैं और कुछ वार्तालाप भी। जो बात, जो सौन्दर्य, एवं जो नाटकीयता वर्णन से नहीं आ पाती या नहीं आ सकती वह पात्रों के वार्तालाप द्वारा आ जाती है। केवल वार्तालाप के द्वारा जो बात नहीं कही जा सकती, जिस चित्रण, जिस व्याख्या एवं जिस तत्त्व के लिये किसी तटस्थ दृष्टा-सृष्टा एवं सर्वज्ञ की आवश्यकता होती है उसे कहानीकार स्वयं तटस्थ होकर कह देता है। कहानीकार प्रायः उस तटस्थ व्यक्ति की भाँति होता है जिसका कहानी के अन्दर कोई पार्ट नहीं। वह ऐसे स्थलों पर वर्णन करनेवाले सूत्रधार या व्याख्या करने वाले (कमेन्टेटर) की तरह होता है। पहले कहानियों और उपन्यासों में लेखक प्रत्यक्ष रूप से आ जाता

था और पाठकों को संबोधित करके सीधे उन्हीं से अपनी बात कहने लगता था। इसमें कोई कलात्मकता एवं वैज्ञानिकता नहीं थी। यह प्रवृत्ति अब बिल्कुल छोड़ दी गई है। भूले-भटके कहीं मिल जाय, तो मिल जाय। किसी भी पुरानी प्रवृत्ति को मिटने के लिए जितना काल चाहिए, बीस-इक्कीस वर्षों का समय उतना नहीं होता। वर्णन और वार्तालाप दोनों मिलकर चरित्र चित्रण, परिस्थिति एवं वातावरण चित्रण, मानसिक द्वन्द्व-संघर्ष चित्रण के सुन्दरतम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वातावरण एवं परिस्थितियों के चित्रण में वर्णन शैली का अधिक उपयोग किया जाता है। कथानक प्रधान कहानियों के लिए संलाप शैली अच्छी है। इस शैली के उदाहरण के लिए किसी भी लेखक की कोई भी अच्छी कहानी ली जा सकती है।

वार्तालाप का स्वरूप यही है कि चरित्र अपनी बातें अपने ही मुख से कहे। प्रायः कहानियों में एक ही नायक होता भी है। अस्तु, चिन्तन धारा इस ओर मुड़ी कि नायक सारी की सारी कहानी अपने ही मुख से कहे। यही ढंग आत्मचरित्र शैली कहलाया। जैसा कि ऊपर कहा गया है, इसमें नायक या नायिका ही सारी की सारी बात अपने मुख से कहती है। समस्त कथा उत्तम पुरुष में कही जाती है। महादेवी वर्मा के अपने जीवन के संस्मरण, 'अज्ञेय' की 'अमर वल्लरी' आदि आत्मचरित्र शैली में ही हैं। इनमें कहने वाला अपने मन का विश्लेषण बड़े ही सुन्दर ढंग से करता है। वह अपने भावों और विचारों की अभिव्यक्ति सही लगने वाले ढंग से करता चलता है।

आत्मचरित्र शैली: १. एक पात्र प्रधान

व्यक्ति कुछ भी हो किन्तु सर्वज्ञ नहीं हो सकता। दूसरे की मन की बातें जानने का प्रयत्न कर सकता है। अपने अनुमान के द्वारा वह कुछ निश्चय भी कर सकता है। किन्तु निश्चित रूप से किसी की मनोवैज्ञानिक स्थिति या मनोस्थिति को पूर्ण रूप से इतना समझने का दावा वह कदापि नहीं कर सकता कि उसका विश्लेषण कर सके। फिर, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उसी से संबंधित कोई ऐसी बात किसी से कही गई हो या हो गई हो, जिसको जानने का उसे कोई अवसर नहीं मिल पा रहा है, किन्तु कहानियों में उसकी अभिव्यक्ति आवश्यक है। इन सब कठिनाइयों एवं अस्वाभाविकताओं के कारण आत्मचरित्र शैली का वह रूप सामने आया जिसके अनुसार कहानी के कई प्रधान पात्र बारी-बारी से अपनी-अपनी कहानी सुना जाते हैं और इस प्रकार सुनाते हैं कि कहानी की कथावस्तु का विकास होता रहे। कभी-कभी एक पात्र एक से अधिक बार भी सुनाने आ सकता है। सुदर्शन की एक सुप्रसिद्ध कहानी—'कवि की स्त्री'—इसी शैली में है। इसमें सावित्री, सत्यवान आदि पात्र बारी-बारी से अपनी कहानी सुनाते रहते हैं और कहानी पूरी होती रहती है।

२. अनेक पात्र प्रधान

इसी शैली का एक दूसरा रूप है जिसे पत्र शैली कहते हैं। इसमें दो-तीन प्रमुख पात्र अपनी-अपनी ओर से पत्र भेजते हैं। वे पत्र ही कहानी का विकास करते हैं।

पत्र शैली

भगवती प्रसाद वाजपेयी की 'अपराधी के पत्र' शीर्षक कहानी (१९३८ ई०), और विनोद शंकर व्यास की 'अपराध' शीर्षक कहानी इसी शैली में है। 'छलिया' नामक उनकी कहानी में पहले पत्र पढ़ने को मिलता है। फिर वर्णन के द्वारा उन पत्रों के रहस्य का उद्घाटन किया जाता है। इन पत्रों में पत्र-सुलभ स्वाभाविकता नहीं रहती। रह भी नहीं सकती, क्योंकि तब कहानी का समुचित विकास असंभव हो जायगा।

एक पात्र प्रधान आत्मचरित्र शैली का एक अन्य रूप हमें डायरी शैली में मिलता है। बेढब बनारसी की 'लेखक की डायरी' (१९३५ ई०) शीर्षक कहानी इसी

डायरी शैली

शैली में है। डायरी शैली में डायरी का डायरीपन नहीं रहता। समय पर याद कर लेने के लिए डायरियों में प्रायः जिस तरह थोड़े में बातें लिखी जाती हैं, वैसे ही यदि इन कहानियों में लिखी जायँ तो कहानी का कहानीपन समाप्त हो जाय। यह शैली लोकप्रिय नहीं हुई।

कुछ कहानियां ऐसे लिखी जाती हैं कि कोई व्यक्ति सो गया। सपने में उसने जो-कुछ देखा वही लेखक की कहानी हो जाती है। यह कहानी स्वप्न शैली की कहानी

अन्य

कही जा सकती है। स्वप्न दर्शक का सोना इस ढंग से दिखाया जाता है कि पाठक को इसका पता नहीं चलता। अन्त में जब पत्नी या ऐसे ही किसी के जगाने पर स्वप्न दर्शक की आँख खुलती है तब उसके साथ पाठक भी आश्चर्यान्वित हो उठता है। 'अज्ञेय' की 'चिड़ियाघर' शीर्षक कहानी (१९४४ ई०) इसी शैली में है। नायक को सब-कुछ देखना भाता है। केवल चिड़िया घर से उसको चिढ़ है। उसकी पत्नी है कि उसे चिड़ियाघर ही देखना पसन्द है। मर-झख कर नायक उसे लेकर चिड़ियाघर जाता है और वहां मानव की क्रूर स्वार्थपरायणता के कई स्वरूप देखता है। अन्त में उसकी पत्नी उसे चिड़ियाघर के इस सपने से जगा कर चिड़ियाघर ले चलने का प्रस्ताव करती है।

कुछ कहानियां ऐसी भी होती हैं जिनके कथाक्रम को कभी-कभी एक विशेष स्थान पर छोड़ देना पड़ता है। एक उप-अध्याय की भाँति आगे किसी दूसरी जगह से कहानी आरंभ करनी होती है। उसे भी एक जगह छोड़ना होता है। इसी प्रकार होता रहता है। अन्त तक पहुंचते-पहुंचते सबका संबंध एक दूसरे से अपने-आप जुड़ जाता है। इस उप-अध्याय का विभाजन कोई 'एक', 'दो', 'तीन' आदि शीर्षक देकर करता है; जैसे, प्रफुल्ल चन्द ओझा 'मुक्त' ने 'चरण चिन्ह' में किया है; कोई 'प', 'ना', 'ग' आदि शीर्षक देकर, जैसे 'मुक्त' ने ही 'सपना' शीर्षक कहानी (१९२८ ई०) में किया है। शैली या उसके स्वरूप से संबंध रखने वाले ये छोटे-मोटे प्रयोग हुआ करते हैं।

(विशेष)

इन कहानियों में कोई नवीन साहित्यिक कला नहीं होती है। ये कहानी-कला के विकास एवं उसकी प्रौढ़ता में किसी प्रकार उपयोगी नहीं। इनकी उपयोगिता केवल इतनी है कि ये वेद, पुराण, महाभारत एवं उपनिषद् आदि ग्रंथों की कहानियों को हिन्दी में उपस्थित करती हैं। अपनी तरफ से कुछ जोड़ा नहीं जाता। प्रयत्न इस बात का किया जाता है कि संस्कृत शब्दों के तत्सम रूप आदि के प्रयोग के द्वारा उस समय का वातावरण भी इन कहानियों में उपस्थित कर दिया जाय। यदि संभव हो सके तो कहानियां कुछ आधुनिक ढंग से लिखी जायँ। बलदेव उपाध्याय, रामप्रताप त्रिपाठी आदि लेखकों ने इस प्रकार के प्रयत्न किए हैं। बलदेव उपाध्याय के 'वैदिक कहानियां' शीर्षक कहानी-संग्रह (१९४६ ई०) की कहानियां संहिता, ब्राह्मण एवं उपनिषद् आदि ग्रंथों से ली गई हैं। उदाहरण के लिए 'पतिव्रता' शीर्षक कहानी ले लीजिए। इसका आधार है :—

प्राचीन साहित्य की कहानियां

ऋ० वे०	१।११६, ११७, ११८;
ताड्य ब्राह्मण	१४।६।११;
निरुक्त	४।१९;
शतपथ ब्राह्मण	कांड ४;
नीतिमंजरी	पृ० ८१, ८४;
पुराण भागवत	स्क० ९, अ० ३।

यह कहानी च्यवन भार्गव तथा सुकन्या मानवी की है।

कुछ कहानी संग्रह ऐसे भी प्रकाशित हुए हैं जिनका आधार सत्य घटनाएं हैं। ये प्राचीन महापुरुषों, ऐतिहासिक महापुरुषों एवं आज के योग्य पुरुषों के जीवन की उल्लेखनीय घटनाओं के आधार पर लिखी जाती हैं। साहित्यिक मूल्य इनका भी कुछ नहीं होता। ये राष्ट्र की नवीन पीढ़ी के काम आती हैं। हंसराज एम० ए० की 'आदर्श कथा मंजरी' (१९३३ ई०) या श्याम नारायण कपूर की 'जीवट की कहानियां' (१९३९ ई०) आदि संग्रहों में ऐसी ही कहानियां हैं। इनमें जासूसी कहानियों और जीवन गाथाओं का सम्मिलित आनन्द मिलता है। पहली पुस्तक के अन्दर 'तानसेन' की संगीत कला का चमत्कार, 'संसार की जल यात्रा' में पड़ने वाले समुद्र के साहसी जीवन आदि का वर्णन है। दूसरी पुस्तक हिमालय की चढ़ाई, दक्षिणी ध्रुव की खोज, विज्ञान वेदी की हवि, घोड़े पर दस हजार मील, आदि का वर्णन है। मि० अर्नेस्ट विलियम ने समुद्र के अन्दर मगर-मच्छों से युद्ध करने के उस सीन को कैमरे के सामने उपस्थित कर दिया जिसके लिए उन्हें समुद्र के हिंस्र-जन्तुओं से सचमुच लड़ना पड़ा था और जिसके लिए उन्हें अपनी जान जोखिम में डालनी पड़ी थी।

जीवन कहानियाँ

कहानी-कला की दृष्टि से तो नहीं, किन्तु लोक-अध्ययन की दृष्टि से इन कहानियों के संग्रहों का बहुत बड़ा महत्त्व है। ये कहानियां ग्राम्य जीवन में अथवा मां-बहनों के बीच प्रचलित हैं और उनके विश्वास आदि पर प्रकाश डालती हैं। इन संग्रहों में से कुछ साहित्यिक (स्टेंडर्ड) हिन्दी में रूपांतरित कर दी जाती हैं; जैसे, शिव सहाय चतुर्वेदी का 'बुंदेलखंड की ग्राम-कहानियां' (१९४७ ई०) शीर्षक संग्रह ; और कुछ अपने प्रचलित रूप में ही रक्खी जाती हैं; जैसे, सत्येंद्र द्वारा संपादित 'ब्रज की लोक-कहानियां" (१९४९ई०)। सत्येंद्र ने इन कहानियों का वर्गीकरण भी किया है; जैसे, १. देव कहानी, २. चमत्कारों की कहानी, ३. कौशल की कहानी, ४. जान-जोखिम की कहानी, आदि। इनके शीर्षक यों हैं:—'नारद कौ घमंड दूर करचो,' 'सपने कौ देसु' आदि। इन कहानियों की भाषा देखिये :—

लोक-कहानियाँ

"एक घेन्नी, वो खाइवे कमाइवे चली। आगें आगें वर पायौ। वर नें कही : घेन्नी घेन्नी ! कहां चली ? घेन्नी ने कही : पेट भरन खसम करन", आदि।

१९२६ ई० में महावीर प्रसाद गहमरी द्वारा संग्रहीत 'बुढ़िया पुरान' कहानी-संग्रह में व्रत और त्यौहारों के अवसर पर मां-बहनों के द्वारा कही जाने वाली कहानियों को संग्रहीत किया गया है। त्यौहारों का महत्त्व भी दे दिया गया है।

हरिवंश राय 'बच्चन' की निम्नलिखित कहानी देखिए :—

चुन्नी-मुन्नी

"मुन्नी और चुन्नी में लाग-डाट रहती है। मुन्नी ६ वर्ष की है, चुन्नी पाँच की। दोनों सगी बहनें हैं। जैसी धोती मुन्नी को आए, वैसी ही चुन्नी को। जैसा गहना मुन्नी को बने, वैसा ही चुन्नी को। मुन्नी 'ब' में पढ़ती थी, चुन्नी 'अ' में। मुन्नी पास हो गई, चुन्नी फेल। मुन्नी ने माना था कि मैं पास हो जाऊंगी, तो महाबीर स्वामी को मिठाई चढ़ाऊंगी। मां ने उसके लिए मिठाई मँगा दी। चुन्नी ने उदास होकर धीमे से अपनी मां से पूछा, "अम्मा, क्या जो फेल हो जाता है वह मिठाई नहीं चढ़ाता ?"

बहुत छोटी कहानियाँ

इस भोले प्रश्न से माता का हृदय गद्गद् हो उठा। "चढ़ाता क्यों नहीं बेटा", —मां ने यह कह कर उसे अपने हृदय से लगा लिया। माता ने चुन्नी के चढ़ाने के लिए भी मिठाई मँगा दी।

जिस समय वह मिठाई चढ़ा रही थी , उस उसय उसके मुँह पर संतोष के चिन्ह थे, मुन्नी के मुख पर ईर्ष्या के, माता के मुख पर विनोद के, और देवता के मुख पर झेंप के !"

उपर्युक्त कहानी लघु-कहानी-कला का प्रौढ़तम नमूना है। इस सीधी-सादी कहानी में एक ऐसी तड़प है, एक ऐसा विद्रोह है, एक ऐसी टीस है, जो प्रायः बड़ी-बड़ी कहानियों में भी नहीं मिलती। हिन्दी की लघुतम कथा का यह बहुत सुन्दर उदाहरण है।

अंग्रेजी में ऐसी कहानियाँ बहुत हैं, हिन्दी में बहुत कम। १९४६ ई० के अगस्त मास की 'सरस्वती' में हरीमोहन लाल श्रीवास्तव ने भी दस छोटी-छोटी कहानियां छपवाई थीं। वे भी अच्छी हैं। इन सब को हम कथा-गीत कह सकते हैं।

कहानी की पैरोडी

इसे हास्य प्रधान कहानियों का एक अंग विशेष कहा जा सकता है। इससे किसी बड़े लेखक की कोई अच्छी-सी कहानी ले ली जाती है। उसी की शैली का अनुमान करते हुए, लगभग उसी के समानान्तर रह कर, हास्य की अवतारणा की जाती है। विषय वस्तु में अन्तर रहता है। कथानक का स्वरूप, कथावस्तु की गति, कहानी की शैली, वाक्यों का स्वरूप एवं उनकी प्रवृत्ति, आदि लगभग एक-सी रहती है। इसे यों समझा जा सकता है कि मान लीजिए, किसी राजा के साथ कोई विदूषक हो। राजा जो कुछ करता हो विदूषक भी वही करे। राजा के क्रिया-कलाप में गंभीरता रहेगी। विदूषक प्रतीयमान गंभीरता के साथ राजा के वे ही समस्त क्रिया-कलाप—यहां तक कि उनकी भाषा का व्यवहार भी—इस ढंक से करे कि बरबस हँसी आ जाय। ऐसी कहानियाँ अधिक नहीं लिखी गईं। शारदा प्रसाद वर्मा 'भुशुंडि' ने इस दिशा में कुछ सफल प्रयोग किए हैं। १९४७ ई० के मई मास की 'माधुरी' में प्रकाशित 'स्कूल खुलने के बाद' शीर्षक उनकी कहानी गंगाप्रसाद मिश्र की 'चर्खे के बाद' शीर्षक कहानी ('माधुरी'; अप्रैल १९४६ ई० में प्रकाशित) की पैरोडी है। उन्होंने इसमें अपने पात्रों के नाम भी हास्योत्पादक रक्खे हैं; जैसे, 'कलम-कान्त', 'दवायत चन्द्र', 'लेखनी बाला, आदि। १९४६ ई०के मई मास की 'माधुरी' में प्रकाशित उनकी 'चिमिरिखी ने कहा था' शीर्षक कहानी चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की अमर कहानी—'उसने कहा था'—की पैरोडी है। इसके कुछ स्थल देखिए:—

'उसने कहा था'	'चिमिरिखी ने कहा था'
'बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ी वालों की ज़बान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है, और कान पक गए हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बंबू कार्ट वालों की बोली का मरहम लगावें।	'प्राइमरी मदरसों के मुदर्रिसों की ज़बान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है, और कान पक गये हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि वे विश्वविद्यायल के प्रोफेसरों, लड़कों तथा लड़कियों की बोली का मरहम लगावें।'
....	....
'तेरे घर कहां हैं?' 'मगरे में; और तेरे?' 'मांझे में,—यहां कहां रहती हैं?'	'आप कहां पढ़ती हैं?' 'आई०टी० कालिज में; और आप?' 'यूनिवर्सिटी में। आप यहां कहां रहती हैं?'

'अतरसिंह के बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं।'

'मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरुबाजार में है।'

. . . . . .

'कुछ दूर जाकर लड़के ने मुस्करा कर पूछा—'तेरी कुड़माई हो गई ?'

'. . . . 'धत्' कह कर लड़की दौड़ गई और लड़का मुँह देखता रह गया।

. . . . . .

'कल'—देखते नहीं, यस रेशम से कढ़ा हुआ सालू।'

. . . . . .

'राम राम, यह भी कोई लड़ाई है।'

. . . . . .

'गनीम कहीं दिखता नहीं...'

. . . . . .

'न मलूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुई वा पास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।'

. . . . . .

'नहीं साहब शिकार के वे मज़े यहां कहां ? याद है, पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी के ज़िले में शिकार करने गये थे—'हां,हां—वहीं जब आप खोते पर सवार थे और आपका खानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मंदिर में जल चढ़ाने को रह गया था।, आदि

. . . . . .

'मृत्यु के कुछ पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म भर की घटनाएं एक-

सिविल लाइन में अंकिल के साथ।'

'मैं' मुकारिम नगर में मामा के यहां रहता हूँ।'

. . . .

'कुछ दूर चलकर लड़के ने पूछा—'आप कविता भी करती हैं ?'

'आप से मतलब?'—कह कर लड़की आगे निकल गई और और लड़का मुँह ताकता रह गया।'

. . . . . .

'हां, करती तो हूँ, देखते नहीं ! इस मास की 'माधुरी' में मेरी एक कविता प्रकाशित हुई है।'

. . . . . .

'राम राम, यह भी कवि-सम्मेलन है।'

. . . .

मिटाई-नमकीन तो कौन कहे, किसी ने एक बून्द पानी तक की खबर न ली !

. . . . . .

'बेईमान, न जाने किस इन्तज़ाम में फँसे हैं कि इधर आने का नाम तक नहीं लेते।'

. . . . . .

'आप तो बड़ी जल्दी चोला झाड़ कर आ गये, मगर वह आनन्द यहां कहां, जो रायबरेली के कवि-सम्मेलन में था, जिसके संयोजक स्वयं तूफान मेल जी थे। कितनी सुन्दर रचनाएँ थीं, हुदहुद जी की। वाह-वाह, आपने भी उन्हे खूब सयझाया था कि सूरदास की चौपाइयों में टियर गैस का असर हैं, केशव की कुंडलियां ऐटम बाम का काम करती है, विहारी वीर सर के रसिक थे।'. . . . . .आदि

. . . . . .

'आधी रात बीत जाने के बाद नींद हल्की आती है। दिन भर की चिन्ताएँ

एक कर के सामने आती हैं............'

....

'वज़ीरासिंह, पानी पिला।'

....

'स्वप्न चल रहा है, सूबेदारनी कह रही हैं—'मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये.............पर सरकार ने हम तीमियों की एक घंघरिया पलटन क्यों न बना दी, जो मैं भी सूबेदार जी के साथ चली जाती.......एक दिन टांगे वाले का घोड़ा दही वाले की दूकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे.......ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।'

......

'कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—फ्रांस और बेलजियम—६८ वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं०७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।'

एक-एक करके उसके सामने स्वप्न में परिणत होती जाती हैं............'

....

'मजोरा जी, सिगरेट पिलाइये।'

....

'स्वप्न चल रहा है। चिमिरखी जी कह रही हैं—'मैंने आपको आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये, पति एम० ए० बी० एफ० (मैट्रिक अपियर्ड बट फेल्ड) मिले........पर हम अबलाओं को पुलिस जैसा अधिकार क्यों न दिया, जिससे हम कवि-सम्मेलनों में हूटिंग करने वालों को बिना वारेंट जेल में ठूंस देतीं। मेरे चिर-परिचित, आप को याद है? एक बार आपने हजरतगंज के चौराहे पर मुझको गिरने से बचाया था। आज वैसे ही श्री पति जी की लाज आपको बचानी है।................मेरी यही भिक्षा है। आप के आगे ऐनक उतारती हूँ।'

......

'दूसरे दिन समाचार-पत्रों में लोगों ने पढ़ा—

बेली गारद विराट कवि-सम्मेलन में गला बर्स्ट हो जाने से असफल हुए, प्रथम श्रेणी के महाकवि खंजन।'

हल्की कहानियां

आधुनिक हिन्दी कहानियों का अध्ययन करते समय एक बात जो स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है वह यह है कि आजकल कहानियां जितनी लिखी जा रही हैं अपने साहित्य का और कोई अंग उतना नहीं; किन्तु प्रणीत कहानी साहित्य का बहुत अधिक भाग किसी काम का नहीं। कला की दृष्टि से वह अत्यन्त निम्न कोटि का है और समाज के कल्याण की दृष्टि से वह बिल्कुल बेकार है। उससे केवल इतना होता है कि जो हल्के मस्तिष्क वाले होते हैं वे अपनी यात्रा का फालतू समय सस्ते मनोरंजन में बिता सकते हैं। खाली बैठा नहीं रहा जा सकता, तो मस्तिष्क इसी में बझा रहेगा। पढ़े-लिखे विद्यार्थी भी, जिनके मन के अर्द्धचेतन एवं अचेतन भाग में छिपी तरुणाई की वासना

अनिष्टकारी कहानियां

हल्की प्रेम-कहानियां एवं सस्ता रोमांस बहुत पसन्द करती है, प्रायः इन्हें पढ़ते हुए पाये जाते हैं। यह छिछला मनोरंजन समाज में बड़ी उच्छृंखलता फैला रहा है। मनचाही लड़की से विवाह न कर पाने पर आत्महत्या करा देने वाली घातक भावुकता के प्रसार का उत्तरदायित्व इन कहानियों पर बहुत है। देश की नवीन पीढ़ी की शक्ति को नष्ट करने के लिए ऐसी कहानियों के लेखक और सम्पादक दोनों दोषी हैं।

निम्नकोटि की कहानियां

ऐसी कहानियों के चरित्र चित्रण में न कोई विशेषता होती है, कथानक में न कोई नवीनता होती है, शैली में न कोई आकर्षण होता है और न इनका कोई अपना उद्देश्य ही होता है। इनकी भाषा में कोई विशेष साहित्यिकता भी नहीं होती। हिन्दी की जो शैली प्रायः प्रचलित है उसी में ये लिखी जाती हैं। जीवन का जो रूप ये कहानियां हमारे सामने उपस्थित करती हैं वह हमारे समाज के किसी भाग में नहीं पाया जाता। सामाजिक रूप से ऐसा जीवन कहीं भी नहीं मिलता। यदि कहीं किसी परिवार में कोई उदाहरण मिल जाय तो वह स्वयं अपने वर्ग के लिये ही त्याज्य अपवाद होगा। उसकी सामाजिकता की तो कोई बात ही नहीं! ये कहानियां युवक-युवती, उनके आकर्षण-विकर्षण, वफा और जफ़ा, भावनाओं के घात-प्रतिघात और परिणाम स्वरूप आत्महत्या, विवाह एवं आजन्म अविवाहित रहने वाली बात को लेकर लिखी जाती हैं। अभिनेत्रियों के अंग-प्रत्यंग पर टीका-टिप्पणी करने वाले भी असफल प्रेम, या प्रेमिका के अन्यत्र विवाहित हो जाने पर आजन्म अविवाहित रहने की बात करते हुए सुने जाते हैं। इनकी शादी कर भी दी जाय, तो ये अपना दाम्पत्य जीवन कटुतम कर लेते हैं। तर्क करने पर अपनी बात के खोखलेपन को स्वीकार करते हुए भी वे वास्तविकता की ओर नहीं बढ़ते और न उसे साहसपूर्वक अपनाते हैं। इन कहानियों ने ऐसा वातावरण पैदा कर दिया है कि नैतिक दृष्टि से नवयुवक वर्ग खोखला होता जा रहा है। उसके चरित्र में ठोसपन नहीं रह गया है। यह ठीक है कि समाज में विधवा के पतन और उसको पतित करने वाले पुरुष के द्वारा मिलने वाले धोखे के उदाहरण पर्याप्त मिल जायंगे, किन्तु विधवा और युवक का मिलन किस प्रकार हुआ और युवक किस प्रकार एक दूसरी लड़की पर अनुरक्त होकर इस गर्भवती को धोखा दे गया, यह चीज जिस प्रकार इन कहानियों में दिखाई जाती है वह अपने समाज में बहुत कम क्या—शायद नहीं ही मिलेगी। इन्हीं छोटी-छोटी बातों से कहानी का वातावरण निर्मित होता है। पढ़ने वाले के मस्तिष्क पर इस वातावरण का ही अधिक प्रभाव पड़ता है। और, इन कहानियों में यही अनिष्टकारी एवं अवास्तविक होता है। कभी-कभी इन कहानियों का परिणाम आदर्शवादी एवं कल्याणकारी दिखा दिया जाता है किन्तु वह प्रभावहीन होता है। 'सजनी', 'साजन', 'मनोहर कहानियां' तथा 'माया' आदि की अधिकांश कहानियां ऐसी ही रही हैं जो हमारे साहित्य को न आगे बढ़ाती हैं और न प्रौढता प्रदान करती हैं। कलाप्रिय मस्तिष्क के लिए वे बेकार हैं।

समालोचना तथा साहित्य का इतिहास

प्रस्तुत अध्याय को सुविधा के लिए दो विभिन्न भागों में बाँट लिया गया है। पहले भाग में कवियों एवं लेखकों और उनकी कृतियों पर लिखी गई समालोचनाओं का अध्ययन है। इस अध्याय का उपशीर्षक समालोचना ही है। दूसरे भाग में हिन्दी साहित्य के इतिहास से संबंधित सामग्री है। इसका उप-शीर्षक 'साहित्य का इतिहास' है। इन दोनों को एक ही अध्याय के अन्दर इसलिये रक्खा गया है कि इनके अध्ययन में बौद्धिक दृष्टिकोण की ही प्रधानता रही है। आलोचना, विवेचना एवं विश्लेषण के साथ-साथ बुद्धि-प्रधान तर्क-वितर्क दोनों ही में पाया जाता है। इस प्रकार इनका मूल एक ही है और वह है मानव मस्तिष्क।

समालोचना और इतिहास

समालोचना

विकास

१९२६ ई० के पूर्व हिन्दी का समालोचना साहित्य अपने शैशव काल में था। फिर भी इस युग के साहित्य में कुछ प्रौढ़तम रचनाएं मिल जाती हैं; जैसे, 'भ्रमर गीत सार' (१९२५ ई०), 'जायसी ग्रंथावली' (१९२६ ई०) और 'तुलसी ग्रंथावली' (१९२३ ई०) की भूमिकाएं, आदि। पर ये अपवाद हैं और उस युग की अधिकांश समालोचनाओं में बौद्धिक प्रौढ़ता, निष्पक्षता, वैज्ञानिकता आदि की कमी थी।

शैशवकाल

रामचन्द्र शुक्ल की प्रसिद्ध भूमिकाएं और इस कोटि की कुछ अन्य पुस्तकें हिन्दी समालोचना के शैशवकाल की समाप्ति की सूचनाएं हैं। उनके पहले समालोचना के नाम पर जो रचनाएं होती थीं उनकी प्रेरणा में व्यक्तिगत संबंधों की कटुता या स्निग्धता, अथवा पुस्तक या लेखक के परिचय देने की इच्छा अथवा इसी तरह की अन्य भावनायें थीं। शुद्ध समालोचना के दृष्टि-कोण से लिखी गई चीजों में भी लेखकों की अपनी-अपनी रुचि की प्रधानता रहती थी। आलोच्य यदि आलोचक को जँच गया तो बस, उसकी प्रशंसा के पुल बँध जायंगे—चाहे वह महफिली तर्ज पर हो और चाहे विद्वानों के ढंग पर। अपनी बात की पुष्टि के लिए अ-हिन्दी साहित्य से भी तुलना के रूप में सहायता ले ली जाया करती थी। यदि किसी ने उसी की टक्कर के किसी दूसरे बड़े कवि की प्रशंसा करते हुए उसे श्रेष्ठतर सिद्ध करना चाहा तो उत्तर-प्रत्युत्तर की भरमार हो जाती थी। आवश्यकता पड़ने पर दलबंदी भी अनुचित नहीं समझी जाती थी। इस में जब तक शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण रहता था तब तक तो गनीमत रहती थी। उससे आगे बढ़ने पर खासे वाद-विवाद का आनन्द आने लगता था। व्यक्तिगत आक्षेपों को

शैशवकाल की प्रवृत्तियां

पढ़ते-पढ़ते दो दूकानदारों के वाग्युद्ध का चित्र मस्तिष्क के सामने सजीव हो उठता था। इस युग में यह चीज़ बिल्कुल खतम हो गई हो, ऐसी बात तो नहीं है लेकिन उसके स्वरूप में विद्वत्ता की अधिकता ने उसके रंग को बदल जरूर दिया है। चंद्रबली पांडे, आदि लेखकों के कुछ आलोचनात्मक लेख इसके प्रमाण हैं। गुणों और दोषों को एक-एक करके गिनाते चलने को भी समालोचना ही कहा जाता था। इन सबसे और चाहे जो-कुछ होता रहा हो, किन्तु आलोच्य का वास्तविक—अंतः और बाह्य—स्वरूप अपनी संपूर्णता के साथ हमारे सामने कभी उपस्थित नहीं हो पाता था।

परिवर्तन की प्रेरणाएं

१९२६ ई० के आसपास के समय में परिस्थितियां बदल चली थीं। नवीन सांस्कृतिक करवटें, उच्च कक्षाओं में हिन्दी का अध्ययन, पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति पर हिन्दी साहित्य एवं हिन्दी के साहित्यिकों को समझने की इच्छा और उसके लिए किए गए प्रयत्न, भाषा की बढ़ी हुई तथा निरन्तर बढ़ती ही चलने वाली अभिव्यंजना शक्ति, और रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास आदि के व्यक्तित्त्व ने हिन्दी के समालोचना साहित्य में एक क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया। रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वानों की लिखी हुई गम्भीर एवं वैज्ञानिक समालोचनाओं ने पहले की हल्की-फुल्की समालोचनाओं की निस्सारता सिद्ध कर दी। वे निष्प्रभ हो गईं। उनका कलेवर बदल गया। उनको अस्तित्व में लाने वाली प्रवृत्तियां अन्तर्मन की किसी अंधेरी गुफा में जा छिपीं, सो बात दूसरी है; किन्तु लेखकों का प्रयत्न यही रहा कि वे इसी नवीन वैज्ञानिक एवं विद्वत्तापूर्ण ढंग से समालोचनाएं करें।

अन्तर्मन की किसी तह में उन प्रवृत्तियों के छिप जाने की बात अभी-अभी इस लिए कही गई है कि वे प्रवृत्तियां नई ढंग की समालोचनाओं में भी मिलती हैं। चंद्रबली पांडे की कुछ रचनाओं में वाग्युद्ध वाली प्रवृत्ति का उल्लेख किया जा चुका है। यहां उदाहरण लीजिए। चंद्रवली पांडे ने 'साहित्य संदीपनी' (१९४७ ई०) में 'राधा की तत्त्व चिन्ता' नामक निबंध में लिखा है :—

पिछले काल की प्रवृत्तियों की उपस्थिति

"तिवारी जी ने दर्प के साथ पूछा है—

"पांडेय जी मुझ पर रूठे हैं, परन्तु क्या उन्हें अपने गुरुवर श्री रामचन्द्र शुक्ल की मिश्रबंधुओं के विषय में निम्न सम्मतियों का भी पता है ?"

जी नहीं, भला मुझे उन सम्मतियों का पता कैसे होता ? न मैं जेल गया हूँ, न मैं देश-विदेश घूमा हूँ, न मुझे महापुरुषों के सत्संग का सौभाग्य प्राप्त है, न राजनीतिक क्षेत्र में मैं काम करता रहा हूँ, और न मैंने कई पत्रों का सम्पादन ही किया है। मैं तो साधारण नियम का अपवाद हूँ। पर क्या आप कृपया बतलाने का कष्ट करेंगे कि जो का० वि० विद्यालय के विद्यार्थी बड़े योग्य होते हैं, वे क्या आप के पढ़ाये होते हैं अथवा उन्हीं

छिछले और बूढ़े 'बुढ़भसी' समालोचकों या साहित्यिकों के? तिवारी जी! कुछ तो होश सँभाल कर बातें कीजिये! आप मिश्रबंधुओं की बातें जाने दीजिये । स्वयं देखिए, आप में शब्द के प्रयोग तथा समझने की कितनी शक्ति है। आप लिखते हैं:—

"आपने अपने श्रीमुख से अनेक बातें लिखने की कृपा की है।"

"आप ही कहें, आप अपने श्रीमुख से किस प्रकार और कितना लिखते हैं?"

'विवेचना' (१९४८ ई०) के 'आलोचना में अनाचार' शीर्षक निबंध में इलाचन्द जोशी ने १९४३ ई० के जून मास के 'विशाल भारत' और १९४७ ई० के अगस्त मास के 'साहित्य संदेश' में प्रकाशचन्द्र गुप्त द्वारा लिखे गये उन दो निबंधों का उत्तर दिया है जो उनकी कला और उनके व्यक्तित्त्व पर भ्रामक और अनुचित ढंग से आक्षेप करते हुए लिखे गये थे। इनमें गुप्त जी और जोशी जी दोनों लेखकों के व्यंग्य और कटाक्ष कभी-कभी वांछित संतुलन खो बैठे हैं। 'हिन्दी साहित्य—बीसवीं सदी' (१९४३ ई०) में नन्द दुलारे वाजपेयी ने अपने और प्रेमचन्द के बीच होने वाले उत्तर-प्रत्युत्तर का जो विवरण दिया है वह उच्चकोटि की आलोचना पुस्तक में दिये जाने योग्य नहीं है। अवध उपाध्याय और प्रेमचन्द के बीच भी इस प्रकार के उत्तर-प्रत्युत्तर हो चुके हैं। सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' का १९२८ ई० में लिखित और 'प्रबन्ध प्रतिमा' में संग्रहीत 'कला के विरह में जोशी बंधु' लेख इसी ढंग का है। रुचि की अनुकूलता और प्रतिकूलता के आधार पर लिखी गई समालोचनाएं भी मिल जाती हैं। प्रतिकूलता के आधार पर लिखी गई समालोचनाएं जरा कम मिलती हैं। इसका कारण यह है कि उनसे लेखक की अस्वस्थ, एकांगी एवं पक्षपात पूर्ण प्रकृति बड़े ही स्पष्ट रूप से प्रकाश में आ जाती है। और, इसे जरा अच्छा नहीं समझा जाता! लेखक इससे प्रकाश में जरूर आ जाता है लेकिन यह यश नहीं, कुयश है। कृष्णानन्द गुप्त की 'प्रसाद जी के दो नाटक' (१९३३ ई०) नामक समालोचना-पुस्तक इसका उदाहरण है। प्रशंसात्मक समालोचनाएं इन संभावनाओं से मुक्त रहती हैं। वे बड़े रोबदाब एवं कलात्मक ढंग से सामने आती हैं। उनमें विद्वत्ता रहती है। एक क्रम रहता है। विवेचनात्मकता रहती है। छोटी से छोटी बातों पर ध्यान दिया जाता है। कुछ दोष भी गिना दिये जाते हैं। इतना सब होने पर भी मूल प्रेरणा छिपती नहीं। पाठक के मस्तिष्क पर मूल प्रभाव वही पड़ता है जो लेखक के मन में प्रेरणा की जगह रहता है। इस युग में लिखी गई अधिकांश समालोचनाएं इसी तरह की हैं। रामनाथ लाल 'सुमन' की 'प्रसाद की काव्य-साधना' (१९३८ ई०), विनोदशंकर व्यास की 'प्रसाद और उनका साहित्य' (१९४० ई०), आदि पुस्तकें इसी तरह की हैं। भूमिका के रूप में लेखक या कवि की कृति की अंतरंग और बहिरंग परीक्षा करके उसकी कृतियों के कुछ उदाहरण पुस्तक के शेषांश में देने की जो रीति रामचन्द्र शुक्ल ने 'भ्रमरगीत सार', आदि में अपनाई थी उस रीति पर भी पुस्तकें लिखी गईं; जैसे, रामकुमार वर्मा की 'कबीर का रहस्यवाद' (१९३१ ई०),

परशुराम चतुर्वेदी की 'मीराबाई की पदावली' (१९४१ ई०), आदि। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग में हमें पिछले युग की कई प्रवृत्तियां मिलती हैं। इस तथ्य की स्वीकृति में हीनता या नाराजगी की कोई जरूरत नहीं क्योंकि प्रवृत्तियों का तिरोभाव सहसा नहीं होता।

फिर भी, यह एक तथ्य है कि हमारे इस अध्ययनकाल की समालोचनाओं का स्तर पिछले काल की समालोचनाओं से बहुत ऊंचा है। इसका सबसे अधिक श्रेय रामचन्द्र शुक्ल को है। आज का अधिकांश समालोचना-साहित्य रामचन्द्र शुक्ल की निकाली हुई पद्धति के इर्द-गिर्द ही चला है। सीधे-सादे शब्दों में कहें तो उनकी समालोचना-पद्धति का स्वरूप यह है कि वे अपने आलोच्य के जीवन और उसकी परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में उसके आदर्श और उसकी शक्ति को परखते हैं। फिर, लोक-संग्रह और रसवाद की कसौटी पर लेखक की कृतियों की विवेचना करते हुए उसका मूल्यांकन करते हैं। किसी तथ्य या सिद्धान्त की पहले व्याख्या कर दी। उसके बाद लेखक की कृतियों से उसके उदाहरण देते हुए कृतियों की मार्मिकता का उद्‌घाटन कर दिया। लेखक की विशेषताओं का उल्लेख भी यथास्थान कर दिया।

काव्य की नवीन समालोचनाओं का स्वरूप

काव्य की समालोचना करते हुए समालोचकों ने प्रायः स्वरूप, भाव और भाषा की विवेचना वाली पद्धति अपनाई है। कृष्णशंकर शुक्ल की 'कविवर रत्नाकर' (१९३५ ई०), 'केशव की काव्य कला' (१९३४ ई०), विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की 'बिहारी की वाग्विभूति' (१९३६ ई०), गंगा प्रसाद सिंह अखौरी की 'पद्माकर की काव्य साधना' (१९३४ ई०), आदि पुस्तकें इसी पद्धति पर लिखी गई हैं। छोटे-मोटे, एक-आध नवीन तथ्यों का समावेश पद्धति को बदल नहीं सकता। स्वदेशी और विदेशी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में सिद्धान्तों के सहारे किसी विशेष धारा या कवि का एक या कई दृष्टियों से गंभीरतम अध्ययन भी हुआ है; जैसे, रामकुमार वर्मा का 'कबीर का रहस्यवाद' या हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'सूर साहित्य' (१९३६ ई०) या 'कबीर' (१९४२ ई०) था प्रभुदयाल मीतल का 'अष्टछाप परिचय' (१९४७ ई०), आदि। इसी प्रकार देश-विदेश के श्रेष्ठतम कवियों से तुलना करते हुए भी अपने यहां के कवि-कुल-शिरोमणियों का अध्ययन हुआ है; जैसे, राज बहादुर लमगोड़ा का 'विश्व साहित्य में रामचरित मानस' (१९४० ई०)। 'गुप्त जी की कारुण्य धारा' (१९४२ ई०) में धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने मैथिली शरण गुप्त के काव्य के एक अंग का उदाहरणों के सहित अध्ययन उपस्थित किया है। यह भी रामचन्द्र शुक्ल की पद्धति से अलग नहीं। इन सभी समालोचनाओं में लेखक की बौद्धिक विवेचना सराहनीय है।

गद्य साहित्य के विभिन्न अंगों की समालोचना के लिए रामचन्द्र शुक्ल की कोई विशेष महत्त्वपूर्ण कृति या स्पष्ट पद्धति हमारे सामने नहीं थी। उनके 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के कुछ अंशों से इसमें सहायता मिल सकती थी। शेष रास्ता अपने आप तय

करना था। यही हुआ भी। उपन्यास, कहानी, नाटक, आदि की समालोचना प्रायः इस ढंग से हुई है कि समालोचक उपन्यास आदि की परिभाषा, उनके रूप के विभिन्न भागों की श्रेष्ठता, आदि की विवेचना कर देते हैं। इसके बाद उन्हीं के आधार पर आलोच्य को परख कर उसके विषय में अपना निर्णय किसी न किसी रूप में दे देते हैं। सामाजिक और मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का भी सहारा ले लिया जाता है। यह सब विवेचन अवसर-अवसर पर अपने एवं अन्य भाषाओं के प्रमुख विद्वानों के निष्कर्षों से पुष्ट होता है। अन्य विद्वानों के निष्कर्षों की भी यथासंभव विवेचना कर दी जाती है। इस प्रकार की समालोचनाओं का स्तर समालोचक की विद्वत्ता, उसके अध्ययन, उसके चिन्तन की मौलिकता एवं उसकी उद्भाविका शक्ति पर अधिक निर्भर रहता है।

गद्य-साहित्य की समालोचनाओं का स्वरूप

हिन्दी के समालोचना साहित्य का एक स्वस्थ रूप हमें विभिन्न विश्वविद्यालयों में हिन्दी के विभिन्न अंगों को लेकर डी० फिल० या डी० लिट० के लिये लिखी गई थीसिसों में मिलता है। विवेचनाओं की मौलिकता पर तो अधिक जोर नहीं दिया जा सकता किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि विषय के जिस अंग को जिस दृष्टिकोण से उठाया जाता है वह यथासंभव पूर्णता पर पहुँचा दिया जाता है। उस दृष्टिकोण से जितने पहलू दिखाई पड़ सकते हैं उन्हें देखा जाता है और उन पर जितने प्रकार से उचित प्रकाश पड़ सकता है, डाला जाता है। इन अध्ययनों में कल्पना, भावुकता एवं वैयक्तिकता के स्थान पर गम्भीर अध्ययन, बौद्धिक विवेचन और तथ्यात्मक निर्णय होता है। सुलझन और स्पष्टता इनकी एक प्रमुख विशेषता होती है। इनमें महत्त्व-पूर्ण एवं विवादास्पद तथ्यों पर तर्कों एवं युक्तियों से पुष्ट निष्कर्ष भी दिये जाते हैं। खोज और अध्ययन नये-नये रहस्यों और तथ्यों पर प्रकाश डालते हैं। उनसे नवीन मान्यताओं की प्रतिष्ठा होती है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, वाद-विवाद, और व्यक्तिगत अभिरुचि के कारण धीरे-धीरे हमारे श्रेष्ठ कवियों का वास्तविक स्वरूप हमारी आंखों से ओझल होता जा रहा था। माता प्रसाद गुप्त का 'तुलसीदास' (१९४३ ई०) इसी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। यह अध्ययन एक ओर तुलसीदास के जीवन और उनकी रचनाओं से संबंध रखने वाली महत्त्वपूर्ण तिथियों और तथ्यों पर विद्वत्ता-पूर्वक निष्कर्ष उपस्थित करता है और दूसरी ओर महाकवि की कृतियों से निकलने वाले दार्शनिक, साहित्यिक, आदि सिद्धान्तों को सामने लाता है। ब्रजेश्वर वर्मा की 'सूरदास' (१९४६ ई०), पृथ्वीनाथ कुलश्रेष्ठ की 'मलिक मुहम्मद जायसी' (१९४७ ई०), आदि समालोचना पुस्तकें इसी कोटि की हैं। इन अध्ययनों और समालोचनाओं से हमें अपने समालोचना साहित्य के भविष्य की जो झाँकी दिखाई पड़ती है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

अध्ययन की तटस्थता

हिन्दी समालोचना का एक और महत्त्वपूर्ण कदम दिखाई पड़ रहा है। यहां हमें कवि की किसी विशेष कृति का विस्तृत अध्ययन मिलता है। एक-एक पंक्ति और एक-एक शब्द का पूर्ण अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार उस पुस्तक को पूर्ण रूप से समझने का प्रयत्न किया जाता है। इस अध्ययन को स्वतः समालोचना मानने में आपत्ति उठाई जा सकती है। किन्तु इसमें तो दो मत हो ही नहीं सकते कि वे हिन्दी की प्रौढतम समालोचना के लिए मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं। भगवत शरण उपाध्याय की 'नूरजहां' (१९४१ ई०) पुस्तक ऐसे साहित्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती है।

विशेष अध्ययन

हिन्दी समालोचनाओं का एक रूप अत्यन्त मनोरंजक है। इसमें समालोचक प्रायः स्वप्न शैली या कहानी शैली को अपनाते हैं। आलोच्य के पात्रों को ले लिया गया और उनके चित्रण में उसने जो-जो बातें छोड़ दी हैं या खामियां पैदा कर दी हैं उन्हीं को उन पात्रों के ही द्वारा शिकायत, नालिश या गवाही आदि के रूप में सामने लाया जाता है। गोष्ठी की कल्पना कर के आलोच्य के ही द्वारा कभी-कभी उनके उन सिद्धान्तों की जिन्हें, आलोचक के विचार से, वह मानता है, व्याख्या करवा दी जाती है। एक छोटी-मोटी कहानी के द्वारा कभी-कभी आलोच्य के पात्रों की खूबियों और खामियों को दिखाया जाता है। मनोविज्ञान के रहस्यों से इसमें बहुत मदद मिलती है। आलोचना का यह रूप जितना रोचक होता है उतना ही विद्वत्तापूर्ण भी। नगेन्द्र का 'हिन्दी उपन्यास' शीर्षक लेख ('विचार और अनुभूति' में संग्रहीत) या नरोत्तम प्रसाद नागर का 'शुतुर्मुर्ग पुराण' (१९३८ ई०), आदि ऐसी ही समालोचनाएं हैं।

आलोचना में कथात्मकता

विकास का एक अन्य रूप हमें प्रगतिशील समीक्षाओं में मिलता है। यहां लेखक या कवि को यथार्थ समाज या उसके हित की दृष्टि से परखा जाता है। इस दृष्टि से मन्मथनाथ गुप्त और रमेंद्र वर्मा की 'कथाकार प्रेमचन्द' (१९४७ ई०) नामक समालोचना पुस्तक उल्लेखनीय है। इसमें सर्वप्रथम लेखक के अपने विषय, उपन्यास, की व्याख्या और इतिहास है। तत्पश्चात् लेखक के जीवन की वे बातें प्रकाश में लाई गई हैं जो किसी न किसी रूप में उसकी कृतियों को समझने में सहायक हो सकती हैं। फिर लेखक की एक-एक कृति का सार तत्त्व; जैसे, 'गोदान' आदि का कथानक, थोड़े में लिख दिया गया है। ध्यान यह रक्खा गया है कि उसकी एक भी महत्त्वपूर्ण बात छूटने न पावे। इसके बाद उस कृति विशेष के महत्त्वपूर्ण पात्रों के चरित्र चित्रण की व्यापक विवेचना की गई ह। इस विवेचना का आधार है सामाजिक पृष्ठभूमि। समालोचक द्वय ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पात्रों के चरित्र का इस प्रकार अध्ययन किया है कि पात्रों का वास्तविक चरित्र—उनका खोखला आदर्शवाद आदि—हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है। अन्त में उपन्यास कला के अन्य अंगों की दृष्टि से भी प्रेमचन्द की

यथार्थ समाज और उसके हित की पृष्ठभूमि

उपन्यास कला परखी गई है। इस ढंग की समालोचनाएं हिन्दी में अभी अधिक नहीं हैं किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह हमारे समालोचना साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा।

अभी तक समालोचनाओं का लक्ष्य या तो विद्यार्थी वर्ग था या यह दिखाना था कि हिन्दी में भी उच्चकोटि का साहित्य है। वर्ग विशेष या प्रदेश विशेष की सीमाओं को पार कर के जब हिन्दी आगे बढ़कर विश्व साहित्य के सामने आ रही है और हमारी दृष्टि, शक्ति और भाषा में विकास, विस्तार और प्रौढ़ता आ रही है तब निकट भविष्य में हम और भी प्रौढ़ समालोचनाएं उपस्थित करेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं।

क्षेत्र-विस्तार और भविष्य

प्रकार

हिन्दी के समालोचना साहित्य को कई प्रकार से देखा जा सकता है। आलोच्य कवियों या लेखकों पर की गई समालोचनाएं हिन्दी में बहुत हैं। ये कवि या लेखक असाधारण महत्त्व के होते हैं। इनमें से अधिकांश समय की और समाज की कसौटी पर खरे उतर चुके होते हैं। कम से कम अपने समय और समाज में उनकी मान्यता ईर्ष्या की वस्तु होती है। इस प्रकार तुलसी-दास, सूरदास, कबीरदास, मीराबाई, प्रसाद एवं प्रेमचन्द आदि का अपना-अपना और महत्त्वपूर्ण समालोचना साहित्य है।

व्यक्ति की समालोचना

विषय की दृष्टि से भी हिन्दी में समालोचनाएं लिखी गई हैं। इस प्रकार रहस्य वाद, छायावाद, प्रगतिवाद, रीति परम्परा, भक्ति काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक, लोक गीत, आदि पर लिखी गई समालोचनाओं का स्वतन्त्र रूप से वर्गीकरण किया जा सकता है। इनमें से कुछ का कलेवर बहुत ही क्षीण होगा और कुछ का बहुत ही पीन। कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण होगा और कुछ कम।

विषय की समालोचना

काल की समालोचना

कालों और उनके विशिष्ट अंगों पर की गई समालोचनाएं भी हैं। इनका विस्तृत विवेचन 'साहित्य का इतिहास' उपशीर्षक में होगा।

प्रकाशित पुस्तकों का परिचय कराने के लिये साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में एक स्तम्भ होता है। इसमें पुस्तक विशेष के अंतरंग और बहिरंग रूप की एक झांकी उप-स्थित करने का प्रयत्न किया जाता है। यह हिन्दी-समालोचना साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग हो सकता था लेकिन है नहीं। इसका कारण यह है कि पुस्तक-परिचय करने या करवाने वालों के पास अधिकतर एक ही कसौटी होती है और वह है मित्रता। लेखक अपना मित्र हो या पुस्तक का प्रकाशक 'अपना' ही हो तो 'रिव्यू' अवश्यमेव 'फेवरेबुल' होगी! इस दृष्टिकोण ने हमारे समालोचना-साहित्य के इस अंग को बिल्कुल ही महत्त्वहीन कर रक्खा है।

पुस्तक-परिचय

अपने समालोचना-साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण वर्गीकरण समालोचना की शैली की दृष्टि से किया जा सकता है। इस दृष्टि से निर्णयात्मकता ने समस्त समालोचना साहित्य को आच्छादित कर रक्खा है। इस शैली में आलोच्य के साहित्य का अध्ययन कुछ सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता है। आलोचक उन सिद्धान्तों को सर्वमान्य समझता है। अतएव, पहले उन सिद्धान्तों की सामान्य व्याख्या कर दी जाती है। फिर, स्पष्ट रूप से समझाने के लिए सामान्य तथ्यों उदाहरण दे दिया जाता है। तत्पश्चात् आलोच्य की कृतियों से उदाहरण दिये जाते हैं और यह सिद्ध किया जाता है कि चूंकि आलोच्य का साहित्य उन सिद्धान्तों पर खरा उतरता है अतः श्रेष्ठ है। रामचन्द्र शुक्ल और उनकी पद्धति पर चलने वाले अन्य समालोचकों की आलोचनाएं इसी प्रकार की होती हैं। ऐसी समालोचना के लिए पर्याप्त गंभीरता, सूक्ष्म दृष्टि, और सतर्क अध्ययन की आवश्यकता पड़ती है। भाषा प्रायः संस्कृतनिष्ठ रहती है। पारिभाषिक शब्दों की भी कमी नहीं होती।

निर्णयात्मक शैली

दूसरी शैली विवेचनात्मकता की होती है। इस शैली में आलोच्य के मनोविज्ञान का अध्ययन तात्कालिक ऐतिहासिक, सामाजिक, साहित्यिक एवं दार्शनिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में किया जाता है। तत्पश्चात् यह देखा जाता है कि इस प्रकार के मन और मस्तिष्क वाले व्यक्ति की दृष्टि से उसके साहित्य में कितनी स्वाभाविक और सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। इस अध्ययन को और अधिक महत्त्वपूर्ण बनाने के लिये अपनी भाषा और अन्य भाषाओं के श्रेष्ठ साहित्यिकों से आलोच्य की तुलना कर दी जाती है। तत्पश्चात् आलोच्य और उसके साहित्य का मूल्यांकन किया जाता है। यह बात बहुत आवश्यक नहीं है। इस प्रकार की समालोचनाएं बहुत हैं। गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश' की 'महाकवि हरिऔध', प्रभुदयाल मीतल की 'अष्टछाप परिचय' (१९४७ ई०), इत्यादि अनेक समालोचना पुस्तकें इसी प्रकार की हैं।

विवेचनात्मक शैली

तीसरे प्रकार की समालोचनाएं निगमन शैली की होती हैं। इनमें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सहारा नहीं लिया जाता। आलोच्य की रचनाओं के वैज्ञानिक अध्ययन के द्वारा उसके साहित्य और सिद्धान्त के विषय में महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किये जाते हैं। इस अध्ययन में कल्पना के लिए कम गुंजाइश रहती है। ऐसी समालोचनाएं अभी अधिक नहीं लिखी गई हैं। माता प्रसाद गुप्त का 'तुलसीदास' (१९४३ ई०) नामक ग्रंथ इस दिशा में अग्रणी है। ब्रजेश्वर वर्मा की 'सूरदास' (१९४६ ई०) और पृथ्वीनाथ कुलश्रेष्ठ की 'मलिक मुहम्मद जायसी' (१९४७ ई०) शीर्षक समालोचनाएं इस परम्परा की महत्त्वपूर्ण कड़ियाँ हैं।

निगमन शैली

प्रभाववादी समालोचनाओं की स्थिति बहुत ही नगण्य है। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हो रहा है। आज की वैज्ञानिक समालोचना के आगे किसी व्यक्ति विशेष की रुचियों और भावनाओं के लिये, कवित्वपूर्ण प्रदर्शन के लिये, कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। उपर्युक्त शैलियों की समालोचनाओं के बीच-बीच में कभी-कभी एकाध ऐसे वाक्य आ जायं, तो वह बात दूसरी है।

प्रभाववादी समालोचना

उपर्युक्त सभी प्रकार की समालोचनाएं अपने में थोड़ी-बहुत अपूर्ण हैं। इसलिये हिन्दी की अधिकांश समालोचनाओं में इन अनेक प्रकारों का सुन्दर सामंजस्य मिलता है। उनका स्वरूप विश्लेषणात्मक होता है। उनकी शैली विवेचनात्मक होती है। उनका लक्ष्य निर्णयात्मक होता है। बीच-बीच में प्रभावात्मकता का स्पर्श भी रहता है। और, उनके अन्त में मूल्यांकन होता है। यथासंभव तुलना भी रहती है। इन्हें हम व्याख्यात्मक कह सकते हैं। इनमें आलोच्य के साहित्य की यथासंभव पूर्ण व्याख्या ही रहती है। उदाहरण के लिये शिवनाथ की 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' (१९४३ ई०) नामक समालोचना पुस्तक ली जाती है। इसमें आलोच्य के जीवन का एक चित्र है; उसके साहित्य की पृष्ठभूमि है; उसके साहित्य का वर्गीकरण है; हिन्दी साहित्य में उस एक-एक वर्ग के महत्त्व पर विचार विनिमय है; साहित्य में उसका मूल्यांकन है; गुण दोषों का विश्लेषण है; और यथासंभव तुलनात्मक अध्ययन भी है। इस प्रकार रामचन्द्र शुक्ल के साहित्यिक व्यक्तित्त्व और उनके साहित्य की पूर्ण व्याख्या हो जाती है। इस शैली में हमारे समालोचना साहित्य की कई उच्चकोटि की पुस्तकें पाई जाती है; जैसे, हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'कबीर' (१९४२ ई०), नगेन्द्र का 'सुमित्रानन्दन पंत' (१९३८ ई०), आदि।

व्यवहार में आने वाली समन्वयात्मकता

(सिद्धान्त)

हिन्दी की समालोचनाओं के सिद्धान्तों को बड़ी सरलता के साथ दो भागों में बाँटा जा सकता है। उनमें से पहला और अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण भाग है प्राचीन भारतीय सिद्धान्त। दूसरा सिद्धान्त उससे कुछ कम महत्त्वपूर्ण है और वह है नवीन पाश्चात्य सिद्धान्त। इसके कारण को समझने के लिये हम अपने आधुनिक साहित्य और इसके संबंध पर एक दृष्टि डालेंगे।

दो प्रकार के सिद्धान्त

धीरेन्द्र वर्मा ने 'विचारधारा' (१९४१ ई०) में संग्रहीत 'मध्य देशीय संस्कृति और हिन्दी साहित्य' नामक निबन्ध में लिखा है कि हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य का एक पैर मध्ययुग में है और दूसरा आधुनिक युग में। इसी बात को यों समझा जा सकता है कि हमारे साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण अंग का स्वरूप और उसका मूलस्रोत मध्ययुगीन है और दूसरे का नवीन। हमारे काव्य साहित्य की प्रेरणा और स्वरूप में

अधिक अंश मध्ययुग की भक्ति का है और गद्य साहित्य की प्रेरणा और स्वरूप में अधिक भाग आजकल अर्थात् पश्चिम की विचारधारा का। इसलिये जब काव्य की समालोचना होती है तो उसका सिद्धान्त अधिकतर प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र होता है। उसमें नवीन सिद्धान्तों का उपयोग थोड़ा ही होता है। गद्य साहित्य की आलोचना के समय स्थिति इसके बिल्कुल उल्टी हो जाती है। अस्तु, काव्य की समालोचना करते समय अधिकतर आदर्शवाद, लोक-संग्रह, प्रबंध या मुक्तक, रीतियों, अलंकारों आदि पर दृष्टि रक्खी जाती है। और, जब एकांकी नाटक आदि की समालोचना होती है तो स्वाभाविकता अन्तर्द्वन्द्व, मनोविज्ञान, आदि पर दृष्टि रक्खी जाती है। नीचे हम हिन्दी साहित्य की समालोचनाओं के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का संक्षेप में परिचय देंगे।

हिन्दी साहित्य की रचना में दो दृष्टिकोण

भारतीय सिद्धान्तों के अनुसार जो समालोचना होती है उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी होता है। साहित्य के उद्देश्य की विवेचना इसी दृष्टि से होती है कि वह हमारे जीवन को 'चाहिये' के पथ पर कहाँ तक अग्रसर कर सकता है। इस 'चाहिये' की रूपरेखा भारतीय धर्म और दर्शन के अनुसार निर्धारित होती है। निश्चित है कि भारतीय धर्म और दर्शन व्यक्ति और समाज की शांति-सुख के लिये हैं। उनमें परलोक का महत्त्व इस लोक के महत्त्व से तनिक भी कम नहीं। उसकी धुरी आस्तिकता है। सबकी अपनी-अपनी मर्यादा होती है। उसकी मान्यता पर तनिक भी आँच नहीं पड़ने देना चाहिए। संयम, त्याग, साधना, तपस्या, आदि जीवन की सुख-शांति और सामाजिक एवं राजनीतिक उन्नति के लिये आवश्यक हैं। आदर्शवाद यथार्थ को बिल्कुल छोड़ तो नहीं पाता किन्तु यथार्थ जीवन की उन बातों को साहित्य में आने की आज्ञा नहीं देता जो मर्यादा की दृष्टि से अच्छी नहीं। जीवन में उनकी जीत भले ही होती हो किन्तु साहित्य में उनकी जीत नहीं दिखाई जायगी। साहित्य को इस ढंग का होना चाहिये कि आदर्शों के प्रतीक, नायक, पर आपत्तियां भले ही पड़ें लेकिन वह टूटने न पाये। स्वाभाविक—और यदि इससे संभव न हो तो अस्वाभाविक भी—रीति से उसकी अंतिम विजय निश्चित है। लोक-संग्रह, शील, शक्ति, सौंदर्य, सगुणवाद, आदि इस सिद्धान्त के अनेक अंग हैं।

आदर्शवाद

भारतीय दृष्टिकोण से साहित्य के स्वरूप की जाँच रसशास्त्र की कसौटी पर होती है। यह कसौटी रस को साहित्य की आत्मा मानती है। साहित्य की सफलता रस के पूर्ण परिपाक पर ही निर्भर है। रस के परिपाक के लिये रसशास्त्र के विभिन्न अंगों का सफलतापूर्वक वर्णन होना चाहिये। ये अंग हैं—स्थायी भाव, आलम्बन और उद्दीपन विभाव, अनुभाव, संचारी एवं सात्विक भाव, आदि। रस के परिपाक में इनका कुशल वर्णन अनिवार्य है। विरोधी रसों को एक साथ न लाना चाहिए और यदि लाना आवश्यक ही हो तो समुचित व्यवस्था के साथ लाना चाहिये अर्थात् उनके बीच में किसी तीसरे रस को

रसवादी कसौटी

उपस्थित करके, आदि। इसके अतिरिक्त रीति, गुण, वृत्ति, शब्दशक्ति आदि की दृष्टि से भी साहित्य को परखा जाता है। अलंकारों की विवेचना बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। ये अलंकार भाव और भाषा दोनों की सुन्दरता को बढ़ा देने में समर्थ हैं। शर्त सिर्फ इतनी है कि उनका प्रयोग स्वाभाविक ढंग से हो। छन्द शास्त्र की दृष्टि से भी विवेचना होती है। छंदों की नवीनता या प्राचीनता, तुक, गति, लय, आदि चीज़ें देखी जाती हैं।

समालोचना का यह दृष्टिकोण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसकी कोटि की उच्चता में किसी को भी संदेह नहीं हो सकता। इसके पीछे शताब्दियों का जो गंभीर चिंतन, अध्ययन, और विवेचन है, विश्लेषण की जो सूक्ष्मता है, यथार्थ और आदर्श की जो सुदृढ़ आधारभूमि है, काल की कसौटी की जो सफलता है, वह इसके महत्त्व को पूर्णतः स्पष्ट कर देती है। इतना सब होते हुए भी यह हमारे आधुनिक साहित्य का वास्तविक और यथार्थ मूल्यांकन करने में असमर्थ है। इसके मुख्य कारण दो हैं। पहली बात यह है कि इस सिद्धान्त के अधिकांश अनुयायियों का मस्तिष्क असंतुलित रहता है। वे समझते हैं कि यह सिद्धान्त इतना पूर्ण है कि अब इसमें विकास की बात सोची ही नहीं जा सकती। इस सिद्धान्त की नित्यता पर उनको इतना विश्वास है कि वे केवल इसी कसौटी पर आज के साहित्य को भी कसना चाहते हैं।

नवीन साहित्य के लिये रसवाद की अक्षमता और इसके कारण

अपार श्रद्धा ने उनको एक प्रकार के अंधविश्वास के बहुत ही सन्निकट कर दिया है। इन श्रद्धालुओं में जो नवीनता को थोड़ा-बहुत प्रश्रय देते भी हैं वे भी प्रायः उचित स्थान नहीं दे पाते। ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि युग पूर्ण-रूप से बदल गया है। प्राचीन मूल्य और मान्यताएं अपना स्थान नवीनों को दे रही हैं। परिस्थितियों के फलस्वरूप दृष्टिकोण भी भिन्न हो गया है। इस दृष्टि से देखी हुई चीजों की परख करने वाली कसौटी में भी नवीनता अनिवार्य है। हिन्दी के समालोचना साहित्य में ये नवीनताएं अवसर-अवसर पर अपने लिये स्थान बनाती रही हैं। जब-जब लेखकों के दृष्टिकोण में नवीनता आई है तब-तब ये अवसर आये हैं। निबंध, उपन्यास और कहानी के वर्तमान रूप सोलह, नहीं तो पन्द्रह आने इसी युग के हैं। अतएव जब इनकी आलोचना होती है तब उसमें नवीन सिद्धान्तों का समावेश इसी मात्रा में होता है। एक आना इसलिए छोड़ दिया जाता है कि बेचारा समालोचक वैदिक, बौद्ध और पौराणिक आदि कालों से इसका संबंध स्थापित करने में बड़ी मेहनत करता है! कविता और नाटक की रचना में ज्यों-ज्यों कवि और नाटककार अपने दृष्टिकोण में नवीनता लाता जा रहा है त्यों-त्यों उसकी समालोचनाओं में भी नवीन सिद्धान्त आते जा रहे हैं। फिर भी, प्राचीनता का मोह जल्दी नहीं छूटता। प्रमाण स्वरूप इन विषयों की अधिकांश समालोचना पुस्तकें उपस्थित की जा सकती हैं।

अंधविश्वास

नई समालोचनाओं की आत्मा में यथार्थवाद होता है। यहाँ सफलता की कसौटी होती है यथार्थ जीवन और साहित्य के चित्रण की अनुरूपता। यदि साहित्य के चित्रों का जीवन के वास्तविक या संभाव्य चित्रों से मेल न हो सका तो लेखक अपने उद्देश्य में असफल माना जाता है। जीवन के आदर्श स्वरूप का चित्रण करते-करते लेखक जब एकांगी हो जाता है तो उसका चित्रण प्रायः ऐसा हो जाता है कि वह हमें इतना अच्छा लगने लगता है कि हम उसकी प्रशंसा करते समय कभी तृप्त नहीं होते किन्तु जब उसी को जीवन में अपनाने की बात उठती है तो निन्यानवे प्रतिशत परिस्थितियों में यह संभव नहीं हो पाता है। स्वयं कवि भी ऐसा नहीं कर पाता। नया दृष्टिकोण परिस्थितियों की इस शक्ति को जानता है। विषमताओं से मुक्ति इन परिस्थितियों से भागने से नहीं, वल्कि इनको पूरी तरह समझने से मिलती है। इसीलिये यथार्थवाद वास्तविक परिस्थितियों के चित्रण पर जोर देता है। दृष्टिकोण में एकांगीपन तब आ जाता है जब इस चित्रण को ही ध्येय समझ लिया जाता है। तभी साहित्य में अवांछित की अधिकता भी हो जाती है।

यथार्थवाद

कठिनाई यह है कि यथार्थ उतना आसान नहीं जितना प्रायः समझ लिया जाता जाता है। दुनियाँ में हम जो-कुछ होते हुए देखते हैं वह यथार्थ का बाहरी स्वरूप है। वह एकांगी है। वह सत्य को समझने में कभी-कभी भ्रामक भी सिद्ध होता है। इस बाहरी स्वरूप के आधार पर किये जाने वाले अध्ययन को पूर्णता तभी मिल सकती है जब उसके साथ आंतरिक स्वरूप का भी अध्ययन किया जाय। यह आन्तरिक स्वरूप ही मनोविज्ञान है। यही कारण है कि मनोवैज्ञानिक चित्रण और उसी के आधार पर की जाने वाली समालोचना आज के साहित्य में महत्त्वपूर्ण होती जा रही है। इस मनोविज्ञान को दो भागों में बाँट सकते हैं: १—व्यक्ति का मनोविज्ञान, और २—समाज का मनोविज्ञान। व्यक्ति और समाज एक दूसरे पर अपना प्रभाव डालते हैं। यह प्रभाव अनुकूल भी पड़ता है और प्रतिकूल भी। यह प्रभाव प्रत्यक्ष भी पड़ता है और अप्रत्यक्ष भी। समाज कभी झुक जाता है और कभी व्यक्ति को झुका देता है और तोड़ भी देता है। व्यक्ति कभी विद्रोह कर उठता है। आवश्यकता से अधिक होने वाला यह दबाव मन को विकृत भी कर देता है। वह मन व्यक्ति के जीवन में और उससे संबंधित समाज में अनेक गुत्थियाँ डाल लेता है। राष्ट्रीय और तात्कालिक परंपराएं भी मनोविज्ञान की उलझनों को बढ़ा देती हैं।

मनोविज्ञान

फिर, प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक अलग प्रवृत्ति होती है। परिणामतः व्यक्ति कभी-कभी ऐसी बात कर बैठता है जो सामान्य दृष्टि से बड़ी ही ऊटपटांग लगती है। विरोधी विचारधाराएं उसके अन्तर में ऐसा द्वन्द्व पैदा कर देती हैं कि वह झकझोर उठता है। इन मनोवैज्ञानिक पहेलियों को चित्रित करना और उन्हें हल करना कुशल कलाकार के ही बूते की चीज है। साधारण प्रतिभा इस कार्य में असफल रहती

है। मनोवैज्ञानिक समालोचनाओं में पात्रों के चरित्रों की विवेचना इन्हीं सब दृष्टियों से होती है। हिन्दी में इस प्रकार की मनोवैज्ञानिक समालोचनाएं यद्यपि स्वतन्त्र रूप से बहुत कम हुई हैं किन्तु नवीन समालोचना इसे बिल्कुल छोड़ कर चल ही नहीं पाती। कभी-कभी तो इसकी प्रधानता हो जाती है। वैसे, और भी चीजें रहती हैं। मन्मथनाथ गुप्त और रमेन्द्र वर्मा की समालोचना पुस्तक 'कथाकार प्रेमचन्द' (१९४७ ई०) में इसी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रधानता है। अन्य आधुनिक समालोचनाओं में भी यह तत्त्व अधिकतर पाया जाता है—चाहे वह गौण रूप से हो चाहे प्रधान रूप से।

व्यक्ति और समाज के संघर्षों के आधार पर

स्वरूप की विवेचना में भी पश्चिमी दृष्टिकोण कभी-कभी आ जाता है। उदाहरण के लिये यह देखिए कि काव्य की समालोचना यदि प्रबंध और मुक्तक की दृष्टि से होती है, तो स्वानुभूति एवं बाह्यार्थ निरूपण (Subjective and objective treatment) से भी। यह दूसरा तत्त्व पश्चिम का है। इसी प्रकार नाटकों, विशेषतया एकांकी नाटकों, की समालोचना में चरम संधि (climax) का विचार पश्चिम की ही चीज है। चरम संधि के पश्चात् ही नाटक की समाप्ति की भावना भी भारतीय नहीं है। निबंधों की रूपरेखा की समालोचना की कसौटी भी अधिकांशतः अ-भारतीय है। कहानी या उपन्यास की समालोचना करते समय हम जो पात्र, भाषा, शैली, देश-काल आदि का आधार लेते हैं, वह भी भारतीय परम्परा नहीं है।

बाह्य स्वरूप की समालोचना में पश्चिमी आधार

यहाँ इतना और जान लेना चाहिए कि समालोचना के ये दोनों सिद्धान्त, भारतीय और अंग्रेजी, अपने में अधूरे हैं। कम से कम जहां तक इनका संबंध हिन्दी से है, यह बात बिल्कुल सही है। जिन प्रेरणाओं से हिन्दी में साहित्य-सृजन हो रहा है उनको ध्यान में रखने पर यह बात और भी स्पष्ट हो है। इसलिए इनमें से किसी एक को भी छोड़ने का प्रयास हास्यास्पद होगा। यही कारण है कि हमारे यहां उच्चकोटि की प्रत्येक समालोचना पुस्तक में इन दोनों सिद्धान्तों का मिश्रण रहता है, किन्तु यह मिश्रण दूध पानी का-सा न होकर तिल-चावल की तरह का है।

सिद्धांतों का एकांगीपन

विशेष

निर्भीकता और स्वतन्त्र मौलिक चिन्तन समालोचक के प्रधान गुण हैं। हिन्दी के समालोचकों में ये गुण कुछ कम मात्रा में मिलते हैं। बिल्कुल न मिलते हों, यह बात नहीं है। स्वतंत्र रूप से मौलिक चिन्तन करने वाली प्रतिभाएं हिन्दी में थीं भी, और हैं भी। वे किसी भी साहित्य के एक युग में एक हो दो होती हैं, और वही दशा हिन्दी में भी है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, शांतिप्रिय द्विवेदी, हजारी प्रसाद

द्विवेदी, नगेन्द्र, शिवदान सिंह चौहान, मन्मथनाथ गुप्त, आदि पर कोई भी साहित्य अभिमान कर सकता है। इन समालोचकों को अपने अध्ययन और चिन्तन के बल पर नये-नये सिद्धान्त स्थिर करने पड़े और उन्हीं के आधार पर समालोचना कर के उनके प्रयोग भी दिखाने पड़े। रामचन्द्र शुक्ल ने भारतीय और अंग्रेज़ी, दोनों में से किसी भी सिद्धान्त को तब तक नहीं माना जब तक उन्होंने जीवन और बुद्धि की कसौटी पर उसे कस न लिया। परिणामतः कभी वे पश्चिम के किसी सिद्धान्त की मौलिकता अस्वीकार करते हैं और कभी किसी भारतीय पद्धति को वर्तमान मान्यता पर संदेह करते हैं। पश्चिम के अभिव्यंजनावाद के विषय में वे कहते हैं कि यह हमारे यहां के पुराने वक्रोक्तिवाद का ही नया रूप या विलायती उत्थान है। निर्गुण धारा के कवियों और अलंकारवादियों के प्रति उनका आक्रोश छिपा नहीं है। भाव की शील दशा की अनुभूति उनकी मौलिक विवेचना है। इसी प्रकार अन्य श्रेष्ठ समालोचकों के मौलिक चिन्तन एवं निष्कर्ष उपस्थित किए जा सकते हैं।

निर्भीकता और मौलिक चिंतन

व्यंग्य के रूप में कभी-कभी बड़े तीखे और साहसपूर्ण आक्रमण कर दिये जाते हैं; जैसे :—

आलोचना में व्यंग्य

"नवीनता का विरोध करने के लिये जो लेख लिखे गए उनके पन्ने मैं समझता हूँ पंसारियों के मसाले या वैद्यों की पुड़िया बांधने के काम आ चुके होंगे।"[१]

इसी प्रकार अच्छी से अच्छी वस्तु के खराब से खराब प्रभाव को भी निःसंकोच स्वीकार कर लिया जाता है; जैसे :—

"पुष्टि संप्रदाय के गुसाइयों को श्रीकृष्ण का स्वरूप माना जाता है, इसलिए आत्मनिवेदन के संबंध में 'तन-मन-धन, सब गुसाईं जी के अर्पन' वाली बात आज भी व्यवहार में आती है, किन्तु जब तक ऐसे 'गुसाईं' न हों, जो अर्पित की हुई वस्तु को अनासक्त और निर्लेप भाव से स्वीकार करने की क्षमता ही न रखते हों, बल्कि अपने अलौकिक आचरण से अपने को साक्षात् परमात्मा का स्वरूप सिद्ध न कर दें, और जब तक शिष्य भी ऐसे न हों, जो साधन मार्ग की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त न कर लें, तब तक इस अर्पन का कोई अर्थ नहीं है, बल्कि इससे घोर अनर्थ होने की ही आशंका है।"

स्वीकार साहस

"इनके (मन्दिरों का वैभव, उत्सवों की चमक-दमक, आदि के) द्वारा आरम्भ में पुष्टि संप्रदाय का व्यापक प्रचार अवश्य हुआ, किन्तु बाद में इन्हीं के द्वारा शिष्य समुदाय की विषय-वासना को भी उत्तेजना मिली।"[२]

---

१. विश्वम्भर 'मानव' : 'महादेवी की रहस्य साधना' (१९४४ ई०)

२. प्रभुदयाल मीत्तल : 'अष्टछाप परिचय' (१९४७ ई०)

इतना सब होते हुए भी चिंतन में वह नवीनता या उतनी मौलिकता नहीं जिससे किसी स्वतन्त्र मतवाद की प्रतिष्ठा हो सके। प्रगतिवादी समीक्षा में साहित्यिक चिन्तन कम, राजनीतिक छाया अधिक है।

कभी-कभी तो उच्चकोटि की समालोचनाओं में भी एकाध वाक्य ऐसे मिल जाते हैं जो आलोचक की निर्बलता की ओर संकेत कर देते हैं। श्यामसुन्दर दास ने एक स्थान पर लिखा है कि वे गोस्वामी तुलसीदास को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं किन्तु सूरदास के विषय में कहे गये 'सूर सूर तुलसी ससी............' वाले दोहे को भी अनुचित नहीं समझते। क्या इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कोई ऐसी बात है जिसके कारण दृढ़तापूर्वक एक बात नहीं कही जा रही है। इस प्रकार कई बातें ऐसी दिखाई जा सकती हैं जो स्पष्ट कथन में होने वाली हिचक प्रकट करती हैं।

उपेक्षाभाव अथवा निर्बलता

राष्ट्रीय दृष्टि और प्राचीन साहित्य की श्रेष्ठता की भावना बुरी नहीं है किन्तु उसका अनुचित मोह भी ठीक नहीं है। हिन्दी समालोचकों में यह मोह बहुत अधिक है। उपन्यास, कहानी, निबंध, नाटक—प्रत्येक की आलोचना करते समय उसके वर्तमान स्वरूप का प्राचीनता से संबंध दिखाने के लिये एक बार तो भरसक प्रयत्न कर ही लिया जाता है। कुछ नहीं, तो परम्परा स्थापित करने ही के लिये उसका उल्लेख कर दिया जाता है। दिखाया यह जाता है कि चाहे जिस रूप में हो किन्तु वह चीज हमारे यहां थी जरूर। प्राचीनता के प्रति इतना मोह व्यर्थ है।

प्राचीन श्रेष्ठता के प्रति व्यर्थ मोह

दृष्टि इतनी एकांगी हो चली है कि जो हमारी प्रशंसा का अधिकारी हो गया उसकी त्रुटियों को भी विशेषता मान लिया जाता है और जिनकी कृतियों से किसी प्रकार असंतोष पैदा हुआ उसके वास्तविक महत्त्व को भी विस्मृत कर दिया जाता है। अस्तु, रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि तुलसीदास ने अलंकारों की भद्दी रुचि रखने वालों को भी निराश नहीं किया। तात्पर्य यह है कि यह उनकी कमजोरी नहीं है कि उन्होंने भद्दे ढंग से भी अलंकारों का प्रयोग किया है। यह उनकी उदारता है कि उन्होंने ऐसी रुचि वालों का भी ध्यान रक्खा—अपने श्रेष्ठ काव्य में भी इतना-सा खराब लिख कर! इसके विपरीत, नये और जोशीले समालोचक आधुनिक कथा साहित्य को प्रेमचन्द से हजार कदम आगे मानते हैं!

एकांगी दृष्टिकोण

और, इतना तो स्पष्ट ही है कि दो-चार पुस्तकों को छोड़कर शेष में कसावट (Brevity) की बहुत कमी है। गंभीर समालोचनाओं में भी कल्पनात्मकता और आलंकारिकता की अधिकता के कारण स्थिति यह हो जाती है कि यदि पाठक का अध्ययन गंभीर हो तो वह दो-चार पंक्तियों को पढ़ कर शेष अनुच्छेद (पैराग्राफ) छोड़ सकता है और उसका अध्ययन अधूरा

कसावट की कमी

न रहेगा। अनेक समालोचना पुस्तकें ऐसी हैं जिनको पढ़ते समय कुछ भी नहीं सोचना पड़ता। कभी-कभी तो यह स्पष्ट रूप से विदित हो जाता है कि पुस्तक को बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है। रामरतन भटनागर के 'सूरदास—एक अध्ययन' (१९४६ ई०) में एक ही कथा का उतने ही विस्तार के साथ एक से अधिक बार वर्णन किया गया है। अस्पष्ट व्याख्याएं और उच्चकोटि के लेखकों के निष्कर्षों एवं व्याख्याओं की साहित्यिक भाषा में पुनरुक्तियां सर्वविदित तथ्य हैं।

अभी तक प्रगतिवादी समालोचना का उल्लेख बिल्कुल नहीं किया गया है। यहाँ उस पर भी थोड़ा-सा विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। समालोचना के क्षेत्र में इस वाद का योग अभी इतना नहीं है कि वह महत्त्वपूर्ण कहा जा सके। इस प्रकार की समालोचना का दूसरा नाम मार्क्सवादी समालोचना है। यह वाद साहित्य को राजनीति के पीछे घसीटना चाहता है। इस समालोचना का आधार मार्क्स की मानव जीवन और समाज से संबंध रखने वाली व्याख्या है। इस व्याख्या का आधार है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद। तात्पर्य यह है कि रोटी और सेक्स को लेकर समाज के विभिन्न वर्गों में सदैव संघर्ष होता आया है। शोषक वर्ग को अपने जीने के लिये क्रान्ति करनी होती है। मार्क्सवादी साहित्य और समालोचना के ये ही आधार हैं। इसका इस प्रकार साधारण रीति से उल्लेख इस कारण हो रहा है कि इन सिद्धान्तों को लेकर बहुत कम समीक्षाएं लिखी गई हैं। जो लिखी गई हैं उनकी प्रौढ़ता और श्रेष्ठता को विद्वानों ने अभी पूर्ण मान्यता नहीं दी है। शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, आदि के कुछ ऐसे निबंधों का अंतिम साहित्यिक परिणाम देखकर ही कुछ कहा जा सकता है।

प्रगतिवादी समालोचना

यह ठीक है कि भारतीय जीवन में पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों का समन्वय समुचित ढंग से नहीं हो पाया है किन्तु क्या हिन्दी का समालोचना साहित्य भी इन दो स्वतन्त्र सिद्धान्तों पर ही आधारित रहेगा? क्या हिन्दी साहित्य के एक अंश की समालोचना भारतीय और दूसरे अंश की समालोचना अंग्रेजी सिद्धान्तों पर ही होगी? यह दोरंगी प्रवृत्ति ठीक नहीं।

द्वयात्मकता

(साहित्य का इतिहास)

विकास

साहित्य के इतिहास के विकास में खोज और अध्ययन से सबसे अधिक सहायता मिली है। दोनों तत्त्वों का अपना-अपना महत्त्व है। अध्ययन की बात इसलिये कही जा रही है कि भारतीय मस्तिष्क के लिये इतिहास, कम से कम अपने वर्तमान स्वरूप में तो अवश्य ही, एक अपरिचित विषय था। साहित्य के इतिहास की आवश्यकता तो बिल्कुल ही नहीं समझी गई। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास की कल्पना और उसका सर्व प्रथम रूप केवल अहिन्दी ही नहीं, अ-भारतीय मस्तिष्क की उपज है। ज्यों-ज्यों अध्ययन में गंभीरता

खोज और अध्ययन

और व्यापकता आती गई त्यों-त्यों साहित्य के इतिहास का रूप प्रौढ़तर होता गया। खोजों का भी यही महत्त्व है। मध्ययुग से लेकर आधुनिक युग के प्रारम्भ तक भारतीय प्रतिभा जिस निष्क्रियता की अवस्था में थी उसके कारण हिन्दी साहित्य के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ खो गये थे और खोये जा रहे थे। जब आंखें खुलीं तब उन्हें अपढ़, अयोग्य तथा रूढ़ि ग्रस्त, अशक्त हाथों से लेकर सुयोग्य एवं समर्थ हाथों और आँखों की सतर्कता एवं सहानुभूति से सुधारा जाने लगा। उनकी जानकारी और उनके महत्त्व को आँकने का प्रयत्न किया जाने लगा। नागरी प्रचारिणी सभा के अध्यवसायी कार्यकर्ता और रामचन्द्र शुक्ल तथा श्यामसुन्दर दास आदि के प्रयत्न इसके उदाहरण हैं।

कवि-संग्रह

साहित्य के इतिहास का सर्वप्रथम स्वरूप, जिसकी झलक आज तक पाई जाती है, यह था कि कालक्रम के अनुसार कवियों को रख कर उनका सामान्य जीवन चरित्र, उनकी कुछ मोटी-मोटी विशेषताएं, एक-आध दोष और अन्त में उनकी कविता के उदाहरण सामने रख दिये जायं। ज्यों-ज्यों खोजें नई-नई चीजें सामने लाती जाती थीं त्यों-त्यों ऐसे इतिहास का कलेवर बढ़ता जाता था। 'मिश्रबंधु विनोद' में पहले ३७५७ कवि और लेखक थे और जब इसका द्वितीय संस्करण हुआ तो उनकी संख्या लगभग ४५०० हो गई। 'बीसलदेव रासो' आदि इन्हीं महत्त्वपूर्ण खोजों के परिणाम हैं। इन्होंने इस रूप में विकास अनिवार्य कर दिया।

कवियों का वर्गीकरण

पहली बात तो यह हुई कि जब कवियों और लेखकों की संख्या बढ़ी तो लेखकों के मस्तिष्क में उनके वर्गीकरण का ध्यान आया। गौरी शंकर द्विवेदी ने 'सुकवि सरोज' (१९२७ ई०) में यह वर्गीकरण उपस्थित किया। सबसे पहले तो यह तथ्य कवियों के चुनाव में ही सामने आया। इस पुस्तक में कवियों का चुनाव सनाढ्य जाति के संबंध से किया गया है। यह वर्गीकरण ग्रंथ के दूसरे भाग (१९३३ ई०) में और अधिक स्पष्ट है। वहाँ कवियों को तीन खंडों में विभाजित कर दिया गया है। पहले खंड में सं० १५८९ से सं० १९४० तक के परलोकवासी कवि गण हैं। दूसरे खंड में सं० १९०८ से वर्तमान काल तक के कविगण हैं। तीसरे खंड में सं० १६४० से सं० १९०० तक के कवि गण हैं। कवियों के संकलन में कालक्रम पर विचार रक्खा गया है।

प्रामाणिक तथ्यों के साथ

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अब इन संग्रहों में आये हुए कवियों और लेखकों के जीवन चरित्र में सामान्य बातों के अतिरिक्त खोजपूर्ण और मौलिक तथ्य भी सामने रक्खे जाने लगे। तुलसीदास के सोरों में जन्म लेने की बात गौरी शंकर द्विवेदी ने सर्व प्रथम इसी पुस्तक में उठाई थी।

ध्यान देने की तीसरी बात है कवियों की समालोचना। अंग्रेज़ी साहित्य के गंभीर अध्ययन और मनन ने नया दृष्टिकोण दिया। खोजों के कारण महत्त्वपूर्ण

कवि प्रकाश में आये। अंग्रेज़ो के साहित्यिक बड़े ही महान रूप में हमारे सामने रक्खे जाते थे। यह प्रवृत्ति आज तक भी नहीं गई है। विचार उठा होगा कि अपने यहां के कवियों और लेखकों को भी परखा जाय। इन विभूतियों की तुलना में वे कैसे लगते हैं, यह भी तो देखा जाय। इसी विचार धारा ने जीवनी के साथ-साथ कवियों की कृतियों की समालोचना करवाई। गणेश प्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी के कवि और काव्य' (१९४१ ई०) तथा ज्योति प्रसाद 'निर्मल' की 'नवयुग काव्य विमर्श' (१९३८ ई०), आदि पुस्तकें इसी परम्परा में हैं।

समालोचना के साथ

ऊपर हम काल की दृष्टि से विभाजन की बात कर आये हैं। यह एक ऐतिहासिक सत्य है ही कि एक काल विशेष में एक ही विचार-धारा और फलतः एक ही प्रकार के साहित्य की प्रधानता होती है। इसलिए इस ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था कि उस काल विशेष के साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ क्या और क्यों थीं। इसी प्रकार के चिन्तन ने काल विशेष की साहित्यिक प्रवृत्तियों के उद्घाटन की नींव डाली। साहित्य के इतिहास के विकास में यह एक महत्त्वपूर्ण बात थी। इसी ने आगे चल कर साहित्य के इतिहास को स्पृहणीय प्रौढ़ता दी।

विशेष-विशेष कालों की सामान्य प्रवृत्तियों के साथ

इस अवस्था में आकर साहित्य के इतिहास का रूप यह हो गया कि प्रारम्भ में काल-विभाजन दे दिया जाता था। फिर प्रत्येक काल की सामान्य प्रवृत्तियों और उनकी पृष्ठभूमि का उल्लेख होता था। सवव्यापक प्रवृत्ति के आधार पर उस काल का नामकरण कर दिया जाता था। उस काल विशेष की मुख्य-मुख्य प्रवृत्तियों की व्याख्या होती थी। इन व्याख्याओं के ही साथ-साथ उस सम्पूर्ण काल के प्रधान कवियों की संक्षेप में बहुत ही सुन्दर समालोचना दे दी जाती थी। यह समालोचना कभी-कभी तो बहुत ही प्रौढ़ होती थी। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के इतिहास के लिखने के ढंग में वैज्ञानिकता आई। रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' युगांतरकारी कृति और १९३० ई० युगांतरकारी तिथि है। उसके महत्त्व को अस्वीकार करना कृतघ्नता है। और, यदि एक सीमा पर कृतघ्नता है तो दूसरी सीमा पर अनुकरण भी है। हिन्दी साहित्य के इतिहास प्रस्तुत करने वालों ने दूसरे को ही अच्छा समझा।

सदनुकरण

यह अनुकरण जिस समय सतर्क और सुयोग्य लेखक द्वारा होता था तब साहित्य के किसी अंग की सुन्दर व्याख्या सामने आती थी। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि जिस बात को रामचन्द्र शुक्ल थोड़े में कह गये हैं उसी को विस्तार-पूर्वक सामने रख दिया जाता था। उदाहरण के लिये अनन्त मराल शास्त्री का 'रामभक्ति शाखा' (१९४१ ई०) या भुवनेश्वर नाथ 'माधव' का 'संत साहित्य' (१९४१ ई०) नामक इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है। इसमें विद्वत्ता

अंधानुकरण

होती थी। सुन्दर विवेचना, मार्मिक व्याख्या, विषय का वांछित स्पष्टीकरण होता था। कभी-कभी लेखक का पांडित्य, उसका व्यापक अध्ययन, और उसकी अपनी रुचि विषय को रोचक ढंग से सामने लाती थी। सूर्यकान्त शास्त्री के 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' (१९३१ ई०) में अंग्रेजी साहित्य के भावों का भी उल्लेख करते हुए हिन्दी साहित्य को समझाया गया है। कभी-कभी तुलना भी कर दी गई है। काव्यात्मकता के कारण इतिहास थोड़ा-सा सरस भी हो गया है। इस प्रकार का यह इतिहास किसी तरह भी खराब नहीं कहा जा सकता।

जब अयोग्य हाथ उठते थे तब संतुलन बिगड़ जाता था। वास्तविकता दृष्टि से दूर हो जाती थी। अनुकरण करते-करते लेखक थोड़े में कही गई बात को जब विस्तारपूर्वक समझाना प्रारम्भ करता था तब प्रायः अतिरंजन हो जाता था। उदाहरणार्थ, रामचन्द्र शुक्ल ने जिसकी प्रशंसा कर दी उसी की जी भर कर प्रशंसा होती चली जा रही है। उन्होंने जिसको बुरा कह दिया उसे किसी प्रकार की सहानुभूति नहीं मिली। उन्होंने लिख दिया कि हिन्दी साहित्य में भक्तिधारा का प्रादुर्भाव यों हुआ कि हिन्दू राज्य शासन की समाप्ति और मुसलमानों के धार्मिक अत्याचारों से निराश जनता मजबूर होकर भगवान की शरण में चली गई। बस, यही कथन प्रायः नये-नये रूपकों के द्वारा दुहराया जा रहा है। उन्होंने केशव के काव्य में अलंकारों की अधिकता को अनुचित कहा, तो केशव की सारी विशेषताएं और उनके अन्य सारे ग्रंथ विस्मृत कर दिये गये! केशव समालोचक-वाहिनी की अनी के लक्ष्य हो गये।

अंधानुकरण

रामचन्द्र शुक्ल आधुनिक काव्य साहित्य की प्रगति से कुछ अधिक संतुष्ट नहीं थे यद्यपि वे उसकी कुछ विशेषताओं को मानते थे। यह उनके इतिहास से स्पष्ट है। 'हिन्दी कविता का विकास' (१९४० ई०) दिखाते हुए आनन्द कुमार लिखते हैं :—

असंतुलित आवेश

"एक दूसरी प्रकार की कविता का प्रचार इन दिनों और होने लगा है। इसके मुख्य प्रचारक 'बच्चन' नाम के एक कवि महाशय हैं जो रूप, रंग और गुण सभी बातों में छायावादियों से मिलते हैं.........आजकल ये बाल साहित्य के खिलौना हो रहे हैं। मैं तो 'बच्चन' की सारी कविता को पढ़ गया पर उसके बीच में मुझे वे स्वयं खड़े हुए नहीं मिले। उसके पीछे तो मुझे किसी और का भूत खड़ा हुआ दिखाई पड़ता है................छायावाद के इस तिमिरावृत्त कानन में दो ही दीपक टिमटिमा रहे हैं—पं० सुमित्रानन्दन पंत और श्रीमती महादेवी वर्मा.............ये लोग अपनी लगाई हुई आग में खुद ही कूद कर प्राण गवाँ रहे हैं......... तो क्या इस समय हिन्दी कविता विनाश की ओर जा रही है ?

—निश्चय यही।"

'हिन्दी कविता के मार्ग में सबसे बड़े बाधक तो छायावादी कवि हो गये हैं।

जब से गंगा को गैल में ये मदार के गीत गाने वाले आ गये हैं तब से हिन्दी कविता की प्रगति बहुत धीमी पड़ गई है ।"

इस बड़े उदाहरण के द्वारा यह स्पष्ट है कि अंधानुकरण और असंतुलित भावना का आवेश प्रतिभा के पैर कहीं-कहीं किस बुरी तरह से उखाड़ देता है । रामचन्द्र शुक्ल की कृपा आधुनिक हिन्दी काव्य को न मिल सकी, तो क्या १९४० ई० के समालोचक के भी वे ही विचार रहें ? युग की दिशा और उसकी प्रवृत्ति क्या उस समय तक भी स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष नहीं हो सकी थी? इसी अनुकरण प्रवृत्ति के कारण रीति काल की समस्त कविता को वासनात्मकता के गहरे से भी गहरे रंग में रंग कर उसके लिए गर्हित से भी गर्हित शब्दावली का प्रयोग करके और उसकी सारी विशेषताओं को विस्मृत करके उसे एक त्याज्य वस्तु की तरह माना जाता रहा है। इस अवांछनीय प्रवृत्ति के असंदिग्ध अस्तित्व की ओर ध्यान आकृष्ट करना ही इस अप्रिय प्रसंग के उल्लेख का ध्येय है ।

रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास के इस अनुकरण ने साहित्य के इतिहास के स्वतन्त्र विकास की गति कुछ धीमी कर दी । प्रायः लेखक रामचन्द्र शुक्ल की ही विचारधारा और पद्धति के इर्दगिर्द चक्कर लगाते हुए देखे जाते हैं । एकाध अनुच्छेद या एकाध नये वाक्यों या कलेवर मात्र से नया मार्ग नहीं खुलता । रामचन्द्र शुक्ल से प्रतिस्पर्द्धा रखने वालों की भी कमी नहीं । घोर से भी घोर श्रृंगारिक पदों की शान्त या भक्ति रस वाली व्याख्या के द्वारा नवीनता की खोज कुछ इसी प्रकार की है। अस्तु, लेखकों ने या तो शुक्ल जी के निष्कर्षों का अनुकरण किया या उन्हीं को विस्तार के साथ समझाया । उनमें मौलिक निष्कर्षों एवं स्वतन्त्र चिन्तन की कमी हो गई ।

गत्यवरोध

इतना होने पर भी विकास रुका नहीं । रामचन्द्र शुक्ल के ही समकालीन श्यामसुन्दर दास के 'हिन्दी भाषा और साहित्य' (१९३० ई०) में भी कुछ नवीनता थी। श्यामसुन्दर दास का इतिहास प्रवृत्तियों का आधार लेकर अधिक चला है । उस इतिहास में प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि को भी अधिक महत्त्व मिला है । राम भक्ति शाखा का वर्णन करते समय लेखक ने साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, कलात्मक, आदि सभी प्रकार की परिस्थितियों का वर्णन किया है। साथ ही, उस धारा के कवियों के समालोचनात्मक परिचय के समय जहां एक ओर तुलसीदास हैं वहां दूसरी ओर मैथिलीशरण गुप्त भी । इन उल्लेखों के पश्चात् ही कृष्ण भक्ति शाखा का उल्लेख हुआ है और उसमें भी सूरदास से लेकर अयोध्यासिंह उपाध्याय, आदि एक ही अक्षुण्ण माला के विभिन्न फूल बन कर आये हैं । कमी इतनी ही रह गई थी कि प्रवृत्तियों के वर्णन की अपेक्षा कवियों की समालोचनात्मक व्याख्या का पल्ला यहां भी भारी था । इस प्रवृत्ति के महत्त्व की ओर लोगों का ध्यान जरा देर से गया ।

साहित्यिक प्रवृत्तियों का आधार

साहित्य के इतिहास के विकास के अंतिम और प्रौढ़तम स्वरूप की एक झाँकी श्री कृष्णलाल और लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय की थीसिसों में मिलती है। इनके पहले के इतिहासों में और इनमें दो मुख्य अन्तर दिखाई पड़ता है। पहला यह है कि पहले के इतिहासों में व्यक्तिगत दृष्टिकोणों की ही प्रधानता रहती थी। इस दृष्टिकोण के निर्माण में आलोच्य पर लिखी गई समालोचनाओं का लेखक के द्वारा अध्ययन, लेखक की अपनी रुचि और धारणाएं तथा परम्पराएं थीं। लेखक इन तीनों को छोड़ नहीं पाता था। दूसरा अन्तर यह है कि वे इतिहास तमाम कवियों की समालोचनाओं के संग्रह की तरह लगते थे। कवि या लेखक की उच्चता मस्तिष्क पर ऐसी छाई रहती थी कि प्रवृत्तियां फीकी लगती थीं और कवि या लेखक पर कुछ न लिखना प्रतिभा की हीनता लगती थी। आधुनिक साहित्य के इन दो इतिहासों में ये दोनों बातें नहीं हैं।

इतिहास का तटस्थ अध्ययन

इस परित्याग के लिए पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी। कवियों की व्यक्तिगत समालोचना वाला ढंग लोगों को अवैज्ञानिक एवं साहित्य के इतिहास-जैसे विषय के लिये अनुपयुक्त लगने लगा था। प्रवृत्तियों के अध्ययन का बीज पड़ ही चुका था। प्रस्तुत सामग्री के निगमन शैली से किये गये अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर जब इतिहास लिखने की प्रेरणा हुई तो व्यक्तिगत धारणाओं एवं रुचियों के लिये कोई जगह रह ही नहीं गई। वैसे तो, प्रतिभा के दुरुपयोग के लिये सभी जगह गुंजाइश रहती है, किन्तु साहित्य के इतिहास लिखने की इस पद्धति में निष्पक्षता बहुत है।

इस नवीनतम प्रवृत्ति की पृष्ठभूमि

इन इतिहासों में वर्गीकरण विषयों के आधार पर हुआ है; जैसे, उपन्यास, कहानी, आदि। इन विषयों के अध्ययन में भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के उद्‌घाटन का प्रयत्न किया गया है। विकास, प्रकार, सिद्धान्त, आदि उपशीर्षकों में अपने अध्ययन को विभाजित करके लेखक विषय का पूर्ण स्वरूप उपस्थित कर देता है। पृष्ठभूमि भी स्पष्ट की जाती है। इस प्रकार अवधि विशेष में लिखे गये समस्त साहित्य की गतिविधि का एक संबद्ध एवं आलोचनात्मक चित्र हमारे सम्मुख आ जाता है। यही इतिहासकार की सफलता और उसके इतिहास की विशेषता है। इन और इन्हीं की तरह के अन्य इतिहासज्ञ अब प्रवृत्तियों के आधार पर इतिहास का प्रणयन कर रहे हैं। युग की पृष्ठभूमि में साहित्य और साहित्यिकों को देखने का प्रयास हो रहा है। इस दृष्टि से शांतिप्रिय द्विवेदी का भी नाम उल्लेखनीय है।

निगमन शैली और स्वरूप

(प्रकार)

हिन्दी साहित्य के इतिहासों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। सामान्य दृष्टि से देखने पर हिन्दी साहित्य के इतिहास दो मुख्य भागों में बँट जाते हैं। पहले भाग में वे इतिहास आते हैं जिनमें प्रारम्भ से लेकर आज तक के साहित्य

का क्रमबद्ध और विवेचनात्मक वर्णन होता है। दूसरे प्रकार के इतिहासों में लगभग छः सौ वर्षों के इस विशाल साहित्य के किसी एक काल विशेष में लिखे गये साहित्य का इतिहास उपस्थित किया जाता है। पहले प्रकार के इतिहास में साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों का ही उल्लेख हो सकता है। विस्तार में जाने की गुंजाइश नहीं रहती। यह मजबूरी उस समय और भी बढ़ जाती है जब कवियों की व्यक्तिगत समालोचना और उनकी कृतियों के उदाहरण भी देने हों। इतना अवश्य है कि यह सम्पूर्ण साहित्य का एक स्वरूप हमारे सामने ला देता है। किसी विशेष भाग पर लिखे गये इतिहास में सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रवृत्तियों का अध्ययन, पृष्ठभूमि में काम करने वाली धाराओं की यथासम्भव सम्पूर्ण विवेचना और साहित्य के सभी अंगों का व्यापक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन होता है। विस्तार एवं व्यापकता इन इतिहासों की प्रधान विशेषता होती है। रामचंद्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९३० ई०), अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास' (१९३४ ई०), आदि पहले प्रकार के, इतिहासों के उदाहरण हैं और कृष्णशंकर शुक्ल का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास (१९३४ ई०), श्रीकृष्णलाल का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (१९४२ ई०), लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (१९४१ ई०), आदि दूसरे प्रकार इतिहासों के उदाहरण हैं।

काल की दृष्टि से

विवेचन की शैली की दृष्टि से किया गया वर्गीकरण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से देखने पर ये इतिहास प्रधानतः चार प्रकार के मिलते हैं :—

१. कवि या लेखक की जीवनी, उसके साधारण गुण-दोष और उसकी कृतियों के उदाहरण, २. प्रवृत्तियों, आदि पर लिखे गये निबंधों के संग्रह, ३. रामचंद्र शुक्ल की पद्धति पर, और ४. साहित्य की प्रवृत्तियों और उसके स्वरूप की निगमन शैली में व्याख्या।

शैली की दृष्टि से

१. पहले प्रकार के इतिहास में कोई भी उल्लेखनीय बात नहीं होती। इस इतिहास में विवेचना या समीक्षा, आदि के प्रायः अभाव के कारण लेखक का कार्य केवल इतना होता है कि वह प्राप्त सामग्री को किसी ढंग से सजा दे। यह सामग्री चाहे अपने परिश्रम से एकत्र की गई हो और चाहे दूसरों के विवरण-पत्रों एवं पुस्तकों से। यदि लेखक ने स्वयं दूर-दूर जा कर, खोज-खोज कर, और पसीने बहा-बहा कर सामग्री इकट्ठी की है तो उसका यह परिश्रम सराहनीय और अनुकरणीय है। यदि उसने दूसरों के परिश्रम से संग्रहीत सामग्री का नई दृष्टि से उपयोग किया है तब भी कोई आपत्तिजनक बात नहीं। ऐसे लोग दूसरों के संग्रहों और निष्कर्षों को नई शैली से सजा कर रखते हैं। उनमें स्वतंत्र चिंतन, मौलिक निष्कर्ष

संग्रह की दृष्टि से

एवं गंभीरतम विवेचनायें नहीं होतीं। सामान्य स्तर के पाठकों का उनसे कुछ लाभ हो जाता है। अस्तु, एक ओर प्रभुदयाल मीतल का 'अष्टछाप परिचय' (१९४७ ई०) है, तो दूसरी ओर ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल' का 'नवयुग काव्य विमर्ष' (१९४० ई०)। प्रभुदयाल मीतल अल्प सख्यकों में से हैं ; ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल' का बहुमत है।

इसकी वहुलता

इसी आसानी के कारण इस प्रकार के इतिहास बहुत मिलते हैं और वहुत प्रकार के मिलते हैं। कभी-कभी तो केवल कवि के नाम और उनकी कृतियों के उदाहरण ही होते हैं। समीक्षा के लिये भूमिका ही उलटनी पड़ती है, और उसमें भी यदि वास्तविक समीक्षा मिल जाय तो बड़ी बात ! इस विस्तृत क्षेत्र में मिलने वाले इतिहास अनेक हैं।

(क) मानव स्वरूप के किसी विशेष अंग पर लिखा जाने वाला साहित्य :—

इस क्षेत्र में आँख अभी आँख पर ही गई है। जवाहर लाल चतुर्वेदी की 'आँख और कविगण' (१९३२ ई०) नामक पुस्तक ऐसी ही है। इसमें समीक्षा नाममात्र को भी नहीं है। पुस्तक में कवियों की फुटकर कृतियां ही हैं। इसकी गणना काव्य संग्रहों में बड़ी सरलता से की जा सकती है। आँख के बाद नाक पर भी निगाह जायगी या नहीं, यह कहना अभी कठिन है !

(ख) भिन्न-भिन्न वर्गों के लिये लिखे गये साहित्य का इतिहास:—

साहित्य के इन इतिहासों को भी कहने ही के लिये इतिहास कहा जा रहा है। इस क्षेत्र में अभी संग्रह कार्य ही चल रहा है। यह कार्य भी अभी अधूरा ही है। एकाध संग्रह ही अभी प्रकाशित हुए हैं। इनमें इतिहास या समीक्षा के तत्त्वों का पूर्णतः अभाव है। प्रवृत्तियों का विवेचन, उनकी संवद्ध और सक्रम व्याख्या, आदि अनेक बातें बाकी हैं। रामनरेश त्रिपाठी की 'सोहर' (१९३७ ई०), प्रभारानी की 'सोहर' (१९४० ई०), गिरिजा दत्त शुक्ल की 'हिन्दी की कहानी लेखिकाएं और उनकी कहानियां' (१९३५ ई०), 'व्यथित हृदय' की 'हिन्दी काव्य की कलामयी तारिकाएं' (१९३६ ई०), आदि पुस्तकों का संबंध स्त्री वर्ग से है। रामनरेश त्रिपाठी की 'हमारा ग्राम साहित्य' (१९४० ई०), 'चंचरीक' की 'ग्राम गीतांजलि' (१९३१ ई०), आदि पुस्तकों का संबंध ग्रामीण जनता से और गंगा प्रसाद गुप्त की 'युवक साहित्य' (१९२९ ई०), आदि का संबंध नवयुवकों से है। ये सभी पुस्तकें संग्रहमात्र हैं।

(ग) प्रदेश विशेष के साहित्य का इतिहास :—

ये इतिहास भी उपर्युक्त ढंग के ही हैं। भागीरथी बाई और कृष्णगोपाल की अपनी-अपनी 'मारवाड़ी गीत संग्रह' (१९३३ ई० और १९२७ ई०), मंगला प्रसाद सिंह की 'बिहार के नवयुवक हृदय' (१९२८ ई०), श्याम सुंदर उपाध्याय की 'बलिया के कवि और लेखक' (१९२८ ई०), मन्मथनाथ गुप्त की 'बंगला के आधुनिक कवि' (१९४६ ई०), लक्ष्मी-कान्त त्रिपाठी और रमाकान्त तिवारी की 'कानपूर' के कवि'

(१९४७ ई०) और सूर्यकान्त पारिख की 'राजस्थानी लोकगीत' (१९४३ ई०), आदि पुस्तकें इसी कोटि की हैं। मन्मथ नाथ गुप्त की 'बंगला के आधुनिक कवि' (१९४६ ई०) नामक पुस्तक वास्तविक दृष्टि से इतिहास के अन्दर आती है। इसमें उतनी ही अच्छी एवं सुन्दर विवेचना, व्याख्या और पूर्णता है जितनी ऐसे इतिहास के लिये सामान्यत: अपेक्षित है। मोती लाल मेनारिया की राजस्थानी की 'हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' (१९४२ ई०) एक उच्चकोटि की और बड़ी ही महत्त्व-पूर्ण पुस्तक है। यह बहुत ही उच्चकोटि के साहित्य के इतिहासों की आधारशिला कही जा सकती है। ऐसी पुस्तकों की बहुत आवश्यकता है।

(घ) जाति या सम्प्रदाय के साहित्य का इतिहास :—

विषय और विवेचना, दोनों ही दृष्टियों से ये इतिहास बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। प्रभुदयाल मीत्तल की 'अष्टछाप परिचय' (१९४७ ई०) पुस्तक का संबंध एक संप्रदाय से ही है। इसी प्रकार ब्रजेश्वर वर्मा की 'हिन्दी के वैष्णव कवि' (१९४१ ई०) पुस्तक का संबंध वैष्णव संप्रदाय के काव्य साहित्य से है। अगरचंद नाहटा लिखित 'ऐतिहासिक जैन कवि संग्रह' (१९३८ ई०), मूल चंद जैन की 'जैन कवियों का इतिहास' (१९३७ ई०), कन्हैयालाल की 'वृहत भक्तमाल भाषा' (१९३२ ई०), आदि पुस्तकें ऐसी ही हैं। विषय की दृष्टि से इनका महत्त्व यह है कि एक तो ये श्रद्धालु जनता की प्यास बुझाती हैं और दूसरे यह कि उसके आराध्य को और उसके उपासकों को आधुनिक वैज्ञानिक प्रकाश में सामने लाती हैं। विवेचना की दृष्टि से इनका महत्त्व यह है कि वे विशेष वर्ग के साहित्य की विशेषताएं, उसका महत्त्व, उसकी उपयोगिता, जिस महान साहित्य का ये एक अंश हैं उसके निर्माण में इनके योग, आदि का निर्णय करती हैं। ये स्वयं एक इतिहास हैं। साथ ही साथ किसी अन्य महानतर इतिहास के निर्माण के प्रौढ़तर उपादान हैं। इनका निजी महत्त्व भी है और सामूहिक महत्त्व भी। मुसलमानों का हिन्दी साहित्य से जो संबंध रहा है उसके इतिहास पर काफी महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी जा चुकी हैं। इनमें पर्याप्त विवेचना, समीक्षा, व्यापकता, दृष्टि की सूक्ष्मता, अध्ययन और चिंतन है। इनमें से अधिकांश रामचंद्र शुक्ल की पद्धति पर लिखी गई हैं।

२. दूसरे प्रकार के इतिहासों में प्रवृत्तियों, आदि के भिन्न-भिन्न अंगों एवं विशेषताओं पर छोटे-छोटे निबंध लिख कर उन्हें स्पष्ट किया जाता है। इस प्रकार उस

प्रवृत्तियों की दृष्टि से

इतिहास के अनेक अंग एक-एक कर के समाने ला दिये जाते हैं। ये विवेचनाएं बड़ी ही उच्चकोटि की होती हैं। इनमें प्रायः बड़ी ही विद्वत्ता के साथ विषय का विश्लेषण और उसका मूल्यांकन होता है। शैली में प्रायः ऐतिहासिकता आ जाती है। कभी कभी अ-हिन्दी साहित्य के साहित्यकों और प्रवृत्तियों से तुलना भी कर दी जाती है। कभी-कभी विकास की धारा को भी स्पष्ट कर दिया जाता है। कभी-कभी

कवियों और लेखकों पर लिखी गई पूर्ण या अपूर्ण, एकांगी या सर्वांगी, गंभीरतम और प्रौढ़तम समालोचनाओं के द्वारा किसी विशेष युग की प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता है। कवि या लेखक की अन्तर्वृत्तियों, उसके महत्त्व, उसकी प्रतिभा की क्षमता, शक्ति और कमजोरी, रीति, शैली, प्रेरणा और पृष्ठभूमि, आदि का अध्ययन किया जाता है। अध्ययन को सभी प्रकार से पूर्णता देने का प्रयत्न किया जाता है। हाँ, जब इतिहासकार की अपनी व्यक्तिगत रुचि का रंग चढ़ने लगता है तब सामंजस्य बिगड़ जाता है। इस स्थिति में कहीं-कहीं अनिष्ट भी हो जाता है। नन्द दुलारे वाजपेयी की 'हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी' (१९४२ ई०) नामक पुस्तक में जहां अन्य सभी विशेषताएं हैं वहां इसी व्यक्तिगत रुचि के कारण प्रेमचंद के साथ कुछ अधिक ज्यादती-सी हो गई है। गौरी शंकर 'सत्येन्द्र' की 'साहित्य की झाँकी (१९३७ ई०) इस प्रकार के इतिहासों की एक अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। इस प्रकार के इतिहास की सब से बड़ी कमजोरी यह होती है कि वह हमारे सामने साहित्य और उसके इतिहास का कोई संश्लिष्ट रूप नहीं उपस्थित कर पाता।

३. हमारे साहित्य के इतिहासों का यह तीसरा स्वरूप बहुत ही महत्त्वपूर्ण, प्रभावशाली और व्यापक है। इस इतिहास का प्रतिनिधि और मूल स्वरूप हमें रामचंद्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९३० ई०) में मिलता है। अवधि, और उस विशेष अवधि में पाई जाने वाली प्रधान प्रवृत्ति, के आधार पर समस्त साहित्य का काल-विभाजन, उप-प्रवृत्तियों के अनुसार उनका फिर वर्गीकरण, प्रत्येक की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की व्याख्या, कालक्रम और महत्त्व की दृष्टि से कवियों की संक्षिप्त किन्तु प्रौढ़तम सोदाहरण समालोचना इस इतिहास की रूपरेखा है। इसमें कवियों और लेखकों की शैली का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन होता है। प्रवृत्तियों के अध्ययन में व्यापकता, सूक्ष्म चिंतन और गंभीर मनन के साथ-साथ तथ्यों की गवाही भी होती है। इन्हीं में कुछ थोड़ा-सा हेर-फेर करके, कुछ नई विशेषताएं ला कर, कुछ पुराने तत्त्व हटा कर, दृष्टिकोण में कुछ विस्तार और व्यापकता ला कर, एवं अध्ययन में कुछ और नवीनता ला कर हिन्दी में अनेक विद्वानों और सुयोग्य लेखकों ने अनेक महत्त्वपूर्ण इतिहास प्रस्तुत किये हैं। श्याम सुन्दर दास का 'हिन्दी भाषा और साहित्य' (१९३० ई०), अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास' (१९३४ ई०), सूर्यकान्त त्रिपाठी का 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' (१९३१ ई०), इत्यादि इतिहास इसी शैली पर लिखे गये हैं।

प्रवृत्ति, संग्रह और समालोचना का समन्वय

इस रूप में खटकने वाली बात केवल इतनी ही है कि कवियों की विवेचनाओं और उनके उदाहरणों वाला भाग प्रायः इतना अधिक हो जाता है कि सामंजस्य बिगड़ जाता है। यह भाग प्रवृत्तियों वाले भाग से बिल्कुल पृथक लगता है। दोनों में कोई भी संबंध नहीं दिखाई

कुछ त्रुटियाँ: सामंजस्य की कमी

पड़ता । कवियों वाले भाग को यदि अलग कर के देखा जाय तो समालोचनाओं में तो कुछ कमी अवश्य हो जायगी किन्तु साहित्य के इतिहास की पूर्णता में कुछ भी कमी न आयेगी । मेरा अनुमान तो यह है कि उसका स्वरूप कुछ और अधिक स्पष्ट हो जायगा ।

इसकी शैली में व्यक्तिगत आदर्शों को मान्यता प्रायः सर्वत्र है। कवि या लेखक को परिस्थितियों के बीच में कम, अपने चश्मे के भीतर से अधिक देखा गया है । उनके सिद्धांतों की समीक्षा से यहां मेरा कोई मतलब नहीं है । भिन्न-भिन्न प्रकार के धानों का भाव कैसे निर्धारित किया जाना चाहिये, यह बात भी मैं नहीं उठाना चाहता । इतना अवश्य है कि रामचंद्र शुक्ल के इस आग्रह के कारण कुछ कवियों का वास्तविक मूल्यांकन नहीं हो सका । उनके साथ उचित न्याय न हो सका ।

व्यक्तिगत आदर्शों की ही मान्यता

४. इतिहासों के इस चौथे स्वरूप की प्रौढ़ता निर्विवाद है । पृष्ठभूमि का व्यापक और सम्पूर्ण अध्ययन यहां भी होता है । कवियों और लेखकों की कृतियों का अध्ययन यहां भी होता है । अन्तर इतना है कि इस अध्ययन में तटस्थता होती है। इस अध्ययन में कवियों या लेखकों की व्यक्तिगत महत्ता पर ध्यान कम दिया जाता है । यहां प्रधानता व्यक्ति की नहीं, धारा और परिस्थिति की होती है । उस विषय के साहित्य में उस व्यक्ति का अपना प्रधान योग क्या है, यह बात ध्यान में रक्खी जाती है । इतिहास का वर्गीकरण साहित्य के अंगों के आधार पर होता है । इन अंगों की यथासंभव पूर्ण और निष्पक्ष विवेचना होती है और इस प्रकार साहित्य अपने क्रमबद्ध रूप में दिखाई पड़ता है । इस निगमन शैली में व्यक्ति की अपनी रुचि का कोई मूल्य नहीं । वह आलोच्य और उसकी कृतियों के बाहर नहीं जा सकता । इतिहास का यह स्वरूप प्रधानतया अभी दो ही पुस्तकों में दिखाई पड़ता है । पहली है लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय की 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (१९४१ ई०) और दूसरी, श्री कृष्णलाल की 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' (१९४२ ई०) । इस शैली में अभी आधुनिक हिन्दी साहित्य का ही अध्ययन हुआ है। वैज्ञानिकता और बौद्धिकता की अधिकता के कारण इन इतिहासों में शुष्कता अधिक है । इसलिये इसकी लोकप्रियता स्वीकार करने में कुछ हिचक महसूस होती है । अनुकरण कितना हो सकेगा, यह भी नहीं कहा जा सकता । कहा केवल इतना जा सकता है कि हमारे इतिहास-लेखन में यह एक महत्त्वपूर्ण पग है । प्रौढ़ता की उचित दिशा है ।

निगमशैली में इतिहास का अध्ययन

उपर्युक्त चार प्रकार के विभाजनों के अतिरिक्त अन्य दृष्टियों से भी इतिहास का विभाजन किया जा सकता है । इन इतिहासों की शैली में कोई प्रमुख विशेषता नहीं । वह सभी उपर्युक्त चारों में से किसी न किसी एक में आ जाती है। भाषा की दृष्टि से हिन्दी साहित्य

भाषा की दृष्टि से

अच्छे इतिहास लिखे गये हैं। खड़ी बोली को आधार मानकर लिखे गय इतिहास कई हैं। उनमें ब्रजरत्नदास का 'खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९४१ ई०) उल्लेखनीय है। मोती लाल मेनारिया का 'राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा' (१९३६ ई०) भी एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। इसी प्रकार ब्रजभाषा और अवधी, आदि को भी आधार मान कर उनके साहित्य के उच्चकोटि के वैज्ञानिक इतिहास भी लिखे जा सकते हैं।

प्रवृत्तियों की दृष्टि से

प्रवृत्तियों को आधार मान कर भी साहित्य के इतिहास लिखे गये हैं। छायावाद, रहस्यवाद, राम भक्ति शाखा, कृष्ण भक्ति शाखा, आदि के ऊपर लिखे गये इतिहासों को इसी श्रेणी में मानना चाहिये। ऐसे इतिहासों की संख्या काफ़ी है। वे महत्त्वपूर्ण भी हैं। दृष्टिकोण में वैज्ञानिकता भी है। अनन्त मराल शास्त्री की 'राम भक्ति शाखा' (१९४१ ई०), ओम प्रकाश अग्रवाल की 'हिन्दी गीत काव्य' (१९४५ ई०), केशव नारायण सिंह की 'कृष्ण काव्य में भ्रमर गीत' (१९४७ ई०), आदि पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। इस दृष्टि से मिलने वाली सब से महत्त्वपूर्ण पुस्तक, पीतांबर दत्त बड़थ्वाल की 'निर्गुण स्कूल आफ़ हिन्दी पोयट्री इन हिन्दी', थीसिस के रूप में १९३४ ई० में लिखी गई थी। १९५० ई० में इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद भी छप गया है।

विषयों की दृष्टि से

विषयों के आधार पर भी इतिहास लिखे गये हैं। उदाहरण के लिये हैं शिव नारायण श्रीवास्तव का 'हिन्दी उपन्यास' (१९४० ई०), गंगा प्रसाद पांडे का 'आधुनिक कथा साहित्य' (१९४४ ई०), जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का 'हिन्दी की गद्य शैली का विकास' (१९३० ई०), जनार्दन स्वरूप अग्रवाल का 'हिन्दी में निबंध साहित्य' (१९४६ ई०), आदि। ये इतिहास उस विषय पर लिखे गये समस्त साहित्य और उसके प्रमुख लेखकों की एक समीक्षात्मक झाँकी हमें दिखा देते हैं।

रसों की दृष्टि से

उदय नारायण तिवारी और भगीरथ प्रसाद दीक्षित का 'वीर काव्य संग्रह' (१९३९ ई०) उस प्रकार के इतिहासों का उदाहरण है जो रसों को ध्यान में रख कर लिखे जाते हैं। ऐसे इतिहासों की संख्या कम है। जो कुछ हैं भी उनमें इतिहास के तत्त्व प्रायः नहीं हैं। संस्कृति के भिन्न-भिन्न अंगों को ले कर भी हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा जा सकता है। दर्शन, धर्म, समाज, राजनीति, आदि इस इतिहास के आधार होंगे।

सांस्कृतिक दृष्टि से

शिवनाथ ने आर्थिक समस्या को सामने रख कर उसी दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य का एक इतिहास बड़ी ही विद्वत्ता के साथ लिखा है। अन्य अंगों के आधार पर भी इतिहास के लिखे जाने की संभावना है।

(सिद्धांत)

हिन्दी साहित्य के विभिन्न इतिहासों को देखने से ज्ञात होता है कि उनके निष्कर्षों के मूल में हैं (क) कवि और लेखक और उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियां; (ख) प्रवृत्तियाँ, अर्थात् किसी विशेष अवधि के अन्दर पाई जाने वाली प्रधान विचारधारा; और (ग) सांस्कृतिक पृष्ठभूमि जिसके अन्दर राजनीतिक, सामाजिक, दार्शनिक और धार्मिक परिस्थितियाँ आती हैं। इन्हीं परिस्थितियों की परंपराओं पर ही वर्तमान का निर्माण होता है। इन्हीं का अध्ययन किया जाता है और अध्ययन से निकलने वाले निष्कर्षों के आधार पर इतिहास लिखा जाता है।

अध्ययन के तत्त्व

सिद्धांतों के निर्धारित करने में योग देने वाली दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है अध्ययन, मनन और चिंतन। इसका संबंध इतिहासकार से है। अपने यहां इतिहास की किसी परम्परा के अभाव के कारण हमें अंग्रेजी साहित्य की ओर जाना पड़ा। अतएव उनके यहां के उन सिद्धान्तों का अध्ययन करना, जिन पर वहाँ इतिहास लिखे गये हैं, आवश्यक हो गया। मनन और चिन्तन की आवश्यकता विशेष रूप से इसलिये भी पड़ी कि जिस भू-भाग के वे सिद्धांत थे उसके बिल्कुल विपरीत विचारधारा वाले भू-भाग के साहित्य के इतिहास के लिये उनका उपयोग करना था। यह हुआ और अच्छी तरह से हुआ। हिन्दी के इतिहासकारों का यह प्रयत्न सराहनीय है।

अध्ययन, मनन और चिन्तन

तीसरी बात है बौद्धिकता। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। बिना इसके हिन्दी साहित्य के इतिहास का समुचित मूल्यांकन असंभव था। इसका कारण यह है कि भक्ति साहित्य—जो हमारे साहित्य का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंश है—लेखक और पाठक, दोनों ही, के लिए शुद्ध साहित्य कम, धार्मिक अधिक था। इस धार्मिक साहित्य के चारों ओर श्रद्धा और अंधविश्वास का जो धुंध फैला हुआ था उसको भेद कर उस साहित्य को समझने की शक्ति बुद्धि में ही है। कृष्णधारा और रामधारा के साहित्य के अध्ययन में तो इसकी आवश्यकता और भी अधिक थी। तुलसीदास की समालोचना करते समय रामचन्द्र शुक्ल-जैसे विद्वान भी अपनी भावुकता को न रोक सके। फिर भी, उनका दृष्टिकोण समुचित रूप से बौद्धिक रहा। धार्मिकता-निरपेक्ष यह बौद्धिकता इतिहास के लिये बहुत ही आवश्यक थी।

बौद्धिकता

इसी बौद्धिकता के कारण किसी विशेष पृष्ठभूमि और उस पृष्ठभूमि पर आधारित साहित्य के अध्ययन का विभाजन और विश्लेषण सम्भव हो सका। इस प्रकार भिन्न-भिन्न कालों के अध्ययन में कार्यकारण की शृंखला स्थापित की जा सकी। इसी के कारण साहित्य की समुचित व्याख्या भी सम्भव हो सकी। व्यक्ति के अध्ययन में मनोवैज्ञानिकता और

विवेचन की पूर्णता

साहित्य की प्रवृत्तियों के अध्ययन में विश्वजनीन भावनाओं का भी यथासम्भव उपयोग किया गया। यह दृष्टिकोण इतिहास की प्रवृत्तियों के अन्दर की छान-बीन में बड़ा ही सहायक सिद्ध हुआ है।

दृष्टिकोण की वैज्ञानिकता के अतिरिक्त एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व है तटस्थता। इसके कारण इतिहास में क्रम और व्यवस्था बनी रह गई। उच्छृंखलता नहीं आने पाई। इसी के कारण इतिहासकारों की व्यक्तिगत रुचियों का रंग इतिहास पर अधिक गहराई के साथ नहीं चढ़ने पाया। इसी के कारण विवेचना में अधिकाधिक स्पष्टता रही। नई खोजों और नये विचारों के स्वागत के मूल में यह वैज्ञानिकता और तटस्थता ही थी।

तटस्थता

सिद्धांतों की बाहरी रूपरेखा और शैली का निर्माण उपर्युक्त तत्त्वों से हुआ। उसकी आत्मा अधिकांशतः भारतीय ही रही। अभारतीय तत्त्व वे ही अपनाये गये हैं जो साहित्य और साहित्यिकों की आत्मा में घुलमिल कर उसके अविच्छेद्य अंश हो चुके हैं। उपर्युक्त दोनों वाक्य कदाचित् बहुत व्यापक और अस्पष्ट हैं। कदाचित् उदाहरण देने की आवश्यकता है। रस शैली अर्थात् वृत्तियों, शब्द-शक्तियों, अलंकारों, आदि के आधार पर व्यक्ति के साहित्य का अध्ययन भारत का अपना आविष्कार है। सांस्कृतिक अवस्थाओं के बीच में रख कर उसका अध्ययन हम प्रायः नहीं करते थे। हमारे साहित्य के लगभग सभी इतिहासों में ये दोनों बातें मिलती हैं। इन दोनों का नीर-क्षीर सम्मिश्रण हो गया। भाषा, भाव, शैली, पात्र, देशकाल, आदि के आधार पर साहित्य का अध्ययन हमने उधार ही लिया है, किन्तु इस दृष्टि से साहित्य के इतिहास लिखे गये हैं। आदर्श, लोकरंजक स्वरूप— जिसमें शील, सौंदर्य और शक्ति का समुचित समन्वय हो—और रसानुभूति भारतीय समीक्षा के प्रमुख अंग हैं। इतिहास लिखते समय एकत्र सामग्री का अध्ययन इस भारतीय दृष्टि से भी हुआ है और स्वाभाविकता, यथार्थता, आदि अभारतीय दृष्टि से भी। अपनी प्राचीन साहित्यिक संपत्ति के प्रति अपनी श्रद्धा साहित्य के इतिहास में हम इस ढंग से प्रकट करते हैं कि सभी प्रवृत्तियों और साहित्य के सभी स्वरूपों को अपने यहां के आदि युग में उपस्थित दिखलाने का प्रयत्न करते हैं!

दृष्टिकोण की भारतीयता और नवीन तत्त्व

आधुनिक साहित्य के पूर्व तक हमारे साहित्य के अध्ययन और उसके इतिहास में विवेचना का वह स्वरूप, जिसमें महत्त्व को स्पष्ट करने की प्रेरणा रहती है, अधिक होता है। आधुनिक साहित्य के अध्ययन के समय उस अध्ययन की प्रधानता हो जाती है जिसमें विभाजन और विश्लेषण के द्वारा साहित्य के स्वरूप का परिचय कराया जाय। समीक्षा सर्वत्र रहती है।

दोनों सिद्धांतों के प्रयोग के पृथक-पृथक क्षेत्र

(विशेष)

विद्यार्थियों के लिये लिखे गये इतिहास

समालोचनाओं की ही तरह इतिहासों की भी एक बड़ी संख्या विद्यार्थियों के लिए है। इन इतिहासों का महत्त्व इतना ही है कि इनको पढ़ कर सामान्य मस्तिष्क का वह व्यक्ति, जो हिन्दी साहित्य से अपरिचित या कम परिचित हो, इसकी साधारण जानकारी प्राप्त कर ले। इन इतिहासों में गंभीरतापूर्वक लिखे गये इतिहासों की मोटी-मोटी बातें स्पष्ट रूप से दे दी जाती हैं। इन इतिहासों की संख्या काफी अधिक है, क्योंकि ये विद्यार्थियों के लिये होते हैं और इसीलिये—विशेष रूप से तब, जब हाई स्कूल और इंटरमीडियट बोर्ड इन्हें पाठ्यक्रम में स्वीकार करले—इनकी बिक्री खूब होती है। परिणाम यह होता है कि वे विद्वान भी, जिनकी कलम से नये-नये निष्कर्षों, उच्चकोटि की विवेचनाओं और गंभीरतम तथ्यों की सम्भावना और आशा होती है, अपनी प्रतिभा का उपयोग इस दिशा में करने के लिये लालायित हो उठते हैं। उच्च श्रेणी के विद्यार्थियों के लिये लिखे गये इतिहास प्रायः वे हो हैं जो रामचंद्र शुक्ल और श्री कृष्णलाल, आदि विद्वानों ने लिखे हैं। साधारण विद्यार्थियों को ध्यान में रख कर लिखे गये सामान्य इतिहासों में से कुछ ये हैं :—गुलाबराय का 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' (१९३८ ई०), दया शंकर और कृपा शंकर शर्मा का 'हिन्दी साहित्य का परिचय' (१९४६ ई०), छैल बिहारी गुप्त और रामचंद्र शुक्ल 'सरस' का हिन्दी साहित्य परिचय' (१९४४ ई०), प्रेम नारायण का 'हिन्दी साहित्य का छात्रोपयोगी इतिहास' (१९४४ ई०), इत्यादि।

इन्हीं इतिहासों से संबंध रखने वाले कुछ अन्य इतिहास-ग्रंथ भी हैं। इनको हम पृष्ठभूमि साहित्य कह सकते हैं। ये हमारे साहित्य की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हैं।

पृष्ठभूमि साहित्य

इनमें प्राप्त होने वाला अध्ययन, मनन, और चिन्तन लेखक की सूक्ष्म दृष्टि, उसका पांडित्य, इतिहास-जैसे गंभीर विषय के लिये अपेक्षित दृष्टिकोण, सराहनीय होता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१९४० ई०) नामक पुस्तक में उपर्युक्त सभी गुणों के अतिरिक्त मौलिकता भी दर्शनीय है। हिन्दी काव्य साहित्य को धर्म और दर्शन की अक्षुण्ण परम्परा के विकास के रूप में देखा गया है। इस दृष्टि से देखने पर कुछ नई-नई बातें मालूम हुईं; जैसे, हिन्दी साहित्य पराधीन, हत शक्ति, निर्वीर्य और हीनता की भावना से ग्रस्त जाति का इतिहास नहीं है, भक्ति साहित्य का प्रादुर्भाव और विकास इसीलिये नहीं हुआ कि राज्य शासन छिन जाने पर और विदेशियों के अत्याचारों से पीड़ित होने पर निराश जनता का एक मात्र सहारा भगवान ही होता है, रीतिकाल की कविता पतित और गर्हित भावना की द्योतक नहीं है, आदि। राहुल सांकृत्यायन की 'पुरातत्त्व निबंधावली' नामक पुस्तक महायान बौद्ध धर्म, वज्रयान,

चौरासी सिद्धों, आदि पर बड़ी ही महत्त्वपूर्ण और खोज की सामग्री सामने लाती है। इससे प्राचीन साहित्य के समझने में पर्याप्त सहायता मिल सकती है। हीरा लाल जैन की 'जैन साहित्य की पूर्व पीठिका और हमारा अभ्युत्थान' नामक पुस्तक भी ऐसी ही है।

अन्य भाषाओं के साहित्यों के इतिहास

हिन्दी साहित्य के इतिहासों के अतिरिक्त हिन्दी में अन्य साहित्यों के इतिहास भी प्रस्तुत किये गये हैं। ये इतिहास प्रायः उसी शैली में लिखे गये हैं जिस शैली में हिन्दी के इतिहास। उदाहरणों की कमी-बेशी से शैली में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। इन इतिहासों में प्रवृत्तियों की विवेचना भी उतनी गंभीरता और व्यापकता के साथ नहीं होती है जितनी के साथ होनी चहिये। इन इतिहासों का ध्येय वस्तुतः इतना ही होता है कि हमें उस विशेष भाषा के साहित्य के इतिहास का सामान्य ज्ञान प्राप्त हो जाय। इससे हम अपने साहित्य के महत्त्व की अन्य भाषाओं के साहित्य के महत्त्व से तुलना कर के उसे और भी अच्छी तरह से समझ सकते हैं। इन इतिहासों में साहित्य की सम्पूर्णता की एक झाँकी दिखाने का जितना प्रयत्न किया जाता है उतना प्रयत्न वर्णन की सभी छोटी-मोटी बातों को गिनाने का नहीं। कासिम अली साहित्यालंकार की 'उर्दू के हिन्दी सेवक और उर्दू का इतिहास' (१९४३ ई०), कन्हैया लाल पोद्दार की 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (१९३८ ई०), भगवद्दत्त की वैदिक वांङमय का इतिहास' (१९२७ ई०), ब्रजरत्नदास की 'उर्दू साहित्य का इतिहास' (१९३४ ई०), मन्मथनाथ गुप्त की 'बंगला के आधुनिक कवि' (१९४६ ई०), आदि पुस्तकें इसी प्रकार के इतिहासों के उदाहरण हैं।

निबंध

स्वरूप

अपने इस महत्त्वपूर्ण अंग के लिये आधुनिक हिन्दी साहित्य पश्चिम का ऋणी है। । प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय साहित्य में वर्तमान काल की रूपरेखा वाले निबंधों का बीज रूप भी प्राप्त नहीं। परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के हिन्दी लेखकों ने, जिनमें बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, बालमुकुंद गुप्त, जगमोहन सिंह, अम्बिकादत्त व्यास, आदि उल्लेखनीय हैं, साहित्य के इस उपयोगी अंग को अंग्रेजी साहित्य से लिया। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हिन्दी के इन समर्थ सेवकों ने इसके साहित्यिक रूप और शैली को यथेष्ट रूप से विकसित किया। प्रकार और विषय-विस्तार में भी यह प्रगति संतोषजनक रही।[1] इस प्रकार हमारे नवीन निबंध लेखकों को इस क्षेत्र में पुष्ट और प्रौढ़ पृष्ठभूमि मिल सकी।

गत युग और निबंध

जिन कारणों ने उपन्यास के स्थान पर कहानी, पांच-पांच अंकों के नाटकों के स्थान पर एकांकी नाटकों एवं प्रबंध काव्यों के स्थान पर मुक्तक एवं प्रगीतों को प्रधानता दिलाई, उन्हीं ने ही बड़े-बड़े विवेचनात्मक प्रबंधों के स्थान पर छोटे-छोटे निबंधों को प्रमुख स्थान दिलाया। लेखकों और पाठकों की वही मनोवृत्ति, जिसके अनुसार वे थोड़ी देर की एक बैठक में छोटी-सी चीज पढ़ कर फिर किसी दूसरी वैसी ही बैठक में वैसी ही दूसरी चीज पढ़ना चाहते हैं, निबन्धों के वर्त्तमान स्वरूप एवं उनके अत्यधिक प्रसार का कारण है। प्रायः पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ये निबन्ध पाठकों तक पहुँचे। उन्हीं के कारण इनका प्रचार हुआ और ये लोकप्रिय हो गये। अस्तु, निबन्धों का आकार बहुत छोटा हो गया। आधे पृष्ठ से लेकर अधिक से अधिक पंद्रह-बीस पृष्ठों के निबन्धों की ही अधिकता है।

पाठकों की प्रवृत्ति और निबंधों के आकार

एक निबन्ध में प्रायः एक ही विषय—बल्कि विषय के किसी अंग विशेष—पर किसी दृष्टिकोण विशेष से डाला गया प्रकाश ही होता है। यदि एक पुस्तक के अनेक निबन्धों में किसी एक विषय का ही विवेचन होता है तो उस पुस्तक के विभिन्न निबन्ध उस वर्ण्यवस्तु के विभिन्न अंगों एवं पक्षों पर विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रकाश डालते हैं। ये छोटे-छोटे निबन्ध स्वतः अपने में भी पूर्ण होते हैं और सब मिल कर वर्ण्य विषय का सम्पूर्ण

लक्ष्य और आकार

---

१. इसके विस्तृत परिचय के लिये डा० श्रीकृष्ण लाल के 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' (१९००-१९२५ ई०) के पृष्ठ ३४८—३६३ को देखना चाहिये।

स्वरूप उपस्थित भी करते हैं। रामकुमार वर्मा का 'हिमहास' (१९४१ ई०), अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'इतिवृत्त' (१९४६ ई०), रामनाथ 'सुमन' का 'भाई के पत्र' (१९३१ ई०), आदि रचनाएं ऐसी ही हैं। 'हिमहास' में काश्मीर के अनेक दृष्टियों से देखे गये अनेक चित्र हैं। प्रत्येक चित्र की अपनी एक विशेष पूर्णता है; किन्तु कुल मिलाकर ये चित्र मस्तिष्क में काश्मीर का एक भावना प्रधान सुन्दर चित्र उपस्थित कर देते हैं। इन निबन्धों में प्रत्येक की व्यक्तिगत महत्ता की ही प्रधानता होती है।

पत्र-पत्रिकाओं के लेख

विचारों के इन छोटे-छोटे चित्रों की अनेकरूपता किसी भी विचारक का ध्यान आकृष्ट करने में समर्थ है। रुचि, आवश्यकता और सामर्थ्य के अनुसार ये चित्र अनेक रूप में हमारे सामने हैं। उनका सर्वमान्य एवं व्यापक स्वरूप वह है जो हमें पत्र-पत्रिकाओं अथवा संग्रह ग्रंथों में दिखाई पड़ता है। इन्हें प्रायः लेख कहते हैं। किसी विशेष विषय पर अथवा उसके किसी अंग पर लेखक किसी विशेष दृष्टिकोण से अपने विचार प्रकट करता चलता है और हम उससे परिचय प्राप्त करते चलते हैं। बात समाप्त हुई, तो लेखक किसी संबोधन, आदि के बिना ही लेख समाप्त कर देता है। यहां लेखक बिलकुल तटस्थ रहता है। इनमें उसके मस्तिष्क की विचारशीलता ही रहती है। उसका व्यक्तिगत कुछ नहीं रहता। गुलाबराय के 'सिद्धांत और अध्ययन' (१९४६ ई०), नगेंद्र के 'विचार और अनुभूति' (१९३४ ई०) आदि, इलाचंद जोशी के 'विवेचना' (१९४८ ई०), आदि के निबंध इसी रूप में हैं।

पुस्तकों के अध्याय

कभी-कभी कोई विद्वान अपनी बड़ी पुस्तक के किसी अध्याय के कुछ उन वाक्यों को, जो उस अध्याय का पिछले अध्यायों से संबंध प्रकट करते हैं, निकाल कर उसे ऐसे निबन्ध का रूप दे देता है। कभी-कभी पुस्तकों की प्रस्तावनाएं एवं भूमिकाएं भी ऐसे निबन्ध का आकार पा जाती हैं। श्यामसुन्दर दास की पुस्तक 'साहित्यिक लेख' (१९४६ ई०) के अधिकांश निबन्ध ऐसे ही हैं। इस पुस्तक का एक निबन्ध है 'भारतीय साहित्य का विवेचन'। यह निबंध 'साहित्यालोचन' का एक अंश है। इसी प्रकार 'कबीरदास' निबंध 'कबीर ग्रंथावली' की भूमिका का कुछ अंश है।

भाषण

इस प्रकार के निबंधों का स्वरूप भाषणों से थोड़ा-सा मिलता है। यदि भाषणों के आरंभ और अंत के अंश और बीच-बीच के वे अंश, जहाँ व्याख्यान दाता श्रोताओं से प्रत्यक्षतः व्यक्तिगत संबंध स्थापित करके अपने भाषण को आगे बढ़ा रहा हो, हटा दें तो प्रायः भाषण इस रूप के निबंध हो जायंगे। रामचन्द्र शुक्ल की पुस्तक 'चिन्तामणि' के द्वितीय भाग (१९४५ ई०) का अंतिम निबंध है 'काव्य में अभिव्यंजनावाद'। यह निबंध चौबीसवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इन्दौर, की साहित्य-परिषद के सभापति-पद से किया हुआ भाषण है। इस भाषण के प्रारंभिक अंश, बीच-बीच के

कुछ वाक्यों और अंत के अंश को पतले टाइप में लिख कर छोटे कोष्ठक के अंदर कर दिया गया है। भाषण का शेष अंश, जिसे निबन्ध का रूप दिया गया है, मोटे-मोटे टाइप में है। पतले टाइप के कुछ अंश यों हैं:—

"(माननीय विद्वज्जन !

आज मेरे ऐसे अयोग्य और अकर्मण्य व्यक्ति को इस आसन पर पहुँचा कर आप महानुभावों ने केवल अपने अमोघ कृपाबल का परिचय दिया है..................)"

और

"(इन्हीं के संबंध में मैं अपनी कुछ भली या बुरी धारणाएँ क्रम से आप लोगों के सम्मुख प्रकट करूँगा, इस आशा से कि इनका बहुत कुछ संशोधन और परिष्कार इस विद्वन्मंडली के बीच हो जायगा।)"

और

"(काव्य और समालोचना के विवेचन में, मैं समझता हूं, मैंने बहुत अधिक समय ले लिया—इतना अधिक कि अब साहित्य के और अंगों के संबंध में केवल दो-दो बातें ही कही जा सकती हैं।)"

और

"(जिन आंखों से मैंने इतना देखा उन्हीं से अब अपने हिन्दी साहित्य को विश्व की नित्य और अखंड विभूति से शक्ति, सौंदर्य और मंगल का प्रभूत संचय कर के एक स्वतंत्र 'नवनिधि' के रूप में प्रतिष्ठित देखना चाहता हूं। अपनी इस कामना को आप महानुभावों के सम्मुख प्रकट कर के अब मैं क्षमा माँगता हूं और धन्यवाद देता हुआ अपना वक्तव्य समाप्त करता हूं।)"

उपर्युक्त अंशों के हटा देने से भाषण निबंध का रूप पा गया है। हटाने-घटाने का यह कार्य पहले स्वयं लेखक करता था और पाठकों को इसकी सूचना देने की आवश्यकता प्राय: नहीं समझी जाती थी। उक्त निबंध में यह कार्य संपादक महोदय ने किया है। हटाए हुए अंशों के टाइप को छोटा कर देने से निबंध वाले अंश का स्वतंत्र पार्थक्य स्थापित हो गया और भाषण का आनन्द लेने वाले के लिये पूरा भाषण उपस्थित ही है। टाइप के छोटे-बड़े होने से कोई बड़ा व्याघात नहीं होता। किन्तु, अब इसकी भी कोई आवश्यकता नहीं रह गई है क्योंकि इस प्रकार के भाषण निबंध साहित्य के एक स्वतंत्र अंग हो गये हैं। विद्वानों के भाषणों का संग्रह पुस्तक रूप में हो जाता है। ये संग्रह ही मिल कर निबंध साहित्य के इस रूप का निर्माण करते हैं। 'साहित्य निबंधावलि' (१९४८ ई०) में राहुल सांकृत्यायन के अनेक भाषण संग्रहीत हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के विभिन्न पदाधिकारियों के प्रकाशित भाषण इसी प्रकार के साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार के भाषणों में प्रारम्भ, अन्त और मध्य के कुछ अंशों को छोड़ कर शेष सर्वत्र गंभीर समस्याओं पर सीधी-सादी शैली में

लेखक के प्रौढ़ और सुलझे हुए विचार प्रकट किये जाते हैं। ये भाषण कभी-कभी स्थायी साहित्य के अंतर्गत आ जाते हैं। रामचंद्र शुक्ल का उक्त भाषण ऐसा ही है।

पत्र

भाषणों से ही मिलता-जुलता एक दूसरा रूप पत्रों का है। इस प्रकार के निबंधों के आरंभ में संबंध के अनुरूप प्यार, स्नेह या आदर से भरा हुआ संबोधन रहता है। तत्पश्चात् पिछले पत्र के विषय में एकाध पंक्ति लिख कर वर्तमान पत्र के विषय को ले लिया जाता है। पत्र के अंत में फिर संबंध के ही अनुरूप आशीर्वाद देकर या माँग कर या इसी किसी तरह पत्र समाप्त कर के अपना नाम दे दिया जाता है। अन्त में नाम लिखना आवश्यक नहीं समझा जाता है। इस प्रकार पत्र के माध्यम से विषय का विवेचन अपने किसी संबंधी के पास भेजने का रिवाज हमारे यहाँ प्रायः नहीं है। यही कारण है कि भाषणों की अपेक्षा इनमें कृत्रिमता अधिक झलकती है। फिर भी, इनकी अस्वाभाविकता अब नहीं खटकती। इस प्रकार के पत्र भी हमारे निबंध साहित्य के आवश्यक अंग हो गये हैं।

"अजमेर
२१-१-३१

चिरं० भगवती,

मेरा पिछला पत्र मिल गया होगा और आशा है तुमने उस पर ध्यान भी दिया होगा। हम सब लोग यहां अच्छी तरह से हैं; यों तो शरीर है, एक न एक झगड़ा लगा ही रहता है। यह जान कर संतोष हुआ कि तुम्हारे इलाज का प्रबंध प्रयाग में हो गया है। तुम इस व्यवस्था मे पूरा-पूरा लाभ उठाना। ऐसा न हो कि रोग जड़ से अच्छा न हो और अपनी लापरवाही से फिर तुम थोड़े दिनों के बाद बीमारी के लक्षण पैदा कर के लोगों में चिन्ता बढ़ा दो। सदा अपने स्वास्थ्य का ध्यान रक्खो क्योंकि तन्दुरुस्ती से बढ़ कर स्त्री का सच्चा मित्र दूसरा नहीं।

अभी तक मैं तुम्हें विवाह तथा उससे संबंध रखने वाली अनेक बातों के बारे में दस पत्र लिख चुका हूं। यों तो जीवन का कोई एक निश्चित रास्ता नहीं....।"[१]

इस प्रकार धीरे-धीरे निबंध प्रारंभ कर दिया जाता है और एक पत्र में किसी एक विषय का पूरा-पूरा विवेचन उपस्थित कर दिया जाता है। मुद्रित हो जाने पर ये निबंध भाषणों की तरह हो जाते हैं। अन्तर इतना ही होता है कि भाषण में श्रोतागण संबोधित होते हैं और यहां कोई अपना संबंधी। यहां कभी-कभी अपना घर और व्यक्तित्व की निजी बातें भी रहती हैं जब कि भाषणों में इनका प्रायः अभाव रहता है।

पत्र रूप के निबंधों से कुछ-कुछ मिलते-जुलते निबंध डायरी के रूप में भी मिलते हैं। ये प्रायः संस्मरण होते हैं। हो सकता है कि ये संस्मरण वस्तुतः किसी की

---

१. रामनाथ 'सुमन' के 'भाई के पत्र' (१९३१ ई०)

डायरी डायरी के ही पन्ने होते हों और यह भी हो सकता है कि न हों। इस दृष्टि से इनकी भी परिस्थिति वैसी ही है जैसी पत्रों की। पत्र रूप के निबंधों में लेखनी पर अधिक नियंत्रण अनिवार्य नहीं, किन्तु डायरी के रूप के निबंधों में मन को उतनी अधिक छूट नहीं यहां मुख्य-मुख्य बातों को संक्षेप में सीधी-सादी भाषा में लिखा जाता है। कल्पनाओं एवं मनोवेगों के लिये यहां कोई स्थान नहीं। काव्यात्मकता का तो बिल्कुल अभाव रहता है। यहां कई तरह की बातें कही जा सकती हैं, किन्तु सब की सब थोड़े ही में। इस दृष्टि से निबंधों का यह रूप गद्य-गीत वाली शैली के बिल्कुल उलटा होता है। इसमें वे ही बातें चुनी जाती हैं जो तत्त्व की हों। यहां सफलता विषय की महानता के ऊपर अधिक निर्भर होती है। हास्य, आदि मनोविकारों के लिये बहुत कम स्थान रहता है। एकाध पंक्तियों के अन्दर ही लेखक उनको अभिव्यक्त कर दे, तो वह बात दूसरी है। प्रायः ऊपर स्थान का नाम और तारीख का उल्लेख कर दिया जाता है। उसके बाद तुरंत ही विषय को प्रारंभ कर दिया जाता है। घनश्यामदास बिड़ला की 'डायरी के कुछ पन्ने' (१९४० ई०) से उदाहरण लीजिए:—

"१ सितम्बर, '३१
"राजपूताना" जहाज

समुद्र आज बुधवार को शांत है। सूरजिया तो अब भी बीमार है। पारस नाथ जी ने आज होश संभाला है। मैंने एक बेला भोजन नहीं किया। गांधी जी मजे से हैं। पंडित जी की रसोई बनने लगी है—जहाज के सामान से ही। गोविन्द जी को पेड़ों से तकलीफ़-सी हुई। महात्मा जी की प्रार्थना रोज सुबह-शाम होती है। हिन्दुस्तानी आते हैं। अंग्रेज दूर से ही नज़र बचा कर देखते रहते हैं। आज रात को अदन पहुंच जायंगे। पंडित जी कहते थे कि "जहाज कैदखाना है। देखो, कैसी लीला है! हम पैसे भी देते हैं और कैद भी रहते हैं।" कल बेचैन हो कर कहने लगे—

सीतापति रघुनाथ जी, तुम लगि मेरी दौर;
जैसे काग जहाज को, सूझत और न ठौर।

और ठौर यहां कहां सूझे!"

इन्हें निबंध माना जाय या नहीं, यह एक विवादास्पद विषय हो सकता है। गद्य-गीतों को निबंध का एक रूप माना ही जाता है; इन्हें भी मानना चाहिये।

पुस्तकों की भूमिकाएं या प्रस्तावनाएं निबंधों का एक अन्य रूप वह है जो हमें पुस्तकों की भूमिकाओं एवं प्रस्ताव-नाओं में मिलता है। इसके प्रारंभ और अंत में लेखक के निज के संबंध की बातें रहती हैं; जैसे, उसकी विनम्रता या कृतज्ञता-ज्ञापन, आदि। निबंध के मध्य भाग में प्रस्तावित पुस्तक की रचनाओं पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डाली जाती है या उसके विषय, उसकी

प्रवृत्ति, आदि का विवेचन होता है। इस रूप के निबंध प्रायः प्रसिद्ध व्यक्तियों के द्वारा ही लिखे जाते हैं, क्योंकि अप्रसिद्ध, अमान्य एवं साधारण व्यक्तियों से अपनी पुस्तक की भूमिका लिखवाना लोग कम पसंद करते हैं—चाहे वे कितनी ही अच्छीं क्यों न लिखें ! सुमित्रानन्दन पंत की कविता-पुस्तक 'पल्लव' की भूमिका की धूम बहुत दिनों तक थी। उसका ऐतिहासिक महत्त्व आज भी कम नहीं। रघुबीर सिंह की पुस्तक, 'शेष स्मृतियां' (१९३९ ई०), की भूमिका का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इलाचंद जोशी के उपन्यास 'प्रेत और छाया' की भूमिका उनके एक निबंध-संग्रह, 'विवेचना' (१९४८ ई०), में संग्रहीत हो चुकी है। इस कथन का अर्थ यह कदापि न लगाया जाय कि जितनी भूमिकाएँ या प्रस्तावनाएं हैं वे सब की सब निबंध ही हैं।

संस्मरण

संस्मरणों में हम हिन्दी निबंधों का एक मनोरम स्वरूप पाते हैं। उनके पढ़ने में जीवनी पढ़ने का-सा आनन्द मिलता है। यदि चाहें तो इस प्रकार के निबंधों को हम जीवनी साहित्य का एक भाग मान सकते हैं। इन निबंधों में लेखक अपने और अपने संस्मरणीय व्यक्ति के निजी संबंध का उल्लेख करता हुआ उस व्यक्ति के जीवन की कुछ घटनाओं का वर्णन करके उसकी महानता सिद्ध करते हुए अपने निबंध को बढ़ाता है। अंत या तो मंगल-कामना से होता है या आत्मा की शांति की प्रार्थना के साथ करुणा का हलका उद्रेक कर के। जीवनी की तरह लगने वाले ये निबंध प्रायः कहानी की तरह लगते हैं और रोचक होते हैं। माननीय और प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवन के कुछ उन क्षणों का परिचय, जिनमें उन्होंने हम लोगों की ही तरह के सामान्य प्रतिभा एवं सामर्थ्य वाले प्राणियों से अपनेपन का व्यवहार किया था, हमें एक प्रकार का मानसिक संतोष देता है। इसके अतिरिक्त वह उन महान व्यक्तियों की चमकदार एवं संसार में प्रतिष्ठित महानता के अतिरिक्त उनके सामान्य जीवन की महानता को भी सामने लाता है और उनकी मानव सुलभ वृत्तियों का परिचय देकर उनमें और हममें एक प्रकार का अपनापन स्थापित कर देता है। जवाहर लाल नेहरू के अन्तर का मानव हम सब के लिये दुर्लभ है। संस्मरण उसे सुलभ कर देता है। मोहन लाल महतो की पुस्तक 'आरती के दीप' (१९४० ई०) इस प्रकार के निबंध-संकलनों का सफल प्रतिनिधित्व करती है।

पैम्फलेट या ट्रैक्ट

छोटे-छोटे पैम्फलेटों या ट्रैक्टों के रूप में भी कभी-कभी निबंधों के दर्शन हो जाते हैं। इनके द्वारा बाइबिल की चमत्कारपूर्ण कहानियों का प्रचार, आर्य समाज के विद्वानों (जिनमें गंगा प्रसाद उपाध्याय का नाम उल्लेखनीय है) के द्वारा हिन्दू धर्म के विरोधियों की उक्तियों का खंडन, हिन्दू समाज की कुरीतियों पर प्रहार, और वैदिक रीतियों का प्रचार, सम्मेलनों के सभापतियों के भाषणों को स्थायी रूप की प्राप्ति और सरकार की बातों

का जनता में प्रचार होता है। युद्ध-काल में इन पैम्फलेटों की भरमार हो जाती है क्योंकि उस समय प्रचार-कार्य की बहुत आवश्यकता रहती है।

पुस्तक के रूप में

कभी-कभी पुस्तक के रूप में लिखे गये निबंध भी मिल जाते हैं। पहले इस ओर कुछ संकेत किया जा चुका है। सद्‌गुरुशरण अवस्थी की 'भ्रमित पथिक' (१९२९ ई०) ऐसी ही पुस्तक है। सत्यनारायण शर्मा की दो पुस्तकों, 'आंसुओं का देश' और 'जीवन-यात्रा' (१९४६ ई०), का रूप भी ऐसा ही है। इन पुस्तकों में प्रत्येक का एक अपना विषय है। पूरी पुस्तक में उसी पर लेखनी चली है। 'भ्रमित पथिक' तो उपन्यास की तरह लग सकता है, यद्यपि वह उपन्यास है नहीं। इन पुस्तकों के विभिन्न अध्यायों में क्रमबद्धता होती है। 'आंसुओं का देश' में कवित्व के साथ दार्शनिकता है और 'जीवन-यात्रा' में कवित्व के साथ ओज। ब्रज नन्दन सहाय 'ब्रज बल्लभ' की 'विश्व-दर्शन' (१९४० ई०) भी ऐसी ही रचना है।

हिन्दी के निबंधों के स्वरूप प्रधानतया ये ही हैं। विषय की विविधता और लेखकों की रूचि की विभिन्नता के साथ-साथ इस रूप-वैचित्र्य में कमी-बेशी होती रही है और होती रहेगी।

प्रकार

वर्गीकरण और रुचि-वैचित्र्य

इस अवधि में हिन्दी साहित्य के इस अंग पर इतना अधिक लिखा गया है कि उसका स्पष्ट और सुनिश्चित विभाजन असंभव नहीं तो, बहुत ही कठिन और अत्याधिक श्रमसाध्य तो अवश्य ही है। कठिनाई यह है कि विभिन्न सामर्थ्य वाली, भिन्न-भिन्न रुचि की प्रतिभाओं ने निबंध के ही अनेक प्रकारों का नहीं, अपितु साहित्य के भी अनेक रूपों का मिश्रण कर दिया है। एक ही निबंध के अन्दर हम कवित्व का भी आनन्द पा सकते हैं और आलोचना का भी, लेख का भी और कहानी का भी। इसे अनुचित तभी कहा जा सकता है जब दो या तीन में से कोई तत्त्व बिल्कुल निरर्थक, अस्पष्ट अथवा भरती के लिये हो। यदि दोनों तत्त्व एक दूसरे के सहायक हों अर्थात् कवित्व आलोचना को स्पष्ट करने वाला और रोचक बना देने वाला हो तथा आलोचना कवित्व को ख़याली पुलाव न रहने देकर ठोस वस्तु, काम की चीज़, बना देने वाली हो तो कोई कारण नहीं है कि इस कवित्व को रोका या दबाया जाय। अपनी-अपनी रुचि की बात दूसरी है। रामकुमार वर्मा की साधारण बात भी कवित्व लिये होती है; जैसे, अपनी पुस्तक 'हिमहास' की भूमिका में उन्होंने कहा है कि मैं काश्मीर की ओर वैसे ही चला जैसे पंद्रहवाँ वर्ष किसी कुमारी बालिका की ओर। इसके ठीक प्रतिकूल धीरेंद्र वर्मा साहित्यिक निबन्धों के लिये भी भूमिका को अनावश्यक समझते हैं। कोई भी रुचि खराब नहीं है। हाँ, पहली में इतना अवश्य है कि कुछ-कुछ मनमानी निहित रहती है; और कदाचित् इसीलिये इस प्रकार

के मिश्रण सभी लेखक अच्छे ढंग से नहीं कर पाते। यही कारण है कि इस प्रकार के उच्चकोटि के निबंध संख्या में बहुत कम हैं। प्रवृत्तियों का यह मिश्रण उतनी ही सीमा तक मान्य है जितनी तक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से स्वाभाविक हो। तब, जो भी वर्गीकरण किया जायगा वह किसी एक तत्त्व की प्रधानता को दृष्टि में रख कर ही होगा।

विचारात्मक शुष्क निबंध

१९२६ ई० से १९४७ ई० तक के बीच हिन्दी प्रदेश जिन परिस्थितियों से गुज़रा है उनमें यह स्वाभाविक था कि वह चिन्तनशील हो जाय। हमारे यहां का निबंध साहित्य इसका ज्वलंत उदाहरण है। निबंधों की बहुत अधिक संख्या में हमें अपने लेखकों का चिन्तन ही मिलता है। इस चिन्तन में जब मस्तिष्क की ही प्रधानता रहती है तब निबंध विचारात्मक हो जाते हैं। इस अवधि में बहुत ही उच्चकोटि के विचारात्मक निबंध लिखे गये हैं। इन निबंधों की भाषा परिमार्जित होती है। शैली सीधी-सादी होती है। काव्य के उपकरणों के लिये यहां कुछ भी गुंजाइश नहीं। ये निबंध किसी एक प्रधान विषय को लेकर चलते हैं। विषय और दृष्टिकोण के अनुसार विवेचन में पूर्णता लाने का यथासंभव प्रयत्न किया जाता है। रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, धीरेन्द्र वर्मा, हजारी प्रसाद दिवेदी, आदि लेखकों के निबंध इसी श्रेणी के होते हैं। कुछ निबंधों में तो बिल्कुल मस्तिष्क ही मस्तिष्क होता है। लेखक यह तै करके बैठता है कि विषय से संबंध न रखने वाला एक भी शब्द निबंध में न आने पायेगा। ये निबंध-लेखक न कभी प्रसन्न होना जानते हैं और न कभी दुखी होना। इन निबंधों को लिखते समय ये लेखक अपने मस्तिष्क को वैसे ही कर लेते हैं जैसा समाधि-काल के योगियों का मस्तिष्क होता है। धीरेन्द्र वर्मा की निबंध पुस्तक 'विचार धारा' (१९४९ ई०) में 'खोज' शीर्षक वाले अध्याय के निबंध ऐसे ही हैं। पीतांबर दत्त बड़थ्वाल के 'योग प्रवाह' (१९४६ ई०) के भी अधिकांश निबंध इसी श्रेणी के हैं।

"अब रहे सिद्धाचार्य नागार्जुन। मेरी समझ से यही इन सबदियों के लेखक हैं। स्वयं इन सबदियों में भी नागार्जुन ने अपने सिद्ध होने का संकेत किया है—'सिद्ध संकेत' नागार्जुन 'क' है। परन्तु इसका दृढ़ प्रमाण यह भी है कि अलग-अलग सरणियों से विचार करने से दोनों का एक ही समय ठहरता है।"[1]

इन निबंधों का संबंध प्रायः खोजों एवं विवेचनाओं से होता है। यहां लेखक तथ्य और तर्क से अपने खोज को प्रमाणित करने का प्रयत्न करता है। यहां हृदय की कोमलतम अनुभूतियों का कुछ भी ध्यान नहीं रक्खा जाता। ऐसे निबंध प्रायः कम ही लिखे गये हैं। कारण यह है कि इन निबंधों के लिये विचारों की जो प्रौढ़ता, अध्ययन की जो गंभीरता, और मस्तिष्क की जिस एकाग्रता एवं चिंतन

---

१. 'योग प्रवाह'

की जिस तटस्थता की आवश्यकता है वह विरले ही लेखकों के पास होती है।

विचारात्मक सरस निबंध

प्राय: लेखकों ने ऐसे निबंध लिखे हैं जिनमें जहां एक ओर प्रौढ़ विचार होते हैं वहां दूसरी ओर उनके प्रतिपादन की शैली में मन को आकर्षित करने वाले एवं अपनी ओर लगाये रहने वाले तत्त्व भी रहते हैं। बुद्धि की शुष्कता को कम करने के लिये हृदय की सरसता मौजूद रहती है। हृदय की अनुरंजकता बुद्धि के श्रम का परिहार कर देती है। रामचन्द्र शुक्ल के 'चिन्तामणि' (१९३९ ई०) के अधिकांश निबंध ऐसे ही हैं। यद्यपि इन निबंधों में साहित्यिकता अधिक रहती है, फिर भी उदाहरणों की रंजकता, हास्य की परिस्थितियां, व्यंग्य का पुट और कथन की रमणीयता संतुलन बनाये रहती है। जहाँ कहीं लेखक अपनी भावुकता को रोक नहीं सका वहां तो विचार और भाव दोनों समान भूमि पर आ जाते हैं। किन्तु जहाँ इन तत्त्वों की कमी हो गई है वहाँ इनके निबंध भी रूखे हो गये हैं। इनके मनोवैज्ञानिक निबंध साहित्यिक निबंधों की अपेक्षा अधिक सरस हैं। भावना और बुद्धि का सुन्दर समन्वय हमें हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों में मिलता है। वर्णन के प्रवाह, कथनों के अपनापन से पूर्ण होने, और मानव हृदय को छू लेने वाली भावुकता से ये निबंध इतने सुन्दर हो जाते हैं कि मन ऊबने नहीं पाता। इन निबंधों में उद्देश्य की उत्कृष्टता की भी कमी नहीं। जिस प्रधान बात को लेखक हमारे सामने रखना चाहता है उसी की ओर निबंध का प्रत्येक वाक्य झुकता है। पूरे निबंध का हृदय पर वही प्रभाव पड़ता है जो विचारात्मक निबंधों के लेखकों के तर्कों का पड़ सकता है। कभी-कभी सामान्य विषयों; जैसे, अशोक के फूल या बसंत, आदि को ले कर भी लेखक अंत में उपमा, आदि के द्वारा वैसा ही मार्मिक प्रभाव ला देता है।

"दो कांचनार वृक्ष इस हिन्दी भवन में हैं। एक ठीक मेरे दरवाज़े पर और दूसरा मेरे पड़ौसी के। भाग्य की विडंबना देखिये कि दोनों एक ही दिन के लगाये गये हैं। मेरा वाला ज्यादा स्वस्थ और सबल है। पड़ोसी वाला कमज़ोर, मरियल। परन्तु इसमें फूल नहीं आये और वह कमबख्त कंधे पर से झूल पड़ा है। मरियल-सा पेड़ है, पर क्या मजाल कि आप उसमें फूल के सिवा और कुछ देखें! .... कमज़ोरों में भावुकता ज्यादा होती होगी..........................पढ़ा है, हिन्दुस्तान के जवानों में कोई उमंग नहीं,................इधर देखता हूँ कि पेड़-पौधे और भी बुरे हैं। सारी दुनियां में हल्ला हो गया कि बसंत आ गया। पर इन कमबख्तों को कोई ख़बर ही नहीं। कभी-कभी सोचता हूं कि इनके पास तक संदेश पहुंचाने का क्या कोई साधन नहीं हो सकता...............मुझे बुखार आ रहा है। यह भी नियति का मज़ाक ही है। सारी दुनियां में हल्ला हो गया कि बसंत आ रहा है, और मेरे पास आया बुखार..........।"

हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के 'विचार और वितर्क' (१९४५ ई०) तथा 'अशोक

के फूल' (१९४८ ई०) में ऐसे निबंध बहुत हैं। इन निबंधों की भाषा और शैली इस ढंग की होती है कि लगता है कि लेखक हमारे और अपने बीच में कोई व्यवधान नहीं रखना चाहता। भाषा में विषयानुकूल परिमार्जन एवं साहित्यिकता के साथ-साथ वास्तविक वार्तालाप की शैली का बहुत ही सफल समन्वय रहता है। उक्ति और प्रसंगों की मार्मिकता पर मन मुग्ध हो जाता है। कभी-कभी पूरे का पूरा निबंध एक उपमा पर आधारित रहता है। शव साधना में शव को औंधा लिटा कर उस पर बैठा जाता है और सिद्धि के समय शव का मुख ऊपर की ओर हो जाता है। प्राचीन युग और उसके आदर्श शव हैं, वर्त्तमान पीढ़ी साधक है, और उन आदर्शों को अपने अनुकूल कर लेना ही मुख को ऊपर मुड़वा लेना है। हजारी प्रसाद द्विवेदी का एक सुंदर निबंध केवल इसी साम्य को ले कर लिखा गया है। ऐसे निबंधों में जहाँ लेखक के अध्ययन की गंभीरता का पता लगता है वहीं नवीन समस्याओं के प्रति उसकी सतत जागरूकता और प्रगतिशीलता से भी परिचय होता है। कहीं-कहीं ये निबंध वार्त्तालाप का स्वरूप धारण कर लेते हैं, कहीं-कहीं वर्णन का, और कहीं-कहीं संस्मरण का। हजारी प्रसाद द्विवेदी का निबंध 'गतिशील चिन्तन' हिन्दी के उत्कृष्टतम निबंधों में भी शीर्ष स्थान का अधिकारी हो सकता है।

जैनेंद्र, आदि लेखकों के इसी श्रेणी के निबंधों का एक दूसरा ही आनन्द है। इन निबंधों में बातचीत और तर्क, दोनों, इस प्रकार मिले-जुले चलते हैं कि उन सामान्य बातों से निकलने वाले निष्कर्षों की स्वाभाविकता और नवीनता पर हम आश्चर्य और प्रशंसा से भर जाते हैं। ये निबंध भी चिन्तन के ही परिणाम होते हैं और यह चिन्तन ऊर्ध्वमुखी होता है। तात्पर्य यह है कि इस दार्शनिक चिन्तन का आधार होता है समाज की यथार्थ परिस्थिति। आदर्श और यथार्थ, स्वाभाविकता और प्रतीयमान अस्वाभाविकता, का यह समन्वय सुन्दर कला का उदाहरण है। यहां कथन का रुख़ इतनी जल्दी-जल्दी पलटता है कि अधीर मस्तिष्क उसको निरर्थक समझने की भी ग़लती कर सकता है।

"पानी हमारे पीने के लिये बना है, यह कहना पानी की अपनी सचाई को बहुत परिमित कर देना है। इसका अर्थ यह है कि जब तक मुझे प्यास न हो तब तक पानी निरर्थक है। अपनी प्यास के द्वारा ही यदि हम पानी को ग्रहण करते हैं, तो हम पानी को नहीं पाते, सिर्फ अपनी प्यास बुझाते हैं।

पानी की यथार्थता तक पहुंचने के लिये यह आवश्यक है कि हम अपनी प्यास बुझाने की लालसा और ग़रज़ की आंखों से पानी को न देखें, उससे कुछ ऊंचा नाता पानी के साथ स्थापित करें।

जिसने पानी के संबंध में किसी नवीन सचाई का आविष्कार किया, जिसने उस पानी को अधिक उपलब्ध किया और कराया, वह व्यक्ति प्यासा न

रहा होगा। पानी के साथ उसका संबंध अधिक आत्मीय और स्नेह-स्निग्ध रहा होगा। वह पानी का ठेकेदार न होगा। वह उसका साधक और शोधक रहा होगा।"[१]

इन निबंधों के चित्रों में काफी सजीवता रहती है। इनमें विश्लेषण-कला उच्च कोटि की होती है। जिस प्रकार बुराइयों के निरीक्षण में सूक्ष्मता रहती है उसी प्रकार उनके कारणों और निदानों के खोज में भी। यहाँ मनोविज्ञान की सहायता से नैतिक सुधार का प्रयत्न किया जाता है। कभी विवेचना का आनन्द आता है, कभी गद्य काव्य का, कभी कहानी का, और कभी संभाषण का। जैनेंद्र का 'दही और समाज' शीर्षक निबंध एक ऐसा ही व्यंग्य है। तात्पर्य यह है कि हिन्दी में बहुत अधिक संख्या ऐसे निबंधों की है जिनमें प्राधान्य तो होता है विचारों का, किन्तु उन विचारों को साहित्यिक सरसता के पुट के साथ उपस्थित किया जाता है। साहित्यिक सरसता का यह पुट उतने ही ढंगों से दिया जाता है साहित्य जितने के रूप हैं।

भावनात्मक निबंध या गद्यगीत

हमारे निबंध साहित्य का एक वृहत् और साथ ही साथ उत्कृष्ट अंश ऐसे निबंधों का है जिनमें भावनाओं की प्रधानता रहती है। यहाँ बुद्धि हृदय की अनुगामिनी रहती है। ऐसे निबंध हिन्दी में बहुत अधिक और बहुत अधिक प्रकार के हैं। इन निबन्धों में लेखक की भावुकता अपने पूर्ण वेग के साथ अनेक छबि के साथ प्रकट होती है। कुछ निबंध तो ऐसे होते हैं जिनमें कवित्व अपनी पूर्ण सज-धज के साथ उपस्थित रहता हैं। कभी केवल लय और छंद की रहती है। अलंकारमयी भाषा, रस से भरी हुई शैली, भावानुकूल रीतियों का चयन, शब्द-माधुर्य, आदि सब-कुछ रहता है। विचार उतनी ही मात्रा में रहते हैं जितनी मात्रा में वे कविता में रहते हैं या रह सकते हैं। इन निबन्धों में गद्यात्मकता नाममात्र को ही रहती है। रामकुमार वर्मा ने 'हिमहास' में लिखा है :—

"मानसबल के निर्मल जल में जब मैंने अपनी दृष्टि डाली तो नीचे की सभी वस्तुएं स्पष्टता के साथ दीख पड़ीं। उसी समय आशा के समान विविध रंगों से रंजित एक पक्षी अपनी गति की रेखाओं से संगीत का रंग भरते हुए उड़ गया। उसका प्रतिबिंब जल के ऊपर एक रंगीन लहर बन कर निकल गया। नीचे और ऊपर के प्रतिबिंबों ने मानसबल को एक संत के हृदय के समान बना दिया जिसमें निरन्तर लौकिक और अलौकिक भावनाओं का प्रतिबिंब पड़ा करता है।"

लौकिक गद्य-गीत

इन भावनात्मक निबंधों का, जिन्हें प्रायः गद्य-गीत की संज्ञा दी जाती है, एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। मोटे रूप से हम इन्हें दो भागों में विभाजित कर सकते हैं :—लौकिक, और अलौकिक। लौकिक के भी कई महत्त्वपूर्ण भाग हो सकते हैं; यथा, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक, आदि। प्रकृति का सहारा लिया जाता है। भाव प्रधान भाषा रक्खी जाती है। लेखक तटस्थ हो कर एक दर्शक-दिग्दर्शक की भाँति सब-कुछ

१. 'जैनेंद्र के विचार' (१९३७ ई०)

कहता चलता है। इन निवन्धों में विचारों की सुन्दरता और सूझ की उत्कृष्टता प्रशंसनीय और विचारोत्तेजक होती है। इनके लेखकों की कल्पना बड़ी ही उर्वर होती है। शैली चित्रात्मकता लिये हुए होती है। अध्ययन की प्रौढ़ता, प्रसिद्ध लेखकों की कृतियों से सुन्दर-सुन्दर उद्धरण, तर्क और युक्तियाँ, सब-कुछ, रहती हैं। ऐसा लगता है कि लेखकों ने यह तय कर लिया है कि कोई भी विषय हो, हम उसे कविता के परिधान में एक बार उपस्थित करने का लोभ नहीं ही छोड़ेंगे। वातावरण ऐसा उपस्थित कर दिया जाता है कि गद्य गद्य-गीत न होते हुए भी गद्य-गीत लगने लगता है। भाषा में बहस या बातचीत या वर्णन का गुण विद्यमान रहता है। प्रवाह दृष्टव्य होता है। आवश्यकतानुसार ओज, प्रसाद या माधुर्य की भी कमी नहीं रहती।

"और इन्हें तुम प्यार आखिर करोगे ही क्या !
इनके रूप के ही कारण तो इन्हें प्यार करने पर उतारू हो रहे हो !
इनका रूप ! ....बावले !
प्रभात के ओस-कण देखे हैं ?
क्षण भर की है यह ज्योत्स्ना !
फिर वही तिमिर-जाल !
यह रूप तुम्हारे प्यार करने के लिये बना ही नहीं।
उधर देख रहे हो ?
किसकी कब्र है वह ?
कौन सोयी हुई है वहाँ ?
काश ! तुम कुछ समय पहले उसे देखते !
भूल जाते इसको, जिसके चितवन-शर तुम्हारा पथावरोध कर रहे हैं।
क्या जाने कितने रूप-शलभ उसके सौंदर्य-प्रदीप पर मँडराया करते थे !
....
और यदि एक बार तुम इसकी वर्त्तमान आकृति को देख लो तो....!
रूप का इस राह में यही परिणाम होता है युवक !
सौंदर्य को प्यार करो !
उसकी उपासना करो !
................"[१]

सत्यनारायण शर्मा उपर्युक्त निवंध में नवयुवकों को यह उपदेश दे रहे हैं कि नारी के रूप पर ऐसी आसक्ति रखना कि वे अपना कर्त्तव्य भुला दें, अशोभन है। यही बात यहाँ मनमोहिनी कविता के परिधान में हमारे सामने आई है। उपदेश ने यहाँ पत्नी की सलाह का-सा रूप धारण कर

१. सत्यनारायण शर्मा : 'जीवन यात्रा' (१९४६ ई०)

लिया है। इस प्रकार जब उपदेश और भाषण के विषयों को भी कविता का आकार मिल जाता है तब मानव-हृदय से सीधे सम्बन्ध रखने वाली बातों का क्या कहना !

हमारे गद्य-गीतों की सबसे अधिक संख्या का आधार प्रेम है। यह प्रेम पूर्ण रूप से लौकिक होकर भी आया है :—

लौकिक प्रेम-प्रधान गद्य-गीत

"अब जब मैं पूजा पर बैठता हूं तब मेरे अंतर्नयनों के सामने से मेरे आराध्य का चित्र हट जाता है।

क्या यह मेरी दुर्बलता है ?

पूजा की विफलता है ?

पर यदि दुर्बलता है तो भगवान मेरी अनुरागिनी के लिये अपना आसन क्यों छोड़ देते हैं ?"[1]

कभी यही प्रेम पूर्ण रूप से आध्यात्मिक होकर आता है। इस आध्यात्मिकता का आधार होता है व्यक्ति और समष्टि का कल्याण। जहाँ समष्टि का प्रश्न होता है वहाँ वह काफी शुद्ध, सात्विक, और संयत ढंग से आता है। भावनाओं का आवेग संतुलन को बिगाड़ नहीं पाता। वातावरण सात्विक रहता है। कथन में आकुलता रहती है और प्रवाह रहता है, किन्तु पागलपन का प्रलाप नहीं रहता। उदाहरण के लिये देवशर्मा 'अभय' की पुस्तक 'तरंगित हृदय' (१९२६ ई०) देखी जा सकती है। यहाँ बनावट का अभाव मिलता है। भाव की गंभीरता और अनुभूति की सच्चाई अधिक मिलती है। देखिए :—

आध्यात्मिक गद्य-गीत

"हे आनन्दघन ! तुम ही यदि ऊपर से सहस्रों शीतल धाराओं में मूसलाधार इस पर बरसो, तभी इस अग्निकांड के बुझने की कुछ संभावना है—तभी कुछ संसार के प्राणियों की रक्षा हो सकती है। बरसो, बरसो, आनन्दघन ! ऐसा बरसो कि यह वसुन्धरा तल जल-प्लावित हो जाय, सब जगह पानी ही पानी हो जाय ! ऐसा बरसो कि सब आग बुझ जाय और सब जली हुई राख और अधजली वस्तुएं भी बह जायँ और यह संसार शांत, निर्मल और धुला हुआ निकल आवे।"

लेकिन जहां पूरा का पूरा 'इदं' 'अहं' से ही आच्छादित हो जाता है वहां लेखक के ऊपर कदाचित् कोई भी प्रतिबंध नहीं रह जाता। वह जो कुछ भी चाहे और जिस भी ढंग से चाहे, कह सकता है। वातावरण प्रायः आध्यात्मिक विरह का रहता है। लेखक अपने उपास्य को अपना प्रियतम मान लेता है। बस, विरह और मिलन की दो सीमाओं के बीच विभिन्न स्थितियों में लेखक अपने को रखता है और अनेक ढंग

आध्यात्मिक गद्य गीत (प्रेम प्रधान)

---

१. विश्वंभर 'मानव' : 'सोने से पहले' (१९४३ ई०)

से अपनी बातें कहता है। सूफ़ियों वाली 'प्रेम की पीर' बड़े ही प्रखर रूप में यहां दिखाई पड़ती है।

आध्यात्मिकता और लौकिकता का मिश्रित रूप

इस 'प्रेम की पीर' में लेखक जहां अपनी ऊंचाई को सँभाल नहीं पाता वहीं प्रकाश्य या अप्रकाश्य रूप से आध्यात्मिकता अपने स्तर से नीचे गिर जाती है। लेखक समझता होगा कि वह जो कुछ कहता है उसकी अध्यात्मपरक व्याख्या कष्ट-साध्य न होगी किन्तु अनजाने में वह जिस वातावरण की सृष्टि करता चलता है वही उस तथ्य को सिद्ध कर देती है। कहीं-कहीं यह आध्यात्मिक और लौकिक तत्त्व इस ढंग से मिले रहते हैं कि निश्चित रूप से कुछ कह सकना असंभव हो जाता है। दिनेशनन्दिनी चोरड्या के गद्य-गीतों में हमें यही बात मिलती है। देखिए :—

"जिसने दर्दे दिल दिया है वही मेरी परिचर्या भी करता, किन्तु वह तो आज मेरी खिड़की के नीचे से गुज़रा, पर उसने मेरी ओर देखा तक नहीं।"

"यौवन जब हृदय की सीमा को लांघ कर आखों तक उछल पड़ता है, तब भी मैं निश्चित नहीं कर पाती, प्यार करूं अथवा मातृत्व के महत्त्व का महान आंचल पसारूं! जरा से अघा कर मृदुल मृत्यु का आलिंगन करते समय भी मुझे नहीं सूझता कि बेगाने विश्व को अपना समझूं वा अनंत की उपासना करूं जहां मेरे उनके शुभ मिलन की संभावना है!"

तुम मुझ पर दिलो जान से फ़िदा हो!
मैं भी तुम्हारे नूरे अज़ल पर अन्तस्तल से निसार हूं।"[१]

स्पष्ट है कि यहां भारतीय भक्तिवाद, सूफियों का प्रेमवाद, उर्दू शायरी की अदा, आदि सब की अभिव्यंजना हो रही है। लेखिका अपने चित्रों में इन सभी रंगों का सुन्दरतम मिश्रण उपस्थित करना चाहती है। भावावेग में यह नहीं सूझता कि कौन-सा रंग बहुत गहरा हो रहा है और उसका क्या प्रभाव पड़ने जा रहा है। लक्ष्य तो रहता है आध्यात्मिक प्रेम, किन्तु किसी चीज की कमी उसे धुँधला कर देती है।

फिर भी, उनमें हमें भावुक हृदय के प्रांजल प्रेम की बड़ी ही सुन्दर झाँकी मिलती है। और कुछ नहीं, तो उच्च कोटि के प्रेम की मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का विकास बड़े ही सुन्दर और स्वाभाविक ढंग से हमें दिखाई पड़ता है। 'रजनीश' की 'आराधना' (१९४१ ई०) नामक पुस्तक का इस दृष्टि से बहुत महत्त्व है। देखिए :—

प्रेम की मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों के विकास की सीढ़ियाँ

"मैं नहीं जानता कि जब तुम्हारी केश-राशि उच्छृंखल होकर तुम्हारे मुख मंडल पर अठखेलियां करती है, तब तुम्हारा मुख

१. दिनेश नन्दिनी चोरड्या : 'शबनम' (१९३७ ई०)

मुझे क्यों अति सुन्दर लगता है..."

"नित्य स्नान के पश्चात् तुम अपना श्रृंगार करती हो, पीठ और वक्ष पर फैले हुए काले केशों को कंघे से सँवारती हो, और उस काले जाल में से मेरी ओर देख कर मुस्कराती जाती हो, अंत में जूड़ा गूंथ कर मेरा अर्पित पुष्प उसमें धारण कर लेती हो ......।"

"जब श्री कृष्ण वृन्दावन छोड़कर मथुरा चले गये, गोपियां कैसी तीव्र ज्वाला में तपी थीं।"

"अपने सूने क्षणों में मैं तेरी ही बातें सोचा करता हूं......"

"आज मैंने एक महान और पवित्र व्रत धारण किया है ! आज से जो तुम्हारी इच्छा होगी सोई मेरी भी इच्छा होगी !"

हिन्दी गद्य-गीतों के भाव-विकास का क्रम

उपर्युक्त अवतरणों को, जो एक ही पुस्तक के हैं, ध्यान से देखने पर पता लगता है कि लेखक पहले रूप देखता है। उसकी ओर आकृष्ट होता है। फिर वही आकर्षण सामीप्य पाकर वासना में बदल जाता है। कुछ काल के पश्चात् यह शारीरिक आकर्षण समाप्त हो जाता है। मानसिक अनुरक्ति और सतत साहचर्य उस मानव का साधारणीकरण कर देता है। उसी में पहले हम मानवता और फिर मानवता के श्रेष्ठतम आदर्श ईश्वर को देखने लगते हैं। निष्कामता उसकी आखिरी सीढ़ी है। यह मानव की अनुराग प्रवृत्ति का स्वस्थतम विकास है। इसमें लज्जा की कोई बात नहीं। हिन्दी गद्य-गीत इसके प्रमाण हैं। क्रम में कुछ अन्तर हो गया है। यहां पहले आदर्श स्वरूप की अभिव्यक्ति की गई है, फिर स्वाभाविक की। रायकृष्ण दास की 'साधना' दिनेशनन्दिनी की 'शबनम' (१९३६ ई०), 'रजनीश' की 'आराधना' (१९४१ ई०) और विश्वम्भर 'मानव' की 'सोने से पहले' (१९४३ ई०), रचनाएं इसी यथार्थमुखी आदर्श के विभिन्न स्तर हैं। इस प्रकार हमारे यहां इन निबंधों की पृष्ठभूमि स्वस्थ और सबल आध्यात्मिकता और मनोवैज्ञानिकता है।

उपर्युक्त भावनाओं की अभिव्यक्ति कभी तर्क के रूप में होती है, कभी संभाषण के रूप में, कभी कहानी के रूप में और कभी शुद्ध वर्णन के रूप में। इस तरह की एक कहानी पढ़िए :—

कथात्मक गद्य-गीत

"मैं भी मन्दिर की सीढ़ियों पर माला बेंचा करती। किन्तु अक्सर ऐसा होता कि मैं अपनी डाली ज्यों की त्यों भरा लिये घर लौटती। विदग्धा मालिनें ग्राहकों को ऐसा लुभा लेतीं कि वे मेरी मालाओं को पूछते तक न !

एक दिन मैंने बहुत परिश्रम से एक माला तैयार की और केवल वही हाथ में लिये जा खड़ी हुई।

आज मैं आगन्तुकों का ध्यान आकर्षित कर सकी। वे मुझे घेर कर खड़े हो गये, ध्यानपूर्वक उस माला को देखने लगे, उसकी प्रशंसा करने लगे। मैं निरन्तर मुस्करा रही थी।

अन्य मालिनें डाह से मेरी ओर देख रही थीं।

एक व्यक्ति ने पूछा—"इस माला का क्या दाम है?"

मैंने उत्तर दिया, "शत मुद्रा।"

ज्यों ही वह नीवो से रुपया निकालने लगा दूसरे ने कहा—"मुझसे एक सौ एक ले लो।"

यों ही इसका मूल्य बढ़ने लगा। संध्या भी आ रही थी।

जब संख्या हज़ारों के पार पहुंची तब मैंने समझा कि यह तो अमूल्य माला है। और मैंने दृढ़तापूर्वक उन लोगों से कह दिया—"मुझे माला नहीं बेचनी है।" बेचारे निराश लौटने लगे।

तब मैंने सोचा कि इसका उपयुक्त स्थान है देवता का कंठ और मैं उन सीढ़ियों पर चढ़ने लगी। पर अंतिम सीढ़ी पर पहुंच कर क्या जाने क्यों मैं रुक गई और मैंने स्वयं वह माला पहन ली।

साथ ही मैंने कहा—"इसका उपयुक्त स्थान यह है।"

तब से मैं मंदिर नहीं गई।"[1]

कहानी के रूप में लिखे गये भावात्मक निबंधों का यह एक सुन्दर उदाहरण है। नाटकीयता और कौतूहल से भरे हुए अंत वाली यह कहानी भावुक हृदय की मार्मिक अभिव्यक्ति करती है।

स्वगत भाषण के रूप में गद्य-गीत

कभी-कभी ये गद्य-गीत स्वगत भाषण का भी शरीर धारण कर लेते हैं:—

"........

....

सखी, आज तेरी सुहाग रात है!

मेंहदी रचे हुए तेरे हाथों को देख कर स्वामी का हृदय खिल उठेगा।

आंखों में काजल लगाकर रो मत देना, गोरे कपोल काले हो जायंगे।

सखी, आज तेरी सुहाग रात है!

त्रयोदशी का चंद्रमा तेरे मुंह पर अपनी चांदनी उडेल रहा है, आ तुझे द्वार तक पहुँचा आऊं।

सखी, आज तेरी सुहाग रात है।"[2]

---

१. राय कृष्णदास: 'छायापथ' (१९३० ई०)

२. तारा पांडेय: 'रेखाएं' (१९४१ ई०)

भावावेशों में कभी-कभी लेखकों का कथन पूरा प्रलाप लगने लगता है। ऐसे उदाहरण बहुतायत से मिलते हैं क्योंकि विरह में प्रेमी लेखक प्रायः विक्षिप्त-से हो जाते हैं। कदाचित् इसे वे उसकी पराकाष्ठा समझते हैं।

संतुलित एवं असंतुलित गद्य गीत

इनकी स्थिति भारतेंदु हरिश्चंद्र की चंद्रावली की-सी हो जाती है। इसके विपरीत संतुलित मस्तिष्क वाले भावनाओं के साथ-साथ जीवन, जगत, आदि पर संवेदनात्मक दृष्टि डालते हुए अपनी कल्पनाएं उपस्थित करते हैं। माखनलाल चतुर्वेदी, रघुबीर सिंह, आदि की कृतियां हिन्दी के भावनात्मक गद्य के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं।

बुद्धिप्रधान भावनात्मक निबंध

कुछ लेखकों ने ऐसे निबंध लिखे हैं जो भावनात्मक न होते हुए भी भावनात्मक लगते हैं। भावनात्मक इसलिये लगते हैं कि लेखक चित्रात्मक भाषा में ऐसा सरस और भावपूर्ण वर्णन करता है कि कविता पढ़ने का आनन्द आ जाता है। फिर भी, वे भावनात्मक इसलिये नहीं होते कि लेखक जो कुछ कहना चाहता है वह बुद्धि प्रधान होता है और उसके कहने में चित्रात्मकता के साथ-साथ प्रधानता गद्यात्मकता की होती है। यह गद्यात्मकता कई प्रकार की होती है।

(अ) प्रतीकों के संभाषण के रूप में

एक ढंग वार्त्तालाप का होता है। लेखक अपनी भावना के अनुरूप दो प्रतीक पदार्थ, जो प्रायः सामान्य होते हैं, ले लेता है। उन्हीं के मुख से अपनी सारी बात इस ढंग से कहलाता है कि अंत में वह जो प्रतिपादित करना चाहता है वही सिद्ध हो जाता है। रायकृष्ण दास के 'संलाप' (१९२६ ई०) में ऐसे निबंध मिलते हैं। 'सागर और मेघ' अथवा 'लोहा और सोना', आदि के वार्तालाप ऐसे ही हैं। निबंध की अपेक्षा इन्हें यदि वार्त्तालाप ही कहा जाय, तो अधिक उपयुक्त होगा।

(आ) कहानी के रूप में

एक दूसरा ढंग है कहानी शैली का। लेखक एक कहानी कहना प्रारंभ करता है। लगता है कि वह कहानी लिख रहा है। कभी-कभी उसमें कहानी के एकाध तत्त्व——कौतूहल, आदि——भी मिल जायंगे। उस कहानी में कभी-कभी तो कुछ ही देर के बाद वे बातें प्रारंभ हो जाती हैं जो प्रायः विद्वानों के अध्ययन और मनन से संबंध रखती हैं। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का 'चर्चा' शीर्षक निबंध ऐसा ही है। लेखक, महेश बाबू और रमेश बाबू, ये तीनों व्यक्ति साहित्यिक समस्याओं पर बहस करते हैं। ऐसा लगता है कि विद्वानों की कोई गोष्ठी है। कहानी शैली के दूसरे प्रकार के निबन्धों में यह वार्त्तालाप नहीं होता। शुद्ध दूध के अन्दर व्याप्त मक्खन की तरह वह उद्देश्य पूरी कहानी के अंदर रमा रहता है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का 'एक पुरानी कथा', सियाराम शरण जी का 'झूठ-सच', आदि निबंध ऐसे ही हैं। कहानी शैली के इन निबन्धों में कहीं-कहीं बहुत तीखा और सूक्ष्म व्यंग्य छिपा रहता है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी जी

की कहानी 'बन्दर की शिक्षा' ऐसी ही है। मनुष्य की सभ्यता और शिक्षा में प्राणीमात्र के आत्मगौरव और स्वाभिमान के लिये कितना कम स्थान है, यही तत्त्व यहां व्यंग्य रूप में उपस्थित किया गया है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के ये सभी निबंध 'कुछ' (१९४६ ई०) में और सियारामशरण गुप्त के 'झूठ-सच' (१९३९ ई०) में संग्रहीत हैं।

निबंधों का एक अन्य रूप हमें आत्मकथाओं या संस्मरणों में मिलता है। 'इत्यादि की आत्म कहानी' की तरह के आत्मचरित इस अवधि में बहुत ही कम हैं। इनके स्थान पर लेखक स्वयं अपने संस्मरणों के रूप में अपनी बातें रखना अधिक पसंद करता है। सियारामशरण गुप्त का 'हिमालय की झलक' नामक निबंध इसी प्रकार का है। लेखक कहना चाहता है कि यथार्थ या प्रत्यक्ष दर्शन ही सब-कुछ नहीं होता है। कल्पना या अध्ययन के द्वारा प्राप्त मानसिक दर्शन उससे कहीं अधिक श्रेष्ठ है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का 'रामलाल पंडित' शीर्षक निबंध भी ऐसा ही है।

(इ) आत्मकथाओं एवं संभाषणों के रूप में

स्वप्नों के रूप में लिखे गये निबंध भी मिल जाते हैं। ऐसे निबंधों का महत्त्व और उनकी संख्या, दोनों नगण्य हैं। हां, दिवा-स्वप्नों के रूप में लिखे गये निबंध अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। यह प्रायः ऐसा होता है कि लेखक कुछ देख रहा है, सुन रहा है, या पढ़ रहा है। ऐसा करते-करते उसके मस्तिष्क अथवा उसकी चिन्तन-क्रिया का गति-परिवर्तन हो जाता है। सोचते-सोचते वह किसी दूसरे युग तक पहुँच जाता है। इससे संबधित उस युग की बातों का तुलनात्मक दर्शन होता है, और अन्त में लेखक फिर अपनी पहली स्थिति में आ जाता है। ऐसे निबंधों की भाषा में चिन्तनात्मकता एवं कवित्व की अधिकता होती जाती है। निबंधों में छोटे-छोटे सरल वाक्य होते हैं। सीधी-सादी भाषा होती है। कभी-कभी उनमें हलकी-सी काव्यात्मकता आ जाती है। हलकी-सी भूमिका होती है और लेखक वर्णन और विवेचन करता हुआ चलता है। अंत में कुछ निष्कर्ष सामने आ जाते हैं। ये निष्कर्ष कभी उपमा के-से साम्य से निकलते हैं और कभी इसी प्रकार के अन्य ढंगों से। ब्रजलाल बियाणी की एक पुस्तक है 'कल्पना-कानन' (१९४६ ई०)। उसके पहले ही निबंध में लेखक नृत्य की कहानी कहता हुआ लिखता है :—

(ई) स्वप्नों या दिवा-स्वप्नों की कहानी के रूप में

"नर्तकी की जड़ता चल हुई। उसने बायें पैर से मंच को ठुकराया। हाथ हिला, उँगलियां हिलीं, सीधा पैर उठा। शरीर हिलने लगा। गति बढ़ने लगी। नर्तकी के शरीर का हर हिस्सा गतिमय हो गया। ज्यों-ज्यों गति बढ़ने लगी, नृत्य का स्वरूप प्रकट रूप धारण करने लगा। नृत्य की प्रकटता में नर्तकी अदृश्य होने लगी।

दर्शकों की शांति बढ़ने लगी। नृत्य कला के स्वरूप ने उन्हें आकर्षित करना

आरंभ किया। नर्तकी को भूल वे नृत्य को ही देखने लगे। नृत्य अपनी गति की संपूर्णता को पहुँच गया। नर्तकी नृत्य में लुप्त हो गई। न उसका चेहरा स्पष्ट दिखाई देता है, न हाथ, न पैर, और न उसकी पोशाक। सब अस्थिर, चंचल है। चंचलता में अपने स्थायी रूप को खो दिया है। अब केवल नृत्य रह गया है। नर्तकी नृत्य में विलीन हो गई। नृत्य नर्तकी एक जीव हो गये। मालूम नहीं नर्तकी स्वयं को भूली या नहीं पर दर्शक अपने आप को भूल गये.......हृदय आनन्द को समा नहीं सका। वह बाहर फूट पड़ा। नयनों में आ गया.......।"

यह है एक नृत्य की कहानी। पूरा का पूरा नृत्य आँखों के सामने आ जाता है। इस गद्य में भी वही गति है जो नृत्य में रही होगी। नृत्य का यह वर्णन यदि इस कहानी के रूप वाले निबंध के बीच में न आता तो यही उच्चकोटि का वर्णन होता।

स्केच के रूप में मिलने वाले निबंध भी प्रायः ऐसे ही होते हैं। लेखक चरित्र-नायक के चरित्र की प्रधान विशेषताओं का उल्लेख करता हुआ संसार, समाज, जीवन, मृत्यु, आदि पर अपने दार्शनिक विचार उपस्थित करता चलता है। बख्शी जी का 'कुंजबिहारी' शीर्षक स्केच इसी प्रकार के निबंधों के अन्तर्गत आता है।

(उ) जीवन स्केच के रूप में

और, जिन निबंधों में इस वर्णन की ही प्रधानता रहती है वे वर्णनात्मक निबंध कहलाते हैं। इन निबंधों में लेखक प्रकाश्यतः बिल्कुल तटस्थ रहता है। वह किसी देखी या सुनी बात का वर्णन करता है। यह वर्णन या तो किसी देश का होता है या किसी दृश्य का। दृश्यों में प्राकृतिक दृश्य, आदि के सुन्दरतम वर्णन पाये जाते हैं। प्रकृति का वर्णन रोचक ढंग से होता है किन्तु प्रकृति का स्वतंत्र रूप से एवं अभिधात्मक वर्णन प्रायः दुर्लभ है। प्रकृति का स्वतंत्र रूप से अब कोई स्थान नहीं रह गया है—न जीवन में और न कदाचित् साहित्यिकों की कल्पना में ही। उपन्यास, आदि के अन्दर किसी दृश्य या मनोवैज्ञानिक परिस्थिति की भूमिका के रूप में इनके सुन्दर उदाहरण अब भी मिल जाते हैं किन्तु स्वतंत्र रूप से एक निबंध के रूप में ये बहुत ही कम हैं। आज के उपयोगितावादी मानव की दृष्टि में इनके सौंदर्य का कोई मूल्य नहीं रह गया है। प्रसंग रूप में इन पर कभी-कभी लेखनी चल पड़ती है। ऐसा प्रायः किसी प्रान्त या स्थान का वर्णन करते समय होता है। ऐसे अवसर प्रायः तब आते हैं जब वर्णन का कार्य किसी कवि की लेखनी द्वारा होता है; किन्तु वहाँ भी प्रधानता आलंकारिक भाषा, भावनाओं एवं कल्पनाओं की सूक्ष्मता, आदि की ही होती है। तटस्थ दृष्टिकोण प्रायः कम बन पाता है। हां, स्कूलों और कालेजों के

वर्णनात्मक निबंध

१. ब्रजलाल बियाणी : 'कल्पना-कानन' (१९४६ ई०)

लड़के कभी-कभी ऐसे निबंध अवश्य लिख डालते हैं। महादेवी वर्मा, आदि के रेखाचित्रों एवं यात्राओं के वर्णनों में इस शैली के उच्चकोटि के पैराग्राफ मिल जाते हैं। देखिए :—

"हनुमान चट्टी से पांच-छः मील की जो दुर्गम और विकट चढ़ाई आरंभ हुई थी उसका अंत एक ओर नर और दूसरी ओर नारायण नाम के पर्वतों तथा उनकी असंख्य श्रेणियों से घिरी हुई समतल भूमि में हुआ। श्वेत कमल की पंखुरियों के समान लगने वाले पर्वतों के बीच में निरंतर कल-कल नादिनी अलकनंदा के तीर पर बसी हुई वह पुरी हिमालय के हृदय में छिपी हुई इच्छा के समान जान पड़ी। वृक्ष, फल और पत्तों का कहीं चिह्न ही नहीं था। जहां तक दृष्टि जाती थी, निस्पंद समाधि में मग्न तपस्विनी जैसी आडंबर-हीन सूनी पृथ्वी ही दिखाई देती थी और उतने ही निश्चल तथा उज्ज्वल हिमालय के शिखर ऐसे लगते थे मानों किसी शरदपूर्णिमा की रात्रि में पहरा देते-देते चाँदनी समेत जम कर जड़ हो गये हों !"[१]

इसी प्रकार दृश्यों का, मानसिक स्थितियों का, व्यक्ति अथवा समाज के किसी अंग विशेष का वर्णन किया जाता है। प्रयत्न इस बात का किया जाता है कि मस्तिष्क के सामने वर्ण्य का एक चित्र और उसका एक विशेष प्रकार का प्रभाव पड़ जाय। यह प्रभाव लेखक की इच्छा और ध्येय पर निर्भर है।

भ्रमण, यात्रा, आदि के तथ्य-प्रधान वर्णन

इसके अतिरिक्त वर्णनात्मक निबंधों की एक दूसरी श्रेणी वह होती है जिसमें लेखक थोड़े में बहुत अधिक बातें कह जाना चाहता है। यहां कवित्व, आदि के लिये बहुत कम स्थान है। सब-कुछ अभिधात्मक होता है। यथार्थता और संक्षिप्तता लेखक की शैली की विशेषता होती है। आलंकारिकता के लिये इसमें बहुत कम गुंजाइश है। ऐसे निबंध सोलह आने गद्यात्मक होते हैं। इन निबंधों का संबंध भ्रमण, यात्रा, वृत्तांत, आदि से होता है। राहुल सांकृत्यायन, आदि कुछ लेखक इन निबंधों को पूर्ण रूप से गद्यात्मक बनाये रखते हैं। देखिए :—

"यद्यपि क्लास में बैठने के लिये छोटी बेंचें तथा डेस्क हैं, किन्तु लड़के जूते, छाते, बाहर ही रखकर आते हैं। जूतों को रखने के लिये वहां एक कबूतरखाना-सा बना हुआ है। प्रत्येक कक्षा के बालकों के लिये एक-एक कमरा है। सामने भीत पर एक लंबा ब्लैकबोर्ड टँगा हुआ है। उसके सामने अध्यापक के खड़े होने के स्थान पर एक ऊंची चौकी रक्खी हुई है। किनारे पर अध्यापक की मेज़-कुर्सी तथा पढ़ने की दूसरी चीज़ें हैं।....."

यह जापान के एक स्कूल का वर्णन है। लेखक ने जो-कुछ देखा है उसका हूबहू वैसा ही वर्णन कर रहा है। धीरेंद्र वर्मा के 'योरप के पत्र'

१. 'बदरीनाथ की यात्रा :' महादेवी वर्मा

(१९४३ ई०) में भी प्रायः ऐसे ही वर्णन हैं।

तथ्यों के साथ अपने अध्ययन एवं मनन के निष्कर्ष तथा मानवीय अनुभूतियाँ

किन्तु सभी लेखक अपने मन के आवेगों एवं उसकी कोमल अनुभूतियों को अपने से सदैव अलग नहीं रख सकते। कुछ लोग वर्णन के साथ-साथ अपने अध्ययन और मनन के निष्कर्ष रखते चलते हैं और कुछ, वर्ण्य द्वारा अपने मन पर पड़ने वाले प्रभावों को। धीरेंद्र वर्मा अपनी भयानक बौद्धिकता के लिये यद्यपि बहुत बदनाम हैं—विशेषकर विद्यार्थियों में–किन्तु उनके 'योरप के पत्र' (१९४३ ई०) में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें उनकी लेखनी मानव मनोवेगों की स्याही लेकर आ ही गई है। कहीं भोजन में अंडे के स्पर्श की आशंका हृदय के विवशतापूर्ण उच्छ्वास को व्यंजित करती है, कहीं वैदिक धर्म और भारतीय परिस्थितियों की तुलना लेख को सरस बना देती है, कहीं पूजनीया माता जी के साथ किया गया परिहास लेख को रोचक कर देता है, और कहीं दो बच्चों की लड़ाई का वर्णन मन में गुदगुदी लगा देता है। 'भेंकड़ा', 'घिस-घिस', 'घमाना', 'गोड़-गोड़ कर' और 'सुच्चो' ऐसे शब्द वातावरण को आत्मीय स्वाभाविकता से भर देते हैं। देखिए :—

"आप के 'परशाद' बोलने का वह असर हुआ कि यहां इस साल नवंबर-दिसंबर में भी जाड़ा बिल्कुल नहीं पड़ा। हर साल पड़ने लगता था। यहां के लोग जाड़े के लिये व्याकुल थे। उन्हें पता ही न था कि आपने 'परशाद' बोलकर उसे रोक रक्खा है।"[1]

"खेलते-खेलते दोनों में लड़ाई होती थी और मनोरमा अजय बाबू को कस के काटती थी। इस पर अजय बाबू का भेंकड़ा पुरता था और उसके साथ ही मनोरमा की पिपिहरी बजती थी। मनोरमा कहती जाती थी कि अब मैं भइया को नहीं काटूंगी।"[1]

स्पष्ट है कि यहां बुद्धिवादी विद्वान के भीतर का इन्सान अपने घर के लिये लिखे गये पत्रों में मुखरित हो गया है। विद्वानों या अपरिचितों के लिये लिखे गये लेखों में अगर वह न मिले तो किसी को शिकायत क्यों हो!

रावत चतुर्भुजदास चतुर्वेदी का 'कर्जन म्यूजियम में' शीर्षक निबंध फरवरी, १९४६ ई० की 'सरस्वती' में छपा है। उस म्यूजियम का वर्णन करते हुए लेखक लिखता है :—

"कर्जन म्युजियम में संग्रहीत मूर्तियां स्पष्ट रूप से प्रकट करती हैं कि मथुरा बौद्धों, जैनों और हिन्दुओं का केंद्र रहा था। इस कारण यहां की कला में तीनों धर्मों के देवी-देवताओं की मूर्तियों का समावेश है। इतिहासवेत्ताओं का मत है कि

१. धीरेंद्र वर्मा : 'योरप के पत्र'

ऐतिहासिक दृष्टि से मथुरा में ब्राह्मण धर्म की अपेक्षा जैन धर्म और बौद्ध धर्म की बहुलता रही है। इसी कारण यहां जो मूर्तियां पाई जाती हैं वे अधिकांशतः बौद्ध और जैन धर्मों से संबंधित हैं।"

इस प्रकार इनमें वर्णन, अध्ययन और निष्कर्ष तीनों पाये जाते हैं। अनेक ढंग के वर्णनात्मक निबंध आजकल मिलते हैं। वे कभी भावनात्मक लगते हैं और कभी चिन्तनात्मक, क्योंकि सबका मस्तिष्क सदैव संतुलित नहीं रहा करता।

उद्देश्य

हिन्दी का यह निबंध साहित्य हिन्दी जनता के बहुत बड़े काम की चीज है। यह हमारे लिये बहुत उपयोगी है। यह उपयोगिता कई दृष्टियों से है। यदि हम उपयोगितावाद की उस अति सीमा के मानने वाले हों, जिसके अनुसार क्षण भर को मिल सकने वाले मानसिक आह्लाद के नाम पर भी वस्तु या कृति को उपयोगी माना जाता है, तब भी हिन्दी के कुछ निबंध हमारी रुचि के अनुकूल मिल जायंगे। इन निबंधों का उद्देश्य केवल इतना होता है कि हमारा मन लेख की शैली, उसके अन्दर के चमत्कार, और सूझ की उत्कृष्टता पर मुग्ध हो जाय। कल्पना की उड़ान और उसकी अभिव्यक्ति की कला में एक सुंदर और प्रशंसनीय कौशल होता है।

निबंधों में अमूर्त एवं मानसिक दृष्टि से उपयोगी तत्त्व

इन निबंधों के अन्दर अन्य प्रकार की उपयोगी बातें बड़ी खींच-तान से निकाली अवश्य जा सकती हैं किन्तु उनका महत्त्व और स्थान इतना गौण होता है कि वे नगण्य होती हैं। इन निबंधों में साहित्यिकता की प्रधानता होती है और, सच पूछिये तो, ये ही निबंध निबंध कला की दृष्टि से वास्तविक निबंध कहे जा सकते हैं। ये निबंध विषयांतर द्वारा कुछ रोचक एवं उपयोगी बातें बता देते हैं। सद्‌गुरु शरण अवस्थी के निबंध-संग्रह, 'हृदय ध्वनि' (१९४१ ई०), सियाराम शरण गुप्त के निबंध-संग्रह, 'झूठ-सच' (१९३९), आदि पुस्तकों के अधिकांश निबंध इसी श्रेणी में आते हैं। इनके कुछ निबंधों के शीर्षक प्रतापनारायण मिश्र के निबंधों के शीर्षकों की तरह हैं; जैसे, 'हाँ, 'नहीं,' 'घोड़ाशाही,' इत्यादि। इनके विषय का विवेचन भी लगभग उसी ढंग का है। भाषा में साहित्यिकता एवं परिमार्जन उससे अधिक है। एक अवतरण देखिए:—

"शृंगार क्षेत्र में 'हाँ' तो एक इतिहास ही रखता है। शृंगार-कला-विशारदों के पास इसकी एक व्याख्या रहती है। मनोभावों के न जाने कितने स्वरूप रसिकों के मन-बहलाव के निमित्त 'हाँ' से चित्रित होते हैं। इसी 'हाँ' के पीछे न जाने कितनों को कितनी बरबादी उठानी पड़ी है, और पड़ती है। इस क्षेत्र में ही सब से अधिक 'हाँ' के वाण 'नहीं' की विषाक्त अनी से सज कर खुले हुए सीने से स्वागत करने वाले बलि-पशुओं के हृदयों में आजन्म खटका करते हैं। न वे निकलते हैं और न घाव अच्छे होते हैं। साथ ही इसी 'हाँ' ने न जाने कितनों का जन्म

सुधार दिया। कितनों के देवता मंदिरों में प्रतिस्थापित हो गये। खूब शंख-घड़ियाल बजे और प्रति दिन बजते हैं।"[१]

एक दूसरा उदाहरण सियारामशरणगुप्त के निबंध—घोड़ाशाही' ले लीजिए:—

"इसके बाद ही हम आधुनिकता में आ उतरते हैं। सामंतशाही समाप्त होती है और नये युग का आरंभ होता है। पर घोड़े का हमारा संबंध टूटता नहीं। उसका लोप नहीं हुआ। अब की बार वह नये ही रूप में प्रकट होता है। अब वह हाड़-माँस का सजीव प्राणी नहीं। वह लोहे का है। ईस्पात का है। एक अन्तर और है। पहले आदमी उसे चलाता था, अब आदमी को स्वयं वही चलाता है। पहले जो सवारी थी, अब वह सवार हो गया है; जो सवार था, वह सवारी हो गई है।

यह नया घोड़ा है इंजिन, और यह नया युग है घोड़ेशाही का। पता नहीं, इंजिन की ताकत के लिये 'हार्स पावर' शब्द का आविष्कार पहले पहल किसने किया। जिसने किया हो, किया है ठीक ही। विकासवाद के अनुसार सामन्तशाही का विकास इस घोड़ेशाही में ही हुआ है।"

हिन्दी समाज और उसके व्यक्ति के उत्थान एवं विकास के प्रयत्न

इस मानसिक उपयोगिता के अतिरिक्त हिन्दी निबंधों का एक दूसरा पक्ष भी है। उसे एक शब्द में कहना चाहें, तो वह है 'उत्थान'। इस उत्थान के अनेक प्रकार हैं। निबंध-लेखक चाहता है कि हिन्दी समाज और उसकी प्रमुख इकाई—व्यक्ति—का नैतिक स्तर ऊंचा हो। इसके लिये वह भारत की प्राचीन दार्शनिकता और धार्मिकता का सहारा लेता है। उसके अनेक स्वरूपों का उद्‌घाटन करता और उसकी उपयोगिता दिखाता हुआ चलता है। यह इस ढंग से होता है कि लेखक अपनी कल्पना से एक कहानी गढ़ता है और उसी में इन तत्त्वों का समावेश कर देता है। सद्‌गुरुशरण अवस्थी का 'भ्रमित पथिक' (१९२९ ई०) एवं बजवल्लभ सहाय 'ब्रजवल्लभ' का 'विश्व दर्शन' (१९४० ई०) ऐसे ही निबन्ध संग्रह हैं। इसी का शुद्ध साहित्यिक स्वरूप, जिसमें दार्शनिकता, धार्मिकता और काव्यात्मकता मिली रहती है, हमें गद्य-काव्यों में मिलता है। कभी-कभी कुछ ऐसे निबन्ध भी लिखे जाते हैं जो भारतीय संस्कृति के स्वरूपों को स्पष्ट कर देते हैं। समझाने के लिये आधुनिक जीवन और समाज की परिस्थितियों से उदाहरण भी ले लिये जाते हैं। यह तत्त्व निबन्धों को और भी रोचक बना देता है। संपूर्णानन्द का 'गणेश' (१९४५ ई०), आर्यसमाजी विद्वानों के इस विषय के निबंध, भगवानदास का 'समन्वय' (१९२८ ई०), आदि पुस्तकें ऐसी ही हैं। 'समन्वय' में भगवानदास 'गणेश' का रूपक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं:—

"और दल हुआ तो उस दल के अर्थात् गण के पति, नेता-नायक की, आवश-

---

१. सद्‌गुरुशरण अवस्थी : 'हृदय ध्वनि'

यकता होती है, और नायक बनाये जाते हैं, चाहे मिट्टी के ही क्यों न हों। इसी वास्ते गणपति का दूसरा नाम भी वैसा ही अन्वर्थ और अर्थ गर्भ है। वि–नायक, 'लीडर,' शब्द का अर्थ ही है, विशिष्टो नायकः।

अच्छा तो अब नायक ही होकर क्या लाभ, जो दलों में भिड़न्त न हो ? बिना इसके दला-दली का रस कैसे आवे ? तो गणेश जो को हुक्म हुआ कि शिव जो को रोक देना। 'लीडर' लोग, दलपति गणपति लोग, अपने दल को टेक रखने के लिये 'शिव' को भी, भलाई को भी, रोक देते हैं, जब तक अपने हाथों से, अपनी इच्छा के अनुसार वह भलाई न हो सके"।

इसका दूसरा रूप यह है कि लेखक मनुष्य के चरित्र को ऊंचा उठाने और उसे जीवन में सफल बनाने वाले गुणों एवं तत्त्वों में से एक-एक को उठाता है और एक-एक निबंध में उस पर विवेचना करता हुआ चलता है। उसकी इस विवेचना में, जो उसकी विशेषताओं एवं उसके प्रभावों तथा परिणामों पर आधारित रहती है, बड़े-बड़े महान पुरुषों के जीवन के तत्संबंधी उदाहरण रोचकता और प्रभावात्मकता लाते हैं। इस विवेचना की भाषा सरल रहती है। दृष्टिकोण आदर्शवादी रहता है। जयविजय नारायण सिंह की 'चरित्र विकास' (१९४५ ई०) और उमेशचंद्र मिश्र की 'सफलता' (१९४५ ई०) नाम की पुस्तकें ऐसी ही निबंध-पुस्तकों के उदाहरण हैं।

सामूहिक सुधारों के विषय पर सीधे और व्यंग्यात्मक रूप से

इस प्रकार जहां व्यक्ति के सुधार एवं उन्नति के लिये निबंध मिलते हैं वहीं व्यापक रूप से समाज के सामूहिक सुधारों पर भी कुछ निबंध लिखे गये हैं। यात्रा, संस्मरण, राजनीतिक निबंध, आदि इसी लिये होते हैं। ये निबन्ध कुछ तो सीधे-सादे ढंग से अपनी बात को स्पष्ट करते चलते हैं और कुछ व्यंग्य का सहारा लेकर। सीधे-सादे ढंग से लिखे गये निबंधों का साहित्यिक दृष्टि से उतना अधिक महत्त्व नहीं है जितना व्यंग्यात्मक निबंधों का। यह व्यंग्य सामाजिक भी होता है, धार्मिक भी, और राजनीतिक भी। खामियों को लक्ष्य कर के उनकी बड़ी ही मार्मिक चुटकी ली जाती है। ऐसे निबंध कभी तो वर्णनात्मक होते हैं और कभी भावनात्मक। इंद्रशंकर मिश्र की 'चिकोटी' (१९४६ ई०) नाम की पुस्तक पहले प्रकार की है और वियोगी हरि की 'पगली' (१९२८ ई०) नाम की पुस्तक दूसरे प्रकार की है। ये निबंध प्रकारांतर से हमारे समाज की त्रुटियों को दूर करने के लिये ही हैं।

प्राचीन साहित्य और इतिहास,

चिन्तनात्मक निबंध, जिनके अन्दर खोज और आलोचना से संबंध रखने वाले निबंध होते हैं, इस दृष्टि से बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। ये कई उद्देश्य लिये होते हैं। इनका एक उद्देश्य यह रहता है कि प्राचीन साहित्य और इतिहास, आदि की महत्त्वपूर्ण बातों

आदि की बातों की व्यवस्थित विवेचना और उसके लाभ

आदि की बातों को व्यवस्थित रूप से हमारे सामने रक्खें। 'परिषद् निबंधावली' के दोनों भागों (१९२९, और १९३१ ई०), 'विक्रम निबंध संग्रह' (१९४४ ई०), 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ' (१९३३ ई०), 'कोशोत्सव स्मारक संग्रह' (१९२९ ई०), 'भारतीय अनुशीलन' (१९३३ ई०), आदि के निबंध ऐसे ही हैं। इन संग्रहों में से अधिकांश का संबंध अनेक विषयों से होता है किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जिनका विषय तो एक ही से होता है परन्तु विवेचन होता है उसी विषय के अनेक अंगों पर। 'विक्रम निबंध संग्रह' ऐसे संग्रहों में से है जिनके निबंध एक ही विषय के होते हैं। इस संग्रह के सभी निबंधों का संबंध विक्रमादित्य एवं उनसे संबंधित अन्य बातों से है। ये निबंध भारतीय इतिहास के एक उज्ज्वल नक्षत्र के ऊपर के धुएं को हटाते हैं। ये निबंध भारतीय इतिहास के ऊपर अंग्रेज़ों के चढ़ाये गये काले रंग को मिटाने में भी सहायक होते हैं। साथ ही, नई पीढ़ी के तरुणों में अपनी संस्कृति और सभ्यता के प्रति अभिमान और उचित आत्मगौरव भी पैदा करते हैं। 'भारतीय अनुशीलन' में विभिन्न विषयों पर लिखे गये निबंध हैं। विद्यार्थियों के बौद्धिक स्तर को ऊंचा उठाने में इन निबंधों का बहुत बड़ा हाथ होता है। इस प्रकार के निबंध एक ओर उच्चकोटि के बौद्धिक, वैज्ञानिक एवं विवेचनात्मक साहित्य का निर्माण करते हैं और दूसरी ओर ऐसे साहित्य के निर्माण की उचित पृष्ठभूमि और उसके निर्माता की शक्ति बनते हैं। ठीक इसी प्रकार जिन निबंधों में राजनीति एवं समाज नीति, आदि की बातें रहती हैं वे हमारे देश की साधारण जनता के सामान्य ज्ञान की वृद्धि करते हैं। वे निबंध हमें देश-विदेश की उपयोगी बातों का ज्ञान कराते हैं और इस प्रकार हमें इस बात का अवसर देते हैं कि हम उनके प्रकाश में अपने को टटोलें और अपनी त्रुटियों को दूर करते हुए अपने अन्दर शक्ति और सामर्थ्य की अभिवृद्धि करें। कभी-कभी ये निबंध मनोविज्ञान से भी संबंधित होते हैं। ऐसे निबंध दो प्रकार के होते हैं। शिक्षा संबंधी, और साहित्यिक। शिक्षा संबंधी निबंध प्राय: कम हैं। शिक्षा के पाठ्यक्रम में

शिक्षा संबंधी ज्ञान-वृद्धि

हिन्दी के इन निबंधों के लिये अभी तक न कोई महत्त्वपूर्ण स्थान था और न ऐसे निबंध लिखे गये। समय की गति के साथ इनके भी भाग्य पलटे और अब पत्र-पत्रिकाओं में लालजी राम शुक्ल, आदि लेखकों के निबंध दिखलाई पड़ते हैं। इनमें उच्चकोटि की मौलिकता एवं विद्वत्ता तो नहीं होती किन्तु ये निबंध सुन्दर भविष्य का संकेत अवश्य करते हैं।

साहित्यिक निबंध अवश्य पर्याप्त लिखे गये हैं। ये निबंध प्राय: गद्य-गीतों का स्वरूप धारण कर के आते हैं और मनुष्य के मन के अनेक रहस्यों

मानव मन के अनेक रहस्यों एवं रूपों का उद्‌घाटन

का उद्‌घाटन करते हैं। दृष्टि में होती है प्रायः पुरुष और नारी के अन्तर और अन्तर्मन की आकर्षण-प्रवृत्ति, जो आगे बढ़ कर प्रेम का रूप धारण कर लेती है। इस प्रेम के अनेक स्वरूपों का मंजुल दर्शन हमें इन छोटे-छोटे निबंधों में मिलता है। 'अज्ञेय' की 'चिन्ता' (१९४२ ई०) नामक पुस्तक ऐसी ही है। एक अवतरण देखिए:—

"मैंने तुमसे कभी कुछ नहीं मांगा।

किन्तु, जब मधु-संध्या के धुँधलके में मैं पश्चिमीय आकाश को देखती बैठी होती हूँ, जब स्निग्ध तप्त समीर नीबू के सौरभ-भार से झूमता हुआ मुझे छू जाता है, तब मैं अपने भीतर एक रिक्त पाती हूं और अनुभव करती हूं कि तुमने मुझे प्रेम से वंचित रक्खा है।

मैंने तुम्हें कभी कुछ नहीं दिया।

किन्तु जब उस घोर नीरव दुपहरी में मैं आकाश-समुद्र की उड़ती हुई छिन्न बादल-फेन देखती हूं और बुलबुल सहसा एकाकी पीड़ा के स्वर में सिसक उठती है, तब मैं जान जाती हूं कि मेरा हृदय अब मेरा नहीं रहा है।"

जगन्नाथ प्रसाद शर्मा 'मिलिन्द' की निबन्ध-पुस्तक 'चिन्तन कण' का एक अंश देखिये :—

......"पुरुष में नारी के प्रति पाये जाने वाले प्रेम, मोह, आसक्ति या वासना ही में अधिकतर हमारी कला ओत-प्रोत है।"

"............................क्या यह प्रवृत्ति एकांगी नहीं प्रतीत होती? यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या नारी के हृदय में पुरुष की असंयत भावना के प्रति सहानुभूति छिपी हुई है! क्या वह स्वयं अपने नग्न चित्रण में पुरुष के मन की आसक्ति का प्रतिबिंब देख कर और उसका प्रबल आकर्षण अनुभव कर के खुशामद पसंद रईस की तरह फूल उठती है? यदि नहीं, तो क्यों नहीं अब तक नारी जाति ने पुरुष कलाकारों की इस विकृत आत्मतुष्टि और आत्माभिव्यक्ति के विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया?"

उक्त अवतरण में जहाँ एक ओर चिन्तन की प्रधानता है, विवेचन की प्रमुखता है, और सूझ की श्रेष्ठता है, वहाँ दूसरी ओर उसमें नारी और पुरुष के सामूहिक मनोविज्ञान को समझने का प्रयत्न भी है।

समय-समय पर थोड़ी-थोड़ी ज्ञान-वृद्धि

इन निबन्धों की उपयोगिता इस दृष्टि से और भी बढ़ जाती है कि इनके इन स्वरूपों एवं प्रकारों में से अपनी क्षमता और आवश्यकता के अनुसार हम ज्ञान और अनुभव की बातें समय-समय पर थोड़ी-थोड़ी मात्रा में भी पा सकते हैं। स्पष्ट है कि उनके इस आकार और प्रकार के पीछे यही उद्देश्य है कि वे थोड़े समय और स्थान में भिन्न-भिन्न रुचि, सामर्थ्य और आवश्यकता वाले लोगों को, जिनके मन

की एकाग्रता प्रायः अल्पकालीन होती है, उचित मात्रा में सामग्री दी जा सके। निबन्धों की भिन्नता और बहुलता को देखते हुए उनकी सफलता में संदेह के लिये बहुत कम गुंजाइश रह जाती है।

विशेष

निबंध-कला की उपेक्षा

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि हिन्दी का निबंध साहित्य पर्याप्त रूप से समृद्ध है। यहाँ हमें विभिन्नता और विविधता मिलती है और उन में से प्रत्येक का मंजुलतम उदाहरण मिलता है। इतना होने पर भी उदाहरण उदाहरण है और वास्तविकता वास्तविकता। थोड़ा-थोड़ा सब-कुछ लिखा गया है किन्तु जो होना चाहिए वह उचित ढंग से न हो पाया। हमारे कुछ निबंध कविता हो जाते हैं, कुछ कहानी, और कुछ विशुद्ध आलोचना। उपयोगितावादी दृष्टिकोण की प्रधानता हो गई है जिससे निबंध-कला पीछे पड़ गई। जो निबंध विशुद्ध उपयोगी साहित्य के अन्दर आते हैं उनकी तो कोई बात ही नहीं, साहित्यिक कहे जा सकने वाले निबंधों में भी निबंध-कला का स्थान गौण हो गया है। हिन्दी के सफल निबंध-लेखकों में से अधिकांश की रचनायें ऐसी ही हैं। उदाहरण के लिये रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों को ले लीजिये। ध्येय अर्थात् विषय की मनोवैज्ञानिक विवेचना अथवा सम्यक् आलोचना और बौद्धिक दृष्टिकोण ने उनके प्रायः सभी निबंधों को अध्ययन और मनन की चीज बना दी है। वे विद्वानों, अध्यापकों एवं विद्यार्थियों के ही काम के रह गये हैं। उनमें विद्वत्ता अधिक है, कला कम। सौन्दर्यात्मक दृष्टि से देखने वाले के लिये वहाँ जगह नहीं है। बुद्धि-प्रदेश में पड़ने वाले कुछ स्थलों पर उनकी भावना कुछ देर के लिये रम गई हो, तो वह बात आकस्मिक है। इसलिये वह तत्त्व गौण हो कर ही रह गया। इन निबंधों में कल्पना और सूझ का वह आकर्षक संगीत नहीं जो हमारे हृदय को एवं हमारी रागात्मकता को रमा सके। यदि कोई यह कहना चाहे कि चूंकि हमारे यहां निबंध-साहित्य इतना प्रचुर नहीं था कि उसकी परिभाषा, उसके स्वरूप और उसके प्रकार का शास्त्रीय एवं मान्य मापदंड पहले ही से निश्चित हो इसलिये जो-कुछ लिख दिया गया है वह ठीक है और माप-दंड उसी के अनुसार बनना चाहिये तो वह कह सकता है; किन्तु जिस साहित्य से हमने इस रूप को लिया है वहाँ इसको जो मान्यता एवं मापदंड है अर्थात् वहाँ इसका जो वास्तविक ढंग है उसको यदि हम मानने के लिये तैयार हों तो हिन्दी के निबंध-साहित्य में इस तत्त्व की कमी अवश्य खटकेगी।

फिर भी, जो निबंध वास्तविक निबंधों के बहुत अधिक निकट हैं उनमें

हास्य और व्यंग्य

हास्य और व्यंग्य भी प्रचुर मात्रा में रहता है। इन निबंधों में लेखकों के उद्देश्य की पूर्ति में हास्य और व्यंग्य से काफी सहायता ली जाती है। शुद्ध हास्यरसात्मक निबंध कम लिखे गये हैं। कारण यह है कि शुद्ध हास्य से उद्देश्य-प्राप्ति के लिये बहुत अधिक कला की आवश्यकता है। अतएव जो निबंध लिखे गये हैं वे केवल हँसने-हँसाने एवं शैली का चमत्कार दिखाने के लिये हैं। उनमें भी कहीं-कहीं व्यंग्य मिल जाता है, जो लेखक के छिपे उद्देश्य की ओर संकेत कर देता है। किन्तु यह तत्त्व प्रायः गौण होता है। मई, १९४९ ई० के 'आजकल' में प्रभाकर माचवे का 'मुंह' शीर्षक निबंध ऐसा ही है।

शुद्ध हास्य

"उनके मुंह के रंग यों बदलते हैं जैसे इंद्रधनुष के। उनके मुंह को इस विज्ञान के युग में भी कवि लोग चन्द्रमुखी कहते हैं, यह जान कर भी कि चन्द्र के समीप जाने का मतलब बर्फ से ठंडे हो जाना है। कुछ लोग होते हैं जो स्त्री-मुख देखते ही या तो मुंह ताकते रहते हैं, या मुंह लटका लेते हैं, या मुंह फुला लेते हैं। मुंह दिखाई वधुओं का खास हथियार है। पर यह बात मैं मुंह पर क्यों लाऊं कि स्त्रियां ही हैं जिनकी मुंह थुराई मुंह से ही होती है। मैं पंत की पंक्ति नहीं कह रहा हूँ कि 'अधर से अधर, गात से गात'। मैं ऐसे भी कैस मिजाज प्रेमी जानता हूं जो इन मुंहों के पीछे मुंह के बल गिरे हैं; जिन्हें इन कलमुंहियों के पीछे अब मुंह छिपाना पड़ रहा है और शापनहार की तरह जिन्दगी भर के लिये औरत जात से मुंह फुला कर बैठे हैं। कुछ हैं जो औरत को मुंहनाल समझते हैं; कुछ मुंहामुंह भरा जाम—चाहे अमृत का, चाहे हलाहल का, चाहे मधुशाला वाला सोमरस का।"[1]

विद्वत्तापूर्ण हास्य

पूर्ण हास्य में कभी-कभी विद्वत्ता की भी झलक मिल जाती है। इन निबंधों के लेखक भारी विद्वान होते हैं। पुराण, आदि के उद्धरणों एवं संस्कृत के व्याकरण का सहारा ले कर इस हास्य की सृष्टि की जाती है। रायबहादुर ब्रजमोहन व्यास का 'झूठ' शीर्षक निबंध इसी प्रकार का विद्वत्ता प्रधान हास्यात्मक लेख है। 'महिला' शब्द की यह व्युत्पत्ति, कि 'महीम् पृथिवीम् हिलाये डारति है इति महिला,' शुद्ध हास्य का सुन्दर उदाहरण है। लेखक कहता है कि 'यह मानता हूं कि राख खाद का काम करती है; पर खेत में, शिव जी के शरीर पर नहीं'। व्याकरण के सूत्र पर आधारित हास्य का उदाहरण देखिए :—

"रघुवंश का अंग्रेजी में अनुवाद करते समय—'पुत्रीकृतोऽसौ बृषभध्वजेन' (सर्ग २) का अनुवाद उन्होंने ('ग्रिफिथ' साहब ने) यह किया कि इस देवदास को शंकर ने पुत्री

१. 'आजकल'

की तरह पाला। अनुवाद देखने में तो सही मालूम पड़ता है। पर उन्हें क्या मालूम कि वैयाकरणों ने डमरू बजाकर एक छोटा-सा मन्तर 'अभूत तद्भावे च्विः' पढ़ कर फूंक दिया—लड़की से लड़का हो गया।"

व्याकरण के इस सूत्र का अर्थ यह है कि जो वास्तव में नहीं है उसको यदि वास्तविक बतलाया जाय तो अकारान्त शब्द ईकारान्त बन जाता है—'कृ' 'भू' धातु का प्रयोग आगे रहने पर। इसके ही अनुसार रघुवंश में महाकवि ने 'पुत्रीकृतोऽसौ........'आदि लिखा था। विद्वान अंग्रेज ने उसे वस्तुतः 'पुत्री' ही समझा। इसी प्रकार कवियों पर किया गया एक दूसरा परिहास देखिए :—

"कहती हैं—'पाथेय मुझे स्मृति मधुर एक है विरह पंथ सूना अपार।' भला केवल स्मृति कैसे पाथेय हो सकती है ? यह कहाँ तक सच है, समझ में नहीं आता ! अगर ऐसा होता तो खाद्य-नियंत्रण (food control) का मसला ही न हल हो जाता—वाइसराय महोदय के सिर से भार उतर जाता और स्त्रियों को घर में चूल्हा न फूंकना पड़ता !"[1]

निबंधों में व्यंग्य भी मिलता है। कहीं वह सूक्ष्म रहता है और कहीं उसमें

व्यंग्य

अभिधात्मकता आ जाती है। ये व्यंग्य तीखे बहुत होते हैं। कुछ उदाहरण लीजिए :—

"हाथ पैर से तो तुम भी बराबर काम लेते हो; पर एक सुधरे हुए कलापूर्ण ढंग से। जैसे, पैर से तुम भारी-भारी गेंद उछालते हो; कूदते हो, नाचते हो; हाथ से दिन में दो-तीन बार बालों को झाड़ू और कंघी से कलापूर्वक सँवारते हो; जूतों पर पालिश करते हो; गले की धज्जी रोज परिश्रमपूर्वक बाँधते हो—और भी कितने ही श्रमसाध्य काम तुम शुद्ध शिक्षा की दृष्टि से सारे दिन करते रहते हो।"[2]

....

तुम्हारा पीला चेहरा और पिचके गाल देख कर क्या वे इतना भी नहीं समझते कि यह तुम्हारी तपश्चर्या और शिक्षा-साधना का सुपरिणाम है ?"[2]

इस अवतरण में आज के विद्यार्थी समुदाय की फैशनपरस्ती और चरित्र पर व्यंग्य कसा गया है। आनन्द कुमार की पुस्तक 'बातचीत' (१९४५ ई०) का एक व्यंग्य देखिए:—

"मनुष्य ने कहा—पृथ्वी निवासियों ने यह नया आविष्कार किया है कि यदि बंदर की काम ग्रंथियां मनुष्य के लगा दी जायं तो उसकी काम शक्ति बढ़ जाती है।

ययाति ने हर्ष से चौंक कर कहा—सच ? अरे मित्र! तब तो हनुमान और अंगद की ग्रंथियाँ यदि मिल जाँय तो अपूर्व सुख भोगा जा सकता है।

१. 'हिमालय' की पाँचवीं पुस्तक, (१९४६ ई०)
२. वियोगी हरि : 'मेरी हिमाकत' (१९४२ ई०)

मनुष्य ने कहा—यह भी कुछ कठिन नहीं है। भारतवर्ष में रह कर तप कर के हनुमान जी को प्रसन्न किया जा सकता है। जब वे बरदान माँगने को कहें तो महाराज उन्हीं की ग्रंथि मांग सकते हैं।"

यह 'महाराज' ययाति मनुष्य की अतृप्त काम-पिपासा के प्रतीक हैं। यदि इस बात को ध्यान में रक्खा जाय तो इस व्यंग्य की दिशा और शक्ति समझने में बहुत आनन्द आयेगा। 'रेखाचित्र' में निहित एक अन्य व्यंग्य देखिए:—

"अगर उसके बाप ने दो शादियां कीं तो उसने तीन कीं। यह दूसरी बात है कि पहली मर गई, दूसरी किसी के साथ निकल गई और तीसरी लड़ाकू निकली। अपने बाप के सात बच्चों में वही तो सिर्फ जिन्दा रहा और अभी कुल तैंतालीस की उम्र में बावजूद सारी चीजों के वह अपने को 'टवटंक' समझता है! उसके कुल पाँच लड़कों में एक कच्ची उम्र में मर गया, दूसरी लड़की तीन बच्चे-बच्ची पैदा करने बाद चल बसी, तीसरी विधवा लड़की उसकी गृहस्थी को सँभालने में मदद करती है या भार है, कौन कह सकता है? और चौथा लड़का, वह सोचता है, अच्छा हुआ कि उसकी मां उसको अपने साथ ही ले कर चंपत हो गई। पाँचवां अभी छोटा-सा गोद में है, छठाँ पेट में, और सातवां...............किस्मत।"[१]

उक्त अवतरण का एक-एक वाक्य एक बड़े ही तीखे व्यंग्य बाण की अनी के समान है जिसका लक्ष्य है हमारे समाज का वह वर्ग जिसकी परिस्थितियों और मनोवृत्तियों का प्रतीक 'रेखाचित्र' का नायक है।

प्रस्तुत अवधि के पूर्व लिखित किन्तु अवधि में प्रकाशित; अवधि में लिखित पर बाद में प्रकाशित निबंध-संग्रह

इस अवधि में कुछ निबंध संग्रह ऐसे प्रकाशित हुए हैं जिनके निबंध इस अवधि से बहुत पहले लिखे गये थे। ये निबंध उस समय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो गये थे किन्तु आवश्यकता न पड़ने के कारण या ध्यान न जाने के कारण अभी तक उनको संग्रहीत नहीं किया गया था। ये निबंध-संग्रह आधुनिक निबंध साहित्य की पृष्ठभूमि को समझाने में बड़े उपयोगी हैं। बालकृष्ण भट्ट का 'भट्ट निबंधावली' (१९४३ ई०), आदि इसके उदाहरण हैं। इसके विपरीत कुछ निबंध हमारी अवधि के बाद संग्रह रूप में प्रकाशित किये गये हैं, यद्यपि वे लिखे गये थे बहुत पहले। निबंध साहित्य में उनकी जो उपयोगिता है उसके अतिरिक्त उनका एक बड़ा महत्त्व यह भी है कि वे हमारी सुरुचि और कार्य-तत्परता के द्योतक हैं!

कुछ निबंध एवं निबंध-संग्रह ऐसे भी प्रकाशित हुए हैं जिनका ध्येय है निबंध लिखने की शिक्षा देना और उसका अभ्यास कराना। इन संग्रहों में से कुछ में सभी निबंध एक ही लेखक के होते हैं और कुछ कई उत्कृष्ट लेखकों के उच्च कोटि

---

१. 'चिकोटी'

के लेखों के संग्रह होते हैं। राजेंद्र सिंह गौड़ की 'निबंध-कला' (१९४४ ई०) ऐसी ही पुस्तक है। उच्च कक्षा में पढ़ाये जाने वाले निबंधों के संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। स्टिवेंसन, आदि लेखकों के निवन्धों की तरह व्यक्तिगत निबन्ध भी लिखे गये हैं; जैसे, लक्ष्मी कान्त के निबन्ध संग्रह 'मैंने कहा' के अधिकांश निबन्ध।

हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल हमारे उच्चकोटि के निबन्धों का निश्चित स्वरूप और प्रकार अभी तक हमारे सामने नहीं आया। वह अभी निर्माण काल में है। उसके तत्त्व बिखरे हैं। शैली अभी बन रही है। उसकी झाँकियां हमें रघुवीर सिंह के 'शेष स्मृतियां', हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'अशोक के फूल' और 'विचार और वितर्क', माखनलाल चतुर्वेदी के 'साहित्य-देवता', ब्रजलाल बियाणी के 'कल्पना-कानन', इंद्रशंकर मिश्र के 'चिकोटी', आदि संग्रहों में मिल सकती हैं।

———

कविता

वाद या वृत्तियाँ

१९२६ ई० से १९४७ ई० तक के हिन्दी काव्य का इतिहास प्रधानतया दो भागों बाँटा जा सकता है। १९३६ ई० या १९३७ ई० विभाजन की तिथि हो सकती है।

दो युगों के बीच का विभाजक वर्ष

प्रश्न यह उठता है कि यह तिथि १९३६ ई० हो या १९३७ ई०। हमारे काव्य साहित्य के इतिहास में ये दोनों ही वर्ष महत्त्वपूर्ण हैं। मैथिली शरण गुप्त के 'द्वापर' और 'सिद्धराज', सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का 'अनामिका', महादेवी वर्मा का 'सांध्य गीत', हरिवंश राय 'बच्चन' का 'मधुबाला', नरेन्द्र का 'कर्णफूल', आदि काव्य ग्रंथ १९३६ ई० में प्रकाशित हुए थे। १९३७ ई० में प्रकाशित होने वाली कविता-पुस्तकों में से कुछ ये हैं:---सुमित्रानन्दन पंत की 'युगांत', इलाचंद जोशी की 'विजनवती', श्रीमन्नारायण अग्रवाल की 'रोटी का राग', जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी', भगवती चरण वर्मा की 'प्रेम-संगीत', अनूप शर्मा की 'सिद्धार्थ', इत्यादि। प्रकाशन की दृष्टि से १९३६ ई० और १९३७ ई०, दोनों ही वर्ष, समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु १९३६ ई० का एक महत्त्व और भी है। आगे आने वाले वर्षों में जिस प्रगतिवाद का हिन्दी साहित्य के सभी क्षेत्रों में और इसीलिए काव्य के क्षेत्र में भी, स्वागत किया गया उसकी ध्वजा भारत के अन्दर लखनऊ में प्रेमचन्द ने 'प्रगतिवादी लेखक सम्मेलन' की स्थापना के रूप में पहले-पहल इसी वर्ष फहराई थी। युग के सर्वाधिक गतिशील कवि पंत की कविता-पुस्तक 'युगांत' का १९३७ ई० में प्रकाशन नये युग के प्रारम्भ हो जाने की सूचना देता है। अस्तु, १९३६ ई० से ही हम गत युग का अंत और नवीन युग का प्रारम्भ मानते हैं।

इन २१ वर्षों का काव्य साहित्य १९२६ ई० से १९३६ ई० और १९३७ ई० से १९४७ ई० के बीच की अवधियों में विभाजित होता है। पहली अवधि के समाप्त होते-

दो अवधियों में दो वाद

होते छायावाद या स्वच्छंदवाद प्रौढ़तम रूप में हमारे सामने आ गया। छायावाद की प्रौढ़तम कृति एवं उसकी सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि कविता पुस्तक है 'कामायनी'। प्रसाद ने उसके द्वारा छायावाद को जो स्वरूप दे दिया था मूलत: उसका वही स्वरूप आज भी है। दूसरी अवधि में प्रगतिवाद का प्रारम्भ और उसका विकास हुआ और उसकी यह प्रक्रिया आज तक चली जा रही है। पहली अवधि में कला रूप का विकास हुआ; और दूसरी में, विषय का।

प्रश्न हो सकता है कि क्या छायावाद एक कला संबंधी आन्दोलन ही था। क्या

छायावाद—कला संबंधी आन्दोलन ?

इस युग के कवियों ने विषय संबंधी नवीनता नहीं उपस्थित की? इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि छायावाद में हिन्दी काव्य के स्वरूप से संबंध रखने वाला दृष्टिकोण जितना नवीन, क्रांतिमय कांतिमय, एवं महत्त्वपूर्ण था उतना विषय वाला दृष्टिकोण नहीं

छायावाद अपने आप में अभिव्यक्ति की एक विशेष शैली मात्र है। रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है:—

"छायावाद समझ कर जो कविताएँ हिन्दी में लिखी जाती हैं, उनमें से अधिकांश का छायावाद या रहस्यवाद से कोई संबंध नहीं होता। उनमें से कुछ तो विलायती अभिव्यंजनावाद (क्रोचे का सिद्धान्त) के आदेश पर रची हुई बंगला कविताओं की नकल पर, और कुछ अंग्रेज़ी कविताओं के लाक्षणिक, चमत्कारपूर्ण वाक्य, शब्द-प्रति-शब्द उठा कर जोड़ी जाती हैं।"[१]

स्पष्ट है कि जिसे हम छायावाद या स्वच्छंवाद समझते हैं, विद्वान समालोचक उसे वास्तविक छायावाद या रहस्यवाद नहीं समझता। आगे हम देखेंगे कि जिन (अव)गुणों से समन्वित कविता को वह वास्तविक छायावाद या रहस्यवाद की कविता नहीं समझता वे ही हिन्दी के छायावादी काव्य साहित्य की प्रधान विशेषताएं हैं।

प्रसाद का मत

प्रसिद्ध छायावादी कवि प्रसाद ने 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' पुस्तकके 'छायावाद और यथार्थवाद' शीर्षक निबंध में छायावाद के विषय में लिखा है:—

"मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है वैसी ही कांति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। शब्द और अर्थ की स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कांति का सृजन करती है।....................हां, मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं है.....छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएं हैं।"

छायावाद और अध्यात्म

प्रसाद का यह कथन, कि छायावाद मूल में रहस्यवाद भी नहीं है, छायावाद में किसी निश्चित अध्यात्म दर्शन का अभाव सूचित करता है, क्योंकि रहस्यवाद के विषय में रामकुमार वर्मा 'कबीर का रहस्यवाद' में लिखते हैं:—

"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अंतर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शांत और निश्छल संबंध जोड़ना चाहती है, और यह संबंध यहां तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता।"

जिस समय छायावादी प्रसाद ने लिखा था कि छायावाद मूल में रहस्यवाद भी नहीं है तब उनका ध्यान कदाचित् इसी ओर था कि हिन्दी के इस छायावादी काव्य साहित्य में किसी जीवात्मा का किसी दिव्य और अलौकिक शक्ति से शांत या निश्छल कोई विशेष संबंध नहीं, और न यही है कि वहां जीवात्मा और परमात्मा में कोई अन्तल न रह गया हो। कुछ कविताओं की कुछ पंक्तियाँ यदि इसके समर्थन एवं उदाहरण

१. 'काव्य में रहस्यवाद'

में उपस्थित की जा सकें, तब भी यह तत्त्व छायावाद के सम्पूर्ण काव्य साहित्य की यह परिभाषा नहीं बना सकेगा क्योंकि अध्यात्म की दृष्टि से देखने पर छायावादी कविताओं का बहुत बड़ा भाग जिज्ञासा वृत्ति वाला ही है। और जीवात्मा जब परमात्मा में मिल कर अपना व्यक्तित्व खो देगी, क्या तब भी भूख-प्यास, देश-विदेश, गांधी-जवाहर, विजयलक्ष्मी, एडवर्ड अष्टम, डाक्टर एवं सहयोगियों के व्यक्तित्व से संबंध रखने वाली कविताएं लिखी जा सकेंगी ? जो परमात्मा में मिल गया है क्या वह व्यक्तिगत निन्दा-स्तुति पर ध्यान दे सकेगा ? रहस्यवाद क्या केवल मस्तिष्क का विषय है ? साथ ही, 'कौन', 'क्या', या 'तुम' संबंधी कविताओं से कहीं अधिक कवितायें वे हैं जिनका संबंध लौकिकता से है ! इस 'लौकिकता' के अन्दर राष्ट्र प्रेम, मानवता के प्रति आस्था, आदि की कविताएं हैं। क्या उन्हें छायावाद से निकालना होगा ? माखनलाल चतुर्वेदी, हरिवंशराय 'बच्चन', 'दिनकर', सुभद्राकुमारी चौहान, आदि की कविताओं को निकाल देने से छायावाद की क्या स्थिति रह जायगी ? क्या ऐसे सौ-पचास गीतों के बल पर ही छायावाद इस युग की प्रधान वृत्ति बन सकेगा ? और, यदि इसी का ही आग्रह हो तो वह संकुचित मनोवृत्ति होगी। युग छायावाद को इस अर्थ में नहीं ले रहा है।

छायावाद और रहस्यवाद को लगभग समानार्थी मानने पर ही छायावाद में विषय की प्रधानता स्वीकार की जा सकेगी। यदि छायावाद और रहस्यवाद को समानार्थी मानें, तो एक प्रश्न उठता है। कला मस्तिष्क और अभ्यास का तत्त्व हो सकता है; अध्यात्म नहीं।

छायावाद को यदि कला का विषय मान लें, तब तो यह प्रश्न नहीं उठेगा, नहीं तो, सोचना पड़ेगा कि क्या चिंतन, अध्ययन और अभ्यास से हम वही और वैसी ही अनुभूति प्राप्त कर लेंगे जो और जैसी जीवनव्यापी साधना के द्वारा कोई आस्तिक साधक प्राप्त कर लेता है। संत कबीर और जायसी ने जीवन भर धूनी रमा कर जो दृष्टि पाई थी, वह क्या घंटे-आधे घंटे की पूजा-अर्चना से प्राप्तव्य है ? क्या आत्मा को कर्म के प्रभाव से मुक्त एवं निर्लिप्त रक्खा जा सकता है ? अपने यहाँ तो यहाँ तक धारणा है कि पाप के द्वारा प्राप्त अन्न आत्मा को पापवृत्ति का कर देता है। दुर्योधन का नमक खाने से भीष्म की आत्मा की पवित्रता खंडित हो गई थी ! तात्पर्य यह है कि छायावाद एवं रहस्यवाद के कवि यदि मन, वचन और कर्म से साधक नहीं हैं तो उनकी अनुभूति की सच्चाई पर विश्वास नहीं किया जा सकता। जब अनुभूति में सच्चाई न रहेगी तो उसमें स्थायित्व न रहेगा, न उसकी अभिव्यंजना ही प्रायः सफल होगी। 'सूक्ष्म' से संबंध रखने वाली कविताएं हिन्दी में बीस वर्षों (१९१६-१९३६ ई०) से अधिक न चल सकीं, इसका यह भी एक कारण है।

कृती, कृति, और साधना

कहा जा चुका है कि अवास्तविक अनुभूति की अभिव्यंजना प्रायः सफल नहीं होती। छायावाद यदि अध्यात्म का दावा करता है तो उसकी अभिव्यंजना नव्वे प्रतिशत असफल है। रहस्यवाद के अर्थ में लिये जाने वाले छायावाद में 'रहस्य' के प्रति प्रेम की भावना यदि है भी तो असफल है। उसके अन्दर लौकिकता का बहुत अधिक प्राधान्य है। पहुँची हुई आत्मा का परमात्मा के प्रति जो संबंध होता है उसकी गहनता का कुछ अनुमान समस्त लौकिक संबंधों में केवल पति-पत्नी का प्रेम या कभी-कभी परकीया प्रेम ही दे सकता है। पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका के माध्यम से ही हम आध्यात्मिक प्रेम कुछ अभिव्यंजित कर सकते हैं; किन्तु यह अभिव्यंजना होनी तो चाहिए! ध्येय यदि व्यंजित न हो सका, अभिधात्मकता का यदि प्राधान्य हो गया, तो इसे कवि की असफलता मानी जायगी। कविता में कहीं न कहीं कुछ न कुछ ऐसा अवश्य होना चाहिये जो अपनी शक्ति से कविता के अभिधार्थ को बदल दे। वह फीका पड़ जाय। व्यंग्यार्थ प्रधान हो जाय। व्यंग्यार्थ ही हमें चमत्कृत करे। हिन्दी की छायावादी कविता का लौकिकतापरक अर्थ अध्यात्मपरक अर्थ से प्रायः अधिक सुन्दर होता है, जबकि वास्तविक रहस्यवादी कविताओं का अध्यात्मपरक अर्थ लौकिकतापरक अर्थ से कहीं अधिक। उदाहरण लीजिए :—

असफल अभिव्यक्ति—व्यंजना की दिशाएं

१. 'पिउ से कहेहु संदेसड़ा, हे भौंरा! हे काग!
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहिक धुवां हम्ह लाग।'[1]

२. 'गगन मँडल पर सेज पिया की किस विधि सोना होय,
सूली ऊपर सेज पिया की किस बिधि मिलना होय।'[2]

३. 'लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल,
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल।'[3]

या

'गगन गरजि बरसै अमिय बादल गहिर गँभीर,
चहुं दिसि दमकै दामिनी भीजै दास कबीर।'[3]

४. 'रो-रो कर सिसक-सिसक कर, मैं कहता विरह कहानी।
तुम सुमन नोचते, सुनते, करते जानी-अनजानी।'[4]

५, 'इन ललचाई पलकों पर पहरा जब था व्रीड़ा का।
साम्राज्य मुझे दे डाला उस चितवन ने पीड़ा का।'[5]

---

१. जायसी
२. मीरा
३. कबीर
४. प्रसाद
५. महादेवी

अधिक उदाहरण अनावश्यक हैं। जायसी वाले दोहे में यह निश्चित है कि (क) नागमती भौंरे और काग से संदेश भेजवाती है, (ख) अपने पति के पास संदेश भेजवाती है, (ग) नागमती का पति बहुत दिनों से नहीं लौटा जिससे वह उसके वियोग में व्यथित है, और (घ) नागमती कहलाती है कि 'सो धनि' बिरह में जल कर मर गई। लौकिक प्रेम का पक्ष इस दोहे में इन चार कारणों से प्रबल हो सकता था, किन्तु यह सब जानते हुए भी हम इस अभिधार्थ को पूर्णरूप से ग्रहण करने में असमर्थ हैं। लोक-दृष्टि से देखने पर इस दोहे की कुछ बातें अजीब क्या, पागलपन लगती हैं। पति विदेश गया है जिससे अलग हो जाने के दुख में उसकी पत्नी जल कर मर गई। इतनी वेदना! फिर, जिस विरहाग्नि में जल कर वह मरी उसका धुआँ इतना तेज कि भौंरा और काग को जो लगा तो वे काले हो गए! कौवे और भौंरे से संदेश भेजवाना! भारतीय पत्नी अपने पति के पास असत्य संदेश भिजवाये! उसका लोक-परलोक दोनों बिगड़ न जायगा! कहना न होगा कि यही अजीबपन, अनोखापन, इस दोहे में वह छाया, वह भंगिमा, उत्पन्न कर रही है जिससे हम इसे अलौकिकता से संबंध रखने वाला मानने को मजबूर हैं। अलौकिकतापरक अर्थ करने पर यह संभव है कि वह कथा-सूत्र से मेल न खाये किन्तु दोहे का भाव-सौन्दर्य कहीं अधिक बढ़ जायगा। यह पागलपन न दिखेगा। भक्त भगवान की विरहानुभूति की साधना सफल करके अपनी सांसारिक अनुभूति एवं लौकिक व्यक्तित्व को समाप्त कर चुका है। उसकी अनुभूति की विराटता ने प्रकृति को प्राण दे दिया है। प्रकृति के अणु-अणु में प्रिय की चेतनता दिखलाई पड़ती है। उसी के माध्यम से विरही भक्त प्रियतम तक अपना निवेदन पहुँचाता है। भक्त की विरह-संवेदना ने समस्त प्रकृति को अपने में रंग लिया है। प्रकृति के अंग-प्रत्यंग (काग, भौंरा, आदि) इसके उदाहरण हैं। प्रियतम जब इसे जान जायगा तब वह भक्त की ओर आप से आप खिंच जायगा। नंगे पांवों दौड़ा आयेगा। इसी प्रकार २ और ३ वाले पदों को भी समझा जा सकता है।

अलौकिक व्यंजना

किन्तु जब ४ और ५ वाले पदों की अभिव्यक्तियों पर विचार किया जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें व्यंग्यार्थ की अपेक्षा अभिधार्थ ही अधिक सुन्दर एवं तर्क-सम्मत है। अलौकिकतापरक अर्थ देखिए। भक्त भगवान—विशेष रूप से निर्गुण एवं रहस्यपूर्ण भगवान—से रो-रो कर तथा सिसक-सिसक कर विरह कहानी कहता है। 'रो-रो कर सिसक-सिसक कर' से जो भाव चित्र मस्तिष्क में उठता है, क्या भक्त उसी तरह भगवान से अपनी विरह कहानी कहा करते हैं? और, भगवान—जिससे विरह कहानी कही जा रही है—कितने निष्ठुर कि निरपेक्ष होकर फूल नोचते जाते हैं! सुनते हैं, किन्तु जानी-अनजानी कर देते हैं। अध्यात्मवादी कहेगा कि प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में भक्त भगवान से विरह कथा कहता है और भगवान निरपेक्ष हो रहे हैं। किन्तु, भगवान फूल क्यों और कैसे नोचते

लौकिक व्यंजना

फिरते हैं ? ये फूल कौन हैं ? क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ेगी। तब भी मान लिया जाय। तत्पश्चात् इसी पद से ध्वनित होने वाला एक दूसरा भावचित्र देखिए जिसमें एक प्रेमी अपनी प्रेमिका से किसी बगीचे में मिलता है। दोनों टहल रहे हैं। प्रेमी विरह-कथा सुना रहा है। प्रेमिका ने शायद मान कर रक्खा है। भगाती नहीं, इसलिए कि अनुराग बाकी है। उस पर निरपेक्ष का आवरण चढ़ा भी है। अपना रूठना प्रकट करने के लिये वह फूलों की पत्तियां नोच-नोच कर फेंक रही है, ऐसे कि मानो उसे कोई परवाह ही नहीं। सरस हृदय साहित्यिकों को इस चित्र में अधिक सौन्दर्य एवं रस मिलेगा। ४ का दूसरा पद ! 'चितवन', 'ललचाई पलकें', और 'ब्रीड़ा' शब्द मस्तिष्क में जिस भोली और मुग्धा प्रेमिका का चित्र अपने आप खींच देते हैं उसको हटा कर वहाँ बुद्धि, क्लिष्ट कल्पनाओं एवं खींच-तान से निर्मित किसी साधिका के चित्र को लाने में कोई आनन्द नहीं।

जिन छायावादी कवियों की रचनाओं को आध्यात्मिक माना जाता है उनमें प्रमुख हैं प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, रामकुमार वर्मा, आदि। प्रसाद की प्रौढ़तम कृति है 'कामायनी' (१९३७ ई०)। इसका ध्येय और आधार मानव जीवन में बुद्धि और श्रद्धा के सामंजस्य से आनन्द की सृष्टि है, न कि परोक्ष सत्ता में अपनी प्रत्यक्ष सत्ता को विलीन करना, आदि। 'झरना' (१९२७ ई०), 'आंसू' (१९२६ ई०) एवं 'लहर' (१९३५ ई०), आदि इसके पहले की रचनाएं हैं। स्पष्ट है कि प्रथम दोनों पुस्तकों की रचना के समय प्रसाद यौवन की खुमारी में थे। इस समय उनकी आयु ३६ और ३७ वर्षों की थी। पंत का 'पल्लव' १९२७ ई० में निकला था। तब उनकी आयु २६ वर्षों की थी। 'अनामिका' (१९२३ ई०) और 'परिमल' के प्रकाशन के समय निराला की आयु २७ और ३४ वर्षों की थी। ध्यान रहे कि निराला का साहित्य प्रणयन के कई वर्षों के बाद प्रकाशित हुआ है। तात्पर्य यह है कि जो इस छायावाद काव्य साहित्य का स्वर्ण युग था उस युग में छायावादी कवि अपनी यौवनावस्था में थे। असंभव न होने पर भी यह मान लेना कठिन है कि सौन्दर्य-चेतना वाले ये कवि अपनी युवास्वस्था की स्वाभाविक माँग एवं मनोविज्ञान को मेट कर अध्यात्ममुखी हो गये थे। प्रसाद को यौवन और सौन्दर्य का कवि माना जाता है। पंत का 'ग्रंथि' (१९३० ई०) मूलत: विप्रलंभ शृंगार का काव्य है जिसमें उन्होंने लिखा है :—

कृती की युवावस्था के स्वाभाविक मनोविज्ञान का विचार

एक पल, मेरे प्रिया के दृग-पलक
थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय-संबंध था।

निराला की 'सरोज स्मृति' कविता उनकी चेतना एवं मनोवृत्ति का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष स्पष्ट करती है। अध्यात्मवादी इतना दुखी नहीं हो सकता। जीवन के प्रौढ़त्व

को प्राप्त करके निराला ने अध्यात्म कम और समाज एवं व्यक्तियों पर व्यंग्य अधिक लिखे हैं। यौवन में अध्यात्म और प्रौढ़त्व में व्यंग्य ! शचीरानी गुर्टू ने संभवतः युवावस्था के मनोविज्ञान को ध्यान में रखकर महादेवी की उपर्युक्त पंक्तियों के आधार पर ही अपने 'साहित्य दर्शन' (१९५० ई०) में लिखा है :—

"माता-पिता की स्नेहच्छाया में अबोध शैशव बिता कर जीवन की कठोर वास्तविकता जब उनकी बुद्धि के सयानेपन से आ टकराई तो अनमिल भावनाओं के कारण दो भिन्न हृदय प्रेम-सूत्र में न बँध सके और तभी से उनके मानस में नीरवता, बेचैनी और धुंधलेपन की छाया परिव्याप्त हो गई। यौवन के तूफानी क्षणों में जब उनका अल्हड़ हृदय किसी प्रणयी के स्वागत को मचल रहा था और जीवन-गगन के रक्ताभ पट पर स्नेह ज्योत्स्ना छिटकी पड़ रही थी तभी अकस्मात विफल प्रेम की धूप खिलखिला पड़ी और पुलकते प्राणों की धूमिलता में अस्पष्ट रेखाएं-सी अंकित कर गई। आत्म संयम का व्रत लिये हुए उन्होंने जिस लौकिक प्रेम को ठुकरा कर पीड़ा को गले लगाया वह कालांतर में आन्तरिक शीतलता से शांत होकर बहुत कुछ निखर तो गई किन्तु उनके हठीले मन का उससे कभी लगाव न छूटा और वे उसे निरन्तर कलेजे से चिपटाये रखने की मानों हठ पकड़ बैठीं।

पर शेष नहीं होगी यह, मेरे प्राणों की क्रीड़ा,
तुमको पीड़ा में ढूंढा, तुममें ढूढूंगी पीड़ा ॥"

'आधुनिक कवि' (भाग २) में पंत ने भी 'पल्लव' के पश्चात् अपने किशोर जीवन के स्वप्न टूटने की बात कही है। रामकुमार वर्मा अपने जीवन के प्रौढ़ काल में छायावाद की कविता कम लिखते हैं, सामाजिक एवं ऐतिहासिक एकांकी नाटक अधिक ! युवावस्था में कल्पना अधिक गतिशील होती है। रहस्यवाद के अन्दर उसको असीम क्षेत्र मिल जाता है। द्विवेदी युग की नैतिकता की पृष्ठभूमि में ये कवि हृदय की प्रणय पुकार खुल कर लिख नहीं सकते थे। भगवान के प्रति प्रेमाभिव्यक्ति का मार्ग खुला था। नये ढंग से एवं नई सज-धज के साथ रीतिकाल की पुनरावृत्ति का यह एक स्वरूप दिखाई पड़ने लगा। रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद में मनुष्य की 'कायवृत्तियों का प्रच्छन्न पोषण' पाया और नगेन्द्र उसकी वृत्तियों के पीछे मानसिक कुंठा पाते हैं। दोनों बातें लगभग एक-सी हैं। अस्तु, छायावाद रहस्यवाद या आध्यात्मिक प्रेम, आदि नहीं है। तब है क्या ?

जिस समय छायावादी कवि अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति करने लगता है तब उसकी कल्पना में रहस्यमय प्रभु की बात हो सकती है। इतनी सच्चाई स्वीकार की जा सकती है। किन्तु यह न भूलना चाहिए कि आज सारा का सारा युग बदल गया है। आविष्कारों और अनुभवों ने प्रभु की एकच्छत्र प्रभुता खंडित कर दी है। विचारों की दिशा दूसरी हो गई है। परिस्थितियाँ बदल गई हैं। आज के कवि के अन्तर्मन में जो तत्त्व घर कर चुका है वह इस लोक और इस लोक के मानव पर

आधारित है। कवि अपने को उससे बचा नहीं सकता। साधना के अभाव में 'रहस्य' के प्रेम की वास्तविक अनुभूति होती तो है नहीं। सोच-सोच कर ही कवि अपनी कल्पना को रहस्य-पद्धति की अनुगामिनी बनाता है। अभिव्यक्ति के समय यह अभ्यास और चिंतन बहुत दूर तक उसका साथ नहीं दे पाते। परिणाम यह होता है कि 'मैं अपने ही बेसुधपन में लिखती हूँ कुछ, कुछ लिख जाती' (महादेवी)। कवि अध्यात्म की अभिव्यंजना करने की सोचता है और अभिव्यंजित हो जाता है मानव। अभिव्यंजना के लिये वह जिन भावों एवं अनुभावों का माध्यम ढूंढता है वे मूल रूप से मनुष्य के होकर रह जाते हैं। चित्र, शैली एवं सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण उसे दूसरी ही ओर खींच ले जाता है। यदि कवि बहुत ही सतर्क एवं सचेष्ट होकर बैठा तो अभिव्यक्ति इतनी विश्रृंखल गूढ़ एवं क्लिष्ट हो जाती है कि वहाँ तक पाठकों की कल्पना नहीं पहुँच पाती। प्रसाद गुण एवं स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। कविता प्रभावहीन हो जाती है और यदि थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ता भी है तो चित्रात्मक शैली, भाषागत सौन्दर्य एवं कुछ मानवीय अनुभावों का ही। निराला की अभिव्यक्तियाँ इसीलिए सामान्य पहुँच के तो बाहर हैं ही, प्रथम श्रेणी के अध्यापक तक कभी-कभी हताश हो जाते हैं। देवराज ने 'छायावाद का पतन' (१९४८ ई०) में लिखा है :—

अभिव्यक्ति का ध्येय—बुद्धि और अंतर्मन का संघर्ष

"निराला की कविताएं उद्धृत करना आवश्यक नहीं है। 'अनामिका' की प्रथम दस-बारह कविताओं में पाठक किसी को पढ़कर समझने की कोशिश करें; उन्हें शायद ही पचास प्रतिशत भी सफलता हो। निराला के काव्य की कठिनाई का प्रमुख कारण अनभूति का निरालापन है या समंजस ग्रथन की अक्षमता, कहना कठिन है।

जहां प्रसाद और महादेवी के अस्पष्ट स्थलों में अशक्त किरणों का जमघट-सा दिखाई पड़ता है, वहां निराला की अस्पष्टता कुहासे से ढके हुए स्थूलकाय हिम-शिखर एवं उसकी वृक्षपाँत की धुंधली प्रतीति है।"

निराला का काव्य बहुत कठिन है। इस तथ्य का उदाहरण लीजिए। इसके लिए निराला के द्वारा की गई उनके एक गीत की व्याख्या प्रस्तुत करना अधिक समीचीन होगा। 'प्रबंध प्रतिमा' के 'मेरे गीत और कला' शीर्षक निबंध में निम्नलिखित कविता की उन्होंने व्याख्या की है। कविता यह है :—

निराला का प्रेत काव्य

"ऐ निर्बन्ध !—अन्ध-तम-अगम-अनर्गल-बादल !
ऐ स्वच्छंद !—मन्द-चंचल-समीर-रथ पर उच्छृंखल !
ऐ उद्दाम ! अपार कामनाओं के प्राण ! बाधा-रहित-विराट !
ऐ विप्लव के प्लावन ! सावन-घोर गगन के ऐ सम्राट !
ऐ अटूट पर छूट टूट पड़ने वाले—उन्माद !
विश्व-विभव को लूट-लूट लड़ने वाले अपवाद !

श्री बिखेर, मुख फेर कली के निष्ठुर पीड़न !
छिन्न-भिन्न कर पत्र-पुष्प-पादप-वन-उपवन,
बज्र-घोष से ऐ प्रचंड ! आतंक जमाने वाले !
कम्पित जंगम-नीड़ विहंगम,
ऐ न व्यथा पाने वाले !
भय के माया मय आंगन पर
गरजो विप्लव के नव जलधर !"

पहला सीधा अर्थ बादल के लिए है—"हे बन्धन बिहीन !—दुर्गम घोर अंधकार में मुक्त—बादल ! हे स्वतंत्र ! मन्द और तीव्र गति से चलते हुए समीर के रथ पर बैठे हुए उच्छृंखल ! हे उद्दाम ! संसार की अपार आशाओं के जीवन ! हे अबाध—विराट ! बाढ़ बहाने वाले ! सावन से घोर हुए गगन के सम्राट ! न टूटने वाले संसार पर छूट कर टूट पड़ने वाले अपवाद रूप ! सौन्दर्य को बिखेर कर, मुख फेर कर कली को ऐ कठिन पीड़ा देने वाले ! पत्र, पुष्प, पौदे, वन और उपवन को छिन्न-भिन्न कर वज्र की गर्जना से ऐ आतंक जमाने वाले प्रचंड ! सचल जीव और नीड़ों के पक्षी कांप रहे हैं, फिर भी उनके लिए व्यथा न पाने वाले ऐ विप्लव (अति वृष्टि, प्लावन) के नये बादल ! भय के भ्रमपूर्ण आंगन पर गरजो।"

यह सीधा अर्थ है पर उद्देश यह अर्थ नहीं। अंतिम पंक्ति का 'विप्लव' सारा ठाट वदल देता है। व्यंग्यार्थ सामने आ जाता है। 'विप्लव' 'एक ऐसा शब्द है जो मूल में वाच्यार्थ के अनुकूल जलराशि का अर्थ रखता हुआ, पहले के हुए प्रयोग के अनुसार अर्थात् दूसरे अर्थ से युगांतर—क्रांति (Revolution) की याद दिलाता है। यह युगान्तर साहित्यिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, जिस तरफ भी चाहें फेर सकते हैं.................................।

इसमें आये 'भय' के विषय जीव-वस्तुओं का वर्णन पहले हो चुका है, यानी बादल जिन पर अत्याचार करता है, उनके नाम गिनाये जा चुके हैं। यहां 'विप्लव' की लाक्षणिकता के फूटते ही सारे शब्द—पद—लाक्षणिक हो उठते हैं और उनसे पैदा हुआ व्यंग्यार्थ स्पष्ट प्रतीयमान होने लगता है।

भय के—जहां हृत्कम्प होता है अर्थात् जहां पाप है उसके;
माया मय—भ्रमपूर्ण, अस्तित्व रहित, पाप छायामय है—भ्रम विशेष, सत्य नहीं;
आंगन पर—मध्य गृह पर, उसके केंद्र पर;
गरजो—निर्भय शब्द करो, उसे मिटाने के लिए;
विप्लव के—युगान्तर के, परिवर्तन के;
नव जलधर—नये जीवन वाले, नई जान वाले ऐ बादल-रूप !
पूरा वाक्य—ऐ युगान्तर के नवीन जीवन वाले ! पाप के केन्द्र पर निर्भय होकर शब्द करो—बोलो—गरजो !

इसके बाद शुरू से सारी पंक्तियां इस अर्थ के अनुकूल आ जाँयगी। देखिए—"बिना आँखों के दुर्गम अँधेरे में (अँधेरे के आँखें इसलिये नहीं कि वह पाप है, उसमें सत्य, प्रज्ञा-चक्षु, नहीं। दुर्गम इसलिए है कि वहां जाते त्रास होता है!) बिना रुकावट के विचरने वाले ऐ बादल-रूप! ऐ स्वतन्त्र! मन्द और चंचल भाव-रूप समीर रथ पर ऐ उच्छृंखल!—(वायु भीतरी होकर भाव का रूप प्राप्त करती है; इसी से 'जिधर हवा बही उधर रुख किया' लोकोक्ति है, जिसका अर्थ है—भाव की जैसी धारा रही, वैसे हम रहे या चले)......................—चलते-फिरते और नीड़-विहंगम रूप, घर में रहने वाले जन काँप रहे हैं—फिर भी उनके लिए व्यथा न पाने वाले—सहानुभूति न रखने वाले (कारण, वे इस नवीन सत्ता को स्वीकृत नहीं करते) ऐ! भय के—उनके इस पाप-कम्प के भ्रमपूर्ण केन्द्र पर युग-प्रवर्तन के नवीन जीवन वाले! गंभीर ध्वनि करो।"

समझने के लिये कुछ विद्वत्ता की तो आवश्यकता है ही। जो जन काव्य के लक्षणों से परिचित हैं, उन्हें असुविधा न होगी।"

पाठक देखेंगे कि 'सीधा अर्थ' भी पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं है। एक उदाहरण लीजिए। 'सावन-घोर गगन के ऐ सम्राट' का अर्थ कवि करता है—'सावन से घोर हुए गगन के सम्राट'। बादल उस गगन का सम्राट है जो सावन से घोर हो जाता है। गगन का घोर होना क्या है? या तो 'घोर' शब्द का अर्थ बदलना पड़ेगा, या चित्र में क्रम-बद्धता न रहेगी। बाल की खाल निकालनी पड़ेगी। पूरे पद की क्रिया है 'गरजो'। अन्य समस्त पंक्तियां बादल के विशेषण हैं। ये विशेषण अपने में स्वतंत्र हैं। उनका न तो एक दूसरे से कोई संबंध है और न वे इस कविता के प्रधान वाक्य 'भय के माया मय आंगन पर गरजो' से ही सुन्दर ढंग से संबंधित हैं। किन्तु कवि ने कहा है कि "उद्देश यह अर्थ नहीं।" जो 'उद्देश' है उसमें और भी कष्ट कल्पना की आवश्यकता पड़ेगी। एक उदाहरण लीजिए। विप्लव का अर्थ युगान्तर या परिवर्तन मान लें, तब भी भय का अर्थ पाप ही लें, और कुछ नहीं, ऐसा क्यों? हृत्कम्प सदैव पाप के ही कारण तो नहीं होता! 'गरजो' का 'निर्भय शब्द करो' अर्थ तो समझ में आ सकता है, यद्यपि निर्भय शब्द करना और गरजना मूलतः दो विभिन्न बातें हैं; परन्तु 'मिटाने के लिये' वाली बात तो किसी मस्तिष्क में शायद ही आ सके। कारण यह है कि बादल के गरजने के साथ विनाश की कल्पना सुलभ नहीं। बादल के गरजने का ध्वन्यार्थ समझें पानी का बरसना—मूसलाधार पानी का बरसना—वैसी वर्षा जैसी इंद्र ने गोकुल पर कभी की थी; इस मूसलाधार वृष्टि को 'मिटाने' का प्रतीक समझें; उधर, भय को पाप मानें; और तब बादल के गरजने के साथ पाप के मिटाने वाली कल्पना जोड़ें। पाठक स्वयं सोचें कि यह द्रविड़ प्राणायाम से किस अंश में कम है। पूरी कविता भिन्न-भिन्न भाव-चित्रों की प्रदर्शिनी लगती है। इसमें कोई क्रम एवं व्यवस्था नहीं। उखड़े-उखड़े अभिव्यक्ति-खंड! दूर

की कौड़ी लाना ही विद्वत्ता नहीं है ! छायावाद की यह प्रवृत्ति उसकी सब से बड़ी कमजोरी है ।

इतने पर भी यह कह सकना कि छायावादी कविताओं में अलौकिकता एकदम नहीं है, असंभव है । कवियों की भावना के प्रति अन्याय है । निराला की 'तुम और मैं';

छायावादी कविता का आराध्य

रामकुमार वर्मा की 'चित्ररेखा' (१९३५ ई०), 'चंद्रकिरण' (१९३७ ई०), निराला की 'गीतिका' (१९३६ ई०), 'अनामिका' (१९३३ ई०), महादेवी की 'यामा' (१९४० ई०) और 'दीपशिखा' (१९४२ ई०), आदि की कविताओं को आध्यात्मिक संकेतों से पूर्णतया रहित नहीं सिद्ध किया जा सकता । इनमें बहुत-सी कविताएँ ऐसी हैं जिनमें लौकिकता नहीं है । रामकुमार वर्मा की निम्न पंक्तियाँ देखिये :—

"देव मैं, अब भी हूँ अज्ञात !
एक स्वप्न बन गई तुम्हारे प्रेम-मिलन की बात ।
तुम से परिचित होकर भी मैं
तुमसे इतनी दूर !
बढ़ना सीख सीख कर मेरी
आयु बन गई क्रूर !
मेरी साँस कर रही मेरे जीवन पर आघात ।"[1]

इसमें कवि निश्चित रूप से अध्यात्मवादी हो गया है । आत्मा परमात्मा से अपनी आत्मविस्मृति की बात कह रही है । इतनी साधना करने के बाद भी आत्मा अपने वास्तविक रूप—ब्रह्म से अभिन्नता—की वास्तविक अनुभूति नहीं कर पाई । आत्मा ब्रह्म की चिर-परिचित है । अभिन्न अंश ही है । किन्तु माया से आच्छन्न होने के कारण इतनी दूर है कि मिल नहीं पाती । उसका सांसारिक जीवन बढ़ता ही जाता है और ज्यों-ज्यों उसकी आयु बढ़ती है त्यों-त्यों उसमें लौकिकता की जड़ता आती जाती है । वह दिव्य प्रेम की आर्द्रता खोती जाती है । अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ ने भी बच्चों को दिव्यता के बहुत निकट माना है । अस्तु, 'चित्ररेखा' का कवि अनुभव करता है कि उसके सांसारिक जीवन की प्रत्येक साँस उसके आध्यात्मिक जीवन पर आघात करती है । उसकी आध्यात्मिकता को क्षति पहुँचाती है । महादेवी की निम्नलिखित कविता देखिए :—

"क्या पूजा क्या अर्चन रे ?
उस असीम का सुन्दर मंदिर मेरा लघुतम जीवन रे !
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे !
पद-रज को धोने उमड़े आते लोचन में जल कण रे !
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे !

---

१ 'चित्ररेखा'

स्नेह-भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक-मन रे !
मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे !
धूप बने उड़ते रहते हैं, प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे !
प्रिय प्रिय जपते अधर, ताल देता पलकों का नर्तन रे !"

कहना न होगा कि उपर्युक्त पद को पढ़ते समय कबीर का 'साधो सहज समाधि भली' वाला पद याद आ जाता है, जिसमें उन्होंने कहा है कि उनका 'डोलना' ही परिक्रमा है, कार्य करना ही सेवा है, शयन करना ही दंडवत है, खाना-पीना ही पूजा है, आदि। पन्त की 'मौन निमंत्रण' शीर्षक कविता सृष्टि के अनेक स्वरूपों के अन्दर किसी उस अज्ञात सत्ता की अनुभूति की अभिव्यक्ति है जिसे कवि पहचान नहीं पाता। छायावाद का आराध्य सगुण ब्रह्म नहीं, रहस्यमय निर्गुण है जिससे छायावादी कवि रागात्मक संबंध (माधुर्य भाव का) स्थापित किये है। यह माधुर्य भाव मिलन, विरह, आदि अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। छायावाद की कविता में इस आराध्य से संबंध रखने वाली बहुत-सी सुन्दर, सजीव, सशक्त एवं मार्मिक अभिव्यक्तियाँ हैं। उसमें आराधना की कोई विशेष दार्शनिक पद्धति नहीं है। मार्मिक संकेत हैं।

और, जहां यह नहीं है वहाँ छायावादी कवि ने मानव को विराट स्वरूप प्रदान किया है। यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। सूफियों के आध्यात्मिक प्रेम से समन्वित रहस्यवाद में ब्रह्म प्रेमी पुरुष है, जीवात्मा विरहिणी प्रेमिका है, और प्रकृति अनुभावों के माध्यम के रूप में है। लौकिक श्रृंगार में पुरुष प्रेमी होता है, युवती प्रेमिका होती है, और अनुभावों के रूप में होती हैं उसकी आंगिक क्रियायें-प्रतिक्रियायें। प्राचीन रहस्यवादी कविताओं में द्विविधा या भ्रम को हटाने के लिये 'प्रभु', 'परम तत्त्व', आदि अनेक अभिधार्थ शब्द रख दिये जाते थे। छायावादी कवि ने इसमें रस-भंग समझा। उसने यह प्रथा समाप्त कर दी। दृष्टि सौन्दर्यात्मक थी। अस्तु, रहस्यमय प्रेम की अभिव्यक्ति प्रायः स्त्रीलिंग-पुल्लिग सर्वनामों तथा प्रकृति के माध्यम से होने लगी। अनुभावों का मानवीय होना अनिवार्य था। उनकी अभिव्यक्ति इस प्रकार करनी थी कि वे प्रकृति के माध्यम से रहस्य प्रेम की अभिव्यंजना कर सकें। उनका द्वयार्थी होना आवश्यक था। जहाँ अभिव्यक्ति सशक्त रही वहाँ अध्यात्म की अभिव्यंजना हो गई; जहाँ वह कमजोर पड़ गई, वहाँ अलौकिक प्रेम नहीं, लौकिक श्रृंगार अभिव्यक्त हो गया। कवि ने बुद्धि से सोचा, तो लगा कि यदि अमुक दृष्टि से अर्थ किया जाय तो आध्यात्मिकता पूर्ण रूप से व्यंजित हो सकती है। बस, वह संतुष्ट हो गया। वह भूल गया कि शब्दों की अपनी शक्ति भी होती है। खींच-तान से उनके अर्थ को दूसरी ओर वही ले जायगा जो लिख रहा है। इस खींच-तान वाले अर्थ को सामान्य जन तभी स्वीकार कर सकेंगे जब शब्दों का यह नवीन अर्थ प्रचलित हो जाय। फिर एकाध शब्द की बात हो तो किसी तरह चल भी सकती है किन्तु जब साहित्य की

अध्यात्म से लौकिकता तक उतरने की प्रक्रिया

एक विशेष धारा शब्दों के ऐसे ही अर्थ लेकर चलेगी तब वह धारा अस्पष्ट एवं भ्रम से भरी हुई हो जायगी। कवि भी मनुष्य ही होता है। वह अपने को परम्परा, युग, आयु तथा वातावरण के प्रभाव से एकदम मुक्त नहीं कर सकता। वह शब्दों को मोड़ना चाहता है; शब्द उसे मोड़ देते हैं ! यही कारण है कि छायावादी कवि की अभिव्यक्तियाँ अलौकिक ब्रह्म की अभिव्यंजना न करके अपने सृष्टा कवि के हृदय की स्वाभाविक वृत्तियों को ही अभिव्यंजित कर बैठीं। सामूहिक प्रभाव को कवि का तर्क समाप्त कर नहीं सकता ! खंड-खंड करके उसका वह अर्थ जो कवि समझाना चाहता है, भले ही समझा ले; किन्तु जब उसकी अभिव्यक्ति को सम्पूर्णता में देखा जायगा तो वास्तविकता स्पष्ट हो जायगी। कला की संपूर्णता का दर्शक के मन और मस्तिष्क पर एक अज्ञात प्रभाव पड़ता है। उसको समझाया नहीं जा सकता। उसका विश्लेषण नहीं हो सकता। फिर भी, वह कलाकार के मानसिक चित्र का ही एक प्रतिबिम्ब होता है। छायावादी कवि शब्दों की इस रहस्य शक्ति को कदाचित् भूल गया था। अस्तु, जब उसने लिखा :—

"शशि-मुख पर घूंघट डाले
अंचल में दीप छिपाये,
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आये।" [१]

तब कदाचित् यह सोचा हो कि ब्रह्म का वह दर्शन जो चंद्रमा की तरह शीतलता देने वाला है एक रहस्य से आच्छादित है। संभव है कि वह रहस्य ज्ञान से ही आच्छादित हो। यदि उस रहस्य के हृदय पक्ष को देखें, यदि उसके अन्तर को देखें, यदि उसके बाह्य आवरण को हटा कर उसकी आन्तरिक रागात्मकता को देखें, तो उसमें मंगलमय ज्योति दिखाई पड़ेगी।

अध्यात्म और लौकिकता

जिस समय जीवन द्विधा की परिस्थिति में था, जब लौकिकता और सांसारिकता के बीच में कवि पड़ा था, तब जिज्ञासावृत्ति के रूप में कवि ने रहस्य की अनुभूति की। यह भी हो सकता है कि कवि ने इस माध्यम से यह कहना चाहा हो कि जब किशोरावस्था समाप्त हो रही थी और युवावस्था आ रही थी तब तुम अपने चंद्रमा के समान कान्त मुख पर घूंघट डाल कर आंचल में दीप लिए हुए मेरे लिये कौतूहल की तरह बन कर मुझे दिखाई पड़े। और यह भी हो सकता है कि जीवन की इस आयु में कोई ऐसा आया हो जो सुन्दर रहा हो और साथ ही जो कवि के प्रति मंगल की भावना लिये रहा हो। अस्तु, कवि उसी की याद कर रहा है। पुंलिंग क्रिया 'आये' का प्रयोग प्रथम दो पंक्तियों में चित्रित उस नारी रूप को मिटा सकने में असमर्थ है जिसका सौन्दर्य मार्मिक है—'रहस्य' से अधिक मार्मिक ! इसी प्रकार :—

"झंझा झकोर, गर्जन है, बिजली है, नीरद माला।
पा कर इस शून्य हृदय को सब ने आ डेरा डाला।" [१]

---

१. प्रसाद : 'आंसू' (१९२६ ई०)

में 'शून्य' के अर्थ 'आकाश' और सूना, दोनों हैं; । आकाश के हृदय में आँधी, तूफान, बादल, उनका गर्जन, बिजली की चमक, आदि हैं; सूने हृदय में विरह की उत्तप्त उसांसें है, व्यथा का हाहाकार है , प्रिय की याद है, और विवशता की करुण अनुभूति है । अभिव्यंजना सुन्दर है । प्रतीक शैली में है । इसका अर्थ यदि हम यह लगायें कि आकाश ब्रह्म के विरह में व्यथित है, इसलिए उसकी दशा ऐसी है जैसी प्रथम पंक्ति में वर्णित है, तो कथन में मार्मिकता एवं सुन्दरता न रह जायगी । विरह की अनुभूति और आसमान का तूफान ! !

यदि इसको हम मनुष्य के पक्ष में लें तो छायावाद हिन्दी की एक पुरानी किन्तु सुन्दर प्रवृत्ति को एक विराट रूप देता हुआ पाया जायगा । सीता के विरह में तुलसीदास ने राम से कहलवाया था :—

छायावाद और मानवी अनभूतियों की विराटता

'हा गुन खानि जानकी सीता, रूप सील व्रत नेम पुनीता ।
लछिमन समुझाये बहु भांती, पूछत चले लता तरु पांती ।
हे खग हे मृग मधुकर श्रेनी, तुम देखी सीता मृग नैनी ।'

इसी प्रकार जब भरत पैदल चित्रकूट जा रहे थे तब

'किये जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात'

तुलसीदास ने मानव की (राम और भरत को मानव रूप में देखने की यदि मनाही न हो तो) उच्चता का प्रभाव प्राकृतिक शक्तियों पर पड़ता हुआ देखा था । छायावादी कवि ने भी यही किया । पहले उसने प्रकृति को ब्रह्म की अनुभूति की प्रतिक्रिया-स्वरूप अनुभावों के रूप में देखा था । किन्तु जब अनजान में ब्रह्म के स्थान पर स्वयं वह आ गया तो प्रकृति उसकी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने वाली हो चली । इधर, मानव की भावनाओं को उदात्त स्वरूप मिल गया । इस प्रकार उन अनुभूतियों का केन्द्र मानव—विराट मानव—हो गया । सभी कवियों की ऐसी अनुभूतियाँ मिल कर हमारी कल्पना में मानव के जिस विराट स्वरूप का निर्माण करती हैं , वह महान है; इसलिए ऐसा साहित्य भी महान है । उसकी इस महानता की उच्चता का अनुमान तब और भी अच्छी तरह से होता है जब हम यह पाते हैं कि यह विराट मानव स्थूलता, वासनात्मकता, एवं ऐंद्रियता से परे है । तुलसीदास का आराध्य पैरों के बिना चलता है, कानों के बिना सुन लेता है, हाथों के बिना नाना प्रकार के कार्य कर लेता है, और मुख के बिना सकल सुख का भोग कर लेता है । छायावाद का मानव मांसलता एवं ऐंद्रियता के बिना ही प्रेम की मिलन और विरह की अनुभूतियों से युक्त है । धर्म ग्रंथ साक्षी हैं कि देवतागण—यहाँ तक कि उनके अधिपति इन्द्र भी—ईर्ष्या-द्वेष से पीड़ित होते रहते हैं । तुलसीदास ने उनके लिये कहा है :—

'ऊंचि निवास नीचि करतूती
देखि न सकहिं पराइ विभूती ।।'

किन्तु छायावाद का यह विराट मानव इन सब से ऊपर है। वह देवादिदेव है। पिछले कुछ पृष्ठों को पढ़कर भ्रम हो सकता था कि मैं छायावादी काव्य की उत्कृष्टता नहीं स्वीकार करता। ऐसी बात नहीं है। विषय की दृष्टि से अलौकिक न होने पर भी यह काव्य श्रेष्ठ है। जो कुछ अलौकिक है वही उच्च है; जो कुछ लौकिक है वह हीन है, यह मैं नहीं मानता। लौकिक अलौकिक से श्रेष्ठ हो सकता है। छायावाद इसलिए भी श्रेष्ठ है कि उसने मानव को महत्ता दी है। छायावाद के शृंगार और रीतिकाल के शृंगार में यह अन्तर बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि रीतिकाल के सौन्दर्य चित्रण में आंगिकता थी; छायावाद के सौंदर्य चित्रण में भावनात्मकता है। छायावाद की कवियित्री भी जब मान करती है तब :—

"नव इंद्रधनुष का चीर महावर अंजन ले,
अलि गुंजित मीलित पंकज, नूपुर रुन झुन ले,
फिर आई मनाने साँझ मैं बेसुध मानी नहीं!
पथ देख बिता दी रैन मैं प्रिय पहचानी नहीं!"[१]

सुन्दर दिनों की कुछ कल्पनाओं में से एक देखिए :—

"चित्र खींचती थी जब चपला,
नील मेघ-पट पर वह बिरला,
मेरी जीवन स्मृति के जिसमें—
खिल उठते वे रूप मधुर थे।
वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे।"[२]

छायावादी कवि के वैभव का अंत नहीं। जब यह कवि प्रसन्न रहता है तो प्रकृति मुसकराती है। आशा से भरे हुए उसके मधुर दिनों में दिनकर, हिमकर और तारों के दल उसके जीवन-जलनिधि में अपना चंचल चित्र बनाते हैं। जब वह दुखी होता है तब :—

"वेदना विकल फिर आयी मेरी, चौदहों भुवन में;
सुख कहीं न दिया दिखाया विश्राम कहां जीवन में!"[३]

जब उसका दीप जलता है तो उसकी भावना कहती है :—

"दीप मेरे जल अकंपित,
घुल अचंचल!
सिंधु का उच्छ्वास घन है,
तड़ित तम का विकल मन है,

१. महादेवी
२. प्रसाद : 'लहर'
३. प्रसाद

भीति क्या नभ है व्यथा का,
आँसुओं से सिक्त अंचल !"[1]

या

"तोड़ दो यह क्षितिज में भी देख लूं उस ओर क्या है,
जा रहे जिस पंथ से युग कल्प उसका छोर क्या है,
क्यों मुझे प्राचीर बन कर आज मेरे अश्रु घेरे ?
फिर विकल हैं प्राण मेरे !"[2]

वस्तु की दृष्टि से छायावाद की यही महत्ता है कि जहाँ रीतिकाल में लौकिक श्रृंगारोन्मुख सगुण भक्तिवाद की प्रधानता थी वहाँ इस काल में निर्गुण रहस्योन्मुख सूक्ष्म श्रृंगार वाले व्यक्तित्व को प्राधान्य मिला। और, यह छायावाद की उस वृत्ति का एक अंग है जिसकी उसमें प्रधानता है। वह वृत्ति है उसकी कलात्मकता। छायावाद का कलापक्ष उसके उपर्युक्त वस्तु-पक्ष से अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसके वस्तुपक्ष में कलापक्ष का समावेश न हो सकेगा, जबकि वस्तुपक्ष कलापक्ष का एक अंग माना जा सकता है। कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए कोई वस्तु या भाव तो अवश्य चाहिये, किन्तु इसी से उसका प्राधान्य न सिद्ध हो सकेगा। छायावाद के विषय को अन्य ढंग से भी अभि-व्यक्त किया जा सकता है। कबीर और जायसी ने भी रहस्यमय निर्गुण के प्रति रागात्मक आकर्षण की बात की है। मैथिलीशरण गुप्त ने 'झंकार' (१९२९ ई०) में ऐसी कविताएं लिखी हैं; किन्तु छायावादी कला के अभाव में वे निर्जीव हैं। देखिए :—

छायावाद के कला-पक्ष का महत्त्व

"अच्छी आँखमिचौनी खेली।
बार बार तुम छिपो और मैं खोजूं तुम्हें अकेली।
किसी शान्त एकान्त कुंज में तुम जाकर खो जाओ,
भटकूं इधर-उधर मैं, इसमें क्या रस है बतलाओ ?
यदि मैं छिपूं और तुम खोजो, अनायास ही पाओ,
कहाँ नहीं तुम जहाँ छिपूं मैं, जाने भी दो—आओ।
करें बैठ रँगरेली,
अच्छी आँख मिचौनी खेली।"

इसके विपरीत माखनलाल चतुर्वेदी की कविताएँ हैं। वे राष्ट्रीय भाव-धारा की ह। छायावादी कला ने उनमें चमत्कार पैदा कर दिया है। देखिए :—

"मित्र के कर फेंकते तुझपर सुनहली धूल,
डालि पर तेरी रही निर्दय मुनैया झूल,
कर रहे तुझको हवा पत्ते, अपनपा भूल,

---

१. महादेवी
२. महादेवी

कामिनी का, दे रहा झाड़ें, प्रमत्त दुकूल,
पर न इनकी मान तू, हैं शाप, ये वरदान,
हिमकिरीटिनि ने मँगाये हैं सखी तव प्राण,
बिना बोले मातृ चरणों डोल,
और उस दिन तक हृदय मत खोल।"[१]

कबीर, जायसी, मैथिलीशरण गुप्त, आदि कवि छायावादी नहीं माने जा सकते जबकि माखनलाल चतुर्वेदी, आदि अपनी अभिव्यक्तियों की भंगिमा के बल पर छायावादी कविता के एक प्रमुख धारा के श्रेष्ठ कवियों में से हैं। छायावाद के कलापक्ष को प्रधानता देने से उसके क्षेत्र का विस्तार भी हो जाता है और अस्पष्टता उसका एक सामान्य दोषमात्र होकर रह जायगी।

छायावाद की कला में गीतात्मकता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गीत की परिभाषा देते हुए 'यामा' की भूमिका में महादेवी वर्मा ने लिखा है, "सुख-दुःख के भावावेशमय अवस्था-विशेष का गिने-चुने शब्दों में स्वर साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।" विश्लेषण करने से इस परिभाषा में गीत के लिये जो आवश्यक तत्त्व निकलते हैं वे हैं :—(अ) सुख-दुख की वैयक्तिक अनुभूतियाँ, (आ) अनुभूतियों की भावात्मक अभिव्यक्ति, (इ) गीत के उपयुक्त भाषा जिसमें शब्द यथासंभव कम हों, किन्तु उनका प्रयोग सतर्कतापूर्वक किया गया हो, (ई) गेयता। छायावाद के कवियों के गीतों में सुख-दुख की वैयक्तिक अनुभूतियों की कमी नहीं। निराला की 'सरोज स्मृति' कविता में यह तत्त्व स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। महादेवी वर्मा को, उनके कथनानुसार, दुख की अनुभूति यद्यपि अधिक नहीं—किन्तु सुख की तो है ही। बुद्ध की करुणा, अध्यात्म के अध्ययन, सुख की वैसी प्रतिक्रिया, जिसने सिद्धार्थ को लोक से विमुख कर दिया था, दुख के रूप में आई और उनकी 'स्मृति की रेखाएं' तथा 'अतीत के चल-चित्र' साक्षी हैं कि सामाजिक विषमता ने उनके अन्तर को बुरी तरह झकझोर दिया है। इससे महादेवी भी दुख से अपरिचित नहीं। पंत ने यद्यपि अपने व्यक्तिगत सुख-दुख की अभिव्यक्ति नहीं की है किन्तु 'ग्रंथि', आदि कविता-पुस्तकें उनके दुखाभिभूत मनोविज्ञान पर प्रकाश डालती हैं। प्रसाद के 'आंसू' के छन्द दुख-सुख का प्रत्यक्ष अनुभव किए बिना नहीं लिखे जा सकते थे। युग की प्रवृत्ति और समाज की अवस्था संवेदनशील कवि के अन्तर को आलोड़ित किये बिना रह नहीं सकती थी।

वैयक्तिक सुख-दुख

सुख-दुख की यही अनुभूति छायावादी कविताओं में अभिव्यक्त हुई है। उसका स्वरूप बदला हुआ है। उसमें कथात्मकता अधिक नहीं है। उसमें भावात्मकता अधिक है। कभी वह आध्यात्मिक स्वरूप धारण करके आई है और कभी

१. माखनलाल चतुर्वेदी : 'हिमकिरीटिनी' (१९४१ ई०)

विराट मानव के शृंगार की अनेक अवस्थाओं में दिखाई पड़ती है। कभी-कभी उसका आरोप प्रकृति के अनेक रूपों में हुआ है। 'सरोज-स्मृति' में कहीं-कहीं यह स्थूल हो गई है। निर्गुण—रहस्य—के प्रति रागात्मक आकर्षण, अनुभूतियों की दार्शनिकता, प्रकृति, विराट मानवीयता, और सौन्दर्यानुभूति ने वैयक्तिक अनुभूतियों को भावात्मकता का रूप देने में बड़ा काम किया है। इनके बिना यह संभव नहीं। इनके रहते हुए भी अभिव्यक्ति कभी-कभी मूर्त्त हो गई है; किन्तु यह स्वाभाविक था। इसे बहुत बड़ा दोष नहीं माना जा सकता।

भावात्मक अभिव्यक्ति

अभिव्यक्ति को भावात्मक रूप देने में सब से बड़ा हाथ कवियों की कल्पना का है। छायावादी कवियों की कल्पना बड़ी तीव्र, बड़ी उदात्त, बड़ी सशक्त और बड़ी मार्मिक रही है। प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभूति के अभाव में जिस अध्ययन और कल्पना ने छायावाद को आध्यात्मिकता के इतने समीप ला दिया कि अच्छे-अच्छे आलोचक भी उससे चमत्कृत एवं प्रभावित हो उठे, वह निःसंदेह प्रशंसनीय है। छायावादी कवियों की कल्पना ने प्रकृति के सभी स्निग्ध एवं सुन्दर अंगों को देखा है और उसको मानवीय एवं अमानवीय अनुभूतियों से संपन्न किया है। यह कल्पना मिलन के क्षेत्र में भी गई है और विरह के भी। इसी कल्पना ने अलंकारों की सुन्दर आयोजनायें प्रस्तुत की हैं। कल्पना छायावाद की कविता का इतना अभिन्न तत्त्व हो गया है कि लिखने में तो उसकी आवश्यकता पड़ती ही है, अर्थ समझने के लिये भी वह अनिवार्य है। प्राचीन काल की कविताओं का अर्थ समझने के लिए अधिकतर आवश्यकता शब्दों के अभिधार्थ की ही पड़ती है। ध्वनि और लक्षणा का प्रयोग कम होता है। परम्परा और प्रसंग ही बहुत अधिक कठिनाइयाँ हल कर देते हैं। आज की कविता का काम उतने ही से नहीं चल सकता। व्यंजना, लाक्षणिक पदावलियाँ, नवीन प्रयोग, आदि ने पाठकों के लिये कल्पना-शक्ति का उपयोग अनिवार्य कर दिया है। जिसने पहाड़ के दृश्य नहीं देखे हैं वह वहाँ के दृश्यों की कल्पना नहीं कर सकता। वह पंत के 'पल्लव' की 'उच्छ्वास' कविता की 'उड़ गया अचानक लो भूधर' से लेकर 'उठ रहा धुआँ जल गया ताल' तक की पंक्तियों का अर्थ कदापि नहीं समझ सकता। इसी प्रकार प्रसाद, महादेवी, निराला, आदि की बहुत सी कवितायें ऐसी ही हैं। यह ठीक है—और शायद स्वाभाविक भी है—कि यह कल्पना सदैव उच्च स्तर पर ही नहीं रही और न उसका संबंध ही सदैव उच्चकोटि का और चुस्त ही रहा है। 'पंत जी और पल्लव' शीर्षक निबंध में निराला ने पंत की कविताओं में इस प्रकार के कुछ दोष दिखाए हैं। पंत ने 'अनंग' कविता में लिखा है:—'बजा दीर्घ सांसों की भेरी'। निश्चय ही यह कल्पना सुंदर नहीं है। इसको पढ़कर ऐसा लगता है कि नींद में किसी की नाक बोल रही है। इसी प्रकार 'अभी तो हैं ये अधर प्रवाल............... हिलाते अधर प्रवाल' पंक्तियों पर निराला ने लिखा है:—"प्रवाल शब्द दो बार आया

कल्पना

है, एक बार तो पल्लवों को ही उन्होंने नवल प्रवाल कहा, फिर पल्लवों के अधरों में प्रवाल जड़ दिये ! अर्थ हुआ, प्रवाल-पल्लव अपने अधर-प्रवालों को हिला रहे हैं ! इस तरह उपमान-उपमेय का निर्वाह सार्थक नही हो सका। दूसरे, 'हिलाते अधर प्रवाल' का भाव चित्र बड़ा ही विचित्र है !" इसी भाव चित्र को स्पष्ट करते हुए निराला ने किसी नाटक कम्पनी के जोकर के होंठ हिलाने का उल्लेख किया है। इस प्रकार की भूलें बड़े-बड़े महाकवियों की रचनाओं में भी मिल जाती हैं। इनको तरह देने का कारण इनका गुण होना नहीं बल्कि मानव-शक्ति का स्वभावतः अपूर्ण होना है। इसीलिये इनके कारण छायावाद के कल्पना-वैभव की विशेष क्षति नहीं होती। वह छायावादी काव्यधारा की विमल विभूति है। बहुत अधिक अच्छा होना भी कभी-कभी खराब हो जाता है। कल्पना की इस अति ने छायावाद को हमारे स्वाभाविक जीवन से कुछ दूर हटा दिया और अंत में वह भी उसके पतन का कारण बनी।

गेयता छायावादी कविता की एक अन्य विशेषता है। इस गेयता का एक रूप हमें महादेवी और रामकुमार वर्मा के गीतों में मिलता है। ये गीत निश्चित मात्राओं और छंदों के व्यवस्थित साँचे में ढले होते हैं। रामकुमार वर्मा के गीतों में लय प्रायः साहित्यिक ही रही है। महादेवी के गीतों में कभी-कभी लोक गीतों की लय भी अपनाई गई है। 'पथ देख बिता दी रैन मैं प्रिय पहचानी नहीं', 'मधुर पिक हौले-हौले बोल', आदि पंक्तियां लोक गीतों की लय पर हैं। उनमें कभी-कभी तुक भी भंग हो जाता है; जैसे, 'रोम-रोम में नंदन पुलकित' में 'पुलकित' के साथ 'साँस-साँस में जीवन शत-शत' के 'शत-शत' का तुक मिलाया गया है जो निश्चय ही दोषमुक्त नहीं। पंत की गेयता स्वर और मात्राओं पर आधारित न होकर भावों की अनुरूपता पर आधारित हैं। प्रसाद के गीत संगीत की शास्त्रीय पद्धति पर गाये जाने योग्य हैं। 'बीती विभावरी जाग री' ऐसा ही गीत है। उनके नाटकों के 'गीत' की संगीत की शास्त्रीय स्वर-लिपियां प्रस्तुत की गई हैं। 'गीतिका' की भूमिका में निराला ने अपनी सांगीतिक अभिव्यक्ति पर टैगोर के संगीत बोध का प्रभाव स्वीकार किया है। उनका कहना है, "मैं खड़ी बोली में जिस उच्चारण-संगीत के भीतर से जीवन की प्रतिष्ठा का स्वप्न देखता आया हूँ..........(किन्तु अपने) संस्कारों के फलस्वरूप हिन्दी-संगीत की शब्दावली और गाने का ढंग, दोनों मुझे खटकते रहे।....................हिन्दी गवैयों का सम पर आना मुझे ऐसा लगता था जैसे मजदूर लकड़ी का बोझ मुकाम पर लाकर धम्म से फेंक कर निश्चिन्त हुआ।................मैंने अपनी शब्दावली को काव्य के स्वर से भी मुखर करने की कोशिश की है। ह्रस्व-दीर्घ की घट-बढ़ के कारण पूर्ववर्ती गवैये शब्दकारों पर जो लांछन लगता है उससे भी बचने का प्रयत्न किया है। दो-एक स्थलों को छोड़ कर अन्य सभी जगह संगीत के छंद शास्त्र की अनुवर्तितता की है। ....जो संगीत कोमल, मधुर और उच्च भाव, तदनुकूल भाषा और

गेयता

प्रकाशन में व्यक्त होता है उसके साफल्य की मैंने कोशिश की है। ताल प्रायः सभी प्रचलित हैं.......................।" झपताल में उनकी एक पंक्ति का उन्हीं के द्वारा इंगित आघात देखिये :—

"अ+ न गि। नि त आ१—गये।—"

एक अन्य गीत का स्वर विभाजन देखिये :—

(दादरा) "अपने सुख। स्वप्न से खि। ली—।
वृन्त की क। ली—।
उसके मृदु। उ र से प्रि य।
अपने मधु। पुर के—।
मुर—से—।
देख पड़े। तारों के।
विकच स्वप्न। नयनों से। मिली फिर मि। ली—वह।
वृन्त की क। ली—।"

कोमल और मधुर वर्णों के प्रयोग ने संगीतात्मकता को और भी बढ़ा दिया है। इसके अतिरिक्त, छायावादी जिन शब्दों का प्रयोग करता है वे सुन्दर भावचित्र उपस्थित करने वाले होते हैं। इस प्रकार छायावाद के गीत साहित्यिक दृष्टि से गीत की सभी विशेषताओं से तो समन्वित होते ही हैं, उनमें संगीत का तत्त्व भी पर्याप्त मात्रा में रहता है। वे सरस होते हैं।

प्रश्न उठ सकता है कि यदि ऐसा है तो छायावादी गीत लोकप्रिय क्यों नहीं हुए। इसका कारण यह है कि छायावादी कवियों ने नवीनता और कलात्मकता के आगे लोक-प्रवृत्ति एवं लोक-संवेदना का ध्यान न रक्खा। अशिक्षित एवं सामान्य शिक्षित जनता में वे गीत लोकप्रिय नहीं हो सकते जो भाव, भाषा और संगीत, तीनों दृष्टियों से उनके लिए दुर्बोध हों। सामान्य जनता की स्थिति यह है कि वह ब्रजभाषा की घनाक्षरियों और सवैयों को ही कविता समझती है। वह 'कविता' भी नहीं समझती। वह कवि केवल उसे समझती है जो 'कवित्त' लिखता हो। उसकी दृष्टि में पद वही हैं जो सूर, तुलसीदास, एवं कबीर के भजनों के ढंग पर लिखा गया हो। उसकी दृष्टि में खड़ी बोली उर्दू होती है। माध्यमिक और उच्च कक्षाओं के हिन्दी के विद्यार्थियों के बीच भी ये गीत अध्ययन एवं गोष्ठियों में पढ़े जाने के विषय भर हैं। उत्सवों एवं मस्ती के अन्य अवसरों पर—जब कि हृदय भाव-विभोर होकर कुछ गाना चाहता है—ये गीत काम में नहीं आते। इन कविताओं में लोक-सामान्य भावनायें अधिक हैं भी नहीं। जो हैं भी उनकी अभिव्यंजना इस प्रकार होती है कि वे लोक के लिए चिरनवीन होती हैं। उससे लोक परिचित नहीं। एक-एक पंक्ति या एक-एक शब्द पर ध्यान देना पड़ता

लोकप्रिय क्यों नहीं

है। एक ही चरण की कई पंक्तियों में परस्पर इतना भी संबंध नहीं होता कि एक को पढ़ कर दूसरे का अनुमान हो सके। समास-युक्त पदावलियों ने भी उसको लोक से दूर रख छोड़ा है। सामान्य जनता तो क्या, विद्वान भी जीवन में समास वाली शैली का उपयोग नहीं करते। अस्तु, जो कवितायें इस शैली में लिखी जाती हैं उनको याद रखना कठिन हो जाता है। मुशायरों में उर्दू का शायर अपने ग़ज़ल की एक पंक्ति पढ़ता है। वह आगे वाली पंक्ति पढ़ने भी नहीं पाता कि श्रोतागणों में से कुछ पहले पढ़ी हुई पंक्ति दुहरा जाते हैं और दाद भी दे देते हैं। हिन्दी की समस्त पदावली को दुहराने की कल्पना ही नहीं की जा सकती। रामकुमार वर्मा और बच्चन जैसे कवियों के गीत यदि लोकप्रिय हैं तो उसका प्रधान कारण यह है कि उनका शब्द-कोष तत्सम शब्दों से भले ही भरा हो किन्तु जब उनका प्रयोग किया जाता है तो हिन्दी की विभक्तियों के प्रयोग उनकी भाषा के स्वरूप को हमसे अपरिचित नहीं रहने देते। हिन्दी के ऐसे गीतों की लोकप्रियता भी साहित्यिक जनता तक सीमित है। निराला ने 'गीतिका' की भूमिका में लिखा है कि हिन्दी के गवैयों का ढंग उन्हें अच्छा नहीं लगता था। उसकी जगह पर उन्होंने जो ढंग निकाला उसे जब तक हिन्दी के गवैये अपनायें न, तब तक उस ढंग पर लिखे गए गीत लोकप्रिय नहीं हो सकते। गवैये तभी गायेंगे जब वे उससे पूर्णतया परिचित हो जायँ। उस स्थिति की प्रतीक्षा करनी है; उस स्थिति के लाने का प्रयत्न करना है।

भाषा छायावादी कविता का बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। केवल इसी एक तत्त्व के कारण भी छायावादी कविता का एक स्वतंत्र व्यक्तित्व माना जा सकता है। छायावादी कविता के सृजन के पूर्व हिन्दी काव्य में मुख्यतया जो दो भाषायें प्रधान रूप से प्रयुक्त हो चुकी थीं वे हैं अवधी और ब्रजभाषा। बीसवीं सदी के प्रारम्भ होते-होते उनका महत्त्व घट चला। अवधी अपना साहित्यिक महत्त्व बहुत पहले खो चुकी थी। ब्रजभाषा और खड़ी बोली संबंधी वाद-विवाद खड़ी बोली के अनुरागियों को एक प्रेरणा देकर एवं खड़ी बोली का एक प्रचार करके समाप्त हो गए। महावीर प्रसाद द्विवेदी के असाधारण व्यक्तित्त्व ने खड़ी बोली को साहित्य की प्रधान भाषा बना दिया। यह भाषा काव्योपयुक्त नहीं थी। इसे काव्योपयोगी बनाने का उत्तरदायित्व छायावादी कवियों को लेना पड़ा। इसमें इन्हें काफी सफलता मिली।

भाषा पृष्ठभूमि

छायावादियों के शब्द-कोष में संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता होती है। आवश्यकतानुसार देशज या अन्य प्रकार के शब्द भी पाये जाते हैं। अरबी, फारसी या अंग्रेज़ी के वैसे शब्द प्रायः नहीं मिलते जो हिन्दी के अपने न हो गये हों। शब्दों पर अंग्रेज़ी व बंगला का भी प्रभाव पड़ा है। स्वप्निल मुस्कान, सुनहला स्पर्श, भग्न हृदय, सुवर्ण का काल, आदि का आधार क्रमशः ड्रीमी स्माइल, गोल्डेन टच, ब्रोकेन हार्ट, गोल्डेन एज, आदि हैं। 'गोल्डेन'

काव्योपयुक्तता

के हिन्दी रूपान्तर 'सुवर्ण का' स्वर्णिम, सुनहला, सोने का, आदि, का प्रयोग पंत की कविताओं में अधिक मिलता है। ऐसे प्रयोगों को देखकर ही निराला ने लिखा था कि पंत जी की कविता में सोने का बहुत खर्च है। रामचन्द्र शुक्ल ने छायावादी शब्दों को 'अजायब घर के जानवरों' की उपमा दी है। 'शत-शत', 'राशि-राशि', 'स्वप्निल' और उसके साम्य पर बने 'तंद्रिल' 'धूमिल', आदि शब्दों पर बंगला का प्रभाव है। शब्दों का प्रयोग करते समय छायावादी के सामने यही बात रहती थी कि वे काव्योपयुक्त हों। तात्पर्य यह है कि वह यह चाहता था कि उसकी शब्दावली इतनी सुन्दर हो कि रचना में आकर्षण, सजावट एवं संगीत पैदा हो जाय। पंत और निराला की कविताओं में संयुक्त क्रिया-पदों का प्रयोग कम हुआ है। संस्कृत के परसर्गों एवं उपसर्गों से बने हुए शब्दों के अत्यधिक प्रयोग से वाक्यावलियों की जो प्रवृत्ति बन जाती है उसमें क्रिया-पदों की बहुत आवश्यकता पड़ती भी नहीं। कृदंत और सहायक क्रिया-पदों से काम चला लिया जाता है। समास और संधि से बनी हुई पदावलियों के साथ वैसी क्रियाओं के प्रयोग का सामंजस्य अधिक बैठता भी नहीं। उनमें संस्कृत के बँधे-बँधाये छोटे-मोटे क्रिया-पदों का ही प्रयोग अच्छा लगता है। संस्कृत में 'इति' का प्रयोग क्रिया-पदों की आवश्यकता प्रायः समाप्त कर देता है। अस्तु, इस प्रकार की शब्दावली में क्रिया-पदों के प्रयोग की स्वाधीनता नहीं रह जाती। जो चीज़ संस्कृत की है उसके साथ उसका प्रयोग, जो संस्कृत की नहीं है, कभी अच्छा न लगेगा। संधि और समास के माध्यम से हम संस्कृत के बहुत निकट पहुँच जाते हैं। किन्तु, 'वह जाता हुआ पकड़ा गया' वाक्य के 'जाता हुआ पकड़ा गया' में सन्धि समास कुछ कर ही नहीं सकते। कदाचित् यही कारण है कि संस्कृत की प्रवृत्ति वाली पदावलियों से भरी हुई छायावादी हिन्दी कविता में हिन्दी प्रदेश के मुहावरों और उसकी कहावतों को उपयुक्त स्थान न मिल सका। किन्तु ऐसी पदावलियों का एक अपना सौन्दर्य है, उसकी एक अपनी माधुरी है, जिसकी अनुभूति एक विशेष वातावरण में पले मस्तिष्क को हो सकती है। छायावादी कविता में वह सौन्दर्य एवं वह माधुर्य बहुत है। इसके लिए शब्दों की प्रवृत्ति का सम्यक ज्ञान अनिवार्य है। शब्दों के विषय में पंत ने लिखा है :—

"ये सब एक ही विराट परिवार के प्राणी हैं। इनका आपस का संबंध, सहानुभूति, अनुराग-विराग जान लेना; कहाँ कब एक की साड़ी का छोर उड़ कर दूसरे का हृदय रोमांचित कर देता; कैसे एक की ईर्षा अथवा क्रोध दूसरे का विनाश करता, कैसे फिर दूसरा बदला लेता; कैसे ये गले लगते, बिछुड़ते; कैसे जन्मोत्सव मनाते तथा एक-दूसरे की मृत्यु से शोकाकुल होते, इनकी पारस्परिक प्रीति-मैत्री, शत्रुता तथा वैमनस्य का पता लगा लेना क्या आसान है![1]"

शब्द-शक्ति की इतनी विराट अनुभूति लेकर छायावादी कवि कविता लिखने बैठता था। पंत और निराला की कविताओं में यह प्रयत्न और यह सतर्कता विशेष

१. 'पल्लव' की भूमिका

रूप से पाई जाती है। भाषा में संगीत लाने के लिये श्रुति-मधुर शब्दों का कहीं-कहीं अत्यधिक प्रयोग हो गया है। ऐसा प्रयोग कभी कभी अनावश्यक रूप से भी हो गया है। पंत का कविताओं में 'सा', 'चिर' और 'रे' के प्रयोग सभी जगह सार्थक नहीं। इन प्रयोगों ने खड़ी बोली की द्विवेदी युगीन सादगी हटा कर उसे एक विशेष प्रकार की काव्योपयुक्तता प्रदान की।

लाक्षणिक पदावली एवं प्रतीक पद्धति

छायावादी काव्य भाषा में शब्दों की लाक्षणिक शक्ति की विशेष प्रतिष्ठा हुई। अभिधार्थ प्रायः तिरस्कृत हो चले। द्विवेदी युग की अभिव्यक्ति बहुत सीधी-सादी होती थी। छायावादी कवि को वह ढंग नहीं भाया। उसने प्रकृति का सहारा लिया। अपनी बातों को उसके माध्यम से अभिव्यक्त करने लगा। शब्दों में प्रतीकात्मकता आ गई और "कविता के संसार में अब 'फूल' सुख का और 'शूल' दुख का, 'दिन' सुख का और 'रात्रि' दुख का, 'आलोक' ज्ञान अथवा आनन्द का और 'तिमिर' अज्ञान अथवा अवसाद का, 'मानस' मन ('अन्तर्लोक') का और 'लहर' कामना का, 'वीणा' हृदय का और 'रागिनी' और 'मूर्च्छना' वेदनाओं का, 'मधु' आनन्द अथवा माधुर्य का और 'मदिरा' छवि अथवा रूप का 'उषा' आरम्भ या उज्ज्वलता का और 'संध्या' अवसान या विलास का, 'इंद्रधनुष' रंगीनी या क्षणभंगुरता का, 'वसंत' यौवन का, 'मधुप' प्रेमी का, 'मुकुल' प्रेयसी का, 'स्वर्ण' वैभव या दीप्ति का, और 'रजत' रूप या धवलता का, 'तूफान' भावाघात और भावावेश का, 'झंकार' भावना और संवेदना का , 'सरिता' जीवन का, और 'मलय' श्वास का, 'संगीत' तन्मयता का, 'हास' विकास का, 'अश्रु' पीड़ा का, 'मिट्टी' नश्वरता का, 'मुरली' मधुर भावना का, 'हंस' प्राणों का प्रतीक बन गया और भाषा की लाक्षणिकता में अभूतपूर्व सम्पन्नता आ गई"।[1] छायावादी कविताओं की समझ में आने वाली पंक्तियों को भी न समझने वाले लोग इस रहस्य को या तो जानते नहीं या इस ओर अधिक सोचना-विचारना नहीं चाहते। लाक्षणिकता की इस योजना का आधार साम्य और अनुरूपता की भावना है। इसके पीछे सौन्दर्य, कोमलता एवं काव्योपयुक्तता का दृष्टिकोण रहता है। अस्तु, जब रामकुमार वर्मा की

> "शलभ को अमरत्व देकर , प्रेम पर मरना सिखाया,
> सूर्य का संदेश लेकर, रात्रि के उर में समाया,
> पर तुम्हारा स्नेह खोकर भी तुम्हारी ही शरण हूँ।
> एक दीपक किरण-कण हूँ।"[2]

जैसी पंक्तियों का अर्थ समझना है तब शब्द की लाक्षणिक शक्ति का ही आश्रय लेना पड़ेगा। परवाने शमा पर जल मरते हैं किन्तु जल मरने पर उन्हें अमरत्व नहीं मिला

१. सुधींद्र : 'हिन्दी कविता का क्रान्ति युग'
२. 'चंद्र किरण' (१९३७ ई०)

करता। परवाने शमा के आकर्षण के कारण जलते हैं। इस आकर्षण को प्रेम नहीं कहा जा सकता। निश्चय ही यह शलभ मामूली ढंग का परवाना नहीं है। प्रेम एक अलौकिक वृत्ति है। वह नारी-पुरुष का सामान्य आकर्षण नहीं है। वह वासना के बहुत ऊपर है। वासनामय आकर्षण को प्यार, प्रीति, प्रणय, रति, आदि कह सकते हैं। प्रेम में आत्मा का आकर्षण होता है। अतएव प्रेम पर मरने का तात्पर्य हुआ आध्यात्मिक विरहानभूति। यह आध्यात्मिक विरहानभूति तब मिली जब शलभ अमरत्व पा गया। इस लोक का सब कुछ नाशवान है। अतएव अमरत्व का संबंध अलौकिकता से हुआ और तब अमरत्व का अर्थ हुआ अलौकिक अनुभूति। आत्मा को जब दिव्यानुभूति हो जाती है तभी वह उसके विरह में व्याकुल होती है। अतएव अमरत्व का अर्थ हुआ दिव्य या अलौकिक तत्त्व की अनुभूति। इस अनुभूति को पा कर कौन बदल जायगा ? हमारी सांसारिक प्रवृत्तियां। अतएव शलभ मनुष्य की उस अनुराग वृत्ति का प्रतीक हुआ जो दिव्यानुभूति के अभाव में सांसारिक आकर्षणों में आत्मा को फँसाये रहती हैं किन्तु जब अलौकिक ब्रह्म की अनुभूति हो जाती है तो वही अनुराग वृत्ति अमर हो जाती है। तुलसीदास का अपनी पत्नी के प्रति जितना तीव्र आकर्षण था उतना ही तीव्र आकर्षण राम के प्रति भी हुआ जब उसे दृष्टि मिल गई। शलभ और अनुराग वृत्ति में साम्य यह है कि शलभ दीपक की ओर खिचता है और यह अनुराग सांसारिक विषयों या या रागात्मक आकर्षणों की ओर। खिच जाने वाली प्रवृत्ति के साम्य ने शलभ का लाक्षणिक अर्थ अनुराग वृत्ति कर दिया। इसी प्रकार सूर्य ब्रह्म, और रात्रि अज्ञान या माया में फँसी हुई आत्माओं एवं संसार के लिए प्रयुक्त हुआ है। कबीर की उल्टवासियों का, सूर के कूटपदों का अर्थ भी इसी प्रकार ही किया जा सकता है। इसीलिए छायावादी कविता का अर्थ समझने के लिए पाठक को अपनी कल्पना-शक्ति का भी कुछ उपयोग करना होता है। यह अभिधा से लक्षणा या प्रत्यक्ष से प्रतीक तक पहुँचने में सहायक होती है।

छायावादी कविता का यह तत्त्व भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। कोमलता और माधुर्य की योजना के लिए उन्होंने मूर्त्त वस्तुओं की उपमा के लिये अमूर्त्त वस्तुओं एवं भावों की योजना की। अमूर्त्त को बोधगम्य बनाने के लिए उन्होंने उसके लिये मूर्त्त वस्तुओं की आयोजना की। यहाँ भी उनका ध्यान इसी ओर अधिक रहा कि कविता परुष एवं असुन्दर न होने पाये। वे अमूर्त्त के लिये जिन मूर्त्त विधानों की या मूर्त्त के लिये जिन अमूर्त्त विधानों की कल्पना करते थे उनका सुन्दर, कोमल एवं काव्योपयुक्त होना अनिवार्य था। अमूर्त्त भाव या विचार प्रायः परुष या असुन्दर नहीं होते थे। मूर्त्त वस्तुओं को भी इसी प्रकार का होना पड़ता था। कभी-कभी सुन्दर मूर्त्त की सुन्दर मूर्त्त से और सुन्दर अमूर्त्त को सुन्दर अमूर्त्त से भी उपमा दे दी जाती थी। महादेवी की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :—

मूर्त्त और अमूर्त्त की योजना

"जब कपोल-गुलाब पर शिशु प्रात के
सूखते नक्षत्र जल के विन्दु से,
रश्मियों की कनक धारा में नहा
मुकुल हँसते मोतियों का अर्घ्य दे,
स्वप्नशाला में यवनिका डाल जो
तब दृगों को खोलता वह कौन है ?"[१]

इनमें कपोल और गुलाब दोनों मूर्त्त हैं; यहाँ मूर्त्त के लिये मूर्त्त का विधान है। इसी प्रकार नक्षत्रों का जल के विन्दुओं की तरह सूखना भी है। 'विधवा' के लिए निराला ने लिखा है :—

"वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल तांडव की स्मृति-रेखा-सी, (आदि)

इसमें विधवा मूर्त्त है जिसके लिए 'इष्टदेव की मन्दिर की पूजा' एवं 'क्रूर काल तांडव की स्मृति-रेखा' की उपमा दी गई है। ये दोनों अमूर्त्त हैं। मस्तिष्क में इनकी कल्पना करनी पड़ती है और तब एक हल्का-सा भावचित्र आ जाता है जो विधवा के भावचित्र से बहुत-कुछ मिलता है। इसी प्रकार रामकुमार वर्मा की 'यह ज्योत्स्ना तो देखो नभ की बरसी हुई उमंग'[२] में भी मूर्त्त के लिये अमूर्त्त का विधान किया गया है।

'दीप-शिखा' (१९४२ ई०) के 'जो न प्रिय पहचान पाती' वाले गीत में अमूर्त्त के लिए मूर्त्त का सुन्दर विधान है :—

"जो न प्रिय पहचान पाती !
दौड़ती क्यों प्रति शिरा में प्यास विद्युत-सी तरल बन ?
क्यों अचेतन रोम पाते चिर व्यथामय सजग जीवन ?
किस लिये हर साँस तम में
सजल दीपक राग गाती ?
चाँदनी के बादलों से स्वप्न फिर-फिर घेरते क्यों ?
मदिर सौरभ से सने क्षण दिवस-रात बिखेरते क्यों ?
सजग स्मिति क्यों चितवनों के
सुप्त प्रहरी को जगाती ?"[३] (आदि)

इसमें प्यास की तरलता के लिये, जो अमूर्त्त है, विद्युत की उपमा दी गई है, जो मूर्त्त है। इसी प्रकार (अमूर्त्त) स्वप्नों के लिये (मूर्त्त) चाँदनी के बादलों की उपमा दी गई है। इसमें अमूर्त्त को मूर्त्त रूप देने का एक और प्रयत्न किया गया है।

१. 'रश्मि' (१९३२ ई०)
२. 'चित्ररेखा'
३. महादेवी वर्मा

अमूर्त्त के लिए मूर्त्त-सुलभ क्रिया का प्रयोग अमूर्त्त को मूर्त्त स्वरूप दे देता है। साँस अमूर्त्त है किन्तु वही जब दीपक-राग गाने का कार्य करती है तो उसका एक स्वरूप सामने आ जाता है। इसी प्रकार बिखेरने की क्रिया ने दिवस-रात और मदिर सौरभ से सने क्षणों, दोनों को कुछ मूर्त्तता दे दी है। इस प्रवृत्ति के पीछे भी भावचित्रों की समानता वाला ही दृष्टिकोण रहता है।

इसके साथ ही छायावादी शब्द-विधान की उस प्रवृत्ति का भी उल्लेख आवश्यक है जिसके अनुसार अमूर्त्त को मूर्त्त का या किसी दूसरे को किसी दूसरे का विशेषण दे दिया जाता है। ये विशेषण कृदन्त रूप में भी होते हैं और शुद्ध विशेषण शब्दों के रूप में भी। उदाहरण के लिये 'सिसकता' और 'सुरीले' विशेषण ले लीजिये। पहला कृदन्त है और दूसरा गुण वाचक विशेषण। ऐसे विशेषणों का विपर्यय छायावादी कविता की एक उल्लेखनीय प्रवृत्ति है। पंत की कविताओं में ऐसे प्रयोग बहुत मिलते हैं। अन्य छायावादी कवियों में भी इसकी कमी नहीं। पंत ने 'आँसू' में लिखा है :—

विशेषण विपर्यय

"कल्पना में है कसकती वेदना
अश्रु में जीता सिसकता गान है।"

प्रसाद ने 'आँसू' में लिखा है :—

"अभिलाषाओं की करवट, फिर सुप्त व्यथा का जगना,
सुख का सपना हो जाना, भीगी पलकों का लगना।"

महादेवी ने 'दीपशिखा' में लिखा है :—

"भीत तारक मूंदते दृग, भ्रांत मारुत पथ न पाता,
छोड़ उल्का अंक नभ में, ध्वंस आता हरहराता,
उंगलियों की ओट में सुकुमार सब सपने बचा लूं।
सब बुझे दीपक जला लूं।"

'परिमल' (१९३० ई०) में निराला ने लिखा है :—

"तुम पथिक दूर के श्रान्त, और मैं बाट जोहती आशा।"

रामकुमार वर्मा ने 'चंद्रकिरण' में लिखा है :—

"और शीतल साँस-सी यह वायु चुप होकर बही।"

'कसकती-वेदना,' 'सिसकता गान', 'सुप्त व्यथा', भीगी पलकें', 'भीत तारक', 'भ्रांत मारुत', 'सुकुमार सपने', 'बाट जोहती आशा', 'शीतल साँस', आदि विशेषण विपर्यय के उदाहरण हैं। इस विशेषण विपर्यय के द्वारा कवि कर्त्ता की अवस्था को प्रकट करता है। उदाहरण के लिये वेदना का कसकना ले लीजिये। कसकना और वेदना मानस की दो प्रक्रियायें हैं जिनमें बहुत थोड़ा-सा अन्तर है। यदि किसी की वेदना ऐसी हो कि रह-रह कर मन में वही आ जाती हो और इस प्रकार मन रह-रह कर उसी प्रकार हो उठे जैसे कसक के समय होता है तो कहा जायगा कि उसकी कल्पना में वेदना

कसकती है । इसी प्रकार 'बाट जोहती आशा' से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जिसे प्रतीक्षित को आने की पूर्ण आशा हो । इस प्रकार विशेषण विपर्यय में व्यक्ति की अवस्था-विशेष उसकी प्रवृत्तियों के साथ लगा दी जाती है । इसमें चमत्कार उस समय आ जाता है जब वे दोनों एक दूसरे की विरोधी प्रवृतियों की हो; जैसे, 'सिसकता गान'। कभी-कभी कवि ने ऐसी उपमाएं और ऐसे रूपक उपस्थित किये हैं जिनकी कल्पना का आधार भाव-साम्य ही होता है किन्तु जिनकी योजना अति की सीमा पर पहुंच जाती है। पंत में वह प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ी है। उन्होंने नक्षत्रों को नश्वरता के लघु बुद्बुद् और काल-चक्र के विद्युत कन, वीचि को अकूल की उज्ज्वल हास, अतल की पुलकित श्वास और महानद की मधुर उमंग, और भावों को कल्पना का शिशु कह कर अपनी कल्पना एवं चिन्तना की इसी अतिवाली प्रवृत्ति एवं उसके असामंजस्य का परिचय दिया है । 'वीचि' के साथ लघुता एवं चंचलता का जो भावचित्र हमारे मस्तिष्क में है उसका अकूल के उज्ज्वल हास, अतल की पुलकित श्वास एवं महानद की मधुर उमंग के चित्रों से काव्योपयुक्त साम्य नहीं मिलता । साम्य स्थापित करने के लिये कल्पना को बहुत दूर तक खींचना पड़ता है ।

छायावादी कवियों ने प्रकृति को एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में प्रायः नहीं देखा । ब्रह्म या जीव से अलग उसका कोई अस्तित्व ही नहीं । इसलिये उसने प्रकृति की एक-एक वस्तु एवं उसकी सूक्ष्म से भी सूक्ष्म गतिविधि में मानवीय अनुभूतियों को देखा है । यहाँ प्रकृति अलंकार या उद्दीपन के रूप में नहीं है । वह स्वयं मानव या मानवीय अनुभूतियाँ बन कर आई है। निराला की 'जुही की कली' इसका सुन्दर उदाहरण है । नायिका के रूप में जुही की कली का चित्रण देखिए :—

मानवीय करण

'विजन वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी स्नेह-स्वप्न-मग्न
अमल कोमल-तनु तरुणी जुही की कली"

पवन का मानवीयकरण देखिए :—

"विरह-विधुर, प्रिया-संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन,
जिसे कहते हैं मलयानिल ।"

जब यह हवा तेजी से चली तो उसमें पड़कर कली की जो दशा हुई उसका मानवीयकरण किया गया है और इस मानवीयकरण के द्वारा उसकी दशा को प्रेमी-प्रेमिका के अनुभावों के समान निम्नलिखित रूप में दिखाया गया है:—

"नायक ने चूमे कपोल,
डोल उठी वल्लरी की लडी जैसे हिंडोल ।

इस पर भी जागी नहीं,
चूक क्षमा माँगी नहीं,
निद्रालस बंकिम विशाल नेत्र मूंदे रही ।
....
निर्दय उस नायक ने निपट निठुराई की
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली
मसल दिये गोरे कपोल गोल,
चौंक पड़ी युवती ।"

निराला की 'संध्या सुन्दरी', पंत की 'छाया' या संध्या, आदि का ऐसा ही चित्रण हुआ है। कविता के बीच-बीच में स्वतंत्र रूप से भी यह मानवीयकरण मिल जाता है। प्रसाद की 'कामायनी' (१९३७ ई०) के 'लज्जा' सर्ग में भी यह प्रवृत्ति बड़े सुन्दर रूप में मिलती है।

वृत्तियों का ध्यान

वृत्तियों का ध्यान छायावाद की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इस प्रवृत्ति के अनुसार कविता में ऐसे वर्णों का प्रयोग किया जाता है जिनसे कविता के प्रधान भाव की कोमलता या कठोरता कविता-पाठ में वर्णोच्चारण के द्वारा ध्वनित हो सके। संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों की पारिभाषिक शब्दावली में इसे वृत्ति कहते हैं। कवि की भावना में कभी कोमलता की प्रधानता होती है, कभी कठोरता की, और कभी वह निर्विकार बातें कहना चाहता है। उच्चारण के अनुसार हिन्दी में कुछ वर्ण श्रुति-कटु होते हैं और कुछ श्रुति-मधुर। कुछ वर्णों में न कठोरता ही होती है और न कोमलता ही। भावनाओं की अभिव्यक्ति में छायावादी कवियों ने प्रायः इस बात का भी ध्यान रक्खा है कि जैसी भावना हो उसी प्रकार की ध्वनि वाले वर्ण भी हों। परुष भावनाओं में परुष वर्णों की आवृत्ति हो और मधुर भावनाओं में कोमल वर्णों की। तात्पर्य यह है कि उन्होंने भावनाओं के अनुसार परुषा, कोमला और उपनागरिका वृत्तियों का प्रयोग किया है। निराला के पौरुष प्रधान काव्य में ऐसे वर्ण हैं जिनकी आवृत्ति ओज भावना का संचार करती है। 'राम की शक्ति पूजा' की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :—

"हो श्वसित पवन उन्चास, पिता-पक्ष से तुमुल,
एकत्र वृक्ष पर बहा वाष्प को उड़ा अतुल,
शत घूर्णावर्त, तरंग भंग, उठते पहाड़,
जल-राशि, राशि-जल पर चढ़ता खाता पछाड़,
तोड़ता बंध-प्रतिसंध धरा हो स्फीत वक्ष,
दिग्विजय अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष,................"[1] (आदि)

---

१. 'अनामिका'

इन पंक्तियों में वर्णों का उच्चारण आँधी के गर्जन-तर्जन को मूर्तिमान कर देता है। उनके 'बादल राग' की निम्नलिखित पंक्तियां देखिए :—

"झूम झूम मृदु गरज गरज नभ घोर !
राग-अमर ! अंबर में भर निज रोर !
झर झर झर निर्झर-गिरि-सर में,
घर, मरु, तरु, मर्मर, सागर में,
सरित-तड़ित-गति-चकित पवन में ,
मन में, विजन-गहन-कानन में,
आनन-आनन में रव घोर-कठोर,
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर ।"

पहली दो पंक्तियों में मेघ का गरजना, उसके बाद की दो पंक्तियों में पानी का बरसना, बाद की पंक्ति से बूंदों का धीरे-धीरे गिरना और उसके आगे वाली पंक्ति से बादल का फिर गरजना ध्वनित होता है। 'झर झर झर निर्झर-गिरि-सर' का उच्चारण जिस शब्द-चित्र की सृष्टि करता है उसका साम्य पानी के जोर से बरसने के शब्द-चित्र से बहुत-कुछ मिलता जुलता है। पंत ने 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में जहाँ परिवर्तन को सर्प के रूपक में प्रस्तुत किया है वहाँ ऐसा लगता है कि सचमुच सर्प फुफकार रहा है। उनकी 'शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर', आदि पंक्तियाँ ऐसी ही हैं।

यह छायावादी कविता की बहुत ही महत्त्वपूर्ण विशेषता है। पंत, प्रसाद, निराला और महादेवी ही छायावादी कविता के पहले चार प्रमुख कवि हैं। इन्होंने ही उसके स्वरूप का निर्माण किया था। प्रसाद का संस्कृत-प्रेम प्रसिद्ध है। उपनिषदों, आदि के अध्ययन ने उनके संस्कृत-ज्ञान को परिपुष्ट कर दिया था। निराला बंगला और संस्कृत विशेष रूप से जानते हैं। हिन्दी सीखने की प्रेरणा उन्हें अपनी पत्नी से मिली थी। पंत जब हाई स्कूल में थे तभी उनका शब्द-ज्ञान इतना अधिक हो गया था कि ('युगांत' की भूमिका के अनुसार) उनके साथी उन्हें हिन्दी की डिकश्नरी कहते थे। महादेवी संस्कृत से एम० ए० हैं। तात्पर्य यह है कि इन सभी कवियों के संस्कृत-ज्ञान ने उन्हें शब्दों का पारखी बना दिया था। 'पल्लव' की भूमिका में पंत ने लिखा है :—

भाषा की चित्रात्मकता

"कविता के लिये चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिये, जो बोलते हों; सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े; जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र , चित्र में झंकार हों; जिनका भाव-संगीत विद्युद्-धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके; ....।" इसी प्रसंग में आगे चल कर उन्होंने लिखा है :—

"भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः संगीत-भेद के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं; जैसे 'भ्रू' से क्रोध की वक्रता, 'भृकुटि' से कटाक्ष की चंचलता, 'भौंहों' से स्वाभाविक प्रसन्नता और ऋजुता का हृदय में उदय होता है। ऐसे ही 'हिलोर' में उठान, 'लहर' में सलिल के वक्षस्थल की कोमल कम्पन, 'तरंग' में लहरों के समूह का एक दूसरे को ढकेलना, उठ कर गिर पड़ना, 'बढ़ो-बढ़ो' कहने का शब्द मिलता है; 'वीचि' से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियों का, 'ऊर्मि' से मधुर मुखरित हिलोरों का, हिलोल-कल्लोल से ऊँची-ऊँची बाहें उठती हुई उत्पातपूर्ण तरंगों का आभास मिलता है; 'पंख' शब्द में केवल फड़क ही मिलती है, उड़ान के लिये भारी लगता है; जैसे किसी ने पक्षी के पंखों में शीशे का टुकड़ा बाँध दिया हो, वह छटपटा कर-बार बार नीचे गिर पड़ता हो; अंग्रेज़ी का 'विंग' जैसे उड़ान का जीता-जागता चित्र है। उसी तरह टच (Touch) में जो छूने को कोमलता है, वह 'स्पर्श' में नहीं मिलती। 'स्पर्श' जैसे, प्रेमिका के अंगों का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमांच हो आता है, उसका चित्र है; ब्रजभाषा के 'परस' में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है; 'ज्वाय' (Joy) से जिस प्रकार मुँह भर जाता है, 'हर्ष' से उसी प्रकार विद्युत-स्फुरण प्रकट होता है। अंग्रेज़ी के 'एयर' (Air) में एक प्रकार की ट्रांसपेरेंसी (Transparency) मिलती है, मानो इसके द्वारा दूसरी ओर की वस्तु दिखाई पड़ती हो; 'अनिल' से एक प्रकार की कोमल-शीतलता का अनुभव होता है, जैसे खस की टट्टी से छन कर आ रही हो; 'वायु' में निर्मलता तो है ही, लचीलापन भी है, यह शब्द रबर के फीते की तरह खिंचकर फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है। 'प्रभंजन' 'विंड' (Wind) की तरह शब्द करता, बालू के कण और पत्तों को उड़ाता हुआ बहता है; 'श्वसन' की सनसनाहट छिप नहीं सकती; 'पवन' शब्द मुझे ऐसा लगता है जैसे, हवा रुक गई हो, 'प' और 'न' की दीवारों से घिर-सा जाता है; 'समीर' लहराता हुआ बहता है।"

पंत का यह विवेचन केवल विवेचना के ही लिये नहीं था। कविता करते समय उन्होंने प्रयोग के पहले शब्दों की परख इसी सतर्कता के साथ की है। यह प्रवृत्ति उनके कवि-स्वभाव की इतनी अनिवार्य वस्तु हो गई—वे इसके इतने अभ्यस्त हो गये—कि उनकी आज तक की कविता में यह तत्त्व अनायास रूप से आ जाता है। शब्दों में वर्णों के उच्चारण से जो ध्वनियां होती हैं, मिलकर वे जिस मस्तिष्क में क्रिया या वस्तु के चित्र विशेष उपस्थित कर दें, उसकी-सी संवेदनात्मकता सब के लिये सुलभ नहीं। यह चीज़ शब्दों के ध्वनियों पर जितनी निर्भर है, सुनने वाले की कल्पना-शक्ति और संवेदना पर उससे अधिक। अस्तु, 'श्वसन' में कुछ को सनसनाहट की अनुभूति हो सकती है और कुछ को नहीं भी हो सकती। इतना होने पर भी 'श्वसन' और 'प्रभंजन' का जो अंतर पंत समझते हैं वही प्रायः सभी समझेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं। 'भ' और 'ज' का अमाधुर्य सभी को महसूस हो सकता है। हाँ, सुनने वाले को साहित्यिक प्रवृत्ति का

होना आवश्यक है। जब समस्त कविता इसी प्रकार सतर्कतापूर्वक चुने हुए शब्दों में लिखी जाय तो उसकी ध्वनि और उसके कारण उत्पन्न चित्रात्मकता की अनुभूति प्रायः सर्व-सुलभ हो जाती है। छायावादी कविता के चित्रात्मक होने का यही रहस्य है कि शब्द-चयन के साथ-साथ उसमें चित्रण ऐसी चुनी हुई भंगिमाओं के द्वारा किया गया है कि दोनों मिल कर चित्रित को मूर्तिमान कर देते हैं। मूर्त्त का चित्रण उतना कठिन नहीं है जितना अमूर्त्त का। मूर्त्त के चित्रण में केवल इतना ही करना पड़ता है कि चित्रण का प्रत्येक अंश ऐसा हो जो स्वरूप को उपस्थित करने में सहायक हो। वस्तुओं की सूची गिनाने से चित्र उपस्थित नहीं होते। अस्तु, जब प्रसाद नत-मस्तक मौन सुन्दरी का चित्रण करते हैं तो उसकी वेश-भूषा, उसके रूप-रंग एवं उसकी चाल-ढाल का विवरण नहीं देते। वे कहते हैं :—

"नत मस्तक भार वहन करते,
यौवन के घन रस-कन ढरते,
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो,
मौन बने रहते हो क्यों ?
अधरों के मधुर कगारों में,
कलकल ध्वनि के गुंजारों में,
मधु-सरिता सी यह हँसी तरल
अपनी पीते रहते हो क्यों ?"[1]

उपर्युक्त चित्र में विवरणों का अभाव है किन्तु 'लाज भरे सौंदर्य', 'नत मस्तक' और हँसी का पीते रहना—ये तीन रेखायें सुन्दरी की भंगिमा, और यौवन के घन का रस-कन ढरना उसके सौन्दर्य का प्रभावचित्र उपस्थित कर देते हैं। अनुभव करने की शक्ति होनी चाहिये। अलंकारों से निर्मित एक दूसरा चित्र देखिए जिसके चित्रण में कवि की चयन-कुशलता और अभिव्यंजना-शक्ति, दोनों प्रशंसनीय है :—

"शशि-मुख पर घूंघट डाले, आंचल में दीप छिपाये,
जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आये।"[2]

भाव-विह्वल प्रेमी हृदय की अनेक दशाओं के चित्र महादेवी के गीतों में मिलते हैं। ये चित्र प्रायः रूपक, उपमा या ऐसे ही अलंकारों के द्वारा स्वाभाविक रूप से उपस्थित किये गये हैं। चित्रात्मकता देने का कार्य क्रियायें या विशेष भाव-भंगिमा के व्यंजक अन्य शब्द करते हैं। नृत्य का शब्द चित्र देखिए :—

"आलोक-तिमिर सित-असित चीर, सागर-गर्जन रुन-झुन मँजीर,
उड़ता झंझा में अलक-जाल, मेघों में मुखरित किंकिणि स्वर,
अप्सरि, तेरा नर्तन सुन्दर !"[3]

---

१. 'चंद्रगुप्त'
२. 'आंसू'
३. 'नीरजा'

इसमें वर्णों की आयोजना और शब्दों की ध्वनियाँ नृत्य का चित्र उपस्थित करती हैं। लघु वर्णों की बार-बार आवृत्ति मंद-मंद गति से होने वाले नृत्य की द्योतक है। सागर-गर्जन की ध्वनि तबले की और रुन-झुन मंजीर की अनुस्वार-युक्त ध्वनि लघुवर्ण मंजीरे की, किंकिणी की अनुस्वार-युक्त ध्वनि लघुवर्ण घुंघरू की, और 'अप्सरि' नर्तकी की ध्वनि मधुरता की द्योतक हो कर नृत्यमय वातावरण का चित्र उपस्थित करती है। 'चाँदनी' के ऊपर लिखी गई पंत की निम्नलिखित पंक्तियों को देखिए:—

"वह सोई सरित पुलिन पर,सांसों में स्तब्ध समीरण,
केवल लघु-लघु लहरों पर-मिलता मृदु-मृदु उर-स्पंदन ।।"

इसमें 'स्तब्ध' शब्द की ध्वनि रात के सुनसान वातावण का, लघु-लघु लहर शब्द धीरे-धीरे बहने वाली हवा और उससे उठने वाली हल्की-हल्की लहरियों का, 'मृदु-मृदु उर-स्पदन' शब्द लहरों की मृदुलता का चित्र खींचते हैं। सभी चित्रों को मिला कर देखने से निस्तब्ध निशा में नदी के किनारे की शांत चाँदनी रात का संश्लिष्ट चित्र मिल जाता है। अनुभावों के शब्द-चित्र रामकुमार वर्मा की निम्न-लिखित पंक्तियों में देखिए :—

"एक क्षण चितवन न पाई, फिर मधुर मुसकान कैसी ?
मुख उठाया ही नहीं इस ओर, तब पहचान कैसी ? ।
मैं तुम्हारे द्वार पर—
गिनता रहा अपनी उसाँसें—
देख कर मुझको न देखा, यह तुम्हारी बान कैसी ?
जो स्वयं निश्शेष हो—
उस पर कहो आघात क्यों हो ?
जो विरह में मिट चुका
उससे मिलन की बात क्यों हो ?"[१]

उपर्युक्त पंक्तियों में 'चितवन' अपनी व्यंजना से वैसी आँखों का चित्र उपस्थित करता है जिसमें प्रेम की स्निग्धता और शृंगार का उल्लास है। 'उसाँसें' निराश, दुखी एवं विकल का चित्र खींचता है। 'बान' से हमारे मस्तिष्क में उस प्रकृति का चित्र बनता है जिसके अनुसार व्यक्ति न चाहते हुए भी कोई कार्य कर डालता है। 'बान' छोड़ी भी जा सकती है। इसमें कुछ हलकापन भी है। 'देख कर मुझको न देखा' के पाँच शब्द मिल कर निठुर नायिका की एक मोहक भंगिमा का चित्र उपस्थित करते हैं। महादेवी की 'पुलक-पुलक उर, सिहर-सिहर तन, आज नयन आते क्यों भर-भर ?" पंक्ति में क्रियाओं की आवृत्ति मन की उस वृत्ति का चित्रण करती है जिसके अनुसार रह-रह कर मन में हूक उठती है और बार-बार पोंछी जाने पर भी आँखें आँसुओं से भर जाया करती हैं। छायावादी कविता में यह चित्रा-

१. 'आधुनिक हिन्दी कवि'

त्मकता इतनी अधिक है कि प्रायः पाठक सभी चित्रों पर—जो कभी-कभी एक ही कविता की हर एक पंक्ति में मिल जाते हैं—ध्यान न दे कर उनके व्यापक प्रभाव को ग्रहण करके ही संतोष कर लेते हैं।

छंदों की नवीनता ने भी छायावादी कविता को विशिष्टता प्रदान की है। कवित्त या सवैयों से उसका अधिक काम न चला। कवियों ने प्रायः मात्रिक

छंद

छंदों को अपनाया। छंद की गति से भावों की गति अभिव्यंजित करने के लिए पन्त और निराला, आदि कवियों ने कभी-कभी मात्राओं को घटा या बढ़ा दिया है। महादेवी वर्मा और रामकुमार वर्मा ने ऐसा नहीं किया है। निराला ने बँगला और अंग्रेजी के अनुकरण पर मुक्त छंदों का प्रयोग किया। छंद के चरण प्रायः छोटे-छोटे हुए।

उपर्युक्त विशेषताओं ने छायावाद के कलापक्ष को उसके विषयपक्ष की तुलना में कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया है। छायावाद की सब से बड़ी देन

छायावाद की देन और उसका महत्त्व

यह है कि उसने बीस वर्षों के ही अन्दर खड़ी बोली को सभी दृष्टियों से काव्योपयुक्त कर दिया। भारतवर्ष जैसे देश में जहाँ व्यक्ति का व्यक्तित्त्व काव्य या साहित्य का विषय नहीं माना जाता था, व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा छायावाद की दूसरी देन है। यह व्यक्तिवाद अध्यात्म या विराट मानव की आड़ में आया। वेदनामूलक अभिव्यक्ति छायावाद की एक प्रधान प्रवृत्ति हो गई क्योंकि इन कवियों को प्रिय का विछोह ही अधिक रहा। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कविताएँ अधिकतर निराशावादी हैं किन्तु अध्यात्ममुखी होने के कारण इस निराशा के लिये अधिक शिकायत नहीं होती। हिन्दी काव्य साहित्य में गीत-युग की प्रतिष्ठा छायावाद की तीसरी प्रधान देन है। सौंदर्यात्मक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा उसकी चौथी विशेषता है। छायावाद का वास्तविक मूल्यांकन करते हुये नगेंद्र ने 'विचार और अनुभूति' में लिखा है:—

"............जिस कविता ने एक नवीन सौंदर्य-चेतना जगा कर एक वृहत् समाज की अभिरुचि का परिष्कार किया; जिसने उसकी वस्तुमात्र पर अटक जाने वाली दृष्टि पर धार रख कर उसको इतना नुकीला बना दिया कि हृदय के गहनतम गह्वरों में प्रवेश कर सूक्ष्म से सूक्ष्म और तरल से तरल भाव-वीचियों को पकड़ सके; जिसने जीवन की कुंठाओं को अनन्त रंग वाले स्वप्नों में गुदगुदा दिया; जिसने भाषा को नवीन हाव-भाव, नवीन अश्रु-हास और नवीन विभ्रम-कटाक्ष प्रदान किये; जिसने हमारी कला को असंख्य अनमोल छाया-चित्रों से जगमग कर दिया; और अन्त में जिसने 'कामायिनी' का समृद्ध रूपक,' 'पल्लव' और 'युगान्त' की कला, 'नीरजा' के अश्रु गीले गीत, 'परिमल' और 'अनामिका' की अम्बर-चुम्बी उड़ान दी—उस कविता का गौरव अक्षय है! उसकी समृद्धि की समता केवल भक्ति-काव्य ही कर सकता है"।

'छायावाद का पतन' में देवराज ने लिखा है:—"वस्तुतः आधुनिक हिन्दी काव्य को सुन्दर शब्द-कोष और कोमल-मधुर अनुभूतियाँ छायावाद की ऐतिहासिक देन है।"

छायावाद का आन्दोलन जितनी शीघ्रता से हुआ, वह जिन-जिन विरोधों के बीच से होता हुआ विजयी हुआ और विजयी होने के पश्चात् उसकी विजय-श्री उसके हाथ से जितनी जल्दी निकल गई, उसका उदाहरण और कहीं कठिनाई से मिलेगा—शायद नहीं मिलेगा! यह छायावाद हिन्दी की शक्ति का प्रतीक है। पाठकों और आलोचकों का, कभी-कभी सहयोगियों और प्रायः विरोधियों का, और अन्त में अपने निर्माताओं का ही जो प्रहार छायावाद को सहना पड़ा वह हिन्दी के काव्य साहित्य के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

प्रवृत्तियों के परिवर्तन की पीठिका

पंत, प्रसाद, 'निराला' और महादेवी का कवि-व्यक्तित्व इतना महान था और उनकी काव्य-कला इतनी मोहक एवं समर्थ थी कि उसने हिन्दी कविता के क्षेत्र में क्रांति मचा दी थी। अध्ययन, मनन, कल्पना और काव्यात्मकता के अतिरिक्त नवीनता के बल पर उन्होंने हिन्दी कविता की धारा को बरबस मोड़ दिया था। तात्पर्य यह है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और महावीर प्रसाद, आदि प्रेरणा-स्रोतों से निकल कर हिन्दी की काव्य धारा जिस ओर जा रही थी उसे उस ओर से मोड़ कर या उसके उस ओर की गति को रोक कर इन कवियों ने हिन्दी कविता को नया पथ दिखाया था। बीस वर्षों के बाद हिन्दी कविता कुछ नये गुणों एवं नई शक्तियों को लेकर (जो उसे इस

छायावादी कवियों का पथ-परिवर्तन

छायावादी आन्दोलन से मिलीं) फिर अपने पूर्व पथ पर आ गई। किन्तु उस समय उसकी दृष्टि उस पथ से हट गई थी। यह उपर्युक्त चारों कवियों के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विजय थी। साथ ही, इस बात को न भूलना चाहिए कि इन कवियों का दिखाया हुआ पथ तभी छोड़ा जा सका जब स्वयं इन लोगों ने छोड़ा। पंत की कविता की दिशा मुड़ गई। निराला की पूर्व की-सी अभिव्यक्तियों की संख्या कम हो गई। उन्होंने व्यंग्यों के द्वारा नवीन पथ अपना-सा लिया है। प्रसाद मर गए। जीवित रहते, तो क्या होता, यह कल्पना का विषय है। एक महादेवी आज भी अपने पुराने संगीत में मस्त हैं। किन्तु इसका कारण यह नहीं कि वे बदल नहीं सकतीं। उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए:—

"कंटकों की सेज जिसकी आँसुओं का ताज,
सुभग! हँस उठ, उस प्रफुल्ल गुलाब ही-सा आज,
बीती रजनि प्यारे जाग!"

"बाँध लेंगे क्या तुझे ये मोम के बंधन सजीले ?
पन्थ की बाधा बनेंगे तितलियों के पर रंगीले ?
विश्व का क्रन्दन भुला देगी मधुप की मधुर गुनगुन,
क्या डुबा देंगे तुझे ये फूल के दल, ओस-गीले,
तू न अपनी छाँह को अपने लिए कारा बनाना !
जाग, तुझको दूर जाना !"

'अतीत के चलचित्र' और 'श्रृंखला की कड़ियाँ' नामक पुस्तकों के रेखाचित्र देखिए। निश्चित है कि महादेवी समाज की वर्तमान दशा और उसकी आवश्यकताओं के प्रति जागरूक हैं। नारी की विद्रोह-भावना का जितना मूर्त्तमान चित्र महादेवी की रचनाओं में है उतना अन्यत्र कठिनाई से मिलेगा। काश ! कि उनकी सशक्त एवं समर्थ काव्य तूलिका से ऐसे गीत चित्र भी निकलते। वे कैसे होते, यह कल्पना का विषय है। आज हम सोचते हैं और कल आने वाली पीढ़ी भी सोचेगी। तब दुःख, क्षोभ और क्रोध के साथ कहा जायगा कि किसी व्यक्तिगत सनक के कारण एक अभिमानिनी कवियित्री ने अपनी काव्य-प्रतिभा का उपयोग देश और समाज के लिये नहीं किया। सम्भव है कि महादेवी कोमलता, दुःख, निराशा, सौन्दर्य, आदि को ही कविता के क्षेत्र मानती हों। शायद उसके लिए जीवन को नहीं, कल्पना को ही अधिक ठीक समझती हों। कविता में वही अभिव्यक्त करना चाहती हों जो उन्हें जीवन में नहीं मिला; जैसे दुःख, क्योंकि वह कई जगह इस प्रकार की बातें कह चुकी हैं कि उन्हें जीवन में दुःख नहीं मिला। यह भी हो सकता है कि वे कविता को उतना महत्त्व न देती हों ! किन्तु कविता को जीवन से बिल्कुल अलग करके देखने का साहस वे भी नहीं कर सकीं :—

महादेवी और पंत के विचार

"आज ढाई करोड़ दरिद्र किसान और खेतों में काम करने वाले श्रमिकों का वर्ग है भिक्षुक, आजीविका है भिक्षाटन, विनोद है व्याधि और लक्ष्य है मृत्यु।..

आज के विराट मानव की व्यथा का समुद्र आज के लेखक को, जीवन का कोई महान तथ्य, कोई अमूल्य सत्य, न दे सकेगा, ऐसा विश्वास कठिन है। इस दुर्भिक्ष की ज्वाला स्पर्श करके हमारे कलाकारों, लेखकों की तूली यदि स्वर्ण न बन सकी, तो उसे राख हो जाना पड़ेगा। किन्तु ऐसी कल्पना करना भी सच्चे कलाकार का अपमान करना है।......"[१]

विचारों और कामों के इतने बड़े अन्तर का रहस्य विचित्र है ! कुछ भी हो, इतना तो सत्य है कि सौन्दर्य और कल्पना के लोक में कुछ वर्षों तक रहने के बाद छायावादी कवियों को जीवन की ओर लौटना और इस प्रकार अपनी भूल का अनुभव करना पड़ा :—

१. 'बंग दर्शन' की भूमिका, 'अपनी बात', से

"छायावाद इसलिये अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिये उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रह कर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।...वह नये युग की सामाजिकता और विचारधारा का समावेश नहीं कर सका था। उसमें व्यावसायिक क्रांति और विकासवाद के बाद का भावना-वैभव तो था, पर महायुद्ध के बाद की 'अन्नवस्त्र' की धारणा (वास्तविकता) नहीं आई थी।"[१]

'रूपाभ' के पहले वर्ष १९३८ ई० के पहले अंक में पंत ने कुछ अधिक स्पष्ट होकर लिखा था :—

"इस युग का वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार ग्रहण कर लिया है उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं। श्रद्धा-अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आंदोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्न-जड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गई है। अतएव इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण-सामग्री धारण करने के लिये कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।"

"छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धांतों का संचय न दे कर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौंदर्य सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था; इसी से उसे यथार्थरूप में ग्रहण करना हमारे लिये कठिन हो गया।"[२]

इस प्रकार इन कवियों के विचार-परिवर्तन और स्वत: अपनी दिशा-परिवर्तन और कुछ अन्य तथ्यों ने मिलकर हिन्दी काव्य साहित्य में पुन: एक नवीन आन्दोलन की सृष्टि कर दी।

छायावादी रचनाओं में ह्रास

जैसा कि कहा जा चुका है, केवल महादेवी ने अपने काव्य सृजन की दिशा को नहीं बदला, किन्तु उनकी काव्य रचना एवं प्रकाशन की गति बहुत धीमी है। 'नीहार' (१९३० ई०), 'रश्मि' (१९३२ ई०) 'नीरजा' (१९३५ ई०), और 'सांध्यगीत' (१९३६ ई०) जल्दी-जल्दी अर्थात् दो-दो या तीन-तीन वर्षों के अन्तर से छपे। छ: वर्षों के बाद अर्थात् १९४२ ई० में 'दीपशिखा' छपी। तब से आज नौ वर्ष बीत गये हैं, किन्तु उनकी कोई दूसरी कविता पुस्तक नहीं छपी। छायावाद की उस शैली एवं भाव की कविताओं की एकमात्र पोषिका की गति का यह धीमापन छायावाद की अवनति और प्रगतिवाद की उन्नति का द्योतक है। लगभग ग्यारह वर्षों के बाद १९५० ई० में राजकुमार वर्मा का 'आकाश-गंगा' शीर्षक काव्य-संग्रह छपा है, और उसकी भी सभी कविताएं भाव की दृष्टि से विशुद्ध छायावादी नहीं हैं। स्वतंत्रता-दिवस, चट्टान, आदि पर लिखी गई कविताएं नये ढंग की हैं।

१. पंत : 'आधुनिक कवि' की भूमिका
२. महादेवी वर्मा : 'आधुनिक कवि' की भूमिका

जीवन के स्थूल एवं मूर्तपक्ष की ओर कवियों का यह झुकाव हिन्दी कविता के लिये नई बात नहीं थी। यहाँ भक्ति विषयक रचनाओं की प्रधानता थी अवश्य किन्तु जीवन के इस पक्ष की ओर से कवियों की आँखें पूरी तरह से नहीं मुँदी थीं। पहले—बहुत पहले—तुलसीदास ने 'कवितावली' में अपने बचपन की कठिनाइयों के छिटपुट चित्र वहाँ दिये हैं जहाँ उन्होंने कुत्ते की तरह दरवाजे-दरवाजे फिरने का, चने के एक दाने को निधि से भी बढ़कर समझने का, किसी की बेटी से अपना बेटा नहीं ब्याहना है, के द्वारा अपने विरोधियों के प्रति अपनी झुंझलाहट आदि का उल्लेख किया है। किन्तु उस युग और रीतियुग में इस दृष्टिकोण को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान न मिल सका। भारतेंदु और द्विवेदी युगों में हिन्दी कविता इस ओर बढ़ी थी। ऐसी कविताओं का महत्त्व भक्ति या शृंगार की कविताओं से कम भी नहीं था। भारतेंदु की निम्नलिखित दो पंक्तियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं:—

छायावाद के पूर्व हिन्दी कविता में यथार्थवादी दृष्टिकोण

अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी,
पै धन बिदेस चलि जात यहै अति ख्वारी।

भारतेंदु हरिश्चन्द्र की प्रिंस ऑफ वेल्स के स्वागत में, प्रताप नारायण मिश्र की बैंडला के स्वागत में, भारतीयों की वीरता, आदि के स्वागत में लिखी गई कविताएँ इसी प्रवृत्ति की द्योतक हैं। भारतेंदु की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए:—

भीतर बाहर सब रस चूसे,
बाहर से तन-मन-धन मूसे,
जाहिर बातन में अति तेज,
ऐ सखि! साजन? नहिं, अँगरेज।

और आज का कवि जब राजनीति से प्रेरणा लेकर कविताएँ लिखता है तो लोगों को उसकी कला ह्रासोन्मुखी होती दिखाई पड़ती है। हैं वे प्रताप नारायण मिश्र की 'तृप्यन्ताम' जैसी कविताओं की परिवर्तित एवं परिवर्द्धित संस्करण ही। छायावाद ने कुछ दिनों के लिये हमारे श्रेष्ठ कवियों की दृष्टि धुँधली कर दी थी। भारतेंदु युग के बीतने पर ब्रजभाषा का युग समाप्त हुआ। खड़ी बोली काव्य भाषा के रूप में स्वीकृत हुई। मैथिलीशरण गुप्त ने देश और समाज को सामने रखकर 'भारत-भारती' (१९१३ ई०) लिखा और कवि-कर्म के विषय में कहा:—

"केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिये,
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिये।"[1]

यह ठीक है कि आगे चल कर उनका दृष्टिकोण यही नहीं रह गया, किन्तु यह भी ठीक है कि वे इस दृष्टि से अपना पीछा आज तक न छुड़ा सके। उनका

१. 'भारत-भारती'

नवीनतम काव्य 'अजित' (१९४७ ई०) शुद्ध राजनीतिक दृष्टि से लिखा गया है। 'पंचवटी' (१९२५ ई०) में उन्होंने राम को पृथ्वी पर स्वर्ग की अवतारणा करने के उद्देश्य से आया हुआ मानते हैं। १९१७ ई० में छपी हुई उनकी 'किसान' शीर्षक कविता पुस्तक में शुद्ध यथार्थवादी दृष्टिकोण है। वियोगी हरि की 'वीर सतसई' उसी युग में लिखी गई थी। 'वीर पंच रत्न' (१९२० ई०) में भगवानदीन लिखते हैं:—

लड़कों ही पै निर्भर है किसी देश की सब आस,
बालक ही मिटा सकते हैं निज देश की सब त्रास,
बालक जो सुधर जायँ तो सब देश सुधर जाय,
हर एक का दिल मोद से भंडार-सा भर जाय।

माधव शुक्ल, 'त्रिशूल', 'एक भारतीय आत्मा', आदि कवियों की कविताएं राष्ट्रभावना से ओत-प्रोत हैं। सियाराम शरण के 'अनाथ' (१९२२ ई०), और 'आर्द्रा' ऐसे काव्य दीन-दुखियों-किसानों के दुःख से आर्द्र हैं। इस कवि की अमर रचना 'एक फूल की चाह' समाज सुधार विषयक रचना है। रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन' (१९१७ ई०) और 'पथिक' (१९२० ई०) शीर्षक रचनाओं मे भी देशभक्ति की ही छाया है। इस प्रकार पंत, प्रसाद, आदि के छायावादी उत्कर्ष के पहले हमारा काव्य साहित्य उसी ओर जा रहा था जिस ओर १९३७ ई० के बाद चला। दृष्टिकोण में परिवर्तन आवश्यक था, वह हुआ।

छायावादी कविता और छायावादी कवियों में यथार्थवादी दृष्टि

जिस समय हिन्दी में छायावादी काव्य साहित्य अपने चरम उत्कर्ष पर था उस समय भी ये प्रवृत्तियाँ मिटी नहीं थीं। इस दृष्टि से देखने पर हमें निम्नलिखित बातें मिलती हैं:—

(अ) स्वयं छायावादी कवियों ने स्वतंत्र रूप से राष्ट्र और समाज संबंधी कविताएँ लिखी हैं;

(आ) उनकी छायावादी कविताओं में भी कभी-कभी ये ही स्वर मुखरित हो उठते हैं; और

(इ) छायावादी कवियों के अतिरिक्त अन्य कवि भी इस दृष्टि से कविताएँ लिख रहे थे।

छायावादी कवियों में से प्रायः सभी ने राष्ट्र और समाज पर दृष्टि डाली है।

"हिमाद्रि तुंग श्रृंग से, प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला, स्वतंत्रतां पुकारती......"आदि[1]

भारति जय-विजय करे!
कनक-शस्य-कमल धरे!

१. प्रसाद

लंका पदतल शतदल गर्जितोर्मि सागर-जल
धोता शुचि चरण युगल स्तव कर बहु अर्थ भरे !"[1] . . . .आदि

पंत तो इस विषय में अग्रणी ही रहे हैं। एक-दो कविताएं नहीं, उनके काव्य की दिशा ही इस ओर मुड़ी थी। सब से कम महादेवी ने लिखा है। जो अपने को सम्बोधित करके यह लिखता है कि 'अश्रुमय कोमल कहाँ तू आ गई परदेसिनी री!' वह अगर परदेस पर अधिक न लिख सके तो अधिक शिकायत ही कैसी! फिर भी 'वंग भू शत-वंदना ले' जैसी एकाध कविता लिख ही गईं।

हम तो उनकी छायावादी कविताओं में भी ये तत्त्व पाते हैं। अचेतन मन पर युग की प्रवृत्तियों के पड़ने वाले प्रभाव ने ऐसी पंक्तियों की रचना करवा दी है। महादेवी की 'चिर सजग आँखें उनींदी आज कैसा व्यस्त बाना' वाली कविता ऐसी ही है। उनकी निम्न पंक्तियाँ देखिए:—

जन्म से मृदु कंज-उर में नित्य पा कर प्यार लालन,
अनिल से चल पंख पर फिर, उड़ गया जब गंध उन्मन,
बन गया तब सर अपरिचित हो गई कलिका विरानी,
निठुर वह मेरी कहानी !

इन पंक्तियों में भारतीय ललनाओं के करुण भाव का चित्रण है जो उनके हृदय में तब उठता है जब वे जन्म से विवाह होने तक की आयु के बीच जिनको अपना समझे थीं उन्हें छोड़ कर चली जाने के लिए विवश हो जाती हैं।

सजनि तेरे दृग-बाल !
चकित-से विस्मृत-से दृग-बाल—
आज खोये-से आते लौट,
कहाँ अपनी चंचलता हार ?
झुकी जातीं पलकें सुकुमार,
कौन से नव रहस्य के भार ?

इन पंक्तियों में यथार्थ का एक स्वरूप ही चित्रित है। यह एक लजीली मुग्धा का मोहक चित्र है।

कह दे माँ क्या देखूं
देखूं खिलती कलियाँ या प्यासे सूखे अधरों को ? . . . . . .
या मुरझाई पलकों से झरते आँसू कन देखूं ?

इन पंक्तियों में आज के समाज की करुणावस्था ही चित्रित है। पंत के 'परिवर्तन' में यथार्थ के भाव-वेष्ठित चित्रों की बहुलता है। 'जीवन धन इस जले जगत को वृन्दावन बन जाने दो' गा कर प्रसाद ने जीवनोन्मुखी कल्पना का परिचय दिया है। तथ्य तो यह है कि जहाँ-जहाँ छायावादी कविता ने रहस्य का

१. निराला : 'गीतिका'

आँचल छोड़ा है या उसकी उस पकड़ में ढिलाई आई है वहाँ-वहाँ जीवन का पक्ष प्रबल हो गया है। राजनीतिकता न मिलेगी, किन्तु यथार्थवाद या प्रगतिवाद केवल राज-नीति या रूस या गरीबी तक ही सीमित नहीं है। हाँ, वह उसका एक पक्ष अवश्य है।

छायावाद के युग में अर्थात् १९३७ ई० के पहले भी कुछ कवि इस प्रकार की रच-नाएं करते चले आ रहे थे। इन कवियों में से कुछ भावाभिव्यंजना की अपनी छाया-वादी भाव-भंगिमा के कारण उस समय भी महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा पा रहे थे। ऐसे कवियों में माखन लाल चतुर्वेदी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'हिम किरीटिनी' (१९४१ ई०) में प्रकाशित उनकी तमाम कविताएँ उसी युग की हैं। पुष्प की अभि-लाषा, कुंज कुटीरे यमुना तीरे, कैदी और कोकिला, जवानी, आदि कविताएं राष्ट्रीय एवं विद्रोह की भावनाओं से भरी हैं। 'जवानी' कविता की निम्न पंक्तियाँ देखिए :—

> द्वार बलि का खोल चल, भूडोल कर दें,
> एक हिम-गिरि एक सिर का मोल कर दें,
> मसल कर, अपने इरादों-सी, उठा कर,
> दो हथेली है कि पृथ्वी गोल कर दें,
> रक्त है या है नसों में क्षुद्र पानी !
> जाँच कर, तू सीस दे-दे कर जवानी !
>
> . . . .
>
> श्वान के सिर हो—चरण तो चाटता है,
> भोंक ले—क्या सिंह को वह डाँटता है ?
> रोटियाँ खायीं कि साहस खा चुका है,
> प्राणि हो, पर प्राण से वह जा चुका है,
> तुम न खेलो ग्राम-सिंहों में भवानी !
> विश्व की अभिमान मस्तानी जवानी !

उसी समय बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' विद्रोह के अपने राग गा रहे थे। 'तेरा हार' (१९३३ ई०), 'मधुशाला' (१९३५ ई०), 'मधुबाला' (१९३६ ई०), आदि की कविताएं इसी युग में लिखी जा रही थीं। हिन्दी कविता में व्यक्तिगत प्रणयानुभूतियों को मधुर भाषा और सुन्दर संगीत के साथ आकर्षक ढंग से अभिव्यक्त करने वाले कवि का निर्माण हो रहा था। 'दिनकर', 'नरेंद्र', 'अंचल', आदि एक दिन में नहीं बन सकते थे। उनका निर्माण छायावाद की छाया के नीचे ही हो रहा था। 'मधूलिका' की भूमिका में नंद दुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि 'अंचल' 'मधूलिका' के प्रकाशन के बहुत पहले से ऐसी कविताएं लिखते चले आ रहे हैं।

(छायावाद की कमजोरियाँ)

इस प्रकार प्रगतिवाद के लिये पहले से पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। किन्तु

जिन कारणों से प्रगतिवाद की कविता की प्रतिष्ठा हुई अर्थात् वह लोकप्रिय हुआ उनमें एक प्रधान स्थान छायावाद की विषयगत और शैलीगत कुछ कमजोरियां थीं। देवराज के 'छायावाद का पतन' में इस पर बड़े ही निष्पक्ष ढंग से विचार किया गया है। उनके विचारों को नीचे संक्षेप में उपस्थित किया जा रहा है। छायावाद की सब से बड़ी कमजोरी थी अति। नीतिकारों ने कहा था—'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। छायावादी इसे भूल गये। इस कारण छायावाद की कतिपय विशेषतायें ही उसके पतन का कारण हो गईं।

कोमल-मधुर शब्दों की अति

पंत शब्द चयन में बड़ी तत्परता बरतते थे। कुछ अभ्यास और अनुभव के पश्चात् उनके पास कोमल-मधुर शब्दों का कोष तैयार हो गया। ये शब्द इतने सुंदर और मधुर थे कि कवि उनके उपयोग के समय कुछ संयम न रख सका। परिणामतः एक भाव, अनुभाव या विचार की अभिव्यक्ति के लिये आवश्यकता से भी अधिक शब्दों का प्रयोग होने लगा। इनकी संख्या इतनी अधिक होने लगी कि मूल भाव दबने लगे। कभी-कभी निरर्थक शब्दों का भी प्रयोग होने लगा। पंत की 'बसंत श्री' की ये पंक्तियाँ देखिए :—

उस फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही मां!
वह अपनी वय बाली में
सजा हृदय की थाली में—
क्रीड़ा, कौतूहल, कोमलता,
मोद, मधुरिमा, हास, विलास,
लीला, विस्मय, अस्फुटता, भय,
स्नेह, पुलक, सुख, सरल-हुलास
ऊषा की मृदु लाली में—

उपर्युक्त पंक्तियों में से यदि 'सजा हृदय की थाली में' निकाल दिया जाय तो पद्य के सौंदर्य में कोई क्षति न होगी। 'थाली' काव्योपयुक्त भी नहीं। क्रीड़ा, कौतूहलता, कोमलता, आदि पंद्रह शब्दों का उल्लेख परिगणन शैली की याद दिला देता है। पाठक शब्द सुनते-सुनते ऊब उठता है और ज़ल्दी जानना चाहता है कि इन सब का क्या होगा। 'चिर' 'नव', आदि का अधिक प्रयोग सभी को विदित है।

शब्द-चित्रों की अति

इसी प्रकार शब्द चित्रों की भी अधिकता है। पंत की 'एक तारा' की निम्न पंक्तियां देखिए :—

पश्चिम नभ में हूँ रहा, देख
उज्ज्वल, अमंद नक्षत्र एक—
अकलुष, अनिन्द्य नक्षत्र एक ज्यों मूर्तिमान ज्योतित विवेक,
उर में हो दीपित अमर टेक;

इन पाँच ही पंक्तियों में छः चित्रों की भरमार है:— १. उज्ज्वल, २. अमन्द, ३. अकलुष, ४. अनिंद्य, ५. मूर्तिमान ज्योतित विवेक, और ६. आकाश के उर की वह अमर टेक जो ज्योतित हो। सामान्य पाठक की चेतना इतने अधिक चित्रों को इतनी जल्दी-जल्दी ग्रहण करने के लिये तैयार नहीं—और विशेष रूप से तब जब वे चित्र एक दूसरे से संबंधित हो कर किसी बड़े मूर्त्त या अमर्त्त उद्देश्य की पूर्ति में सहायक न हों।

कल्पना की अति

अति की जो स्थिति शब्दों और चित्रों के साथ है वही कल्पना के साथ भी है। इसका उदाहरण हमें तब मिलता है जब कवि अप्रस्तुत की योजना करने लगता है। 'पल्लव' की 'छाया' शीर्षक कविता से इसका मनोरंजक उदाहरण लीजिए :—

कौन, कौन तुम परिहृत-वसना
म्लान-मना, भू-पतिता-सी,
वात-हता-विच्छिन्न-लता-सी,
रति-श्रांता व्रज-वनिता-सी,
गूढ़ कल्पना-सी कवियों की,
अज्ञाता के विस्मय-सी,
ऋषियों के गंभीर-हृदय-सी,
बच्चों के तुतले-भय-सी, ... (इत्यादि)

कल्पना-शक्ति की हद है कि आठ पंक्तियों में नौ उपमायें, और वह भी पेड़ की छाया-जैसी अमूर्त्त वस्तु के लिये ! आज का मानव इतना बेकार तो नहीं रहता कि वह इन काल्पनिक उड़ानों के समझने में अपनी शक्ति और समय लगाये। जीवन की भीषणतम कठोरताओं से जूझता हुआ आधुनिक मानव इन कविताओं की प्रशंसा कर सकता है, किन्तु इन्हें अपना नहीं सकता। पंत से ही अधिक उदाहरण दिये गये हैं किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्य छायावादी कवि इससे मुक्त हैं।

इस अतिशयता का परिणाम यह होता है कि कविता की मूल भावना पर उचित ध्यान नहीं दिया जा पाता। सामंजस्य बिगड़ जाता है। जब कवि अपनी मूल भावना को अन्य गौण बातों से अधिक विशिष्टता नहीं दे पाता तब वह पाठकों की पकड़ से भी दूर हो जाती है। निराला की 'प्रगल्भ प्रेम' कविता देखिए :—

कविताओं के मूल-भाव का महत्त्वापहरण या उपेक्षा

आज नहीं है और मुझे कुछ चाह
अर्द्ध विकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये, छोड़ कर बंधनमय छंदों की छोटी राह!
गज-गामिनि, वह पथ तेरा संकीर्ण,
कंटकाकीर्ण,

कैसे होगी उसमें पार ?
कांटों में अंचल के तेरे तार निकल आयेंगे
और उलझ जायेगा तेरा हार,
मैंने अभी अभी पहनाया,
किन्तु नज़र भर देख न पाया——कैसा सुन्दर आया ।

कवि अपनी कविता से कहता है कि तू बंधनमय छंदों की छोटी राह छोड़ कर मेरे अर्द्ध विकच हृदय कमल में आ । इसको कैसे समझें ? कविता हृदय से निकलने वाली चीज़ है । कवि अपनी कविता को उसी हृदय-कमल में बुला रहा है । तो, फिर कविता लिखने की क्या आवश्यकता थी ? सूक्ष्म विश्लेषण छोड़ दें, तो यहाँ तक तो फिर भी कुछ साफ़ है किन्तु इसके आगे कवि भूल जाता है कि उसका प्रधान भाव है कविता का मुक्त छंदों में अवतरित होना । वह पथ की संकीर्णता, फिर कंटकाकीर्णता, फिर कंटकाकीर्ण होने के कारण कविता-कामिनि के अंचल के तार निकलना (यदि 'तार निकल आने' की जगह अंचल का तार-तार हो जाना लिख सकता तो यह मुहावरा अभिव्यक्ति को और अधिक सुन्दर कर देता), फिर हार का उलझना, फिर हार की यह विशेषता कि जो कवि के द्वारा अभी-अभी पहनाया गया था, और पहनाने के क्रिया विशेषण, कि नजर भर देखा न जा सका, आदि में उलझ जाता है । स्पष्ट है कि कवि की कल्पना मूल भाव को छोड़ कर एक ओर झुकी, झुकती गई, और अंत में प्रधान बात बहुत पीछे छूट गई । यह दोष भी सभी छायावादी कवियों में पाया जाता है ।

विचारगत और रागात्मक असामंजस्य

कवियों की यह निरंकुश कल्पना उनकी कविताओं के विचारों के और उनकी रागात्मकता के सामंजस्य को बिगाड़ देती है । प्रसाद ने 'कामायनी' में लिखा है :—

जीवन में सुख अधिक या कि दुख, मंदाकिनि कुछ बोलोगी ?
नभ में नखत अधिक, सागर में या बुद्‌बुद् हैं, गिन दोगी ?
प्रतिबिंबित हैं तारा तुम में, सिंधु मिलन को जाती हो,
या दोनों प्रतिबिंब एक के, इस रहस्य को खोलोगी ?

उक्त चारों पंक्तियों में से प्रथम दो तक तो गनीमत है किन्तु अंतिम दो पंक्तियों का पहली दो पंक्तियों से कोई युक्ति-युक्त संबंध नहीं । कुछ विस्मृत कर के, कुछ छोड़कर, और कुछ अपनी तरफ से जोड़ कर भले ही उनका अर्थ लगा लिया जाय ! प्रसाद 'चिन्ता सर्ग में मनु से चिन्ता को यों संबोधित करवाते हैं :—

ओ चिन्ता की पहली रेखा,
अरी विश्व वन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कंप-सी मतवाली !

हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा !
हरी-भरी-सी दौड़-धूप, ओ
जल माया की चल रेखा !

प्रथम पद में चिन्ता की पहली रेखा की तुलना विश्व वन की व्याली और ज्वालामुखी के भीषण स्फोट के पहले धमाके के कारण पृथ्वी के काँपने से की गई है। चिन्ता मानस की सूक्ष्म प्रक्रिया है। उसके भाव-चित्र और ज्वालामुखी की भीषण धमक के कारण पृथ्वी के काँपने तथा विश्व वन की व्याली के भाव चित्र में कोई साम्य नहीं। इस साम्य में कल्पना के साथ ज्यादती की गई है। तीसरी पंक्ति की भीषणता का अनुमान कीजिये कि ज्वालामुखी का स्फोट, और वह भी भीषण स्फोट, कैसा होगा और तब चौथी पंक्ति के 'कंप' शब्द को देखिए। दोनों के भाव चित्रों में कोई सामंजस्य नहीं। इसे भी छोड़िये। इतने भीषण और मूर्त्त उपमान के बाद फिर सूक्ष्म उपमान दिये जाते हैं; जैसे, अभाव की चपल बालिका, ललाट की खल लेखा, हरी-भरी-सी दौड़-धूप और जल माया की चलरेखा ! इन सूक्ष्म उपमानों के भाव चित्रों की अनुभूति भी कठिन है। प्रथम पद की पंक्ति में कोमलता है, तीसरी में परुषता, और चौथी में फिर कोमलता। तीसरी और चौथी पंक्ति में भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से असामंजस्य मिलता है। महादेवी अपने एक गीत की यह प्रथम पंक्ति—

'प्राण-पिक प्रिय-नाम रे कह!

लिख कर हृदय की कोमल अनुभूतियों को छू लेती हैं। किन्तु जब आगे कहती हैं:—

मैं मिटी निःसीम प्रिय में,
वह गया बँध लघु हृदय में,
अब विरह की रात को तू
चिर-मिलन का प्रात रे कह !

तब प्रथम पंक्ति की मार्मिकता समाप्त हो जाती है। मस्तिष्क में उस प्रकार के दो परस्पर विरोधी भाव-चित्र उठने लगते हैं, जैसे अनुरागिनी और संन्यासिनी को साथ-साथ देख कर उठा करते हैं। इस प्रकार हृदय की रागात्मकता को ठेस पहुँचती है।

'मूड' की कविता

छायावाद की कविता 'मूड' की कविता है। वास्तविक एवं तीव्र अनुभूति के समय जो कुछ लिखा जाता है उसमें आलंकारिकता कम, कलात्मकता कम और सीधापन, प्रभावात्मकता एवं मार्मिकता अधिक होती है। भावावेग के ऐसे अवसरों पर अभिव्यंजना की भंगिमा, लाक्षणिकता, मानवीयकरण, शब्दचयन, कल्पनात्मकता, आदि के लिये कम समय मिल पाता है। अभिव्यक्ति की सिधाई ही तड़प पैदा

कर देती है। सूरदास की गोपियों के और रत्नाकर की गोपियों के कथनों में यही अन्तर है। मीरा जब गाती है :—

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज।
म्हेल चढ़ि-चढ़ि जोऊँ मेरी सजनी
कब आवें महराज।
मोर पपइया बोलै
कोयल मधुरे साज।
उमग्यो इन्द्र चहूं दिसि बरसै
दामिण छोड़ी लाज।
धरती रूप नवा-नवा धरिया
इंद्र मिलण के काज।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर
वेगि मिलो महराज।

या जब नागमती कहती है :—

बरसै मघा झकोरि झकोरी, मोर दुइ नैन चुवें जस ओरी।

तब यह अभिव्यक्ति सीधी मन पर असर करती है और कर्त्ता की भावावस्था की अनुभूति करा देती है। किन्तु जब महादेवी गाती हैं :—

लाये कौन सँदेश नये घन।
अम्बर गर्वित
हो आया नत
चिर निस्पंद हृदय में उसके
उमड़े री पुलकों के सावन !
चौंकी निद्रित
रजनी अलसित
श्यामल पुलकित कम्पित कर में
दमक उठे विद्युत के कंकण।
× × ×
सुख दुख से भर
आया लघु उर
मोती से उजले जल कण से
छाये मेरे विस्मित लोचन !

तब कही कुछ कमी खटकती है। अनुभूति की तीव्रता क्या इतने चटकीले एवं कलापूर्ण रंगों एवं चित्रों की आयोजना के लिये अवसर दे सकती है—और वह भी तब जब कि पूरी कविता एक ही बैठक में—प्रायः रात में—लिखी गई हो, जब सोचने-विचारने का इतना समय रहता हो कि रात-रात भर जागिये, तो

कोई रोकने-टोकने वाला न हो ! ऐसा लगता है कि मस्तिष्क में कोई सुन्दर पंक्ति चमक जाती है और शेष कविता उसी की पूर्ति के लिये सोच-सोच कर लिखी जाती है। तात्पर्य यह है कि कल्पना में अनुभूति और विस्तार की कमी है। पंत जब लिखते हैं :—

"अभी तो मुकुट बँधा था माथ,
हुए कल ही हल्दी के हाथ;
खुले भी न थे लाज के बोल,
खिले भी चुंबन शून्य कपोल;
हाय! रुक गया यहीं संसार
बना सिंदूर अँगार !
वात-हत-लतिका वह सुकुमार
पड़ी है छिन्नाधार !"[1]

तब अनुभूति की मार्मिकता से हृदय विभोर हो उठता है। किन्तु जब वे 'स्याही की बूंद' को ले कर इस प्रकार उड़ने लगते हैं :—

"योग का-सा यह नीरव तार,
ब्रह्म माया का-सा संसार,
सिंधु-सा घट में, यह उपहार
कल्पना ने क्या दिया अपार
कली में छिपा वसंत-विकास !"

तब देवराज के शब्दों में यही कहना पड़ता है :—"असंख्य सुख-दुःखों से भरे, निरंतर विक्षुब्ध, मानव जीवन में जिसे कविता के 'विषय' नहीं मिलते वही इस प्रकार बैठ कर 'स्याही की बूंद' पर कल्पनाओं का ग्रथन करेगा। भला योग क्या कोई वीणा है, जिसका 'बूंद' तार है ? और, यह ब्रह्म-माया का संसार क्या है ? क्या यह पाठकों पर दार्शनिकता का रोब गाँठने का प्रयत्न है ?"[2]

हमारे इन ज्येष्ठ-श्रेष्ठ कवियों को यह सोचना चाहिये था कि हिन्दी की आलोचनात्मक बुद्धि सदैव आतंकित हो कर ही नहीं काम करेगी। समय सब से बड़ा निर्णायक होता है। हिन्दी आलोचना एक समय उस स्तर पर भी पहुँचेगी जब प्रत्येक कविता के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण शब्द का मूल्य आँका जायगा और प्रत्येक निरर्थक शब्द की गणना की जायगी। भावों के चढ़ाव-उतार का क्रम देखा जायगा। सभी दृष्टियों से, निष्पक्ष हो कर परीक्षा की जायगी। उस तीखी कसौटी पर छायावाद की कितनी गीतियाँ निर्दोष उतरेंगी, यह सोच कर कुछ आश्चर्य होता है।

१. 'पल्लव' की 'परिवर्तन' शीर्षक कविता
२. 'छायावाद का पतन'

लोक-संवेदना का तिरस्कार

छायावादी कवियों की अनुभूति ऐसी निराली होती है कि उसका साधारणीकरण या तो होता ही नहीं या कठिनता से होता है। नवीनता और विचित्रता की खोज करते-करते वह लोक-सामान्य भावनाओं से दूर चला गया। वह ऐसी अनुभूतियाँ एवं ऐसी कल्पनायें उपस्थित करता है जिनका हमारे अनुभवों और हमारी कल्पनाओं से कोई परिचय नहीं। पदों की प्रत्येक पंक्ति एवं प्रत्येक शब्द पर एक बार नहीं, अनेक बार ध्यान देना पड़ता है। इतनी मेहनत के बाद जो-कुछ मिलता है, वह इतना सूक्ष्म एवं इतना सामान्य होता है कि आगे की पंक्तियों पर उतना ध्यान देने की इच्छा ही नहीं होती। प्रसाद और निराला की जिन पंक्तियों का साधारणीकरण नहीं होता, उनका फिर नहीं ही होता। पंत और महादेवी में ऐसी पंक्तियाँ कम हैं।

निष्कर्ष देते हुए देवराज ने कहा है :—"भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से छायावाद का विकास एकांगी हुआ। उसकी व्यंजना में जितना सौंदर्य है, उतनी शक्ति नहीं; जितनी चमक है, उतना प्रकाश नहीं; जितनी बारीकी है, उतनी दृढ़ता नहीं। उसके संगीत में प्रवाह की, भावों में गहराई की, और विचारों में दीप्ति की कमी रही।"[1]

परिवर्तन की प्रक्रिया और प्रगतिवाद की प्रतिष्ठा

युग बदल रहा था। मार्क्स का विवेचन और दर्शन मनुष्य को सूक्ष्म अध्यात्म एवं रहस्य की उलझनों से निकाल कर जीवन की वास्तविकता की ओर ला रहा था। उसकी कल्पना को जीवन की भौतिक एवं मर्त्त समस्याओं में जाने की प्रेरणा दे रहा था। उसकी दृष्टि को कठोर वास्तविक वस्तुओं पर प्रतिष्ठित कर रहा था। उसकी बुद्धि को स्थूल समस्याओं के पास ले जा रहा था। फ़ायड का मन एवं उसकी विभिन्न अवस्थाओं के संबंध में किया गया विश्लेषण हमें एक दूसरी ही दृष्टि दे रहा था। ज्ञान-विज्ञान के दिन-प्रतिदिन होने वाले प्रचार और प्रसार ने दृष्टिकोण में आस्तिकता की जगह संशय, अन्ध-विश्वास की जगह तर्क, और भावुकता की जगह बौद्धिकता ला दी थी। पाश्चात्य साहित्य की नई प्रगतियों ने भी अपना प्रभाव डाला। प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसियेशन साहित्यिकों की एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था है। इसका पहला अधिवेशन १९३५ ई० में पेरिस के प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक इ० एम० फारेस्टर के सभापतित्व में हुआ। मुल्कराज आनन्द और सज्जाद ज़हीर के उद्योग से भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना १९३६ ई० में हुई। इसके पहले अधिवेशन के सभापति प्रेमचन्द थे और दूसरे के रवीन्द्रनाथ टैगोर। १९३७ ई० के मार्च के 'विशाल भारत' में शिव-दानसिंह चौहान ने 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' शीर्षक लेख

१. 'छायावाद का पतन'

छपवाया था। १९३७ ई० में पंत का 'युगांत' निकला जिसमें उन्होंने कहा :—

गा, कोकिल, बरसा पावक कण
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन
ध्वंस-भ्रंश जग के जड़ बंधन
पावक-पग धर आवे नूतन
हो पल्लवित नवल मानवपन !

अथवा

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र !
हे स्रस्त-ध्वस्त ! हे शुष्क-शीर्ण !
हिम - ताप - पीत, मधु-वात-भीत,
तुम वीत - राग, जड़, पुराचीन !

१९३९ ई० में उनकी 'युगवाणी' निकली जो इसी दिशा में उठा हुआ उनका नया क़दम था। 'कामायनी' (१९३७ ई०) में मानव का आनन्दवादी दृष्टिकोण एवं बुद्धि और श्रद्धा के संतुलित रूप की झाँकी दिखाकर प्रसाद मर गये। १९३८ ई० में गोपालशरण सिंह ने 'मानवी' को छपाया। बच्चन की 'मधुशाला' (१९३५ ई०) 'मधुबाला' (१९३६ ई०), 'मधुकलश' (१९३७ ई०), 'निशा निमंत्रण' (१९३८ ई०), आदि ने वैयक्तिक प्रेम का मादक स्वरूप दिखाया। नरेन्द्र की 'शूल-फूल' (१९३४ ई०) और 'कर्ण फूल' (१९३६ ई०), और अंचल की 'मधूलिका' (१९३८ ई०) और 'अपराजिता' (१९४० ई०), तथा भगवती चरण वर्मा की 'प्रेम-संगीत' (१९३७ ई०) ने मानवीय प्रेम की अभिव्यंजना की। श्री मन्नारायण अग्रवाल की 'रोटी का राग' (१९३७ ई०) ने श्रम की महत्ता को काव्य का विषय बनाया। 'अंचल' धर्म, रूढ़ि, और ईश्वर के प्रति विद्रोह का स्वर ऊंचा करके अतृप्त प्रेम-पिपासा की भी अभिव्यक्ति कर रहे थे। तभी आ गया १९३९ ई० का वर्ष। द्वितीय महायुद्ध छिड़ा। राष्ट्रीयता की भावना ने जोर पकड़ा। आजादी की माँग बढ़ी। दमन हुआ। बंगाल का काल पड़ा। आजाद हिंद फौज के सिपाहियों के मुकदमे ने राष्ट्रीयता की लहर देश के कोने-कोने में फैला दी। आजादी मिली और उसके साथ ही भीषण बर्बरता भी दिखाई पड़ी। युद्धकाल में रूस की विजय और पराजय, हिटलर और मुसोलिनी, आदि की नृशंसता एवं भारतीयों की द्विधामयी परिस्थिति, आदि सब ने हिन्दी साहित्य पर अपना-अपना प्रभाव डाला। ये सब घटनाएँ एक के बाद एक इतनी जल्दी-जल्दी (सात वर्षों के अन्दर ही) होती गयीं कि कवि और पाठक उन पर स्थिरता एवं गम्भीरता-पूर्वक विचार न कर सका। साथ ही, ये इतनी महत्त्वपूर्ण थीं कि किसी का इनसे तटस्थ रह सकना असम्भव था। किसी निश्चित ध्येय या स्थायी लक्ष्य के अभाव में साहित्य अनायास ही तात्कालिक परिस्थितियों एवं घटनाओं से प्रभावित होता हुआ बढ़ता गया। अस्तु, १९३७ ई० से १९४७ ई० के काव्य साहित्य की प्रधान धारा

प्रगतिवाद, में काव्य के कला पक्ष में कोई उल्लेखनीय नवीनता या विकास नहीं हो पाया। जो-कुछ परिवर्तन हुआ है वह कवियों के दृष्टिकोण एवं काव्य के विषय में ही हुआ।

प्रगतिवाद का मार्क्स के द्वारा प्रतिपादित विचारों से बड़ा घनिष्ट संबंध है। अतएव बहुत संक्षेप में उनको भी देख लेना चाहिये। मार्क्सवाद के अनुसार सृष्टि का मूल भौतिक पदार्थ (मैटर) है। दृश्यमान जगत उसी से विकसित हुआ है। संसार बराबर परिवर्तित होता रहता है। यह परिवर्तन किसी अदृश्य सत्ता के कारण नहीं होता। इसका कारण यह है कि भौतिक पदार्थ में स्वयं ही परिवर्तित होते रहने का गुण मौजूद है। हमें जो-कुछ दिखाई पड़ रहा है उन सब में प्रतिक्रिया का तत्त्व निहित है। चूंकि इस सृष्टि की कोई चीज अपने में पूर्ण नहीं और न पूर्ण हो सक्ती है, इसलिये उसमें कहीं न कहीं असंगतियां अवश्य छिपी मिल जायंगी। ये असंगतियाँ बढ़ती रहती हैं। एक अवस्था ऐसी आ जाती है जब इसके कारण पदार्थ का वर्त्तमान स्वरूप बिल्कुल बदल जाता है। इस परिवर्तित स्वरूप में भी फिर असंगतियां पैदा हो जाती हैं। वे बढ़ती हैं। इस रूप में भी परिवर्तन होता है और एक नवीन स्वरूप दिखाई पड़ता है जो संतुलित एवं सामंजस्यपूर्ण प्रतीत होता है। इस प्रकार यह सृष्टि दो विरोधी तत्त्वों के द्वन्द्वों से स्वयं गतिशील रहती है। कुछ काल तक ये दोनों विरोधी तत्त्व साम्यावस्था में दिखाई पड़ते हैं किन्तु शीघ्र ही उनमें फिर द्वन्द्व प्रारभ हो जाता है। द्वन्द्व और परिवर्तन का क्रम निरंतर चला करता है। वस्तु या पदाथ की मात्रा में परिवर्तन होता ही है, उसके गुण भी परिवर्तन के चक्र से मुक्त नहीं। विरोधी शक्तियों का द्वन्द्व कभी-कभी इस स्थिति में आ जाता है कि वस्तु की मात्रा और उसके गुण में बड़े वेग से परिवर्तन होता है। इसे ही हम पदार्थ या सृष्टि की क्रांति कहते हैं। यही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है।

मार्क्सवाद

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

जिस प्रकर जगत का मूल तत्त्व भौतिक पदार्थ या मैटर है उसी प्रकार समाज-संगठन का मूल आधार आर्थिक व्यवस्था है। जीवित रहने के लिये जिन वस्तुओं की आवश्यकता है उनको पैदा करने की शक्ति में विकास होना चाहिये। यह शक्ति जिस प्रकार या जिस रूप में विकसित होती है उसी के अनुसार समाज में व्यक्तियों का परस्पर संबंध स्थापित होता है। आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के ढंग से समाज का आर्थिक ढाँचा बनता है। मनुष्य के सारे क्रिया-कलापों का आधार यही आर्थिक ढाँचा है। आर्थिक ढाँचे के अनुरूप ही राज्य शासन की नीति बनती है और मनुष्य की नैतिकता और धार्मिकता का स्वरूप निर्धारित होता है। मनुष्य की विचारधारा के स्वरूप और दिशा का आधार यही आर्थिक

इतिहास की अर्थमूलक व्याख्या

ढाँचा है। वह अपने साहित्य का सृजन भी इसी नियम के अनुसार करता है। मानव समाज के इतिहास की अर्थमूलक व्याख्या के पीछे यही दृष्टिकोण है।

समाज का वैषम्य, उसका कारण और निदान

आज का समाज दुखी है। उसके क्लेशों की सीमा नहीं है। कोई धनी है, तो कोई गरीब। कोई बेफिकर होकर हँसता है, किसी को रोकर जी हल्का कर लेने की भी सुविधा नहीं। इसका कारण यह है कि जीवन की आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन, विनिमय और वितरण पर थोड़े से पूंजीपति अपना अधिकार जमाये बैठे हैं। सारा समाज शोषक और शोषितों में विभाजित हो गया है। एक सम्पन्न है, दूसरा विपन्न। यदि इस घुटन से मुक्ति लेनी है तो समाज के इस आर्थिक ढांचे––पूंजीवादी वयवस्था––को मिटाना होगा। समाज की व्यवस्था आसानी से नहीं मिटती। यह काम क्रांति की भीषण लहर से पूरा होता है। क्रांति तब होगी जब शोषक और शोषित इन दोनों वर्गों का संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाय। शोषकों की तो कोई बात नहीं। उनके पास धर्म, धन, बल, विद्या, बुद्धि एवं अनेक प्रकार के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष साधन हैं। शोषितों को चैतन्य करना है। उन्हें समझाना है कि संसार के सभी मजदूर-किसान एक ही वर्ग के हैं और उनका शत्रु एक व्यक्ति नहीं––एक वर्ग है जो एक विशेष विचार-धारा में पला है। संभव है कि शोषक वर्ग का कोई व्यक्ति विशेष इस रहस्य को न जानता हो, किन्तु वह वस्तुत: एक वर्ग का एक अंश है जिसमें वह स्वार्थ से परिचालित हो कर ज्ञात या अज्ञात रूप से सहयोग दे रहा है।

वर्ग-संघर्ष एवं वर्ग-चेतना

उद्देश्य

समाज की इस विषमता को मिटाना होगा। दो चार या दस व्यक्तियों का सामयिक सुधार इस विचारधारा का लक्ष्य नहीं है। वर्तमान अवस्था और व्यवस्था में आमूल परिवर्तन होना चाहिये। सम्पन्न व्यक्तियों की दया और भीख पर विश्वास नहीं, क्योंकि अभिमान और स्वार्थ से टकराने पर किसी भी समय ये समाप्त हो सकते हैं। दया और भीख मानवता का अपमान है। इसका उद्देश्य विपन्न व्यक्तियों के असंतोष को दबा देना भी होता है। राज्य शक्ति मिलनी चाहिये जिससे वर्गविहीन समाज की स्थापना हो सके। प्रत्येक व्यक्ति को विकास के लिये समान सुविधा मिलनी चाहिये।

मजदूरों का महत्त्व

क्रांति में मजदूरों से बहुत अधिक सहायता मिलती है। किसानों को थोड़ा-सा सुधार भी संतुष्ट कर देता है। प्राचीन राजनीतिक व्यवस्थाओं और धार्मिक विश्वासों एवं अंधविश्वासों में उनकी अविचलित आस्था रहती है। किसानों की आजीविका का एक मात्र साधन या उनकी कला-कुशलता अचल संपत्ति पर आधारित रहती है, जो सर्वत्र सुलभ नहीं। मजदूर कहीं भी और आसानी से अपनी आजीविका के साधन खोज निकाल सकता है। यही कारण है कि वर्ग चेतना और

वर्ग संघर्ष संबंधी प्रयत्नों को उनके बीच जल्दी सफलता मिल जाती है।

इस विचारधारा से हिन्दी साहित्य को निम्नलिखित दृष्टियाँ मिलीं :—

१. बुद्धिवादी दृष्टिकोण;
२. प्राचीन व्यवस्था के अनुसार निर्मित धर्म और ईश्वर में अविश्वास एवं उनके प्रति क्षोभ;
३. सामाजिक विषमता की अनुभूति एवं उसके स्वरूप पर आक्रोश;
४. किसानों और मजदूरों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण और उनको चैतन्य करना;
५. अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण; और
६. नये युग और नये मानव की कल्पना।

प्रगतिवादी कवियों का यह दृष्टिकोण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। हम देख चुके हैं कि इसके पहले छायावादी कवियों की कल्पना-शक्ति अति की सीमा तक पहुँच चुकी थी। छाया, चाँदनी और स्याही की बूंद-जैसे विषयों पर जब कवि कविता लिखने बैठता है तो उसकी कल्पना उपमा, रूपक एवं उत्प्रेक्षा, आदि के रूप में अप्रस्तुतों की हद कर देती है। 'अनन्त' और 'रहस्य' के क्षेत्र में कवियों की कल्पना को मुक्त एवं विस्तृत क्षेत्र मिल गया था और वह यथाशक्ति उसी में अपनी कला का प्रदर्शन करती रही।

बुद्धिवादी दृष्टिकोण

बदली हुई परिस्थितियों ने दृष्टिकोण बदल दिया। भौतिक समस्याओं की उग्रता ने कल्पना को यथार्थवादी दृष्टि दी। भावुकता और काल्पनिकता में कमी हुई। युद्ध की विभीषका ने वास्तविकता और प्रत्यक्ष को इतने विशाल रूप में सामने रक्खा कि कवि अपनी हवाई बातें भूलने लगा। इसका एक उदाहरण लीजिए। कविता की शक्ति के सम्बन्ध में साहित्यिकों के विचार बड़े ही उदात्त होते हैं। अकबरी दरबार के पृथ्वी-राज ने राणा प्रताप की पराजित मनोवृत्ति में एक बार उन्हें आशा और उत्साह की ज्योति अपनी कविता के माध्यम से दिखाई थी। तो, वह दृष्टि और वे विचार ऐसे बदले कि 'आरती' के १९४१ ई० के मई-जून वाले अंक में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'काव्य मर्मज्ञ' शीर्षक कविता में काव्य शक्ति की असमर्थता के बारे में लिखा है कि:—

"आज मेरा हृदय कहता,/क्यों न लिख दो एक कविता; /आग बरसा दो न क्यों तुम/ताकि होवे भस्म/यह मर्दानगी/जिसने कि है अन्धेर ढाया/

आज लाशों से धरित्री पट रही है/और कायर वीरता का स्वांग भर-भर कर बनाते हैं जगत को मत्त दानव; /और निष्पेषित पिशाची/सैन्य लेकर रौंदते हैं/विश्व का जो कुछ/कि है सौन्दर्य या शालीनता।.................

मैं उन्मत्त हूँ,/बेहोश हूँ,/मुझको न छेड़ो,/आज मेरे वाक्य से अंगार झड़ने जा रहे ह/ नाश हो मर्दानगी यह/और जो कुछ शांत, कोमल, मधुर या सकुमार/वह पनपे— धरित्री शान्त हो/विश्रान्ति ! /

किन्तु फिर मैं सोचता हूँ,/क्या कभी संभव हुआ है,/एक कविता से जला देना/जगत की घृणित बर्बरता,/नशीला जोश,/नव उद्दाम-यौवन-लालसा/निष्ठुर पिशाची कृत्य? --/ मैं हैरान होकर सोचता हूँ,/क्या कभी कुछ कर सके हैं अश्रु दुर्बल के,/करुण अभिशाप दुर्बल के,/मधुर हुंकार कवि जन के ?/हुआ क्या/जबकि करुण पदावली निकली/ अचानक/आदि कवि के दृप्त-द्रुत-अभिभूत कोमल कंठ से ?/क्या रुक गया तब से/ निषादों का/कहीं भी/शल्य-पातन दीन क्रौंचों पर ?"[१]

इस बुद्धिवादी दृष्टिकोण ने काव्य को यथार्थ की कठोर भूमि पर उतारा। उसे गरीबों, दलितों, पीड़ितों एवं झोपड़ियों तथा गंदी कोठरियों की ओर प्रेरित किया। तुलना के लिये वह अमीरों के वातावरण को भी प्रायः दिखलाया करता है। प्रेम और शृंगार के क्षेत्र के अतिरिक्त अब कविगण राजनीति, अर्थनीति और समाजनीति के क्षेत्र की ओर भी मुड़े। राजनीतिक सिद्धान्तों और सम्प्रदायों को भी आधार बना कर कविताएँ लिखी जाने लगीं। सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण के कारण कभी-कभी दूसरे मत एवं सम्प्रदाय वालों का विरोध भी हो जाता है। बुद्धिप्रधान इस कविता का रूप कल्पनाप्रधान रंगीन कविताओं से भिन्न होता है। जिस प्रकार सूरदास, कबीरदास, तुलसीदास और बिहारी, आदि की कविताओं का आनन्द और प्रकार का होता है तथा महादेवी, पंत, प्रसाद और निराला की कविताओं का और प्रकार का, उसी प्रकार 'पल्लव' की कविताओं का आस्वाद और तरह का है और 'युगवाणी' और 'युगांत' की कविताओं का और प्रकार का। 'पल्लव' की प्रवृत्ति, या काव्य को कल्पना की ही सम्पत्ति मानने वाले लोग 'युगवाणी', 'युगांत', आदि में पंत की कला का ह्रास मानते हैं। अपना-अपना दृष्टिकोण है। नवीन प्रवृत्ति या नया प्रयोग होने के कारण यह सर्वदा संतुलित रूप में नहीं आ पाई है। कहीं-कहीं राजनीति का स्वर प्रधान हो गया है। सदैव ऐसा ही असंतुलन रहेगा, ऐसा नहीं समझना चाहिए। पंत की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :--

"रजत स्वप्न साम्राज्यवाद का ले नयनों में शोभन,
पूंजीवाद निशा भी है होने को आज समापन।"

. . . .

सभ्य, शिष्ट, औ, संस्कृत लगते मन को केवल कुत्सित,
धर्म नीति औ, सदाचार का मूल्यांकन है जन-हित।[२]

---

१. यह अवतरण धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी और देवेन्द्रनाथ शर्मा की संपादित 'साहित्यिक निबंधावली' नामक पुस्तक से लिया गया है। वहाँ उपर्युक्त पंक्तियों का ऐसा कोई विभाजन नहीं दिया गया है। यह विभाजन मेरा है जो स्पष्ट करता है कि उपर्युक्त अवतरण स्वस्थ एवं सुन्दर मुक्त छंद की संयमित भावपूर्ण कविता है--लेखक

२. युगवाणी।

साम्यवाद के साथ स्वर्ण-युग करता मधुर पदार्पण,
मुक्त निखिल मानवता करती मानव का अभिवादन।
....

इस प्रकार की पंक्तियाँ, जो मार्क्सवाद के सिद्धान्तों पर आधारित हैं, प्रगतिवादी काव्य में बहुत मिल जायँगी। बुद्धिवादी दृष्टिकोण का एक अन्य रूप हमें वहाँ मिलता है जहाँ कवि व्यंग्यप्रधान कविताएँ लिखता है। यह व्यंग्य समाज एवं व्यक्ति की कमजोरियों की मार्मिक चुटकियाँ लेता है। कभी-कभी तो यह तिलमिला देने वाला प्रभाव रखता है। निराला की नयी कविताओं में यह व्यंग्य बड़े तीव्र और सशक्त रूप में निखरा है। उनके 'नये पत्ते' (१९४६ ई०) की 'दगा की', 'राजे ने अपनी रखवाली की', 'चर्खा चला', 'मास्को डायलाग्स', 'आजकल पंडित जी देश में विराजते हैं', 'डिप्टी साहब आये', 'कुत्ता भौंकने लगा', आदि कविताएँ ऐसी ही हैं। 'खजोहरा' 'कुकुरमुत्ता', आदि का व्यंग्य उच्चकोटि का है। उनकी 'गर्म पकौड़ी' शीर्षक कविता देखिए:—

गर्म पकौड़ी—
ऐ गर्म पकौड़ी!
तेल की भुनी,
नमक-मिर्च की मिली,
ऐ गर्म पकौड़ी!
मेरी जीभ जल गई,
सिसकियाँ निकल रहीं,
लार की बूंदें कितनी टपकीं,
पर दाढ़ तले तुझे दबा ही रक्खा मैंने
कंजूस ने ज्यों कौड़ी—
ऐ गर्म पकौड़ी!
तूने पहले मुझको खींचा,
दिल लेकर फिर कपड़े-सा फींचा,
तेरे लिये छोड़ी बम्हन की पकाई
मैंने घी की कचौड़ी—
ऐ गर्म पकौड़ी!

उपर्युक्त कविता में वर्ण व्यवस्था पर व्यंग्य किया गया है! प्रस्तुत कविता का सब कुछ नवीन है। शब्दावली, वाक्य-निर्माण, कथन की भंगिमा, विचारों की अभिव्यक्ति का ढंग, सामूहिक रूप से व्यापक प्रभाव, आदि पिछली कविताओं से बिल्कुल भिन्न है। इसमें मोहक कल्पना, गुदगुदाने वाले शृंगारिक चित्र, कलापूर्ण वस्तु-विधान, एवं

१. 'युगवाणी'

अन्य आकर्षक सामग्री बिल्कुल नहीं। इनके स्थान पर समाज की एक प्रवृत्ति का चित्र है।

ईश्वर और धर्म पर प्रगतिवादी कवियों की बिल्कुल आस्था नहीं। इसका कारण भी वही बुद्धिवादी दृष्टिकोण है। हम जीवन की घटनाएँ देखते हैं और जब उन पर विचार करने लगते हैं तब ईश्वर और धर्म दोनों अपना महत्त्व खो बैठते हैं। सामान्य जनता ने अपने जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र से धर्म और ईश्वर, दोनों का बहिष्कार कर दिया है। ये दोनों विशेष अवसरों और उत्सवों के विषय मात्र होकर रह गये हैं। धर्म और ईश्वर की जगह अब कर्त्तव्य और विराट मानव की प्रतिष्ठा हो रही है। सामान्य जनता में न इतना साहस होता है और न इतनी बुद्धि कि इस प्रवृत्ति का विश्लेषण करके किसी निष्कर्ष पर आ सके। प्रत्यक्ष और वास्तविक घटनाओं का महत्त्व कभी कम नहीं किया जा सकता। डर या कमजोरी के कारण भले ही हम उनसे प्राप्त निष्कर्षों को जीवन में प्रत्यक्ष रूप से न स्वीकार कर सकें, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से वे हमारे जीवन में घुल-मिल जाते हैं। हम इतिहास में पढ़ते हैं कि महमूद गजनवी ने सोमनाथ के सर पर अपनी गदा मारी और परिणाम में उसे मिली अशर्फियाँ और अकूत संपत्ति। औरंगजेब ने आक्रमण किया और भगवान विश्वनाथ भाग कर कुयें में कूद पड़े। लोग कहते हैं कि मानो तो देव, नहीं तो पत्थर अर्थात् उनका अस्तित्व हमारे मानने से है; उनका अपना कोई अस्तित्व नहीं। बंगाल के काल में पचास लाख मर गये, न जाने कितने लुट गये, अर्थ और विलास का पैशाचिक नृत्य हुआ, किन्तु न्यायी, दयालु, भक्त-वत्सल, परम पिता कानों में तेल डाले रह गये। अत्याचारी सुख से रहता है। धार्मिक का जीवन नरक हो जाता है। बेईमान फूलते-फलते हैं। धार्मिक व्यक्तियों में से अधिकांश का चरित्र व्यापक और संकुचित, दोनों दृष्टियों से गिरा हुआ होता है। धार्मिक भिखारी हो रहा है। धार्मिक होकर हम रह नहीं सकते। हमारे बाल-बच्चे तड़प उठते हैं। धर्म और ईश्वर का अनुयायी अन्ततः श्रद्धा और अन्धविश्वास का सहारा लेने लगता है। मार्क्सवाद को छोड़ दीजिये। जब एक ओर बच्चों और गरीब विद्यार्थियों को दूध तक नहीं नसीब होता, और धार्मिक व्यक्ति ईश्वर के नाम पर एक घंटे के अन्दर सेरों घी जला डालता है; जब अमीर का लड़का पानी की तरह रूपये बहाता है और उसको ट्यूशन पढ़ाने वाला तेज मगर गरीब लड़का फटे वस्त्र और सूखी रोटी पर गुजर करता है, तब कर्म, भाग्य, एवं पुनर्जन्म के सहारे मन के असंतोष को कब तक दबाया जा सकेगा! श्रद्धा आँखें बन्द कर सकती है; बुद्धिवादी दृष्टिकोण क्रांति की आग अपने आप सुलगा देगा। ईश्वर और धर्म मनुष्य को मनुष्य की ओर से उदासीन ही नहीं करते हैं, दया और तज्जन्य तिरस्कार की भावना भी पैदा कर देते हैं। राजा पुरोहितों को दान देते हैं और पुरोहित राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि बताते हैं। क्या इसके पीछे कोई दुरभिसंधि नहीं? श्रद्धा और अंधविश्वास के साथ जब तक हम मानते जायँ तब तक कोई बात नहीं। किन्तु इस पर जैसे बुद्धि का प्रकाश पड़ेगा वैसे ही

ईश्वर और धर्म के प्रति क्षोभ

विपन्न आँखें विस्मय से फैल जायँगी। इन्हीं सब से प्रेरित होकर आवेश में आकर 'अंचल' ने लिखा है :—

"ऊपर बहुत दूर रहता है शायद आत्मप्रवंचक एक,
जिसके प्राणों में विस्मृति है उर में सुख श्री का अतिरेक,
जिसका ले ले नाम युगों से माँस लुटाते तुम रोये,
किन्तु न चेता जो निशि-निशि भर जब न क्षुधातुर तुम सोये,
आज अस्त हो जाय वही अभिशाप अनय रौरव पोषक,
और वही दुर्दांत महा उन्मत्त हड्डियों का शोषक !

....

लख आग्नेय परिधि में मृत्यु, विनाश, जल्पना का पानी,
काँप रहा देखो तो थर-थर वह लोलुप पापी-प्राणी,
भूख भरे मानव ये, वह तो नभ का चिर सत्ता-धारी,
सहसा बढ़ आये भिखमंगे काँप उठा वह व्यभिचारी,
सर्वनाश फूत्कार कर उठा, दुर्दिन की आँधी आई,
पीड़ित मानव ने जघन्य अंधे की सत्ता ठुकराई।"[1]

बच्चन ने लिखा है :—

"तुम्हें जानना है मनुष्य तुम,
नहीं गुलाम देवताओं के,
और न उनके दया पात्र ही,
और न उनके ऊपर निर्भर,
तुम्हें आत्म-अवलंब चाहिये।"[2]

आज के समाज का यह ऐसा तथ्य है जिस पर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। हाथ कंगन को आरसी क्या! हमारे हिन्दी साहित्य में इस विषय पर अधिक जोर नहीं दिया गया था यद्यपि यह तत्त्व हमारे समाज में बहुत पहले से विद्यमान है। समाज के इस ज्वलंत सत्य और तथ्य की ओर हमारी दृष्टि अब तक नहीं गई थी। इसके दो कारण हैं। पहला कारण पुनर्जन्म का एवं कर्म का सिद्धान्त है। हमारा पुनर्जन्म इसलिए होता है कि हमने पिछले जन्म में जो खोटे कर्म किए हैं उनका फल भोगें। यह सिद्धान्त इतना सुन्दर था कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी शोषित किसान, मजदूर, कर्जदार, आदि के मन में कभी असंतोष पैदा ही नहीं हुआ। दूसरा कारण यह था कि सामाजिक विषमता का आज-जैसा सर्वभक्षक रूप पहले नहीं दिखाई पड़ा था। अलग-अलग खेती करने वाले या अपनी कुटियों में बैठकर दस्तकारी

सामाजिक विषमता की अनुभूति और उसके स्वरूप पर आक्रोश

---

१. 'मधूलिका'

२. 'बंगाल का काल' (१९४६ ई०)

करने वाले लोग सामाजिक विषमता की उतनी तीखी अनुभूति नहीं पा सकते जितनी मिल के धुयें और विषाद से काले पड़े हुए हजारों गंदे मजदूरों का समूह अपने सामने चमकती हुई कार पर झलझलाते हुए कपड़ों से सजे और खुशबूदार सिगरेट का धुआँ उड़ाते हुए एक मिल-मालिक को देख कर पा सकता है। भारत में यह स्थिति अब आई है और आ रही है। इधर मार्क्सवादी विचारधारा ने नवीन अंतर्दृष्टि दी। कवि गा उठा :—

"इसमें इतना कपड़ा बुनता यह सारी दुनिया ढक जाये,
फिर भी इसे बनाने वाले अपनी देह नहीं ढक पाये,
महल बनाने वाले रानी, जीवन भर धरती पर लेटें,
उनकी अर्द्धांगिनियाँ अपने तन में अपनी लाज समेटें"[१]

निराला की 'विधवा' और 'भिखारी' शीर्षक कविताओं में भी दयनीयता का मूर्त्त चित्रण है। अस्तु, आज मानव दुखी है। किन्तु उसकी तुलना में उसके पास ही एक दूसरा दृश्य है जो इसके बिल्कुल विपरीत है। कवि कभी यह दृश्य देखता है और कभी वह :—

"एक ओर समृद्धि थिरकती, पास सिसकती है कंगाली,
एक देह पर एक न चिथड़ा एक स्वर्ण के गहनों वाली,
उधर खड़े हैं रम्य महल वे आसमान को छूने वाले,
और बगल में बनी झोपड़ी जिसके छप्पर चूने वाले !"[१]

'सुमन' ने 'बे घरबार' कविता में लिखा है :—

"बिक रहा पूत नारीत्व जहाँ चाँदी के थोथे टुकड़ों में,
कर्तव्य पालता धनिक वर्ग मदिरा के जूठे चुकड़ों में।
इस ओर पड़ी खानाबदोश मेहनतकश मानव की पाँतें,
फुटपाथों की चट्टानों पर जो काट रहीं अपनी रातें !"

यह विषमता कवि के अन्तर को झकझोर देती है और वह अनुभव करता है :—

"भूखे शिशुओं की चीत्कारें सोख रहीं नयनों का पानी,
सूखी निचुड़ी चुसी हड्डियाँ करतीं विप्लव की अगवानी।
मुट्ठी भर दानों की तृष्णा महाक्रांति की आग लगाती,
आज क्षुधा इन कंगालों की सोये ज्वालामुखी जगाती।"[२]

यह विषमता उस समय तीव्रतम हो जाती है जब कवि देखता है कि रुपए-पैसे वाले अंधे होकर मानवता की सभी मान्यताओं का अंत कर देते ह। भूख से तड़पते हुए इन्सान की मजबूरी से फायदा उठा कर उसकी प्यारी से भी प्यारी चीज़—इज्ज़त—लूटने वाले को कोई भी माफ नहीं कर सकता। बंगाल में अकाल के समय जो-कुछ

---

१. सुधीन्द्र : 'प्रलय की वीणा' (१९४० ई०)
१. 'अंचल' : 'किरण बेला' (१९४१ ई०)

हुआ उसने कवियों की आत्मा तड़पा दी। उसके पहले भी यह चीज़ होती थी। हाँ, खुल्लमखुल्ला यह सब नहीं होता था। वर्ना यह एक तथ्य है कि नौकरशाही के पुर्जे अपने से नीचे वाले पुर्जे का सौन्दर्य अपने आप के उपभोग की वस्तु समझते हैं, चाहे वह फुसलाने से मिले और चाहे जबरदस्ती हड़पने से। इसी को लक्ष्य करके अंचल ने 'मधूलिका' में लिखा है :—

"चुक जाते अंगों के मोती चुस जाता जब दलित शरीर,
सहसा अनाहूत आ जाता कौन उदर में लेकर नीर,
किन्तु कहाँ वह उदर भरा रह पाता है सुख से दो दिन,
पीसा करते हैं पिशाच दे रोटी के टुकड़े गिन-गिन,
माता बनी दूध भर आया किन्तु न भरता पापी पेट,
जननी बनकर भी पशुओं के आगे नग्न सकेंगी लेट !

. . . .

और चलीं तूफान मचाती वे पथ-कन्याएँ संतप्त,
जिनकी कृश जंघाओं पर संघर्ष मचाते थे उन्मत्त।"

ऐसी स्थिति में इन नर-पिशाचों से संबंधित सभी वस्तुयें उनकी प्रतीक हो जाती हैं और कवि उन सब को आक्रोशपूर्ण दृष्टि से देखता है। 'किरण बेला' (१९४१ ई०) में अंचल ने 'हवेली' कविता में लिखा है :—

"उन्हीं मिलों की सगी बहन-सी खड़ी राक्षसी यह पाषाणी !
व्यभिचारों की कुत्सा-सी यह शोषण की अविराम कहानी !
विश्व नियंता की जैसे हो शैतानी मद अंध रखेली !
उधर राजपथ से कुछ हट कर शोणित से तर खड़ी हवेली !"

. . . .

किसानों और मज़दूरों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण और उनको चैतन्य करना

इस प्रकार वह संपन्नों से घृणा करने लगता है। इसी घृणावृत्ति ने प्रगतिवादियों को बहुत बदनाम कर रक्खा है। निश्चय ही संतुलित रहने और निर्माण की ओर बढ़ने की आवश्यकता है। विपन्नों की दुर्दशा देखकर हृदय में ऐसी प्रतिक्रिया होती है। यह स्वाभाविक है और यही अमीरों की ओर से मन फेर देती है। परिणाम यह होता है कि किसान और मजदूर अनायास ही हमारी सहानुभूति पा जाते हैं। पिटने वाले ही की ओर लोग ज्यादा झुकते हैं। कवि उनमें चेतना पैदा करना चाहता है। सोहनलाल द्विवेदी की 'किसान' शीर्षक प्रसिद्ध कविता इसी प्रकार की है :—

"तुम्हें नहीं क्या ज्ञात तुम्हारे बल पर चलते हैं शासन ?
तुम्हें नहीं क्या ज्ञात तुम्हारे धन पर निर्भर सिंहासन ?
तुम्हें नहीं क्या ज्ञात तुम्हारे श्रम पर सब वैभव साधन ?

तुम्हें नहीं क्या ज्ञात तुम्हारी बलि पर है सब विजय वरण ?"[१]

उनकी दशा, उनका रहन-सहन, उनकी वेष-भूषा और उनका जीवन-दर्शन, सहृदय भावुक को अभिभूत कर लेते हैं। वह उनसे सहानुभूति प्रकट करता है। कवि आवेशपूर्ण, ओजस्विनी एवं सशक्त भाषा में उनके जीवन के विभिन्न पक्ष उनके सामने रखकर उनको दयनीय स्थिति के प्रति जागरूक बनाना चाहता है। 'कोयले' को श्रमिक का प्रतीक मान कर केदारनाथ अग्रवाल लिखते हैं :—

"जल उठे हैं तन बदन से,
क्रोध में शिव के नयन से।
खा गये निशि का अंधेरा,
हो गया खूनी सबेरा ।
जग उठे मुर्दे बिचारे,
बन गये जीवित अँगारे।
रो रहे थे मुँह छिपाये,
आज खूनी रंग लाये।"[२]

इस प्रकार इन दलितों में जागरण और उत्साह पैदा करने का प्रयत्न किया जाता है; और अन्त में उन्हें डाँट-डपट, जोश-ओज, वीरता और उत्साह के साथ क्रांति के लिये बुलाया जाता है :—

"ओ भिखमंगे, अरे पतित, तू ओ मजलूम, अरे चिर दोहित,
तू अखंड भंडार शक्ति का, जाग अरे निद्रा-सम्मोहित,
प्राणों को तड़पाने वाली हुंकारों से जल-थल भर दे,
अनाचार के अंबारों में अपना ज्वलित फलीता धर दे !"[३]

आधुनिक युग के मानव का दृष्टिकोण संकुचित रह नहीं सकता। संवादों, समाचारों और इन्सानों के आने-जाने के साधनों में इतनी उन्नति हो चुकी है कि उनके सम्पर्क में रहने वाला मानव संकुचित दृष्टिकोण वाला रह ही नहीं सकता है।

अंताराष्ट्रीय दृष्टिकोण

प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसियेशन स्वतः एक अन्ताराष्ट्रीय संस्था है। प्रगतिवादी अन्य राष्ट्रों की ओर भी देखता है और वहाँ की घटनाओं से प्रेरणा लेकर कविताएँ भी लिखता है। हिन्दी के प्रगतिवादी कवि भारत के किसान-मजदूर और मिल-मालिक, आदि पर तो कविताएँ लिख ही रहे थे, जब द्वितीय महायुद्ध छिड़ा तो हिटलर, मुसोलिनी, फासिज्म और रूस के सिपाहियों आदि पर भी कवितायें लिखीं। हिन्दी के राष्ट्रवादियों को प्रगतिवादियों से एक बड़ी शिकायत उस ढंग की है जिस ढंग की शिकायत कम्युनिस्टों से होती है। तात्पर्य

१. 'भैरवी' (१९४० ई०)
२. विजयशंकर मल्ल : 'हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद' (१९४७ ई०) से
३. 'नवीन' : 'जूठे पत्ते'

यह कि उनकी सहानुभूति प्रधानतः रूस की ओर है। कहना यह चाहिये कि कुछ प्रगतिवादी कवियों की सहानुभूति का केन्द्र रूस है। जिधर उसकी सहानुभूति मुड़ती है उधर इनकी भी सहानुभूति मुड़ जाती है। ये उसकी विपत्ति से रोते हैं, और उसकी खुशी से हँसते हैं। यह आक्षेप सही है। पिछले युद्ध में जब जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया तब इन लोगों ने रूस के पक्ष और जर्मनी, आदि के विरोध में बहुत-सी कविताएँ लिखीं। पिछला महायुद्ध दो साम्राज्यवादी शक्तियों का संघर्ष था। रूस के युद्ध में उतरते ही प्रगतिवादियों ने उसे लोक युद्ध मान लिया था। 'सुधीन्द्र' ने 'हिन्दी कविता का क्रांतियुग' (१९४६ ई०) में लिखा है—"प्रगतिवाद शिविर से राष्ट्रीयता-विरोधी जैसी पंक्तियाँ उठ रही हैं उनका एक उदाहरण है :—

> बोस-विभीषण ने भी देखो कैसा जाल बिछाया है,
> कल था जो कि देवता वह अब दानव दल ले आया है।
> कह कह कर वह गला कटावेगा अपने ही भाई का,
> वह न स्वर्ग का देवदूत है, घृणित दलाल कसाई का।

निश्चय ही यह अति की सीमा है। इन दो-चार निकृष्ट कविताओं के बल पर समस्त प्रगतिवादी साहित्य को तिरस्कृत नहीं किया जाना चाहिए। काव्य की हर एक धारा में सैकड़ों कविता पुस्तकें भाव और विचार की दृष्टि से निकृष्टतम सिद्ध होती हैं, किन्तु उनके कारण उस धारा का समस्त साहित्य छोड़ नहीं दिया जाता। प्रगतिवादी की रूस-प्रधान सहानुभूति का रहस्य यह है कि प्रगतिवादी विचारधारा का स्रोत उन्हें रूस के मार्क्स के साम्यवाद से मिला था। साम्यवाद की व्यावहारिक सफलता उन्हें उस समय तक रूस देश में ही दिखाई पड़ी थी। चीन में यह प्रयोग हो रहा था और वहाँ सफलता मिलते ही प्रगतिवादियों की दृष्टि उधर भी गई :—

> "चीन देश की विजय हमारा मस्तक ऊँचा कर देती
> चीन देश की बरबादी हम में प्रतिहिंसा भर देती
>
> ....
>
> आज वहाँ बच्चे-बच्चे में आजादी की नई लहर
> आज वहाँ औरत-औरत में कुरबानी की जोत प्रखर
> युवा-युवा में छाया है घनघोर युद्ध का एक नशा
> कंठ-कंठ में गूंज रहे हैं बलिदानों के जलते स्वर"[१]

यहाँ दृष्टिकोण स्वदेश-विदेश का नहीं, साम्यवादी विचारधारा का है। जहाँ-जहाँ साम्यवादी विचारधारा व्यावहारिक रूप में सफल होगी वे सभी देश प्रगतिवादी कवियों की प्रशंसा के विषय हो जायँगे। यह इन कवियों की भूल थी। राष्ट्रीयता को भूल कर अन्ताराष्ट्रीयता की ओर बढ़ने का मतलब कम से कम अभी तो निश्चित रूप से विनाश है। संसार के दलितों और पीड़ितों एवं संसार के किसी भी देश के

---

१. 'अंचल' : 'लालचीन'

समाज में होने वाले अन्याय के विरोध और न्याय के सच्चे समर्थन को कोई भी बुरा नहीं कहता। आँखें मूंद कर किसी लक्ष्य की ओर नहीं बढ़ना चाहिए। यदि कुछ कवि इसे न समझें तो वे राष्ट्र की निगाह से गिर जायँगे। यदि प्रगतिवाद ने यह प्रवृत्ति न छोड़ी तो हिन्दी साहित्य उसकी अच्छी विशेषताओं को ले लेगा और उसे त्याग देगा। प्रसन्नता की बात है कि प्रगतिवादी कुछ बदलते हुए दिखाई पड़ रहे हैं। उनका दृष्टिकोण राष्ट्रीय हो रहा है। 'अंचल', 'नरेन्द्र', आदि ने हमारे राष्ट्र, राष्ट्रीय पर्व और राष्ट्र नायकों के संबंध में अच्छी कविताएँ लिखी हैं।

नये युग और नये मानव की कल्पना

प्रगतिवादी दृष्टिकोण की अन्तिम देन है नये युग और नये मानव की कल्पना। साम्यवाद का अंतिम लक्ष्य वर्गहीन समाज की स्थापना है। इस समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये समुचित सुविधायें मिलेंगी। आवश्यकता के अनुसार सबको वस्तुएँ मिलेंगी। किसी का किसी से द्वेष न रह जायगा। सभी बंधनों से मुक्ति मिलेगी। निश्चय ही ये विचार बड़े सुन्दर हैं। यहाँ भी मनुष्य की कल्पना के लिये उतना ही विस्तृत एवं निर्बन्ध क्षेत्र है जितना रहस्य की कल्पना में। इस युग का मानव कैसा होगा, उस युग में प्रेमी-प्रेमिका की क्या स्थिति होगी, दुख-रहित उस मानवता का स्वरूप कितना भव्य होगा, निश्चय ही यह बड़ी उदात्त कल्पना है। कोई भी कल्पनाशील व्यक्ति, जो अपने मन और मस्तिष्क को रूढ़ियों से मुक्त कर सकता है, इस ओर खिंच जायगा। कदाचित् यही कारण है कि 'पल्लव' वाला कल्पनाशील कवि प्रगतिवाद की ओर मुड़ा था। उसका कथन है :—

"ऐतिहासिक विचारधारा से मैं अधिक प्रभावित इसलिए भी हुआ हूँ कि उसमें कल्पना के स्रोत को विशद और वास्तविक पथ मिलता है। छायावाद के दिशाहीन, शून्य-सूक्ष्म, आकाश में अति काल्पनिक उड़ान भरने वाली अथवा रहस्यवाद के निर्जन अदृश्य शिखर पर कालहीन विराम करने वाली कल्पना को एक हरी-भरी, ठोस, जनपूर्ण, धरती मिल जाती है।"[१]

साधारण कल्पना का कवि छोटी और हल्की कल्पनाएँ करके ही रह जाता है। उपर्युक्त विचारधारा के आधार पर कुछ सेंटिमेंटल चित्रों का निर्माण कर देना कठिन नहीं, किन्तु पंत को इससे संतोष नहीं हो सकता था। अध्ययन और मनन से वह एक नये निष्कर्ष पर पहुँचे। 'आधुनिक कवि' की भूमिका में उन्होंने लिखा है :—

"भौतिकवाद का विषय ऐतिहासिक (सापेक्ष) चेतना है, और अध्यात्म का विषय शाश्वत (निरपेक्ष) चेतना। दोनों ही एक दूसरे के अध्ययन और ग्रहण करने में सहायक होते हैं और ज्ञान के सर्वांगीण समन्वय के लिये प्रेरणा देते हैं।" 'युगवाणी' में वे कहते हैं:—

---

१. 'आधुनिक कवि' की भूमिका

रूढ़ि रीतियाँ जहाँ न हों आराधित,
श्रेणि वर्ग में मानव नहीं विभाजित।
धन-बल से हो जहाँ न जन-श्रम शोषण,
पूरित भव-जीवन के निखिल प्रयोजन।

....

संस्कृत वाणी, भाव, कर्म, संस्कृत मन,
सुन्दर हों जन-वास, वसन, सुन्दर तन।
ऐसा स्वर्ग धरा में हो समुपस्थित,
नव मानव संस्कृति किरणों से ज्योतित !

इसकी अवतारणा के लिये वे गाँधीवाद और मार्क्सवाद का समन्वय चाहते हैं :—

मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद,
सामूहिक जीवन-विकास की साम्य योजना है अविवाद !

नये युग और नये मानव की कल्पना करते हुए वे भगवान से प्रार्थना करते हैं :—

हो धरणि जनों की ; जगत स्वर्ग-जीवन का घर,
नव मानव को दो, प्रभु भव मानवता का वर।

प्रगतिवाद में नारी का अशोभनीय चित्रण

प्रगतिवादी काव्य साहित्य का यह सब से अधिक कमजोर पक्ष है। भारतीय साहित्य और विचार धारा में नारी को बड़ी पूज्य दृष्टि से देखा गया है। आज भी, जब कि भारतीय चरित्र अपनी दृढ़ता, आदर्श, और लक्ष्य खोकर पथभ्रष्ट हो चुका है, सामान्य नारी की ओर काम–भावना से देखना अक्षम्य अपराध माना जाता है। यदि कोई व्यक्ति चरित्रहीन है, तो वह कितना ही प्रकांड पंडित एवं विद्वान क्यों न हो, भारतीय जनता की वास्तविक आदर भावना का अधिकारी कभी भी नहीं हो सकता। चरित्रवान मूर्ख हास्यास्पद भले ही हो जाय, तिरस्कृत कभी भी न होगा। प्रगतिवादी काव्य के सृष्टा नवीनता की खोज में इतने व्यस्त हुए और उसके पीछे इतनी बुरी तरह से पड़े कि वे भारतीय संस्कृति के इस महान तत्त्व की व्यावहारिक और सैद्धांतिक महत्ता समझ न पाये। मार्क्स ने हमारी चेतना के श्रद्धा वाले अंश को समाप्त करके हमें पूर्णतः बुद्धिवादी बना दिया। दृष्टिकोण यथार्थवादी एवं वास्तविकतावादी हो गया। हम जीवन के भौतिक पक्ष पर अधिक ज़ोर देने लगे। फ़ायड ने अहं-भावना, काम-भावना और समाज-भावना को जन्म काल से हममें उपस्थित दिखाया। डी० एच० लारेंस ने 'लेडी चैटरलीज़ लवर' नामक उपन्यास की भूमिका में लिखा है :—

"मैं चाहता हूँ कि स्त्री और पुरुष इस योग्य हों कि यौन वृत्ति पर अच्छी तरह, पूर्णरूप से, ईमानदारी के साथ, साफ़-साफ़ सोच सकें।"

उन्होंने कहा है कि शरीर को मन के बंधन में मत बाँधो। शरीर में जो भी काम-

विकार उत्पन्न होते हैं उनकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति, परिपूर्ति, होने दो। आदम और हौवा का निरावरण प्रेम ही मनुष्य के दाम्पत्य जीवन का आदर्श होना चाहिये। प्रगतिवादी कवि आदम और हौवा के इस आदर्श के सामने लक्ष्मण का वह आदर्श भूल गये जिसकी स्थापना उन्होंने तब की थी जब किष्किन्धा में सीता के आभूषणों को पहचानने के समय यह कहा था कि वे सीता के पैरों के ही आभूषण पहचान सकते हैं क्योंकि सीता के अन्य अंगों पर उनकी दृष्टि कभी गई ही नहीं थी। परिणाम यह हुआ कि अवदमित वासनाओं के विविध चित्र हिन्दी साहित्य के सभी अंगों में प्रदर्शित किये जाने लगे। कपिलदेव सिंह ने 'प्रगतिवाद एवं यौन वृत्ति' नामक निबंध में, जो देवेन्द्रनाथ शर्मा द्वारा संपादित 'छायावाद और प्रगतिवाद' पुस्तक (१९५० ई०) में संग्रहीत है, लिखा है :—

"मनोवैज्ञानिकों ने जब से विक्षिप्त मन का विश्लेषण आरंभ किया, तब से यौन वृत्ति के कुछेक विपरीत (इनवर्टेड) तथा परिवर्तित (पर्वर्टेड) रूपों की ओर जन साधारण का ध्यान गया। इनमें स्वरति (आटो सेक्स), समरति (होमो सेक्स), आत्मपीड़न रति (मेसोचिज़्म), परपीड़न रति (सेडिज़्म) अन्य रति (बोएरिज़्म), तथा वस्तु रति (फेटिशिज़्म), आदि मुख्य हैं, जिनके विशद विवेचन की यहाँ आवश्यकता नहीं।"

पंत ने इस ओर चित्रण प्रारम्भ किया, तो गिरते-गिरते बच गये। उनका नारी चित्रण बहुत ही स्वस्थ, सुन्दर, और संयमित रहा। 'ग्राम्या' (१९४० ई०) में ऐसे बहुत-से सुन्दर चित्र मिलते हैं। कुछ देखिए :—

तन पर यौवन सुषमाशाली,
मुख पर श्रमकण, रवि की लाली,
सिर पर धर स्वर्ण शस्य डाली,
वह मेड़ों पर आती-जाती।

... ...

धनि श्याम वरण,
अति क्षिप्र चरण,
अधरों से धरे पके बाली।

. . . .

है मांस पेशियों में उसके दृढ़ कोमलता,
संयोग अवयवों में अश्लथ उसके उरोज,
कृत्रिम रति की है नहीं हृदय में आकुलता,
उद्दीप्त न करता उसे भाव कल्पित मनोज।

उनकी नारी वस्तुतः पुरुष की अर्द्धांगिनी, माता एवं जीवन के हरएक क्षेत्र में हाथ बँटाने वाली और अपने स्वतन्त्र व्यक्तितव के प्रति क्रान्ति मचाने की शक्ति रखने

वाली (ऐसे चित्रण 'स्वर्ण किरण' और स्वर्ण धूलि' में हैं) है। कहा जा चुका है कि वे गिरते-गिरते बचे हैं। तात्पर्य यह है कि उनकी तूलिका से भी एकाध चित्र ऐसे निकल गये जिन्होंने अज्ञात रूप से उच्छृंखलता को प्रोत्साहन दिया। 'ग्राम्या' में 'शरमाती झट' वाला चित्र ऐसा ही है। 'धिक रे मनुष्य, तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल, चुंबन' वाली बात को अस्वस्थ प्रकृति वाले कवि ऐसा ले उड़े कि प्रगतिवाद का नारी-चित्रण गर्हित, घृणित एवं त्याज्य हो गया है। हमारे यहाँ कहा गया है :—'मातृवत् परदारेषु'। उसी माता का ऐसा अपमान करने वाले कवियों एवं लेखकों को भारतीय जनता कभी क्षमा नहीं कर सकती। वह दंड न दे पाये, यह बात दूसरी है। बच्चन ने पहले हालावाद की खुमारी दिखाई, फिर अपनी दुख-गाथा, फिर 'सतरंगिनी', आदि में वैयक्तिक प्रेम की मानसिक अनुभूतियों के चित्र दिये किन्तु 'मिलन यामिनी' के कुछ गीतों (जैसे 'मैं प्रतिध्वनि सुन चुका ध्वनि खोजता हूँ', आदि) में निरावरण हो गये। 'अंचल' ने 'मधूलिका' और 'अपराजिता', आदि में पहले अपनी मांसल अतृप्ति का भावात्मक चित्रण ही किया था। वहाँ हृदय का आवेग था। विकलता थी। नरेन्द्र ने भी कुछ ऐसा ही किया था। नवीनता और स्वाभाविक आकर्षण के कारण कविताएँ समाज के एक छोटे से वर्ग में स्थान पा गईं। इस पृष्ठभूमि में प्रगतिवादी आये थे। ये एक कदम और आगे बढ़ गये। जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में इतने खुल्लमखुल्ला यह कदम उठता, तो सामाजिक चेतना न जाने क्या कर डालती। आरसी का 'कितना अच्छा होता वह दिन' तथा 'आओ मेरे आगे बैठो', 'अंचल' की उक्त दोनों पुस्तकों के अनेक उद्दीप्त चित्र, 'गुलाब' की 'कच्चे दूध सरीखी गोरी-गोरी नग्न भुजाएँ', रमण के 'मास्को' के उच्छृंखल वर्णन, 'अज्ञेय' के 'आह्वान', 'सावनमेघ' और 'आषाढ़स्यप्रथम दिवसे' की अनेक पंक्तियाँ, त्रिलोचन की 'गोविन्द आज तुम नहीं हो' नामक कविता, एवं प्रभाकर माचवे की 'कापालिक' शीर्षक कविता के चित्र, एवं ऐसे अनेक चित्र पुस्तकों के द्वारा ही समाज में आने पाये हैं। भारतवर्ष में ऐसे सामाजिक अपराधों के विरोध में ठोस कदम ज़रा कम उठते हैं; अन्यथा जेम्स ज्वायस और डी० एच० लारेंस की तरह ऐसी पंक्तियों के लेखक को भी न्यायालय देखने पड़ते!

प्रगतिवाद का कला-पक्ष

प्रगतिवाद का कला-पक्ष बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं रहा। उनका भाषा संबंधी दृष्टिकोण पंत की निम्नलिखित पंक्तियों से भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है :—

ज्योतित कर जन मन के जीवन का अंधकार,
तुम खोल सको मानव-उर के निःशब्द द्वार,
वाणी मेरी चाहिये तुम्हें क्या अलंकार?

प्रगतिवादी कवियों की भाषा में शब्द-चुनाव संबंधी छायावादी दृष्टिकोण बिलकुल नहीं रह गया। छायावादी कवि खड़ी बोली में व्यापक रूप से जो विशेषताएँ ला सके थे, वे ही प्रगतिवादी काव्य में मिलती हैं। संक्षेप में कहें, तो प्रगतिवादी काव्य की भाषा में

गद्यात्मकता रहती है। उसमें काव्य सुलभ सौन्दर्य या सौकर्य नहीं। बारीकी या गुंफन की सूक्ष्मता, सौन्दर्यवादी दृष्टि, प्रकृति पर मानवीय भावों का आरोप, शब्दों के लाक्षणिक वैचित्र्य एवं कल्पना के सुन्दर उदाहरण कभी-कभी प्रगतिवाद में भी मिल जाते हैं। निराला के व्यंग्य चित्रों में ये विशेषतायें प्रायः मिलेंगी। पंत की प्रगतिवादी कविताएँ अपनी पुरानी कला को एकदम नहीं छोड़ पाईं। 'अंचल', नरेन्द्र, 'अज्ञेय', आदि कवि छायावादी कवियों के उपर्युक्त गुण जाने-अनजाने अपनी प्रगतिवादी कविताओं में भी ला देते हैं। प्रगतिवादी काव्य में तीन मुख्य काव्य-शैलियाँ मिलती हैं। वर्णनात्मक, उद्‌बोधनात्मक और विचारात्मक। उद्‌बोधनात्मक कविताओं में या तो कोई कथा-प्रसंग रहता है या निम्नवर्ग के कुछ चित्र। इन चित्रों में कभी करुणा, कभी मनोबल और कभी अन्य शक्तियाँ भी पाई जाती हैं। केदारनाथ अग्रवाल की निम्नलिखित कविता ऐसी ही है :—

"कली निगाह में पली,
हिली डुली कपोल में ;
हृदय प्रदेश में खुली,
तुली हँसी की तोल में।
गरम गरम हवा चली,
अशांत रेत से भरी,
हरेक पाँखुरी जली,
कली न जी सकी——मरी।
बबूल आप ही पला,
हवा से वह न डर सका,
कठोर ज़िन्दगी चला,
न जल सका——न मर सका।"[1]

नरेन्द्र शर्मा, पंत, आदि के अनेक गीत उद्‌बोधनात्मक शैली में लिखे गये हैं। उनमें भावावेश की आकुल व्यंजना होती है। वे गीत सरल और सहज में समझने योग्य होते हैं। भाषा कभी साधारण व्यवहार वाली होती है, और कभी तत्सम प्रधान। प्रायः ये बड़े प्रभावशाली होते हैं। इनमें प्रवाह और गेयता पूरी रहती है। 'विश्वबंधु' के १९४५ ई० के विशेषांक में 'अंचल' ने नेहरू का स्वागत करते हुए लिखा था :—

असफल विद्रोही के शोणित-तर्पण-से तुम उल्का पाती,
आज तुम्हें पा कर घर-घर जल उठी बुझे दीपक की बाती।

सोहन लाल द्विवेदी की 'भैरवी' में 'किसान' शीर्षक कविता में भी ऐसी ही दीप्ति है। किसानों और मजदूरों को जगा कर क्रांति के लिये तैयार करने वाली जोशीली कविताएँ कला की इसी कोटि में आती हैं। पंत की 'युगवाणी', आदि की अनेक सुन्दर कविताएँ

१. 'हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद' से उद्धृत'

विचारात्मक शैली में आती हैं। अपने आप आ जाने वाले अलंकार, जो प्रायः सुन्दर होते हैं, प्रगतिवादी काव्य में प्रायः मिल जाते हैं। 'कोयले' और 'स्वीट पी', आदि शीर्षक कविताएँ अन्योक्ति पद्धति पर लिखी गई हैं। छंद-योजना पर कोई बंधन नहीं। पंत, 'दिनकर', नरेन्द्र, आदि अधिकतर मात्रिक छंदों में काव्य-रचना करते हैं और 'निराला', 'अज्ञेय', प्रभाकर माचवे, आदि मुक्त छंदों में। मुक्त छंदों का प्रचार अधिक हो रहा है, यद्यपि उसकी कला सदैव उच्चकोटि की ही नहीं होती।

१९४३ ई० में 'अज्ञेय' द्वारा सम्पादित एक पुस्तक 'तार सप्तक' प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक का प्रकाशन हिन्दी काव्य साहित्य में कुछ नई प्रवृत्तियों की सूचना दे रहा है। उन प्रवृत्तियों को प्रयोगशील या प्रयोगवाद का नाम दिया गया है। इन प्रवृत्तियों के पोषक, देवराज के शब्दों में, "..........काफी संगठित हैं, और उन्हें 'प्रतीक' जैसा पत्र भी प्राप्त है।"[1] यद्यपि 'अज्ञेय' ने 'तार सप्तक' की भूमिका में कहा है:—"किन्तु इससे यह परिणाम न निकालना चाहिये कि वे कविता के किसी एक स्कूल के कवि हैं या कि साहित्य जगत के किसी गुट अथवा दल के सदस्य या समर्थक हैं।" इनकी प्रवृत्तियाँ निम्न-लिखित हैं:—

प्रयोगवाद

१. उलझी हुई संवेदनाओं की अभिव्यक्ति ....इन कवियों की संवेदना के उलझे होने का प्रधान कारण यह है कि आज का मानव और उसका प्रतिनिधि, कवि, विषमताओं से भरा हुआ है। इन विषमताओं में से कुछ ये हैं:— यौन कल्पनाएँ और उनके ऊपर लगे हुए बंधन, आदर्श और जीवन की वास्तविकता में असामंजस्य, वर्ग गत चेतना, नियमों के बंधन, आदि। अतएव कवि अपना निश्चित पथ निर्धारित नहीं कर पाता। उसकी कविता इसी स्थिति की प्रतीक है।

२. अभेद्य क्षेत्रों में जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति.........इस प्रवृत्ति के अनुसार कवि मन के अवचेतन क्षेत्रों में प्रवेश करता है। जीवन और व्यक्ति के उन स्वरूपों को देखता है जिनके देखने या दिखाने को सामाजिक दृष्टि से अच्छा नहीं समझा जाता और साहित्य में अभी तक जिन विषयों को स्थान नहीं मिला है (जैसे, मूत्र सिंचित वृत्त में खड़ा गदहा या वास्तव की वीभत्सता की कसौटी में चाँदनी, आदि) उन पर कविताएँ लिखता है।

३. अभिव्यक्ति के नवीन माध्यम ....यह वस्तुतः अभेद्य क्षेत्रों में जाने वाली प्रवृत्ति का ही एक रूप है। 'तार सप्तक' पृष्ठ ५७ की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए:—"भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम संकेतों से अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों से, छोटे-बड़े टाइप से, सीधे या उल्टे अक्षरों से, लोगों

---

१. 'साहित्य चिन्ता' (१९५० ई०) में 'प्रयोगशील साहित्य' शीर्षक निबंध

और स्थानों के नामों तथा, अधूरे वाक्यों से सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।" आज का कवि "......भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल फाड़ कर उसमें नया, अधिक व्यापक, अधिक सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है ......।"

अस्तु, प्रयोगवादी कवि कविता के सभी क्षेत्रों में प्रयोग करता हुआ चलता है। वे कवि "राही नहीं, राहों के अन्वेषी हैं"। संवेदनाओं का उलझा होना इस बात का द्योतक है कि वे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचे हैं। जीवन और साहित्य की वर्त्तमान परिस्थितियों में चूंकि आज का यह कवि बेचैन है इसलिये अपनी बेचैनी को इन्हीं कविताओं के माध्यम से अभिव्यक्त करना चाहता है। समस्या का हल उसके पास नहीं है। नेमिचंद्र ने 'तार सप्तक' के २४वें पृष्ठ पर में लिखा है:—"अपना मार्ग पहचानने के लिये और फिर उसी पर बने रहने के लिये मध्यमवर्गीय प्राणी, कवि, को निरंतर बुद्धि का ही मुंह ताकना पड़ता है। शायद इसीलिये इस युग में श्रेष्ठ कविता अभी हिन्दी के लिये संभव नहीं है।" शायद इसीलिये प्रयोगवादी कवितायें काव्य की दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं हैं। इन कवियों ने प्रायः मुक्त छंद अपनाये हैं। इन कवियों की अनुभूतियाँ, और अभिव्यंजनाओं के माध्यम दुरूह और अग्राह्य हैं। उनकी अनुभूति सहज नहीं। नवीनता के सर्वग्राही मोह ने उनको हमसे अपरिचित कर दिया है। उनसे हमारा तादात्म्य नहीं हो पाता। इस संग्रह की सभी कविताएँ और उनकी प्रायः सभी पंक्तियाँ उपर्युक्त ढंग पर नहीं हैं। राम विलास शर्मा की 'चांदनी', आदि प्रभाकर माचवे की 'मेघ मल्लार', आदि, नेमिचन्द्र की 'डूबती संध्या', आदि कविताएँ अच्छी हैं किन्तु प्रधानता दुरूह एवं अकलात्मक कविताओं की ही है। कुछ कविताएँ तो ऐसी हैं जो कविता के संबंध में बड़ी असुन्दर एवं अस्वस्थ धारणाओं की सृष्टि कराती हैं; जैसे :—

> "कविता क्या है ? कहते हैं जीवन का दर्शन है—आलोचन,
> (वह कूड़ा जो ढँक देता है बचे-खुचे पत्रों में के स्थल)।
> कविता क्या है ? स्वप्न श्वास है उन्मन कोमल,
> (जो न समझ में आता कवि के भी ऐसा है वह मूरखपन)।
> कविता क्या है ? आदिम कवि की दृग-झारी से बरसा वारी—
> (वे पंक्तियाँ जो कि गद्य हैं कहला सकती नहीं बिचारी !")

प्रयोगवाद संभवतः व्यापक प्रगतिवाद के अन्दर आयेगा। अभिव्यंजना की मानसिक प्रक्रिया संबंधी कुछ विशेषताओं को छोड़ कर मूलतः उसमें प्रगतिवाद की ही प्रवृतिया हैं। वैसे तो किसी प्रधान धारा के किन्हीं दो प्रधान कवियों की कृतियों में भी कुछ न कुछ उनकी अपनी विशेषताएँ होती ही हैं। प्रयोगवाद के विषय में राय देने की जल्दी

१. प्रभाकर माचवे

या उससे घबड़ाने की आवश्यकता नहीं। प्रयोगवादी साहित्य अधिक है भी नहीं। समय और समाज की कसौटी पर विश्वास करना है। कूड़ा बह जायगा; तत्त्व की वस्तुएँ रह जायँगी। क्षीर ग्रहण करने वाली प्रवृत्ति की प्रधानता हो, तो कोई वाद-विवाद बेकार सिद्ध नहीं हो सकता।

प्रगतिवाद या प्रगतिशील

क्या प्रगतिवाद और प्रगतिशील दो पृथक काव्यधाराएँ हैं? नलिन विलोचन शर्मा ने 'छायावाद और प्रगतिवाद' पुस्तक के 'प्रगतिवाद की मान्यताएँ' शीर्षक लेख में कहा है :—

"प्रगतिवाद और प्रगतिशीलता के अंतर को अभी तक बहुत से पाठक-आलोचक ठीक-ठीक नहीं समझ पाते। 'साहित्यिक उपलब्धि' की कसौटी पर खरा साबित होने वाला साहित्य मात्र प्रगतिशील माना जा सकता है, पर प्रगतिवादी साहित्य तो वही है जिसे हिन्दी के साम्यवादी लेखकों का गिरोह इस नाम से पुकारने को तैयार हो। प्रगतिवाद सिद्धांत, है; प्रगतिशीलता, मूल्य! ....जो लोग साम्यवादी न होने पर भी प्रगति शब्द से मोह रखते हैं उन्हें प्रगतिशील से ही संतोष करना चाहिए क्योंकि तात्त्विक आधार हो या नहीं, साम्यवादियों ने नियमित प्रयोग के द्वारा प्रगतिवाद शब्द पर अपना अधिकार स्थापित कर ही लिया है!"

यदि हठ और पार्थक्य की भावना छोड़ी जा सके, तो अच्छा है। चूंकि नियमित प्रयोग के द्वारा प्रगतिवाद शब्द साम्यवादियों द्वारा अपनाया जा रहा है अतएव हम इसका प्रयोग न करें, यह स्वस्थ दृष्टि नहीं। साम्यवादियों ने ही प्रयोग किया सही, किन्तु यह प्रयोग हिन्दी की एक काव्य धारा के ही लिये किया है। इस युग (१९३७ ई० से १९४७ ई०) की हिन्दी कविता और आगे लिखी जाने वाली हिन्दी कविता में प्रगतिवाद की बहुत-सी विशेषताएँ मिलती हैं और मिलेंगी। जीवन का विकास जिस दिशा में हो रहा है उसको देखते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उसका प्रतिबिंब जिस कविता पर पड़ेगा उसमें से प्रगतिवाद के तत्त्व हटाये नहीं जा सकते। हमारे प्रगतिवादी काव्य में कुछ दोष हैं। उनमें से जो दृष्टिकोण के एकांगी एवं असंतुलित दृष्टिकोण, आवेश-जोश, आदि के कारण हैं, और हटाये जा सकते हैं उन्हें हमारे समाज का वातावरण स्वयं हटवा देगा। दस वर्षों का समय बहुत नहीं होता। प्रगतिवाद में अभी और विकास होगा, अभी और परिवर्तन होंगे, अभी उसमें राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति आयेगी, इत्यादि। तब प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य में ऐसा कोई विशेष अन्तर न रह जायगा जिससे दोनों को पृथक धाराओं के रूप में स्वीकार किया जाय। मेरा अनुमान तो यह है कि कालान्तर में छायावाद और प्रगतिवाद की काव्य धाराएँ एवं बीसवीं शताब्दी के इस पूर्वार्द्ध का, या संपूर्ण बीसवीं शताब्दी का हिन्दी काव्य किसी एक नाम के अन्दर आयेगा। संभवतः यह नाम गीति काल होगा। भक्तिकाल का नामकरण विषय के आधार

पर हुआ था। 'रीतिकाल' के 'रीति' के पीछे शैली का विचार था। 'गीति काल' (अर्थात् आधुनिक काव्य काल का काल और विषय की दृष्टि से किया गया नामकरण) में 'गीति' के पीछे काव्य के स्वरूप का विचार है। राष्ट्रवाद, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, हालावाद, आदि अनेक वाद उसी के अन्दर आयेंगे। ये सब उसी वाद विशेष की छोटी-छोटी प्रवृत्तियों के रूप में होंगे। वह दूर की बात है, किन्तु अभी भी छोटी-मोटी बातों के आधार पर एक नवीन वाद की कल्पना उचित नहीं। फिर, 'प्रगतिशील' की अपेक्षा 'प्रगतिवाद' 'छायावाद' के अधिक अनुरूप है। दृष्टि का विस्तार कर लें, एक ही सीमा के भीतर न सोचते रह कर यदि लोग और बढ़ कर सोचें, थोड़ा-सा भाव-परिवर्तन स्वीकार करने को तैयार हों, तो राष्ट्रीय, वैयक्तिक, समाज-सुधार संबंधी एवं समाजवादी विचारधारा की समस्त कवितायें प्रगतिवाद के अन्दर आ सकती हैं। प्रगतिवाद के अर्थ को व्यापकता देनी होगी। उपर्युक्त सभी विचार मध्ययुग के विचारों के एक कदम आगे हैं। विचारों की प्रगति के रूप में हैं। छायावाद शैली मात्र है, जबकि प्रगतिवाद विचारधारा है। शैली की अपेक्षा विचार को अधिक महत्त्व देना अनुचित न होगा।

विषय और उपादान

मानव

आधुनिक हिन्दी काव्य का प्रधान विषय मानव है। वीर गाथा काल में राजाओं एवं सूरमाओं के बड़े-बड़े कारनामों के अत्युक्ति पूर्ण वर्णन मिलते हैं।

पृष्ठभूमि

भक्ति काल में प्रधानतया ईश्वर, धर्म और दर्शन काव्य के विषय थे। मनुष्य का जीवन गौण था। अवतारवाद मानव की ईश्वर के ऊपर विजय थी। संसार में आकर कोई भी मानव को छोड़ नहीं सकता। ईश्वर को भी नर-लीला करनी पड़ी। किन्तु ईश्वर को नर का जो रूप मिला उसमें ईश्वरत्त्व—असाधारण शक्ति—मिला हुआ था। रीतिकाल में आकर यह तत्त्व अधिक हो गया। ईश्वर की आड़ में मानवीय भावों एवं अनुभावों की अभिव्यंजना हुई। वे अनुभाव जीवन के व्यापक क्षेत्र के नहीं थे। शृंगारिक प्रवृत्तियों का आधिक्य था। कवि-परंपराओं का भी सहारा लिया जाता था। अत्युक्तियाँ भी थीं। प्रकृति उद्दीपन मात्र हो कर रह गई थी। आधुनिक युग में वास्तविकता और यथार्थवाद का प्राधान्य हुआ। दृष्टिकोण में बौद्धिकता आई। महावीर प्रसाद द्विवेदी, भारतेंदु हरिश्चंद्र, आदि ने मानव के सामान्य रूप को भी अपनाया। असामान्य को छोड़ा नहीं जा सका, किन्तु सामान्य को सुन्दर स्थान मिल गया। नवीनतम हिन्दी काव्य में भी यही प्रवृत्ति आगे बढ़ी।

प्रधानतया मनुष्य के दो पक्ष होते हैं:—पहला व्यक्तिगत, और दूसरा सामाजिक। व्यक्तिगत पक्ष में प्रधानता उसके हृदय के उनभावों की रहती है जिनका सम्बन्ध

मानव-संबंध के विभिन्न रूप

मूलतः उसके अपने जीवन से होता है। उसका अपना जीवन तब तक पूर्ण नहीं माना जाता जब तक उसका कोई जीवन-साथी, उसकी पत्नी या प्रेमिका, न मिल जाय। पूर्ण हो जाने पर उसके व्यक्तिगत जीवन के भी दो पक्ष हो जाते हैं। पहला पक्ष वह होता है जिसका सम्बन्ध उसकी पत्नी से होता है। यह सम्बन्ध भी दो प्रकार का होता है। एक का आधार रति-भावना है और दूसरे का, जीवित रहने के लिये आवश्यक पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाली भावना। रति-भावना के मूल

दाम्पत्य जीवन या रति-भावना

में रागात्मक आकर्षण होता है। इसमें शृंगारिकता की प्रधानता होती है। 'अंचल,' नरेन्द्र, आदि कवियों में इसके अनेक पक्ष मिलते हैं। पत्नी या प्रेमिका नहीं है, मगर उसकी याद आ रही है और मन विकल है, यह एक पक्ष हुआ। मन इतना विकल है कि सारे संसार में और समस्त प्रकृति में अपनी ही विकलता दिखाई पड़ती है, यह एक दूसरा पक्ष हुआ। ऐसे ही अनेक पक्ष भी हो सकते हैं।

पति-पत्नी के इस सम्बन्ध में संसार के सभी सम्बन्धों से अधिक घनत्त्व होता है। भगवान का भक्त से जो सम्बन्ध होता है, उसमें इससे भी अधिक तीव्र अनुभूति

शृंगार और अध्यात्म

होती है। उसकी अभिव्यक्ति दाम्पत्य प्रेम से ही प्रायः की जाती है। छायावादी कवियों ने अपने और अपने ब्रह्म के अन्दर ऐसा ही सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। इसकी विशद और व्यापक व्यंजना महादेवी, पंत, प्रसाद, निराला, और रामकुमार वर्मा, आदि ने की है। इस प्रकार मानव के जीवन का यह पक्ष इस रूप में भी आधुनिक काव्य में मिलता है। पति-पत्नी के सामान्य जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में कवियों को काव्य सुलभ सामग्री नहीं मिली।

पारिवारिक चित्र

व्यक्तिगत जीवन का थोड़ा-सा विस्तृत रूप हमें परिवार में मिलता है। वहाँ हमारे भाई, भाभी, बहन, माँ, बाप, आदि अनेक व्यक्ति होते हैं। प्रायः कवियों को इस क्षेत्र में काव्योपयुक्त सामग्री कम मिली है। आधुनिक काव्य साहित्य में हमें कुछ चित्र ऐसे भी मिल जाते हैं:—

"किया शुभ तिलक वहिन ने आज!
उषा ने अन्तरिक्ष के शीश,
सजाया नव किरणों का ताज!
मुदित हैं सब घर के बालक,
मुखर हैं नभ के सभी विहंग,

तुष्ट है आज वद्ध दिक्काल,
प्रफुल्लित सहृदय पुष्प-समाज !"[1]
"माँ जाग उठा शिशु तेरा !
कोमल हाथों की मृदु लाली
आँखों के काजल से काली
करके, देख रहा विस्मृत हो
सुन्दर स्वच्छ सवेरा !"[2]

ये चित्र अधिक नहीं हैं।

मानव का सामाजिक पक्ष

मनुष्य जीवन का दूसरा पक्ष समाज में दिखाई पड़ता है। मनुष्य के जीवन और उसकी समस्याओं का सामूहिक चित्र उपस्थित करता है। द्विवेदी युग में समाज सुधार संबंधी अनेक कवितायें लिखी गई थीं। छायावादी दृष्टिकोण ने कवियों की प्रवृत्ति को सूक्ष्म की ओर मोड़ दिया था। प्रगतिवादी विचारधारा उन्हें फिर जीवन की ओर लाई। इस बार वह जीवन संबंधी मार्क्सवादी दृष्टिकोण ले कर आई है। कवि सामान्य स्थिति के विपन्न, दलित, एवं कीट-तुल्य मानवों के प्रति सहानुभूति ले कर आये। उन्होंने किसानों और मजदूरों के जीवन के ओजपूर्ण एवं करुण चित्र खींचे। उनको उनकी दयनीय स्थिति दिखलाने के प्रयत्न किये और चाहा कि वे अपनी स्थिति सुधारने के लिये क्रांति करने को तैयार हो सकें। प्रगतिवाद पर विचार करते समय इसके उदाहरण दिये जा चुके हैं। उनकी तुलना करते समय कभी-कभी धनी आदमियों के जीवन के चित्रों की भी झलक दिखा दी जाती है।

योग्य मानव

हमारे काव्य साहित्य में योग्य मानव के भी चित्र मिल जाते हैं। इन चित्रों में प्रायः उनकी विशेषतायें और उनके असाधारण कार्यों के वर्णन कविता में मिलते हैं। इन वर्णनों में मूर्त्तिमत्ता कम और भावात्मकता अधिक रहती है। कल्पना कभी-कभी औचित्य को पार कर अति-रंजित चित्र भी उपस्थित कर देती है। ऐसे स्थलों पर बुद्धि की अपेक्षा श्रद्धा ही अधिक बलवती होती है। निराला ने 'अणिमा' (१९४३ ई०) में संत कवि रविदास, गौतम बुद्ध, प्रसाद, रामचन्द्र शुक्ल, विजयलक्ष्मी पंडित, महादेवी वर्मा, पर कवितायें लिखी हैं। स्वामी प्रेमानन्द जी महाराज पर एक आख्यानक गीति की ही रचना हो गई।

ईश्वर का डर या उसका प्रभाव हमारी आस्तिक चेतना पर इतना अधिक है कि हम उसे छोड़ नहीं पाते। मैथिलीशरण गुप्त 'पंचवटी' में लक्ष्मण और सीता

---

१. देवराज : 'भैया दूज' (१९३९ ई०)
२. देवराज: 'प्रबोधन' (१९३५ ई०)

से सामान्य देवर–भाभियों वाले मज़ाक कराते हैं, किन्तु उन्हीं के संबंधी राम के ईश्वर के रूप को वे नहीं भूल सके। वे पृथ्वी पर स्वर्ग उतारने के लिए आये हैं, किन्तु समाज-सुधारक या राजनीतिज्ञ होकर भी हैं ईश्वर ही। इसी प्रकार द्वारका प्रसाद मिश्र ने अपने 'कृष्णायन' (१९४५ ई०) में कृष्ण को ईश्वर के रूप में ही माना है। राम और कृष्ण को पूर्ववत् ईश्वर मान कर भी बहुत सी कवितायें लिखी जा रही हैं। ईश्वर के संबंध में 'स्वर्ण धूलि' (१९४७ ई०) की 'मृत्युंजय' शीर्षक कविता ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर लिखी गई है। यहाँ ईश्वर एक महापुरूष हो गया है। महापुरूष मरा करते हैं। ईश्वर के लिये भी कवि कहता है:—

ईश्वर और असाधारण मानव

ईश्वर को मरने दो हे, मरने दो,
वह फिर जी उठेगा, ईश्वर को मरने दो!
वह क्षण-क्षण मरता, जी उठता,
ईश्वर को नित नव स्वरूप धरने दो!
शत रूपों में, शत नामों में, शत देशों में,
शत-सहस्त्र बल होकर उसे सृजन करने दो!
क्षण अनुभव के विजय, पराजय, जन्म-मरण
औ' हानि-लाभ की लहरों में उसको तरने दो!
ईश्वर को मरने दो हे, फिर-फिर मरने दो!
दूर नहीं वह तन से, मन से या जीवन से,
अथवा रे जन गण से!
द्वेष-कलह-संग्राम बीच वह
अंधकार से औ' प्रकाश से शक्ति खींच वह,
पलता, बढ़ता, विकसित होता अहरह
अपने दिव्य-नियम से!

इस प्रकार मानव के असाधारण रूप को भी हम नहीं छोड़ सके। सोहन लाल द्विवेदी ने 'कुणाल' (१९४२ ई०) में कुणाल के चरित्र चित्रण द्वारा मानव के असाधारण रूप को ही प्रतिष्टित किया है। गुरूभक्त सिंह के 'नूरजाहाँ' (१९३५ ई०), श्यामनारायण पांडेय के 'हल्दी घाटी' (१९४१ ई०), आदि में मानव के असाधारण कार्यों के ही वर्णन हैं।

संसार में जितने मनुष्य हैं उन सब को ध्यान में रख कर—तात्पर्य यह है कि कि सामान्य मानवता की दृष्टि से भी—हिन्दी में कवितायें की गई हैं। जब किसानों और मजदूरों से धनी वर्ग के व्यक्तियों के विरुद्ध यों क्रान्ति करने के लिये कहा जाता है तब केवल हिन्दी प्रदेश या भारतवर्ष ही के किसान-मज़दूर लक्ष्य में नहीं रहते, बल्कि समस्त संसार के मानव और उनके

सामान्य मानवता

कल्याण की भावना सामने रहती है। जब पंत नवीन मानव-संस्कृति की कल्पना करते हैं तब वह संस्कृति भारत के लिये भी होती है और अन्य देशों के लिये भी। नारी की पराधीनता उनकी दृष्टि में भारत की ही चीज नहीं, समस्त विश्व की है। स्थानीयता का कुछ प्रभाव मूर्त्त चित्रण में पड़ सकता है, किन्तु लक्ष्य में सार्वभौमिकता एवं सार्वजनीनता रहती है। 'आधुनिक कवि' की चौथी पुस्तक (१९४३ ई०) में गोपाल शरण सिंह लिखते हैं:—

> सुख शांतिमय संसार हो।
> पशु-शक्ति का न प्रयोग हो,
> सद्भाव का उपयोग हो,
> सब में सदा सहयोग हो,
> निज चित्त पर, निज वित्त पर, सब का सदा अधिकार हो।
> व्यक्तित्त्व का सम्मान हो,
> निज देश का अभिमान हो,
> पर विश्व-हित का ध्यान हो,
> निज स्वार्थ में ही भूल कर कोई नहीं अनुदार हो।
> सब का सदा उत्कर्ष हो,
> तो भी न कुछ संघर्ष हो,
> आराध्य बस आदर्श हो,
> हो वर विवेक विचार मन में और उर में प्यार हो।

नारी-पुरुष के पृथक्-पृथक् मनोविज्ञान

सारा मानव-समाज प्रधानतया दो वर्गों में विभाजित है। एक है नारी वर्ग और दूसरा है पुरुष वर्ग। दोनों को मिलाने वाला तत्त्व है उनका एक दूसरे के प्रति आकर्षण, जिसका शारीरिक स्तर से ऊंचे उठने पर एक दूसरे के प्रति अशेष तादात्मय के कारण आध्यात्मिक स्वरूप कल्पित कर लिया गया है। यह आकर्षण पुरुष की ओर से भी होता है और नारी की ओर से भी। दोनों आकर्षणों का मनोवैज्ञानिक चित्रण 'अज्ञेय' ने 'चिन्ता' (१९४२ ई०) में किया है। वहाँ इन दोनों के अपने-अपने दृष्टिकोणों से दर्शन, आकर्षण, प्रेम, मिलन, वियोग, एवं फिर से होने वाले आकर्षण से संबंध रखने वाली अनेक मनोवृत्तियों का स्वाभाविक चित्रण किया गया है। छायावादी चित्रणों में आध्यात्मिकता, भावात्मकता एवं आकर्षक, रंगीन चित्रात्मकता थी। यहाँ विशुद्ध मनोवैज्ञानिकता है।

नारी

प्राचीन हिन्दी साहित्य एवं रीतिकालीन हिन्दी साहित्य में नारी का चित्रण बहुत उदात्त नहीं रहा। कहीं उसके अंग-अंग में विष एवं नरक की कल्पना की गई, कहीं उसको शूद्र, गंवार, ढोल और पशु के वर्ग में रक्खा गया, कहीं उसको चपलता, माया, मोह, आदि आठ अवगुणों से सदैव घिरा हुआ पाया गया

है और कहीं माया-स्वरूपिणी समझ कर तिरस्कार भी किया गया है। अविश्वास की हद हो गई थी कि 'असी बरस की नारि को 'पलटू' ना पतियाय'। रीतिकाल में भी उसके स्वतंत्र एवं स्वस्थ व्यक्तित्व का चित्रण नहीं मिलता। देव ने अनेक प्रदेश की नारियों को देखा अवश्य किन्तु जिस दृष्टि से देखा उससे न देखते तभी अच्छा था।

आधुनिक हिन्दी काव्य में उसके अच्छे चित्रण मिलते हैं। गांधी ने देश की स्वतंत्रता के साथ-साथ नारी-स्वतंत्रता की भी आवाज़ उठाई थी। नारियों ने स्वतंत्रता-संग्राम में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया। अयोध्या सिंह उपाध्याय ने 'रसकलश' में जाति-प्रेमिका और देश-प्रेमिका के रूप में उसके दर्शन किये हैं। इन चित्रों में प्राण नहीं, नाम भर हैं। मैथिली शरण गुप्त ने करुणा, स्नेह, त्याग और बलिदान के उपकरणों से उसका निर्माण किया। छायावाद ने नारी की बड़ी भव्य कल्पना की। उसने नारी में कोमलता, पवित्रता, शृंगार और सौंदर्य देखा। वहाँ भी नारी का चित्रण पूर्ण नहीं है। प्रसाद की देवसेना को तरह वह यहाँ भी कल्पना की ही वस्तु हो कर रह गई। वह जीवन की यथार्थ एवं स्वस्थ नारी नहीं है। वह ऐसी है जिसकी हम कल्पना भले ही कर लें, किन्तु उसका हाथ नहीं पकड़ सकते। 'आंसू' में प्रसाद ने शृंगारमयी के अनेक रूप—निष्ठुरता का, सुन्दरी का, प्रेमिका का, आदि—देखे हैं। 'कामायनी' में इड़ा और श्रद्धा के रूप में वह प्रतीकों के रूप में आई है। प्रसाद ने उसका चित्रण मनोविज्ञान और सौंदर्यमय सुन्दर प्रतीकों के द्वारा किया है। श्रद्धा का यह प्रसिद्ध चित्र देखिए :—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ घन बीच गुलाबी रंग।

इन कवियों ने प्रकृति में भी नारी के रूप देखे। निराला की 'जुही की कली' प्रसिद्ध है। महादेवी की 'मेघसुंदरी' के बाल देखिये :—

रूपसि ! तेरा घन केश-पाश !
कोमल-कोमल श्यामल-श्यामल
लहराता सुरभित केश पाश !

छायावादी पंत के द्वारा नारी को समर्पित सर्वश्रेष्ठ श्रद्धा का स्वरूप इन पंक्तियों म दखिए :—

तुम्हारी सेवा में अनजान
हृदय है मेरा अन्तर्धान
देवी ! माँ ! सहचरि ! प्राण !

या

तुम्हारे छूने में था प्राण !
संग में पावन गंगा-स्नान !
तुम्हारी वाणी में कल्याणि !
त्रिवेणी की लहरों का गान !

उन्होंने फिर नारी को निर्गुण ब्रह्म की तरह चित्रित कर दिया :—

"अकथ, अलौकिक, अमर, अगोचर,
भावों की आधार ।
गूढ़, निरर्थ, असंभव, अस्फुट,
भेदों की शृंगार !
मानिनि, कुहकुनि, छल, विभ्रममयि,
चित्र-विचित्र अपार !"[१]

पुरुष इस नारी के सामने नत मस्तक हो गया :—

"आज ले लो चेतना का यह समर्पण दान ।
विश्व-रानी, सुंदरी, नारी, जगत का मान !"[२]

और अन्त में प्रार्थना की कि :—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास-रजत-नग-पदतल में
पीयूष स्रोत-सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में ![२]

प्रसाद ने नारी को इतने ऊँचे उठा दिया था कि पथ और ज्ञान भ्रष्ट मनु को श्रद्धा जीवन के रहस्य उसी भाँति समझाती है जैसे कोई विदुषी अबोध बालक को ज्ञान-दान दे। अबोध पुरुष उत्सुकता से 'क' का अर्थ पूछता है। नारी कह देती है 'कौआ' और अभागा पुरुष संतुष्ट हो जाता है। नारी पराजित होकर भी विजयिनी है। कोमलता और ममता उसे झुकने को विवश कर देती है। इस स्थल पर उसका झुकना उसे महान बना देता है। १९३८ ई० में गोपाल शरण सिंह ने 'मानवी' प्रकाशित कराई। इसमें उन्होंने भारतीय नारी के कई रूप चित्रित किये। इन चित्रों में मातृत्व और पत्नीत्त्व के कई चित्र हैं। ऐतिहासिक नारियों में सीता, शकुंतला, राधा और अनारकली पर कविताएं लिखी गई हैं। सामाजिक दृष्टि से वारांगना, अन्धी भिखारिन, देवदासी, विधवा, आदि के चित्र हैं। इन चित्रों में रेखायें तो अधिक नहीं उभरी हैं किन्तु भावनात्मकता और कवि का अपना दृष्टि-कोण सराहनीय है। करुणा की प्रधानता है। पुस्तक का सारतत्त्व यह है :—

---

१. 'अप्सरा'
२. प्रसाद

है स्वामिनी जगत के उर की, प्रेम राज्य की रानी,
युग-युग के अगणित क्लेशों की तू है करुण कहानी।

इसमें खटकने वाली बात इतनी ही है कि कवि ने कौमार्य के चित्र बिल्कुल नहीं दिये।

भारत का महान, त्यागमयी, श्रद्धास्पद नारी का घृणिततम चित्रण असंतुलित दृष्टि वाले पथभ्रष्ट कुछ नवयुवक कवियों ने किया है। इन चित्रों में उसके वे रूप हैं जिनको देखने से (भारतीय विचारधारा के अनुसार) पाप लगता है। यह प्रवृत्ति न क्रांति की द्योतक है न किसी प्रकार की स्वाधीनता की। यह उच्छृंखलता है। महादेवी वर्मा ने 'सामयिक समस्या' नामक निबंध में लिखा है कि 'जीवन के नूतन निर्माण के समय ऐसी अस्वस्थ मानसिक स्थिति चिन्ताजनक है। इसे भारतीय साधक ही नहीं, रूसी क्रांति का सूत्रधार और नवीन रूस का निर्माता लेनिन भी मानता है"

इसके बाद यह लेनिन के वाक्य अंग्रेजी में उद्धृत करके उसका हिन्दी अनुवाद यों देती हैं:—

"असंयम से स्फीतकाय वासना का वर्तमान प्रसार जीवन को शक्ति और आनन्द नहीं देता, किन्तु छीन लेता है। क्रांति के युग में यह बुरा है, बहुत ही बुरा . . . . आत्मनिग्रह और आत्मसंयम दासता नहीं है, ... मैं नई पीढ़ी के भविष्य के लिये विषेश चिंतित हूँ।"[1]

'ग्राम्या', 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूल' में पंत ने नारी के कुछ उत्कृष्टतम चित्र दिये हैं। इन चित्रों की विशेषता यह है कि इनमें नारी को उस संगिनी का रूप मिला है जो अपने स्वतंत्र व्यक्तित्त्व और स्वस्थ जीवन के लिए हमसे संघर्ष करने से लिये भी तैयार है और जीवन की कठोरतम परिस्थितियों में भी स्वस्थ, सशक्त और साहसशील होकर बराबर कदम उठाने के लिए भी। 'ग्राम्या' में गाँवों की औरतों के अच्छे-अच्छे चित्र दिये गये हैं। मार्क्सवादी दृष्टिकोण ने नारी की स्वाधीनता के प्रश्न को यों उपस्थित किया है:—

क्षुधा-काम-वश गत युग ने
पशु-बल से कर जनशासित
जीवन के उपकरण सदृश
नारी भी कर ली अधिकृत

इसलिये उसने प्रार्थना की कि:—

मुक्त करो जीवन-संगिनी को
जननि देवि को आदृत,
जग-जीवन में मानव के संग
हो मानवी प्रतिष्ठित।

---

१. 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य'

'स्वर्ण किरण' (१९४७ ई०) में कवि ने नारी की अपनी शक्ति को देखा। उसकी वाणी बदल गई। यह ध्यान देने की बात है कि पहले कवि पुरुष से नारी की मुक्ति की प्रार्थना करता था। अब 'मानसी' रूपक में उसने कहा है :—

मैं आयी फिर प्रियतम आई !
तुम क्या नर थे, मैं क्या नारी,
वधू अधीना, पति अधिकारी,
तुमने मेरी फूल-देह पर
तप्त लालसा-सेज सजाई।
मैं मानवी आज जन-धात्री
मानव-सहचरि जीवन-छात्री
भीत न होओ, प्रिय, अब नारी
लेती जागृति की अँगड़ाई !

इस प्रकार पंत का नारी संबंधी दृष्टिकोण अब वास्तविकता के बहुत समीप आ गया है और वह यहाँ से किसी सुदूर भविष्य की स्वतंत्र और स्वस्थ नारी के दर्शन कर रहा है।

प्रकृति

आधुनिक काल के हिन्दी कवियों ने प्रकृति का चित्रण कई प्रकार से किया है। पहले प्रकार के चित्रण में प्रकृति के अपने स्वरूप का चित्रण किया जाता है। कवि

प्रकृति का वास्तविक चित्र

प्रकृति को जैसा पाता है, हू-बहू वैसा ही चित्रित कर देता है। उसमें अपनी भावनाओं का आरोप बिल्कुल नहीं करता। मैथिली शरण गुप्त के 'साकेत' (१९३२ ई०) में ऐसे चित्र बहुत हैं। वनवासिनी सीता प्रकृति के प्रांगण में पहुँच कर जिस सुख और संतोष का अनुभव करती है वह 'मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया' गीत की पंक्तियों से स्पष्ट है। ये पंक्तियाँ प्रकृति के सुन्दर चित्र उपस्थित करती हैं:—

निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन-भाया।

क्या सुन्दर लता वितान तना है मेरा,
पुंजाकृति गुंजन कुंज घना है मेरा,
जल निर्मल, पवन पराग सना है मेरा,
गढ़ चित्रकूट दृढ़ दिव्य बना है मेरा,
प्रहरी निर्झर, परिखा प्रवाह की काया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन-भाया।
फल फूलों से हैं लदी डालियाँ मेरी,

वे हरी पत्तलें भरी थालियाँ मेरी,
मुनि बालायें हैं यहाँ आलियाँ मेरी,
तटिनी की लहरें और तालियाँ मेरी,
क्रीड़ा-सामग्री बनी स्वयं निज छाया,
मेरा कुटिया में राजभवन मन-भाया।

. . . .

प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण आधुनिक युग में कम हुआ है। यह द्विवेदी युग की विभूति थी। द्विवेदी युग के कवियों और द्विवेदी युग से प्रभावित आधुनिक युग के कुछ कवियों में यह प्रवृत्ति मिलती है। अन्य कवियों का दृष्टिकोण बदल गया। छायावाद एक अन्य दृष्टिकोण लेकर आया। उसने प्रकृति का मानवीयकरण किया। उसमें प्राण-प्रतिष्ठा की। उसकी गति-गति में चेतना देखी :—

चेतनायुक्त प्रकृति

अभी गिरा रवि, ताम्र कलश-सा,
गंगा के उस पार
क्लान्त पान्थ, जिह्वा विलोल
जल में रक्ताभ-प्रसार![1]
रजनी गन्धा मुस्काने लगी!
उपवन के पश्चिम कोने से
एक मस्त-सी खुशबू आने लगी।
पूरब में निकली चन्द्रकला,
कलियों का घूंघट इधर खुला
किरणावलि धीरे आ उनका
लो दूध से गात धुलाने लगी।[2]

निरुद्देश्यता में कोई आनन्द नहीं। प्रकृति का नियम है। हवा चलती है, तो पत्ते हिलते हैं। किन्तु पत्तों के हिलने का कारण यदि इतना ही है तो कवि को उसमें कोई आनन्द न मिलेगा। अतएव उसने प्रकृति में चेतना देखी।

मानवीयकरण मानव को अमानवीय चेतना से कोई सरोकार नहीं। अतएव प्रकृति में प्राण-प्रतिष्ठा करने के बाद उसने उसे मानवीयता दे दी। उसमें मनुष्य के भाव, अनुभाव, आदि सब दिखाई पड़ने लगे। संध्या का चित्र खींचते हुए निराला ने 'परिमल' (१९३०ई०) में लिखा है:

दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या-सुन्दरी परी-सी

---

१. पन्त
२. देवराजः 'जीवन-रश्मि' (१९३९ ई०)

धीरे धीरे धीरे
तिमिरांचल में चंचलता का कहीं नहीं आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर
किन्तु जरा गंभीर—नहीं है उसमें हास-विलास
हँसता है तो केवल तारक एक
गुंथा हुआ उन घुँघराले काले-काले बालों से
अलसता की-सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली,
सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली।

'जुही की कली' में मानवीय श्रृंगार का आरोप किया गया है। 'स्वयंवर' में प्रकृति का एक मनोमुग्धकारी चित्र खींचा गया है :—

"एक बीते के बराबर
यह हरा ठिगना चना
बाँधे मुरैठा शीश पर—
छोटे गुलाबी फूल का,
सज कर खड़ा है।
पास ही मिल कर उगी है,
बीच में, अलसी हठीली,
देह की पतली, कमर की है लचीली,
नील फूले फूल को सिर पर चढ़ा कर
कह रही है,
जो छुए यह,
दूं हृदय का दान उसको !
और,
सरसों की न पूछो !
हो गई सबसे सयानी;
हाथ पीले कर लिये हैं;
ब्याह मंडप में पधारी !
फाग गाता मास फागुन
आ गया हो पास जैसे !
देखता हूँ मैं, स्वयंवर हो रहा है।"[१]

आधुनिक हिन्दी काव्य में इस तरह के चित्र बिखरे पड़े हैं।

---

१. केदारनाथ अग्रवाल

छायावादी कवियों ने प्रकृति को मानव से भी ऊपर उठाया। उन्होंने उसमें विश्वात्मा के दर्शन किये। उसमें प्रिय के संकेत पाये। वह आत्मा और परमात्मा के बीच की कड़ी हो गई। पंत का 'मौन निमंत्रण' ऐसी ही कविता है। निराला ने प्रकृति के अंगों में ज्ञान एवं उनके माध्यम से आत्मदर्शन पाया है। महादेवी ने उसके विभिन्न अवयवों में प्रिय के दर्शन एवं उसके संकेत पाये हैं :—

आत्मा और परमात्मा के बीच की कड़ी

मुस्काता संकेत भरा नभ
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं!

रामकुमार वर्मा ने कहा है :—

रजनी के विस्तृत नभ को जब मैं दृग में भर लेता,
एक-एक तारे को कितने भाव-युक्त कर देता!
उसी समय खद्योत एक आता वातायन द्वारा,
मै क्या समझूं, मुझे मिला उज्ज्वल संकेत तुम्हारा!
प्रियतम! मेरी स-तम निशा ही को
शशि-किरण बनाओ![1]

प्रतीक रूप में भी प्रकृति का चित्रण किया गया है। यहाँ चित्रण तो प्रकृति का ही होता है, किन्तु स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से कुछ ऐसी बातें आ जाती हैं, या कहने का ढंग कुछ ऐसा होता है कि कविता का अभिधार्थ व्यंग्यार्थ में परिवर्तित हो जाता है। नरेंद्र की 'पलाश वन' (१९४० ई०) की 'पलाश' कविता देखिए :—

प्रतीक चित्रण

"पतझर की सूखी शाखों में लग गई आग, शोले दहके!
चिनगी सी कलियाँ खिलीं और हर फुनगी लाल फूल लहके!
सूखी थीं नसें, बहा उनमें फिर बूंद-बूंद कर नया खून,
भर नया उजाला डालों में खिल उठे नये जीवन-प्रसून!
अब हुई सुबह, चमकी कलँगी, दमके मखमली लाल शोले!
फूले टेसू—बस इतना ही समझे पर देहाती भोले!
लो, डाल-डाल से उठी लपट! लो डाल-डाल फूले पलाश!
यह है बसंत की आग, लगा दे आग जिसे छू ले पलाश!
लग गई आग; वन में पलाश, नभ में पलाश, भू पर पलाश!
लो, चली फाग; हो गई हवा भी रंग भरी-छू कर पलाश!
आते यों, आयेंगे फिर भी वन में मधु-ऋतु पतझार कई,
मरकत-प्रवाल की छाया में होगी सब दिन गुंजार नई!"

उपर्युक्त कविता में सूखी नसों में नये खून का बहना, लाल शोले, नई गुंजार,

१. 'चित्ररेखा'

आदि पद कविता को मानव-जीवन पर घटित करते हैं। लाल रंग के पलाश की इतनी अधिकता लाल रूस की याद दिलाती है। प्रतीक यही करता है। मानव के प्रेम, वासना, शृंगार, दुःख, वेदना, असन्तोष, विद्रोह, क्रांति, देशभक्ति, आदि के प्रतीकों के रूप में प्रकृति के चित्रण किये गये हैं। 'अंचल' की वासना जब उद्दीप्त होती है तब वह इतनी विराट हो जाती है कि विशाल प्रकृति के अंग-अंग में व्याप्त-सी हो जाती है। उस समय प्रकृति का प्रत्येक अवयव एवं उसकी प्रत्येक गति उसकी वासना की प्रतीक हो जाती है :—

"पूरब दिसि से घिरी बदरिया फिर बरसेगी पीर घनेरी
अलख अकूल अतल से निकलेगी तूफानी तृष्णा मेरी !"
"घोर काली रात थी घहरा उठा था तम गगन में,
डोलते थे हहर पीपल-पर्ण तृष्णाकुल पवन में,
जल दिगन्तों में रही थी शून्य सन-सन-सी उदासी,
अब बिछुड़ते हैं विकल दो तृषित हृदयों के निवासी"[१]

'आँसू' में प्रसाद ने प्रकृति के प्रतीकों से मिलन और विरह की बड़ी सशक्त, प्रभावपूर्ण और विराट अभिव्यक्ति की है। पंत ने कोकिल को क्रांति-प्रचारक के प्रतीक के रूप में चित्रित किया है। उन्हीं स्वीट पी को हास-विलासमयी कुल-वधू का प्रतीक मान कर लिखा है :—

"कुल वधुओं-सी अयि सलज्ज सुकुमार !
शयन-कक्ष, दर्शन गृह की शृंगार !
उपवन के यत्नों से पोषित,
पुष्पमात्र में शोभित रक्षित,
कुम्हलाती जाती हो तुम, निज शोभा ही के भार !"

पीछे हम देख चुके हैं कि नरेन्द्र की 'पलाश' कविता में पलाश लाल क्रांति का प्रतीक है। इस प्रकार मानव की कोमल-मधुर भावनाओं से ले कर उसके विद्रोह और क्रांति तक की भावनायें प्रकृति के प्रतीकों से अभिव्यक्त की गई हैं।

चेतना एवं मानवीयता युक्त यह प्रकृति कभी-कभी पृष्ठभूमि के रूप में भी चित्रित की गई है। इस चित्रण को हम उद्दीपन के रूप में ले सकते हैं। यह मानव की मनोवृत्तियों में तीव्रता, सौंदर्य एवं विशदता ला देती है। पृष्ठ-भूमि के रूप में प्रकृति का चित्रण दो प्रकार से हो सकता है। एक के अनुसार प्रकृति जड़ रूप में रहती है। उसका सौंदर्य और वैभव अक्षुण्ण रहता है। वह अप्रत्यक्ष रूप से मानव की मनोवृत्तियों को प्रभावित कर दे, तो कर दे; किन्तु प्रत्यक्ष रूप से कुछ नहीं कर सकती। जैसे किसी जड़ पदार्थ को देखकर संवेदना की मात्रा के अनुसार हमारी

पृष्ठभूमि के रूप में निष्क्रिय प्रकृति

१. 'अपराजिता' (१९३९ ई०)

अनुभूतियाँ तीव्र होती हैं उसी प्रकार प्रकृति को देख कर अपनी भावदशा के अनुसार हम कल्पनायें करते हैं। माखन लाल चतुर्वेदी की 'कैदी और कोकिला' शीर्षक कविता इसी प्रकार की है। कवि जेल में है। कोयल कूकती है। कवि की अनुभूतियाँ तीव्र हो उठती हैं। वह कोयल को संबोधित कर-कर के अपनी वर्तमान दशा को सोचता-विचारता है। कोकिल कोई उत्तर या संकेत नहीं दे रही है मगर कवि अपनी भावनाओं में बहता हुआ चला जा रहा है। पृष्ठभूमि के इस चित्रण में वहाँ मार्मिकता आ जाती है जहाँ कवि अपने वातावरण की तुलना कोयल और उसके वातावरण से करता है :—

"काली तू, रजनी भी काली,
शासन की करनी भी काली
काली लहर, कल्पना काली,
मेरी काल कोठरी काली,
टोपी काली, कमली काली,
मेरी लौह श्रृंखला काली.........." (इत्यादि)
"तुझे मिली हरियाली डाली,
मुझे नसीब कोठरी काली,
तेरा नभ भर में संचार,
मेरा दस फुट का संसार !
तेरे गीतों उठती वाह,
रोना भी है मुझे गुनाह !
देख विषमता तेरी मेरी,
बजा रही तिस पर रण भेरी !"

इस तुलना का परिणाम यह होता है कि कवि अपनी विवशता में तड़प उठता है :—

"इस हुंकृति पर, अपनी कृति से, और कहो क्या कर दूँ ?—
कोकिल ! बोलो तो ?
मोहन के व्रत पर, प्राणों का आसव किस में भर दूँ ?
कोकिल ! बोलो तो ?"

'गुंजन' (१९३२ ई०) में पंत की नौका-विहार कविता भी इसी प्रकार की है। पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति का वह चित्रण जिसमें हमारी भावनाओं को संकेत मिल सकें एवं हमें जिसमें सजीव वातावरण मिल सके, बड़ा ही सुन्दर सक्रिय प्रकृति होता है। इस पृष्ठभूमि वाली प्रकृति हममें घुली-मिली रहती है। हमें यह नहीं लगता है कि हम अकेले हैं। लगता है कि प्रकृति का कण-कण हमारी ही तरह का होकर हमारा साथ दे रहा है। 'पलाशवन'

(१९४० ई०) में 'चाँदनी' शीर्षक कविता देखिए :—

चाँदनी आज कितनी सुन्दर,
समदृष्टि ई छवि की सब पर !
किसने जग के दृग पलकों में सुख का सपना साकार किया ?
राकेश गगन के आँगन में,
मेरे शशि तुम मेरे मन में,
भावों से भर भव का अभाव किसने संसार सँवार दिया ?
फूटा उर में निःस्वन निर्झर,
ये भू मनहर, वह नभ निर्भर,
क्या तुमने नयनों में मुसका चुपके से विश्व निहार लिया ?

'नीरजा' (१९३५ ई०) से महादेवी की निम्नलिखित पंक्तियाँ लीजिए :—

सकुच सलज खिलती शेफाली,
अलस मौलश्री डाली-डाली,
बुनते नव प्रवाल कुंजों में,
रजत श्याम तारों से जाली,
शिथिल मधु पवन गिन-गिन मधुकण,
हरसिंगार झरते हैं झर-झर !
आज नयन आते क्यों भर-भर !

इस चित्र में समस्त प्रकृति संयोग शृंगार में डूबी हुई है। इस पृष्ठभूमि म विरहिणी कवियित्री की करुणा एवं वेदना आँखों के आँसुओं के रूप में निकलती है। अनुकूल पृष्ठभूमि वाले चित्र आधुनिक हिन्दी काव्य में अधिक मिलते हैं। प्रतिकूल पृष्ठभूमि के चित्र अधिक मार्मिक और हृदयस्पर्शी हो सकते हैं और प्रायः होते भी हैं। 'सतरंगिनी' (१९४५ ई०) में 'बच्चन' की 'मुझे पुकार लो' शीर्षक कविता में प्रतिकूल पृष्ठभूमि का हृदयस्पर्शी चित्रण देखिए:—

उजाड़ से लगा चुका उमीद मैं बहार की,
निदाघ से उमीद की बसंत के बयार की,
मरुस्थली मरीचिका सुधामयी मुझे लगी,
अँगार से लगा चुका उमीद मैं तुषार की,
कहाँ मनुष्य है जिसे न भूल शूल सी गड़ी,
इसीलिये खड़ा रहा कि भूल तुम सुधार लो,
इसीलिये खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो।

निष्ठुर एवं प्रतिकूल प्रकृति से कुछ उम्मीद करने के कारण निराश कवि का मानव की ओर मुड़ना बड़ी सुन्दर बात है ! पृष्ठभूमि का एक और सुंदर चित्र 'बच्चन' के 'निशा निमंत्रण' (१९३८ ई०) से लीजिए:—

जागता मैं आँख फाड़े, हाय ! सुधियों के सहारे,
जबकि दुनिया स्वप्न के जादू भवन में खो गई है;
रात आधी हो गई है !

सुन रहा हूँ, शांति इतनी, है टपकती बूँद जितनी,
ओस की जिनसे द्रुमों का गात रात भिगो गई है,
रात आधी हो गई है !

दे रही कितना दिलासा, आ झरोखे से जरा-सा,
चाँदनी पिछले पहर की, पास में जो सो गई है,
रात आधी हो गई है !

प्रकृति का आलंकरिक चित्रण

इस प्रकार के चित्रण में प्रकृति काव्यालंकारों के माध्यम से आती है। यहाँ प्रायः अप्रस्तुतों के रूप में प्रकृति चित्रित होती है । कवि अपनी भावनाएं अभिव्यक्त कर रहा है । उनको तीव्रता देने के लिये या उनको अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये प्रकृति के विभिन्न रूपों की आयोजना उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि के रूप में करता है । इस प्रकार प्रकृति काव्य का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण बन जाती है । छायावादी कविता में जहाँ प्रकृति काव्य का अनिवार्य अंग है उसके ऐसे चित्रण प्रत्येक पद में मिलते हैं। महादेवी की 'यामा' से वसंत रजनी का साम्य रूपक देखिए :—

तारकमय नव वेणी-बन्धन,
शीशफूल कर शशि का नूतन,
रश्मि वलय सित घन अवगुंठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे,
चितवन से अपनी ।
धीरे-धीरे उतर क्षितिज से
आ वसन्त रजनी ।

वर्षाॠतु को 'बच्चन' ने मधुशाला का रूपक यों दिया है :—

सूर्य बने मधु का विक्रेता,
सिन्धु बने घट, जल हाला,
बादल बन-बन आये साकी,
भूमि बने मधु का प्याला,
झड़ी लगा कर बरसे मदिरा
रिमझिम रिमझिम रिमझिम कर,
वेलि, विटप, तृण, बन मैं पीऊँ

वर्षाऋतु हो मधुशाला।

एक दूसरा आलंकारिक चित्रण व्रजभाषा के कवि जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' से लीजिए :—

"बिकसित बिपिन बसंतिकावली कौ रंग, लखियत गोपिनि के अंग पियराने में,
बौरे वृन्द लसत रसाल-वर बारिनि के, पिक की पुकार है चबाव उमगाने में,
होत पतझार झार तरुनि-समूहनि की, बैहरि बतास लै उसास अधिकाने में,
काम-बिधि वाम की कला में मीन-मेष कहा, ऊधौ नित बसत बसंत बरसाने में।"[1]

उक्त कवित्त में गोपियों का और वसंत का वर्णन किया गया है। गोपियों की दशा ऐसी हो गई है जैसी बसंत में प्रकृति की होती है। द्वयार्थी शब्दों के द्वारा यह चित्रण किया गया है। इसमें चमत्कार है पर हृदयग्राहिता या मार्मिकता नहीं। प्रकृति का एक अन्य आलंकारिक चित्रण देखिए :—

"ज्यों घेर सकल संसार, कुंडली मार
पड़ा हो अहि विशाल,
आक्रांत धरा की छाती पर
गुम-सुम बैठा मध्याह्न काल,
मध्याह्न काल ज्यों अहि विशाल,
केंद्र में सूर्य—
शोभित दिन-मणि से गर्वोन्नत ज्यों भीम भाल !
कर गरल-पान सब विश्व शांत,
तृण तरु न कहीं भय से हिलते—
जीवनी शक्ति, जैसे परास्त हो महामृत्यु से, पड़ी क्लान्त !
अब बुझी चिताओं के मसान के ही समान सर्वत्र शांति—[2]

यह प्रकृति के कठोर रूप का आलंकारिक चित्रण है।

छायावादी कवि प्रकृति के कोमल, सुन्दर एवं मधुर रूप को ही प्रायः चित्रित करता था। प्रगतिवादी कवि की दृष्टि में व्यापकता आई और वह प्रकृति के अन्य रूपों की ओर भी झुका। प्रकृति का यह आलंकारिक चित्रण रीति-काल में भी होता था। वहाँ प्रकृति के चित्र परंपरा और काव्य श्रुतियों के आधार पर खींचे जाते थे। उनमें सजीवता एवं चित्रात्मकता नहीं थी। आधुनिक कवि ने कल्पना, प्रत्यक्ष और परंपरा का आधार लिया। दृष्टिकोण की नवीनता ने इनके चित्रों में सजीवता ला दी है। भक्तिकाल में प्रकृति कहीं-कहीं काव्य-श्रुतियों के रूप में भी आती थी। तुलसीदास ने सीताहरण के बाद राम से यों विलाप कराया था :—

प्रकृति के आधुनिक चित्रण की विशेषता

१. 'उद्धवशतक' (१९३१ ई०)
२. नरेन्द्र : 'पलाशवन'

खंजन सुक कपोत मृग मीना, मधुप निकर कोकिला प्रवीना।
कुंद कली दाड़िम दामिनी, कमल सरद ससि अहि भामिनी।
वरुन पास मनोज धनु हंसा, गज केहरि निज सुनत प्रसंसा।
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं, नेकु न संक सकुच मन माहीं।
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू, हरषे सकल पाइ जनु राजू।

यहाँ न विलाप है और न प्रकृति। प्रकृति के इन अवयवों के बहाने सीता के सौंदर्य की प्रशंसा है—व्याजस्तुति! सूरदास के 'अनुपम बाग' में नारी के अंगों को छोड़ कर और कुछ है ही नहीं! आज के आलंकारिक चित्रण में प्रस्तुत भी है और अप्रस्तुत भी। दोनों के चित्र एक दूसरे को निखारने वाले हैं। भक्तिकाल के प्रकृति चित्रण में बादल भरत के ऊपर छाया करते हुए दिखाये गये हैं या लंका-दहन के समय उन्चास पवन को चलते हुए दिखाया गया है, इत्यादि। ऐसे स्थलों के चित्रण में प्रकृति में चेतना या संवेदना दिखाई गई है। प्रकृति पुरुष के संकेत पर बदल जाया करती थी। छायावादी कवि के प्रकृति चित्रण में ये समस्त विशेषताएँ तो मिलती ही हैं, प्रकृति का बिंबग्रहण भी हो जाता है। प्रगतिवादी या प्रयोगवादी कवियों के प्रकृति चित्रण में शैलीगत कोई नवीनता नहीं है। प्रतीक, पृष्ठभूमि, मानवीयकरण, चैतन्य और अलकार के रूप में ही वहाँ भी प्रकृति के चित्र मिलते हैं। दृष्टिकोण इतना बदल गया है कि जहाँ छायावादी कवि कोमल, मधुर, सुन्दर चित्रों को अधिक देखता था वहाँ प्रगतिवादी कवि उसके कठोर रूप को भी देखता है और प्रगतिवादी कवि सुन्दर के साथ असुंदर एव मोहक के साथ घृणित को भी चित्रित करता है। चित्र की एक रेखा आकर्षक होगी, दूसरी विकर्षक। एक को देख कर हम तारीफ़ करेंगे; दूसरी को देख कर उसकी ओर से मुँह फेर लेंगे। 'अज्ञेय' के दो चित्र देखिए। पहला चित्र ब्राह्म मुहूर्त्त का है:—

"चार का गजर कही खड़का :
रात में उचट गई नींद मेरी सहसा—
छोटे-छोटे, बिखरे-से, शुभ्र अभ्र-खंडों बीच द्रुतपद
भागा जा रहा है चाँद ;
जगा हूँ मैं एक स्वप्न देखता।"[1]

दूसरा चित्र चाँदनी का है जिसमें कवि कहता है कि:—

"वंचना है चाँदनी सित

. . . .

दूर वह सब शांति, वह सित भव्यता, वह
शून्य के अवलेप का प्रस्तार—

१. 'तार सप्तक'

इधर केवल झलमलाते
चेत-हर दुर्धर कुहासे की हलाहल-स्निग्ध मुट्ठी में
सिहरते-से, पंगु, टुंडे
नग्न बुच्चे दईमारे पेड़।

. . . .
और
. . . .

"निकटतर-धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वर्त में
तीन टाँगों पर खड़ा नत ग्रीव
धैर्य धन गदहा।"[1]

और जहाँ ये कवि अपनी सम्वेदना को सुलझा सके हैं, अपने दृष्टिकोण को कुछ संतुलित कर सके हैं, वहाँ प्रकृति के बड़े सुन्दर चित्र मिल जाते हैं। 'तार सप्तक' से रामविलास शर्मा की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए:—

वर्षा से धुल कर निखर उठा नीला-नीला
फिर हरे-हरे खेतों पर छाया आसमान,
उजली कुआर की धूप अकेली पड़ी हार में,
लौटे इस बेला सब अपने घर किसान।
"पागुर करती छाँही में, कुछ गंभीर अधखुली आँखों से,
बैठी गायें करती विचार,
सूनेपन का मधु-गीत आम की डाली में,
गाती जातीं मिल कर ममाखियाँ लगातार।
भर रहे मकाई ज्वार बाजरे के दाने,
चुगती चिड़ियाँ पेड़ों पर बैठी भूल-भूल,
पीले कनेर के फूल सुनहले फूले पीले,
लाल-लाल झाड़ी कनेर की, लाल फूल।
बिकसी फूटें, पकती कचेलियाँ बेलों में,
ढो ले आती ठंढी बयार सोंधी सुगंध,
अंतस्तल में फिर पैठ खोलती मनोभवन के,
वर्ष-वर्ष से सुधि के भूले द्वार बन्द।"

अन्य

राष्ट्र — राष्ट्र प्रेम की जो भावना भारतेंदु काल में जन्मी थी, द्विवेदी काल में उसे बहुत ही भव्य रूप मिल गया था। भारत देश की कल्पना माता के रूप में की गई। यह भारत माता तब से आज तक हमारी अपार श्रद्धा पाती रही। पुत्र का जो कर्त्तव्य माता के प्रति होता है,

१. 'तार सप्तक'

भारतवासियों का भारत देश के प्रति वही कर्त्तव्य माना गया। मैथिली शरण गुप्त ने 'वह मातृभूमि मेरी वह पितृभूमि मेरी' में भारत के भौगोलिक स्वरूप से उपकरण लेकर भारत का वैभवशाली एवं दिव्य चित्र खींचा था। सुमित्रानन्दन पंत ने ग्राम्य प्रकृति और जीवन से उपकरण लेकर भारतमाता का करुण एवं मार्मिक चित्र 'ग्राम्या' में यों खींचा है :—

भाव चित्र

भारतमाता ग्रामवासिनी।
खेतों में फैला है श्यामल,
धूल भरा मैला-सा आँचल,
गंगा-यमुना में आँसू-जल,
मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी।
तीस कोटि संतान नग्न तन,
अर्ध क्षुधित, शोषित निरस्त्र जन,
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन,
नत मस्तक तरु तल निवासिनी।
स्वर्ण शस्य पर पद-तल लुंठित,
धरती-सा सहिष्णु मन कुंठित,
क्रदन कंपित अधर मौन स्मित,
राहु ग्रसित शरदेंदु हासिनी।"........आदि

'गीतिका' में निराला का 'भारति जय विजय करे' वाला गीत, प्रसाद का 'अरुण यह मधुमय देश हमारा', आदि गीत, मैथिली शरण का 'मेरा देश' और इस प्रकार के अन्य अनेक गीत भारत राष्ट्र के प्रति श्रद्धा की भावना से प्रेरित हो कर लिखे गये हैं।

अंग्रेजों का भारत के ऊपर आधिपत्य और भारतवासियों के ऊपर उनके द्वारा किये गये अत्याचारों ने भारत की राष्ट्रीय भावना को सब से प्रथम यह स्वरूप दिया कि हम अपनी विपन्न और करुण दशा का अनुभव करने लगे। हमने अनुभव किया कि हमें हमारे जन्मसिद्ध अधिकार भी नहीं प्राप्त हैं। हमें साधारण मनुष्य की तरह भी नहीं समझा जाता है। इस भावना ने भारत माँ का वह चित्र खिँचवाया जो किसी बन्दिनी दुखिया का होता है। हाथों में हथकड़ियाँ, पैरों में बेड़ियाँ, दीन-मलीन वेश वाली हतभाग्य नारी के रूप में भारत माता चित्रित हुईं। पंत ने उपर्युक्त कविता में उसका यह चित्र निम्न पंक्तियों में खींचा है :—

दैन्य जड़ित अपलक नत चितवन,
अधरों में चिर नीरव रोदन,
युग-युग के तम से विषण्ण मन,
वह अपने घर में प्रवासिनी!

कल्पना से निर्मित तथा प्रतीक रेखाओं से अंकित ऐसे चित्र अधिक नहीं। इसका कारण यह नहीं है कि हमारी राष्ट्रीय भावना में कुछ कमी हो गई। इसका मुख्य कारण यह है कि हममें भावनात्मकता कम और विचारात्मकता अधिक आ गई। हम कल्पना की अपेक्षा मूर्त्त एवं प्रत्यक्ष की ओर बढ़े। परिणाम यह हुआ कि भारत का कल्पनात्मक चित्र खींचने के बजाय भारतवासियों के दुख-दैन्य का चित्र अधिक खींचने लगे। महात्मा गांधी के राजनीतिक आन्दोलनों ने हमारे सामने राष्ट्रीयता के मूर्त्त एवं व्यावहारिक रूप से हमारा साक्षात्कार करा दिया। कवि, जो प्रायः मध्यम वर्ग के होते थे, और राष्ट्रीय आन्दोलनों में जेल जाते थे, समस्या को उसके वास्तविक रूप में चित्रित करने लगे। वर्त्तमान अवस्था के भाव पूर्ण चित्र भी हैं और यथार्थ चित्र भी। 'हुंकार' में दिनकर ने 'हिमालय के प्रति' शीर्षक में लिखा है :—

यथार्थ चित्र

कितनी मणियाँ लुट गईं? मिटा कितना मेरा वैभव अशेष!
तू ध्यान-मग्न ही रहा, इधर वीरान हुआ प्यारा स्वदेश!
कितनी द्रुपदा के बाल खुले, कितनी कलियों का अंत हुआ!
तू हृदय खोल चित्तौर! यहाँ कितने दिन ज्वाल वसंत हुआ!
पूछो सिकता-कण से हिमपति! तेरा वह राजस्थान कहाँ?
वन-वन स्वतंत्रता-दीप लिये फिरने वाला बलवान कहाँ?
तू पूछ, अवध से राम कहाँ? वृन्दा! बोलो, घनश्याम कहाँ?
ओ मगध! कहाँ मेरे अशोक? वह चन्द्रगुप्तब लधाम कहाँ?

उपर्युक्त चित्र में भारत के प्राचीन गौरव की याद आई है। उस समय की महान बातें अब कहीं भी नहीं दिखाई पड़तीं। इस याद का कारण है निम्नलिखित वर्त्तमान दुरवस्था :—

परवशता अर्थात् जेल और गरीबी के चित्र

तरु-लता सीखचे, शिलाखंड दीवार,
गहरी सरिता है बन्द यहाँ का द्वार,
बोले मयूर जंजीर उठी झनकार,
चीते की बोली, पहरे का हुशियार,
मैं आज कहाँ हूँ, जान रहा हूँ बैठ यहाँ धीरे-धीरे।"[1]

देशभक्त अपने देश की आजादी चाहते हैं। विदेशी उन्हें जेल में बंद कर देते हैं। जेल का एक चित्र 'नवीन' के 'जाने पर' शीर्षक कविता से देखिए :—

"ताला, कुंजी, लालटेन, जँगला, कैदी, ये सब हैं ठीक
खींच चुकी है नौकरशाही अपने सर्वनाश की लीक।
'चक्कर' से रोटी आवेगी, 'डब्बू' भर आवेगी दाल;
तू शकटार बना है-पापी नन्दवंश का जीवित काल।

---

१. माखनलाल चतुर्वेदी : 'हिमकिरीटिनी'

तेरी चक्की के ये गेहूँ पिसते हैं पिस जाने दे;
चक्की पिसवाने वालों को मिट्टी में मिल जाने दे।"[1]

उपर्युक्त चित्र में चित्रकार तटस्थ नहीं है। रह भी नहीं सकता। चित्र की प्रत्येक रेखा के साथ वह आततायी के नाश की कल्पना करता चलता है। भारत की दुर्दशा के सशक्त चित्र 'दिनकर' और 'नवीन' की कविताओं में भरे हैं:—

"श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं,
युवती के लज्जा-वसन बेंच जब ब्याज चुकाये जाते हैं,
मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं,
पापी महलों का अहंकार देता तब मुझको आमंत्रण!"[2]

"लपक चाटते जूठे पत्ते जिस दिन मैंने देखा नर को,
उस दिन सोचा क्यों न लगा दूं आग आज इस दुनिया भर को!"[3]

"विद्युत की इस चकाचौंध में देख दीप की लौ रोती है,
अरी हृदय को थाम, महल के लिए झोंपड़ी बलि होती है,
देख कलेजा फाड़ कृषक दे रहे हृदय-शोणित की धारें,
बनती ही उन पर जाती हैं वैभव की ऊँची दीवारें।"[4]

"क़ब्र-क़ब्र में अबुध बालकों की भूखी हड्डी रोती है,
दूध-दूध की क़दम-क़दम पर सारी रात सदा होती है,
दूध, दूध, ओ वत्स, मंदिरों में बहरे पाषाण कहाँ हैं!
दूध, दूध, तारे बोलो इन बच्चों के भगवान कहाँ हैं!"[4]

इतनी बड़ी विषमता, इतनी करुण अवस्था, कवियों को उत्तेजित कर देती है। वह इसके निदान का उपाय सोचने लगता है। उस युग में इसके लिये दो निदान थे।

गाँधीवादी विचारधारा

एक निदान गाँधीवादी था, और दूसरा क्रांतिवादी था। गाँधीवादी विचारधारा के कवियों ने सत्य और अहिंसा के महत्त्व को काव्य का स्वरूप दिया। मैथिली शरण गुप्त, सियाराम शरण गुप्त, माखन लाल चतुर्वेदी, आदि कवियों ने इसी प्रकार की कविताएँ लिखी हैं। राष्ट्र के प्रतीकों; जैसे, हिमालय, जलियान वाला बाग, आदि को संबोधित करके लिखी गई कवितायें राष्ट्र प्रेम के अन्दर ही आती हैं। सुभद्रा कुमारी चौहान की राष्ट्रीय कविताएँ भी गांधीवादी विचारों से अनुप्राणित हैं:—

हम हिंसा का भाव त्याग कर विजयी वीर अशोक बनें।

---

१. 'कुंकुम' (१९३९ ई०)
२. 'दिनकर': 'विपथगा'
३. 'नवीन': 'जूंठे पत्ते'
४. 'दिनकर': 'कस्मै देवाय'

काम करेंगे वही कि जिससे लोक और परलोक बनें ।"[१]

'युगवाणी' (१९३९ ई०) में पंत ने भी लिखा :—

हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल,
जो सब का है, वही हमारा भी है मंगल ।
मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर,
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर ।

'जलियान वाला बाग' में होने वाले बलिदान और क्रान्ति का मार्मिक चित्र कवि ने निम्नलिखित पंक्तियों में खींचा है :—

कोमल बालक मरे यहाँ गोली खा-खा कर,
कलियाँ उनके लिये चढ़ाना थोड़ी लाकर,
आशाओं से भरे हृदय भी छिन्न हुए हैं,
अपने प्रिय परिवार देश से भिन्न हुए हैं,
कुछ कलियाँ अधखिली यहाँ इसलिये चढ़ाना,
करने उनकी याद अश्रु के ओस बहाना,
आओ प्रिय ऋतुराज ! किन्तु धीरे से आना,
यह है शोकस्थान यहाँ मत शोर मचाना ।[२]

सोहन लाल द्विवेदी की 'भैरवी' की प्रथम कविता की वह पंक्ति जिसमें उन्होंने कहा है कि 'हों जहाँ बलि शीश अगणित एक सिर मेरा मिला लो' बलिदान की भावना की सुन्दर अभिव्यंजना उपस्थित करती है। चर्खा, खादी, गाँधी का युग के महा-मानव के रूप में चित्रण, आदि अनेक विषय गाँधीवादी विचारधारा के हैं ।

अहिंसा का यह सिद्धांत और शांति की यह रीति सब को पसन्द नहीं आ सकती । श्रद्धा और बुद्धि के समन्वय से मानव जीवन में सुख, शांति और आनन्द की स्थापना

विद्रोह, विप्लव और महानाश

का जो आदर्श प्रसाद ने अपने महाकाव्य 'कामायनी' के द्वारा संसार को दिया है वह सुन्दर होने पर भी स्वाभाविक नहीं है । तरुण कवि अन्याय को देखकर चुप नहीं रह सकता । जिसका कोई अपराध न हो वह मार खाकर भी मन में मैल न लावे, यह बात जितनी ही ऊँची है उतनी ही अव्यावहारिक भी । जी तोड़ कर मेहनत करने पर भी जब असफलता ही मिले तो नवयुवक का रक्त क्षोभ से आलोड़ित न हो, यह नितांत असंभव न होने पर भी सामान्य नहीं । १९२० ई० में जब सत्याग्रह सफल न हो सका तब 'पराजय गीत' में 'नवीन' ने एक क्षुब्ध हृदय की आवेशपूर्ण स्थिति का वास्तविक चित्र यों खींचा :—

आज खड्ग की धार कुंठिता है, खाली तूणीर हुआ,

१. 'मुकुल' (१९३१ ई०)
२. 'सुभद्रा कुमारी चौहान'

विजय पताका झुकी हुई है, लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ।
वर्दी फटी, हृदय घायल, मुख पर कारिख, क्या वेश बना!
आँखें सकुच रहीं, कायरता के पंकिल से देश सना।
अरे पराजित, ओ! रणचंडी के कपूत, हट जा, हट जा,
अभी समय है, कह दे, मां मेदिनी, जरा फट जा, फट जा।
हन्त! पराजय-गीत आज क्या द्रुपद-सुता का चीर हुआ?
खिंचता ही आता है जब से खाली यह तूणीर हुआ।

अन्त में हिन्दी कवियों का एक पूरे का पूरा दल विद्रोह, क्रांति, विप्लव, प्रलय, महानाश का भीषण आह्वान करने लगा। पंत ने संयत और सुसंस्कृत स्वर में कोकिल से पावक कण बरसाने को कहा था और आशा की थी कि 'पावक पग धर आवे नूतन'। किन्तु बाद के कवियों ने कुछ भी बाकी न छोड़ा। भगवती चरण वर्मा, 'नवीन', 'दिनकर', आदि इन कवियों में प्रमुख हैं। सोहनलाल द्विवेदी ने 'पूजा गीत' (१९४६ ई०) में लिखा है:—

जाग! प्रलयंकर भयंकर! जाग त्रिनयन! जाग शंकर!
भस्म हो अभिशाप युग का मुक्त हो गति रुद्ध जीवन!
जाग जन गण!

इसमें भारत राष्ट्र की जागृति और उसके उत्थान की भावना है। विद्रोह एवं प्रलय, आदि की ऐसी कवितायें भी लिखी गई हैं जिनमें अभिव्यंजित उग्रता के आगे देश या समाज के उत्थान की भावना दब जाती है। 'नवीन' और भगवती चरण वर्मा, आदि की कुछ कवितायें इसी प्रकार की हैं। 'नवीन' का 'विप्लव गायन' ऐसा ही है। माता की छाती के अमृत पय के कालकूट हो जाने की कल्पना सचमुच बड़ी भीषण है। नरेंद्र, 'दिनकर', उदयशंकर भट्ट, आदि ने भी ऐसी कविताएं लिखी हैं। इस कल्पना के पीछे क्रांति की भावना रहती है और विचार यह रहता है कि क्रांति के बाद नवीन निर्माण होता है। प्रलय के बाद नये सिरे से सृष्टि का सृजन होता है।

अन्य

आधुनिक काल के इन विचारों और भावनाओं पर आधारित कविताओं के अतिरिक्त इस युग में कुछ ऐसी भी कविताएं लिखी गई हैं जिनके विषय प्राचीन साहित्य से लिये गये हैं। इस प्रकार की कविताएं खड़ी बोली के कवियों ने भी लिखी हैं और ब्रजभाषा एवं अवधी के कवियों ने भी। ये विषय प्रायः रामायण या महाभारत से लिये जाते हैं; जैसे, मैथिली शरण गुप्त के 'साकेत', रत्नाकर के 'उद्धव शतक' द्वारका प्रसाद, मिश्र के 'कृष्णायन', आदि काव्यों के विषय। प्राचीन या मध्यकाल के व्यक्तियों या घटनाओं पर भी कविताएं लिखी गई हैं; जैसे, अशोक, कुणाल, राणा प्रताप, जौहर, हल्दीघाटी, आदि। इन विषयों या व्यक्तियों पर लिखी गई कविताओं में

गत युगों से लिए गये विषय

आजकल की विचारधाराओं या मनोवृत्तियों का भी समावेश कर दिया जाता है। प्रसाद की 'कामायनी' की कथावस्तु आदि युग से ली गई है, किन्तु उसका प्रधान उद्देश्य यह प्रतिपादित करना है कि मनुष्य जीवन में आनन्द की प्राप्ति तभी हो सकती है जब उसके कार्य्य बुद्धि और श्रद्धा के संतुलित दृष्टिकोण से परिचलित हों। प्राचीन काल के कथानकों को ले कर उनमें प्रायः शाश्वत विचार धाराओं की अभिव्यक्ति की जाती है। भगवती चरण वर्मा 'नूरजहां की कब्र पर' ('मधुकण', १९३२ ई०) कल्पना करते-करते नूरजहां के समस्त जीवन पर दृष्टिपात कर जाते हैं और अंत में यह निष्कर्ष निकालते हैं :—

ऐ रजकण के ढेर ! तुम्हारा है विचित्र इतिहास !
तुम मनुष्य की उन अभिलाषाओं के हो उपहास
कि जिनका असफलता है अन्त
और आशा जीवन !
बना अजान खंड ही यह लो आज तुम्हारा रुदन
कभी उत्थान कभी है पतन।

वासनाओं का यह संसार,
भयानक भ्रम का है बंधन,
और इच्छाओं का मंडल
आदि से अन्त रुदन है रुदन;
एक अनियंत्रित हाहाकार !
इसी को कहते हैं जीवन।

प्रसाद ने अशोक को यह चिन्ता करते हुए दिखाया है कि 'जलता है यह जीवन पतंग'। निश्चय ही यह एक सार्वभौम और सार्वकालिक विषय है। श्याम नारायण पांडेय की 'हल्दी घाटी' (१९४१ ई०) में प्रधानता प्रताप के शौर्य की अभिव्यंजना की है, किन्तु उसका उद्देश्य यह है कि प्रताप की इस वीरता को पढ़ कर लोगों के अन्दर स्वाभिमान और वीरता की भावना जगे और अपने देश के इतिहास के प्रति आदर की भावना बढ़े। सोहन लाल द्विवेदी जब राणा प्रताप को संबोधित करते हुए उनसे प्रार्थना करते हैं कि :—

मेरे प्रताप, तुम फूट पड़ो मेरे आँसू की धारों से,
मेरे प्रताप, तुम तुम गूंज उठो मेरी संतप्त पुकारों से,
मेरे प्रताप, तुम बिखर पड़ो मेरे उत्पीड़न भारों से,
मेरे प्रताप, तुम निखर पड़ो मेरे बलि के उपहारों से।[1]

तब स्पष्ट हो जाता है कि राणा प्रताप के शौर्य को वह आज के जीवन में प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं।

---

१. 'भैरवी'

प्राचीन काल से संबंध रखने वाली कुछ कविताएं विशुद्ध काव्य-दृष्टि से लिखी गई हैं। रत्नाकर का 'उद्धव शतक' (१९३२ ई०) ऐसे ही कवित्तों का संग्रह है। इस संग्रह में काव्य-कला की ही प्रधानता है। शब्द प्रयोग, अलंकार, भाव-वैचित्र्य कल्पना और वाक् चातुर्य, आदि देखने योग्य हैं। राम प्रसाद त्रिपाठी और रमा शंकर शुक्ल 'रसाल', आदि कवियों के कवित्त इसी प्रकार के हैं। राम प्रसाद त्रिपाठी का एक कवित्त देखिए :—

"खेलिबो तिहारो कर्म, खेलिबो हमारो धर्म, तुम गति धारे, हमहूं तौ गतिवारी हैं;
अंग ना कहावौ तुम, अंगना ना कहावैं हम, तुम पतिवारे, हमहूं तौ पतिवारी हैं;
रूप-रस वारे तुम, रूप-रस वारी हम, मोह-मद वारे, हम मोह-मद-मारी हैं;
प्रेम-मतवारे तुम, प्रेम मतिवारी हम, काम-रतिवारे हम काम-रतिवारी हैं।"

आधुनिक ब्रजभाषा काव्य के प्रेत रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का एक ऐसा कवित्त देखिए :—

"अन्दर न व्यापै कछू ऐसियै निरंतर ही, लगन रहै है एक, प्रीति-जोग वारे हैं;
देखिये 'रसाल' हाल है विचित्र प्रेमिन कौ, बार है न तिथि है ऐ अतिथि विचारे हैं;
ग्रह की कहा है और उपग्रह कहा है जब, निग्रह निखारे निज बिग्रह बिसारे हैं;
चन्द सौं दुचन्द है अमन्द मुख-चन्द एक प्रेमिन के नभ में नक्षत्र हैं न तारे हैं।"[१]

ईश्वर और तत्संबंधी दर्शन

सगुण ईश्वर की जो भावना सूर तुलसी आदि में मिलती है, द्विवेदी काल के कुछ प्रमुख कवि जो आज तक काव्य रचना करते रहे हैं या वे कवि जो आज भी उसी विचार धारा के हैं उसी भावना से अनुप्राणित कविताएं करते रहे हैं। 'रत्नाकर' ने अपने 'उद्धव शतक' में कृष्ण के सगुण रूप की प्रतिष्ठा की है। मैथिली शरण गुप्त के 'साकेत', आदि में राम के ईश्वर रूप को ही माना गया है। हिन्दी के नवीनतम महाकाव्य 'कृष्णायन' (१९४७ ई०) में द्वारका प्रसाद मिश्र ने कृष्ण के ईश्वरत्त्व को अक्षुण्ण रक्खा है। उसकी भूमिका में बाबू राम सक्सेना और धीरेंद्र वर्मा ने लिखा है कि द्वारका प्रसाद मिश्र ने कृष्ण के धर्म-संस्थापक कर्मयोगी, गोपीजन वल्लभ और राधाकृष्ण तथा बाल गोपाल, तीनों रूपों का समन्वय किया है। तात्पर्य यह है कि इन कवियों ने अवतारवाद की भावना को स्वीकार किया है। ब्रह्म की दूसरी भावना वह है जिसे योग धारा के कवियों ने स्वीकार किया था। ब्रह्म निर्गुण है। जीव उसका एक अंश है। वह ब्रह्म प्रकृति के कण-कण में व्याप्त है। अस्तु, भक्त अपनी साधना के द्वारा अपने को सामान्य मानव से ऊपर उठाकर उस ब्रह्म—उस रहस्य—की अनुभूति कर के ब्रह्म से रागात्मक संबंध स्थापित करता है। इस संबंध की अनुभूति लौकिक शृंगार या प्रकृति के माध्यम से अभिव्यंजित की जाती है। आधुनिक युग का रहस्यवाद इसी

१. 'आधुनिक ब्रजभाषा काव्य'

पद्धति पर है। इसी में सूफियों को आध्यात्मिक पीड़ा भी मिली हुई है। आधुनिक कवि ने माया के सिद्धांत की अभिव्यक्ति नहीं की है। ईश्वर और जीवन-दर्शन की इस दृष्टि से देखें तो तुलसीदास की एक झलक मैथिली शरण गुप्त में पा सकते हैं; सूरदास की, द्वारका प्रसाद मिश्र में; जायसी की, रामकुमार वर्मा में; कबीर की, निराला में; और मीरा की, महादेवी में। यहाँ यह न भूलना चाहिये कि इस झाँकी के पीछे अपने उन प्राचीन कवियों का समस्त व्यक्तित्त्व नहीं है, केवल एक झाँकी मात्र है।

चित्रणों में अन्तर

प्राचीन और आधुनिक कवियों के ईश्वर-चित्रण में कुछ अंतर है। पहला अन्तर यह है कि प्रत्येक प्राचीन कवि ईश्वर के किसी एक रूप की ऐसी उत्कट आराधना करता था कि अन्य रूपों के प्रति आदर रखते हुए भी वह उनको अपने आराध्य-जैसी श्रद्धा नहीं दे सकता था। तुलसी की यह उक्ति प्रसिद्ध है :—

का छवि बरनौं आज की भले बने हौ नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै धनुष वाण लेहु हाथ।

आधुनिक कवि में ऐसी कट्टरता नहीं मिलती। दूसरा अंतर यह है कि तुलसी और सूर के आराध्यों में व्यक्तिगत एवं पारिवारक दृष्टिकोण की ही प्रधानता मिलती है। उनके कार्यों का सामाजिक पक्ष अत्यन्त क्षीण है। कम से कम इतना निश्चित ही है कि आराधक कवियों के चित्रण में एवं उनके दृष्टिकोण में इस तत्त्व को कोई महत्त्व नहीं दिया गया था। आज युग बदला है। इसलिये उसी राम के आराधक मैथिली शरण और उसी कृष्ण के आराधक द्वारका प्रसाद आराध्य के इस पक्ष को छोड़ न सके। लोक-संग्रह की रक्षा करते हुए भी तुलसीदास उसकी मूर्त्त अभिव्यक्ति न कर सके थे। मैथिली शरण के राम कहते हैं कि वे पृथ्वी को स्वर्ग बनाने आये हैं। द्वारका प्रसाद के कृष्ण गोपियों के चीर हरते हैं किन्तु इस चीर-हरण का उद्देश्य यह है कि वे गोपियों को यह शिक्षा देना चाहते हैं कि वे वस्त्र हीन होकर नदी में न नहाया करें। पूरा प्रसंग देखिए। गोपियाँ कृष्ण को समझाती हैं :—

देखहु निज मन श्याम ! विचारी, अनुचित लखब बसन बिनु नारी।

'कृष्णायन' का कवि कहता है कि:—

कहेहु हरिहु—"जो लागति लाजा वस्त्र उतारत नित के केहि काजा।
नग्न नीर तुम कीन्ह प्रवेशू, हमहिं सुनावत अब उपदेशू।
वारि माहिं निवसत वरुण, तिन कै लाज बिहाय।
लोक लाजहू त्याग तुम धँसत नग्न जल जाय।"

तब:—

सकुचीं गोपी सुनत दुखारी, कहत—"कीन्ह हम चूक मुरारी।
जो कछु होत सोइ गहि लीन्हा, अनुचित उचित विचार न कीन्हा।
जानहिं नहिं हम शास्त्र विधाना, क्षमहु हमार श्याम ! अग्याना।"

कृष्ण का उद्देश्य पूरा हो गया और तबः—

"प्रमुदित मन घनश्याम तब फेंकेउ वस्त्र उतारि।
त्यागेउ तरु, पहिरे बसन, गोपिन तजि तजि वारि।"[१]

'कृष्णायन' में कृष्ण भारतीय राष्ट्र के उत्थान के प्रतीक के रूप में आये हैं।

कुछ चिरंतन प्रवृत्तियाँ

आधुनिक युग की कविता में मानव की कुछ चिरंतन प्रवृत्तियों को भी लिया गया है। इन चिरंतन प्रवृत्तियों में प्रमुखता है प्रेम की। मनुष्य मनुष्य के—पुरुष नारी के—सम्पर्क में आता है। उनका एक दूसरे के प्रति आकर्षण होता है। यह आकर्षण दो प्रकार का होता है:—पहला भौतिक या शारीरिक, और दूसरा सूक्ष्म या मानसिक। पहला आकर्षण बाह्य सौंदर्य पर आधारित है; और उसकी परिणति संभोग में होती है। दूसरा आकर्षण स्वभाव के कारण होता है और उसकी परिणति मानसिक वृत्तियों के पूर्ण तादात्म्य में होती है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् नहीं हैं। यही सूक्ष्म आकर्षण जब अपनी अंतिम सीमा पर आता है तब अपना प्रिय संसार के कण-कण में दिखाई पड़ने लगता है। रहस्यवाद और प्रगतिवाद पर विचार करते समय हिन्दी साहित्य में इन सब की अभिव्यंजना पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

जिस तरह आकर्षण होता है उसी तरह कभी-कभी विकर्षण भी होता है। इस विकर्षण के कई कारण होते हैं। इन में व्यक्तिगत अरुचि, स्वार्थ एवं मान-अपमान के विचार प्रमुख होते हैं। व्यक्तिगत क्षेत्र में यह विकर्षण मनोमालिन्य, वैमनस्य एवं मारपीट का कारण होकर रह जाता है। व्यापक क्षेत्र में यह बड़े-बड़े युद्धों का कारण बनता है। व्यापक क्षेत्र में पहुँच कर स्वार्थ व्यक्तिगत नहीं होता। वहाँ मतभेद और शत्रुता सिद्धांतों को ले कर होती है। 'कामायनी' में श्रद्धा की ओर से मनु का खिंचाव, इड़ा की ओर आकर्षण, प्रमाद, आदि इसके उदाहरण हैं। 'सिद्धराज' (१९३६ ई०) में एक रानक दे के कारण व्यक्तिगत शत्रुता बढ़ती है और लड़ाई होती है। इसी पुस्तक में पिछले वैमनस्य के कारण होने वाली लड़ाई का भी हाल दिया गया है। 'कुरुक्षेत्र' में प्राचीन कथानक के भीतर से युद्ध की आवश्यकता पर विचार-विनिमय कराया गया है। निष्कर्ष रूप में यह कहा गया है कि अन्याय का अंत युद्ध से करना होगा:—

किसने कहा पाप है समुचित स्वत्व-प्राप्ति-हित लड़ना?
उठा न्याय का खंग समर में अभय मारना-मरना?

मानव का भविष्य आधुनिक काव्य का एक सुंदर विषय है। गांधीवाद और मार्क्सवाद, बाह्य जीवन और अन्तर्जीवन, सामाजिक जीवन और अंतर्मन के समुचित

---

१. 'कृष्णायन' अवतरण कांड

समन्वय से मनुष्य का समाज एक आदर्श समाज बन सकता है। भविष्य में नारी को संकुचित पवित्रता से ऊपर उठा कर उसे एक स्वतंत्र और स्वस्थ व्यक्तित्त्व प्रदान करना होगा। 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' में पंत ने ऐसी कल्पनाएं की हैं। उनके अतिरिक्त अन्य कवि इस दृष्टि से इस दिशा में प्रायः अधिक सफल नहीं हो पाये हैं। उनके भविष्य-मानव की कल्पना काल्पनिक सिद्धांतों या आदर्श वाक्यों की अभिव्यंजना से आगे नहीं बढ़ पाती। उनमें बुद्धि और कल्पना एवं आदर्श और यथार्थ का समुचित समन्वय नहीं हो पाता। भूतकाल की ओर अधिक देखने वालों के लिये भविष्य की सुंदर कल्पना सरल हो भी नहीं सकती!

रूप और शैली

भाषा

व्यावहारिकता के निकटतर

आधुनिक हिन्दी काव्य की भाषा के संबंध में सब से अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि वह व्यावहारिकता के निकट आती जा रही है। जन साधारण के व्यवहार में आने वाली भाषा और काव्य की भाषा में जो साम्य मिलता है वह यह है कि जनता समास और सन्धियुक्त शब्दों का प्रयोग नहीं करती बल्कि वह अनेक भाषा के उन शब्दों का, जो व्यवहार में आ गये हैं, निस्संकोच प्रयोग करती है। आधुनिक काव्य की भाषा में यही प्रवृत्ति द्रष्टव्य है। इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। छायावादी काव्य भाषा को जनता की भाषा से दूर लिये जा रहा था। विशेषण विपर्यय, लाक्षणिकता के अधिक प्रयोग, सन्धि-समास-युक्त तथा ध्वन्यार्थ व्यंजक शब्द, संस्कृत की भाववाचक संज्ञाओं की अधिकता, नये प्रतीक, आदि से भाषा हमसे अपरिचित होती जा रही थी। ऐसी भाषा में काव्योयुक्तता भले ही हो, किन्तु हिन्दी प्रदेश की जनता के लिये वह दुरूह थी। काव्य भाषा का नवीन विकास उसमें विभक्तियों के प्रयोग के रूप में हुआ। छायावाद के युग के पहले भी यह प्रवृत्ति थी, किन्तु उस समय उसकी प्रधानता नहीं थी। आजकल के कवि अधिकतर ऐसी ही भाषा का प्रयोग कर रहे हैं।

शब्द संबंधी उदारता

भाषा के विकास की दूसरी प्रमुख बात यह है कि उसमें तत्सम शब्दों के अतिरिक्त सामान्यतः प्रचलित तद्भव, देशज एवं विदेशी शब्दों को भी उचित स्थान मिल रहा है। तत्सम शब्दों की प्रधानता आज भी है। वस्तुस्थिति यह है कि तत्सम शब्दों वाली भाषा को ही साधारणतया हिन्दी कहा जाता है किन्तु प्रगतिवादी काव्य शब्दों के प्रयोग के संबंध में कोई बंधन नहीं स्वीकार करता। उसमें संज्ञा, पुलिया, वां ('वहां' के लिये), गुहार, कर्ज, किश्त ('तार सप्तक', पृष्ठ ५५), रेकिट ('आधुनिक हिन्दी काव्य', पृष्ठ ३४६), फासिस्त, आदि सभी प्रकार के शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। हास्य प्रधान कविताओं में तो अंग्रेजी के ये शब्द हास्य की सृष्टि करने के लिये ही प्रयुक्त किये

शब्द और वातावरण सृष्टि

जाते हैं।

वातावरण-निर्माण के लिये भी शब्दों का प्रयोग होता है। इस संबंध में 'तार सप्तक' (१९४३ ई०) के चालीसवें पृष्ठ पर गिरजा कुमार माथुर का यह कथन देखिए:—

"अभिव्यंजनात्मक शब्द-विन्यास वातावरण के रूप-भाव के अनुकूल बनाये जा सकते हैं—जैसे पतला नभ, सिमटी किरण, आदिम छांहें, घूमते स्वर आदि, क्योंकि मैं व्यंजना को वातावरण के लघु चित्र अथवा प्रतीक का रूप दे देता हूँ। कहीं-कहीं नए शब्द वातावरण का ध्वनि-भाव लेकर बनाये हैं, जैसे सूनसान, खंडेरों, आदि। उदाहरणार्थ 'सूनसान' शब्द ले लीजिये। 'शून्यता', 'सूनापन', 'सुनसान' सभी शब्द उस ध्वनि-भाव के साथ निर्बल प्रतीत हुए। 'शून्य' में एक खोखलापन है, 'सूनापन' में दो स्वर-ध्वनियों की तेजी के बाद ही अंत की दो व्यंजन ध्वनियां गति को समाप्त कर देती हैं। रोक देती हैं। 'सुनसान' सब से निर्बल है, क्योंकि इसमें केवल एक-स्वर-ध्वनि है और आरभ की दो व्यंजन-ध्वनियों से शब्द निर्गति है। 'सूनसान' में 'ऊ' की ध्वनि लंबाई और दूरी व्यक्त करती है; 'आ' की ध्वनि-विस्तार। बीच में 'न' की ध्वनि सनसनाहट और गहराई व्यक्त करती है। इस प्रकार 'सूनसान' शब्द का ध्वनि-भाव 'आ ऊ' हो जाता है जो गहरे सुनसान का यथार्थ रूप है।"

"मैंने छहों स्वरों के सम्पूर्ण प्रभावों को लेकर उनका निश्चित रूप एवं आकार निर्धारित किया है। 'आ' ध्वनि का रूप है विस्तार, 'इ' ध्वनि का रूप है आनत. ऊंचाई; 'ऊ' ध्वनि में दूरी, 'ए' ध्वनि में ऊर्ध्व गति, 'ओ' ध्वनि में वस्तु का "व्योग" तथा भीम-प्रवाह, और 'ऊ' में गहराई और गाम्भीर्य है"।[1]

'पल्लव' में पंत ने शब्दों के द्वारा खिंच जाने वाले चित्रों का उल्लेख किया था और उनके इस दृष्टिकोण ने भाषा को मोहक चित्रात्मकता दी थी। गिरिजा कुमार माथुर का यह दृष्टिकोण भाषा को वातावरण के निर्माण करने के योग्य बनायेगा। ध्वन्यार्थ व्यंजना शब्दों के प्रति कुछ यही दृष्टिकोण उपस्थित करती है। इस प्रकार प्रयुक्त शब्द भाषा में चित्र, ध्वनि एवं वातावरण की सृष्टि कर सकते हैं। ये दृष्टिकोण हिन्दी की काव्य भाषा का नवीन विकास कर रहे हैं।

एक आवश्यकता

जन साधारण की भाषा में जो सजीवता और शक्ति है उसका उपयोग काव्य भाषा को करना चाहिये। इससे उसकी समृद्धि में वृद्धि होगी। वह हिन्दी की काव्य भाषा को विशिष्ट व्यक्तित्त्व भी प्रदान कर सकती है। मुहावरे और कहावत उदाहरण स्वरूप हैं। उनका स्थूल प्रयोग काव्य के सौंदर्य को कम कर सकता है या हास्यास्पद हो सकता है। उससे मुहावरों की भी हानि होगी और कविता के सौंदर्य की भी; यथा—

इसको ही कहते हैं उंगली पकड़ प्रकोष्ठ पकड़ लेना

---

१. 'तार सप्तक' पृष्ठ ४१

मुहावरा है 'अँगुली पकड़ कर पहुँचा पकड़ना'। स्पष्ट है कि मुहावरों का ऐसा प्रयोग कदापि अभीष्ट नहीं। मुहावरों के सुन्दर और असुन्दर प्रयोग के उदाहरण लीजिए :—

(सुन्दर प्रयोग) खून हो जाये न तेरा देख पानी,
मरण का त्यौहार, जीवन की जवानी।"[१]

यहाँ मुहावरा अपनी पूरी शक्ति के साथ है। खून का पानी हो जाना जवानी का अपमान है। इस पद में 'तेरा देख' ने 'खून हो जाए न' और 'पानी' के बीच में आ कर मुहावरे के ओज को कुछ कम कर दिया है। पंक्ति यदि कुछ इस तरह की होती कि 'देख, तेरा खून पानी हो न जाए' तो और भी अच्छा होता।

(असुन्दर प्रयोग) "फूल गिरते; शूल शिर ऊँचा किए हैं।"[२]

इसमें यदि शूल शिर ऊँचा उठाये होते तो भाव कुछ और भी सुन्दर हो जाता और मुहावरा कुछ अधिक ज़ोरदार भी होता। व्यावहारिक भाषा भी शक्ति और सौन्दर्य से बिलकुल रहित नहीं होती। 'इश्क एक चीज है दुनिया में अगर टूट न जाय' में 'चीज' की शक्ति और उसका भंगिमा सराहनीय है। संस्कृतज्ञता का मोह और सामान्य जनता से उच्च रहने का अभिमान अर्थात् उनको सर्वथा हेय दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति छूट जाय, तो भाषा में कुछ और शक्ति आ जायगी। भाषा में व्यावहारिकता के तत्त्व जो आ पाये हैं उसका कारण यह है कि युग की सामान्य प्रवृत्ति सामान्य की ओर बढ़ने की है और कुछ कवि ऐसी भाषा लिखना चाहते हैं जो अधिकाधिक की समझ में आ सके। 'आधुनिक कवि (१९४७ ई०) में 'हरिऔध' ने छायावाद युग की भाषा के लिये लिखा है:—"आजकल जिस भाषा में खड़ी बोली की कविता लिखी जाती है यह बनावटी है, गढ़ी हुई है, असली बोलचाल की भाषा नहीं है। इन दिनों गद्य की भाषा भी यही है। यह भाषा अब पढ़े-लिखे लोगों में समझी जाती है।" बहुत दिन बीते भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने केवल मजाक के लिये खड़ी बोली को कविता में प्रयुक्त किया था। आज 'निराला' के 'कुकुरमुत्ता', 'खजोहरा', 'गर्म पकौड़ी', आदि में जो भाषा है वही बोलचाल के बहुत समीप है किन्तु उसका प्रयोग केवल व्यंग्य के लिये किया गया है। और, पढ़ा है कि इतिहास की पुनरावृत्ति स्वतः हुआ करती है!

आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रमुख भाषा खड़ी बोली है। इसके अतिरिक्त अवधी और ब्रजभाषा में भी कविताएँ लिखी गई हैं। अवधी के दो रूप मिलते हैं।

अवधी भाषा इसका पहला रूप लखनऊ के 'रमई काका', आदि के मुक्तकों में मिलता है। दूसरा रूप द्वारका प्रसाद मिश्र के 'कृष्णायन' में मिलता है। दोनों रूपों में वही अन्तर है जो जायसी और तुलसी की भाषा में है। द्वारका प्रसाद मिश्र की भाषा में संस्कृत के तत्त्व तुलसीदास से भी

१. माखन लाल चतुर्वेदी : 'जवानी' शीर्षक कविता
२. माखनलाल चतुर्वेदी : 'जवानी' शीर्षक कविता

अधिक हैं। इसका कारण यह भी हो सकता है कि अवधी प्रान्त उनका अपना प्रान्त नहीं है। जनसाधारण से अपरिचित होने पर हिन्दी लिखने के लिये संस्कृत का सहारा लेना शायद अनिवार्य हो जाता है !

कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

वृंत विहीन प्रसून समाना।
होत क्षिन्न शिर लागत वाणा।

. . . .

त्रास चपल गोलक विमल सजल विलोचन छोर।
वंशी वेधी मीन जनु करत वारि झकझोर ॥

. . . .

ब्रज भाषा

व्रजभाषा में भी कविताएं की गई हैं। ब्रजभाषा ने कई सौ वर्षों तक काव्य भाषा रह कर जो काव्योपयुक्तता प्राप्त कर ली थी उसने आज तक काव्य प्रेमियों को मुग्ध कर रक्खा है। यह एक मनोरंजक तथ्य है कि खड़ी बोली के श्रेष्ठ कवियों में से कुछ के काव्य जीवन का प्रारम्भ ब्रजभाषा की कविताओं से ही हुआ था। प्रसाद की प्रारंभिक रचनाएं इसी भाषा में थीं। मैथिली शरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरि-औध', आदि ऐसे ही कवि हैं। 'काजर है नहीं ए री सखी ! यह स्याम कौ रूप वस्यौ अँखियान में" रामकुमार वर्मा की प्रारंभिक कविताओं में से एक की एक पंक्ति है। रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' और उनकी विचारधारा के अनेक कवि आज भी खड़ी बोली को काव्य भाषा होने के योग्य नहीं समझते। अस्तु, कुछ कवि ब्रजभाषा में ही कविताएं लिखना ठीक समझते हैं। आधुनिक काल के ब्रजभाषा के कवियों में जगन्नाथ-दास 'रत्नाकर', वियोगी हरि, मिश्रबंधु, राम प्रसाद त्रिपाठी, रमा शंकर शुक्ल 'रसाल', हर दयालु सिंह, रामचन्द्र शुक्ल 'सरस', सत्यनारायण 'कविरत्न', आदि प्रमुख हैं। इन कवियों ने ब्रजभाषा काव्य को आगे भी बढ़ाया। कवित्तों में ही आख्यानक काव्य लिखे। इस आख्यानक काव्य का प्रत्येक छंद अपने में पूर्ण रहता है और कुल मिला कर कथा को आगे भी बढ़ाता है। उक्ति वैचित्र्य और वाग्वैदग्ध्य में और भी वृद्धि हुई जो 'रसाल' और रामप्रसाद त्रिपाठी की कविताओं से स्पष्ट है। 'रत्नाकर' में इसके साथ-साथ रस-व्यंजना भी है। संस्कृत शब्दों के प्रयोग बढ़ गए। क्रियाओं, आदि के प्रयोग में बहुरूपता; जैसे, दीन्ह्यौ, दीन्हो, दयो, दीनो, दयौ, आदि थी। 'रत्नाकर', आदि ने इन्हें एकरूपता देने का प्रयत्न किया है। हर दयालु सिंह ने 'दैत्य वंश' नामक महाकाव्य की रचना १९४० ई० में की। दुलारे लाल की 'दुलारे दोहावली' (१९३४ ई०) बिहारी सतसई की परम्परा में है। 'रत्नाकर' के कुछ कवित्तों की पंक्तियाँ देखिए :—

द्रुपद महीपति की, पंच पतिहू की, हाय !

पंचपतिहूँ के पतिहूँ की पति जायगी !

....

पांच-पांच नाथ होत नाथनि के नाथ होत,
हाय ! हौं अनाथ होति ! नाथ ! बस ह्वै चुकी !

....

"पंचजन्य चूमन हुमसि होंठ बक्र लाग्यौ,
चक्र लाग्यौ घूमन उमंगि अंगुरीन पै"[1]

....

"नैकु कही बैननि अनेकु कही नैननि सौं,
रही-सही सोऊ कहि दीन हिचकन नीसौं !"[2]

....

छंद

प्राचीन छंद

छंदों के क्षेत्र में कोई महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हुआ । जो प्रवृत्तियाँ १९२६ ई० तक चल चुकी थीं उन्हीं का प्रचार एवं प्रसार हुआ । ब्रजभाषा के कवियों के अतिरिक्त अन्य कवियों ने सवैया या कवित्त का उपयोग अधिक नहीं किया, तब भी दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' में इनके भी प्रयोग मिलते हैं :—

'द्रुपदा के पराभव का बदला कर देश का नाश चुकाना था क्या ?
.... (सवैया')

'जिनको सहारा नहीं भुज के प्रताप का है,
बैठते भरोसा किये वे ही आत्मबल का' ।

(कवित्त)

द्वारका प्रसाद मिश्र ने 'कृष्णायन' में दोहा, चौपाई और सोरठा छंद ही प्रयुक्त किये हैं । इस प्रकार पहली बात तो यह दिखाई पड़ती है कि आवश्यकता के अनुसार प्राचीन काल में प्रयुक्त छंदों का प्रयोग कर लिया गया है ।

प्रयग

दूसरी प्रवृत्ति 'सानेट' आदि के प्रयोगों में दिखाई पड़ती है । 'आभास' (१९३५ ई०) में बालकृष्ण राव ने सानेट का प्रयोग किया है । इसमें 'सानेट' का तत्त्व तुकों में ही है । अंग्रेजी में 'सानेट' का एक भेद ऐसा होता है जिसमें तुकांत का निम्नलिखित क्रम है :—

अ ब अ ब/ स द स द/ य फ य फ/ ग ग/

कवि ने अपने सानेट में तुकांत इस प्रकार रक्खा है :—

..........सुधाकर
..........वितान को
..........पा कर

---

१. 'रत्नाकर'
२. 'उद्धव शतक'

..........गान को
..........दल
..........चुंबन
..........चंचल
..........कण
..........जब
..........व्यथायें
..........तब
..........कथायें
..........छवि को
..........कवि को

इसी प्रकार प्रभाकर माचवे का एक 'सानेट' 'तार सप्तक' के पृष्ठ ५३ पर है। उसका तुक-विधान यों है :—

अ ब अ ब / स स द य / फ फ ग फ / ह ह

इस तुक-विधान के पीछे अंग्रेज़ी के 'सानेट' के तुक-विधान की कोई मान्य व्यवस्था नहीं है।

'बच्चन' ने 'सतरंगिनी' में छंद संबंधी कुछ प्रयोग किए हैं। उनमें से अधिकांश की सफलता सन्दिग्ध है। पंत, निराला, आदि ने भी इस प्रकार के प्रयोग किये हैं। पंत ने भावों की तीव्रता या असमानता या गति को प्रकट करने के लिये छंदों की पंक्तियों की मात्राओं में कमी की है या वृद्धि की है। इसका उल्लेख उन्होंने 'पल्लव' की भूमिका में किया है। उदाहरण के लिये :—

अभी तो मुकुट बँधा था माथ,
हुए कल ही हल्दी के हाथ,
बना सिन्दूर अँगार !
वात-हत लतिका वह सुकुमार,
पड़ी है छिन्नाधार।"[1]

अंतिम दो पंक्तियां देखिये। पहली पंक्ति में १६ मात्रायें हैं और दूसरी में १२। दूसरी पंक्ति में ४ मात्राओं की यह कमी दूसरी पंक्ति को ठीक उसी प्रकार की—प्रथम पंक्ति से असंबद्ध—कर देती है जैसे कोई लता पेड़ से असंबद्ध हो जाय। सोलह मात्राओं के आकार वाली प्रथम पंक्ति बारह मात्राओं के आकार वाली दूसरी पंक्ति की तुलना में उतनी ही बड़ी है जितना बड़ा लतिका की तुलना में उसका आधार उससे हो सकता है। इस बड़ाई-छोटाई का अनुभव भाव-क्षेत्र में होता है, यह न भूलना चाहिये। इस प्रकार चार

---

१. 'परिवर्तन'

मात्राओं की कमी आधार की छिन्नता की अभिव्यक्ति के लिये की गई है। छंद संबंधी एक परिवर्तन यह भी किया गया है कि सम-मात्रिक छंदों में अतुकांत रचना की जाने लगी। पंत ने 'ग्रंथि' इसी प्रकार के छंद में लिखा है। 'निराला' के द्वारा प्रचलित किया गया मुक्त छंद भी छंद संबंधी नवीन परिवर्तनों में माना जाता है। यह १९२६ ई० के काफी पहले से प्रारम्भ हो गया था। इस युग में इसका प्रचार बड़ी तेजी से हुआ है। प्रगतिवादी कविताओं में से अधिकांश इसी मुक्त छंद में लिखी गई हैं। प्रयोगवादी कविताओं में भी मुक्त छंद की ही प्रधानता मिलती है। मुक्त छंद का सफलतापूर्वक निर्वाह बहुत कम कवि कर पाये हैं। मुक्त छंद के लिखते समय लेखक के सामने तीन प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं। पहली कठिनाई यह है कि मुक्त छंद के लिये कोई बाहरी अनुशासन या बंधन नहीं है। अनुशासन जो कुछ है उसका आधार कला-प्रियता या अनुभूति है। अस्तु, असंतुलित अवस्था में भावावेश लेखक के मुक्त छंद को—अर्थात् काव्य के बाहरी स्वरूप को भी—सामान्य कोटि का कर सकता है। दूसरी कठिनाई यह है कि मुक्त छंद के विधान में सार्वजनीनता नहीं है। भाव-लय—जिस पर मुक्त छंद आधारित होता है—व्यक्ति की अपनी-अपनी भावानुभूति या संवेदनात्मकता के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है। तीसरी कठिनाई यह है कि मुक्त छंद का सिद्धांत सब लोग नहीं जानते हैं। परम्परा छंदबद्ध रचना को कविता और स्वर-लय पर आधारित माधुर्य को संगीत कहती है। इस भिन्नता के कारण मुक्त छंद का काव्यत्व और संगीत सर्वप्रिय एवं सर्वसुलभ नहीं हो पा रहा है। सामान्य जनता तो इसे बिल्कुल ही नहीं समझती। सब जानते हैं कि मुक्त छंद का प्रणयन सरल नहीं है किन्तु मुक्त छंद का प्रचार इतनी तेजी से बढ़ रहा है कि आश्चर्य होता है।

सोहन लाल द्विवेदी के 'वासवदत्ता' (१९४२ ई०) में जिस प्रकार के मुक्त छंद का प्रयोग हुआ है उसमें भाव-लय के अतिरिक्त गेयता, ध्वन्यार्थ व्यंजना, भाव के अनुसार आरोह-अवरोह, अन्तर्गत अनुप्रास, आदि मिलते हैं :—

"सज कर नव-हीर-हार
पुष्पहार—
अंग-अंग अंगराग
केसर, मृगमद, पराग,
मस्तक कुंकुम सुहाग
अरुण चरण,
नूपुर ध्वनि,
बजती शत किंकिणी,
बजती-सी आगमनी,
मृदु-मृदु मधु झंकार,

झंकृत-सी करती चर अचर के निखिल तार।"[१]

....

मुक्त छंद लिखने के लिये उच्च कोटि की कलात्मकता चाहिये किन्तु प्रचलन बहुत बड़ी चीज है। कदाचित् मुक्त छंद की उत्कृष्टता की कसौटी ही बदलेगी!

तीसरा और बहु प्रचलित रूप मिश्रित छंदों का है। इस युग में यह मिश्रण जान-बूझ कर नहीं किया जा रहा है। प्रसाद, पंत, नाथूराम शर्मा 'शंकर', आदि ने पिछले युग में काफी प्रयोग किये थे। लावनी, बंगला का पयार छंद, अंग्रेजी के छोटे-छोटे छंद, गजल, आदि इन प्रयोगों के आधार थे। उन प्रयोगों में जो प्रचलित हो गये हैं अगली पीढ़ी ने उनको वैसे ही अपना लिया।

मिश्रित रूप

मैथिली शरण गुप्त के साकेत में सीता के 'मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया' वाले गीत में इस प्रधान पंक्ति की जो बार-बार आवृत्ति होती है उस पर लावनी का प्रभाव है। हिन्दी गीतों के आधुनिक स्वरूप पर तमाम स्रोतों में से कुछ के निम्नलिखित स्वरूपों के न्यूनाधिक प्रभाव पड़े हैं :—

ओरे दुयार खुले देरे—
बाजा शंख बाजा।
गंभीर राते एसेछ आज
आँधार घरेर राजा।
बज्र डाके शून्य तले
विद्युतेरि झिलक झले
छिन्न शयन टेने एने
आङिना तोर साजा
झड़ेर साथे हटात् एलो
दुःख रातेर राजा।"[२]

....

ओवर रफ़ ऐंड स्मूथ शी ट्रिप्स एलांग
ऐंड नेवर लुक्स बिहाइंड;
ऐंड सिंग्स ए सालिटरी सांग,
दैट ह्विसिल्स इन दि वाइन्ड।[३]

महादेवी ने 'गीति काव्य' नामक निबंध में लिखा है कि "भाव-गीतों में सगुण-निर्गुण गीतों की शैली ही नहीं कल्पना का भी प्रभाव है।"[४] वहीं वे लोक-गीतों का प्रभाव

---

१. 'उर्वशी'
२. टैगोर
३. वर्ड्सवर्थ
४. 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य'

भी स्वीकार करती है। कहना अनुचित न होगा कि महादेवी के गीतों की टेकों पर लोक-गीतों एवं सूर, तुलसी, कबीर, मीरा आदि के पदों का स्पष्ट या अस्पष्ट प्रभाव है।

अस्तु, उस युग में गीतों को एक स्वरूप मिल गया। १३ १४ या १५-१६ मात्राओं या इसी प्रकार के अन्य छोटे-छोटे चरण, और फिर टेक से मिलती-जुलती एक बड़ी पंक्ति, और इस प्रकार चार-पाँच या भाव के अनुसार कम या अधिक पद मिल कर हमारे गीत की एक सामान्य रूप रेखा बनाते रहे। बीच के चारों चरण या तो समतुकांत होते थे या विषम तुकांत। आधुनिक हिन्दी के गीत साहित्य में से अधिकांश के रूपों का निर्माण इसी परम्परा या प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से पड़ने वाले उपर्युक्त प्रभावों के आधार पर हुआ है। बाद में कवियों ने अपनी कल्पना का स्वतंत्र रूप से उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया। भावों के अनुसार छंद बदलने लगे। 'निराला' की निम्न पंक्तियाँ देखिये :—

"जागो, जागो, आया प्रभात,
बीती वह, बीती अंध रात,
झरता झर ज्योतिर्मय प्रपात पूर्वाचल;
बांधो-बांधो किरणें चेतन,
तेजस्वी, हे तमजिज्जीवन,
आती भारत की ज्योतिर्धन महिमावल।"[१]

निश्चित है कि उपर्युक्त स्वरूप शास्त्रीय नहीं। यह कवि की अपनी स्वतन्त्र चिन्तना से उद्भूत है। इसी प्रकार माखनलाल चतुर्वेदी की 'कैदी और कोकिला' गीत के छंद मात्रा या वर्ण के किसी निश्चित क्रम के आधार पर नहीं हैं। उनका आधार है भावनाओं की तीव्रता, कवि का मनोवेग एवं उसका आवेश। खंड काव्य या प्रबन्ध काव्य के लिखते समय एक सर्ग या अध्याय में एक ही छंद के निर्वाह का प्रयत्न किया गया है। निराला का 'तुलसीदास', मैथिली शरण गुप्त का 'सिद्धराज', आदि इसके उदाहरण हैं। किन्तु एक ही अध्याय में अनेक छंद और अनेक गीतों के प्रयोग के उदाहरण 'साकेत' के नवम सर्ग में हैं। महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा और बच्चन, आदि अपने गीतों में तुक, मात्रा एवं छंद की अनुरूपता का प्रायः ध्यान रखते हैं। इससे संगीतात्मकता बनी रहती है। बाद में छंद, आदि का विचार बिल्कुल छोड़ दिया गया। कवि कविता लिखने के 'मूड' में आता है या कभी-कभी अपना 'मूड' बनाता है। गुनगुनाना प्रारम्भ करता है। अभ्यास एवं संस्कार अज्ञात रूप से कार्य करते रहते हैं। उस वातावरण में लय का जो रूप कवि को जँच गया वह उसके गीत की प्रथम पंक्ति हो गया। बाद की चार पंक्तियां आवश्यकतानुसार १३, १४, १५, या १६, आदि के

१. 'तुलसीदास'

चरणों के विभिन्न मिश्रण से बनती हैं। पांचवीं पंक्ति के लिये कोई ऐसा बंधन नहीं कि वह पूर्णतः प्रथम पंक्ति के ही अनुकूल हो या बाद की पंक्तियों के अनुकूल हो। दोनों रीतियों में से किसी भी एक को अपनाया जा सकता है। यह भी हो सकता है कि पांचवीं पंक्ति का प्रथमार्द्ध बीच की पंक्तियों के अनुरूप हो और शेष प्रथम पंक्ति के अनुरूप। कोई विशेष नियम नहीं है। कवि अपनी अभिव्यक्ति जिस तरह से भी सशक्त एवं प्रभावपूर्ण कर सकता है, करे। बच्चन की 'तुम गा दो' कविता का छंद विधान देखिए :—

"तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाए (५; १६)
मेरे वर्ण-वर्ण विश्रृंखल (१६)
चरण-चरण भरमाए, (१२)
गूंज-गूंज कर मिटने वाले (१६)
मैंने गीत बनाए (१२)
कूक हो गई हूक गगन की (१६)
कोकिल के कंठों पर (१२)
तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाए"[1] (५, १६)

पहली और सातवीं पंक्ति में ५ मात्राओं की अधिकता ने गीत को एक सुन्दर मोड़ दे दिया है जिसका आनन्द गाने पर ही लिया जा सकता है। गाने में स्वर का ध्यान रखना पड़ता है। नहीं तो लय, इत्यादि सब बिगड़ जायें। यही कारण है कि मात्रा का थोड़ा-सा ध्यान इन गीतों में अब भी बाकी रह गया है; नहीं तो वह भी समाप्त हो जाता। इस प्रकार, भिन्न मात्राओं की भिन्न पंक्तियों के योग से आज के गीतों का स्वरूप निर्मित होता है।

इधर निराला के कुछ प्रयोगों ने हिन्दी गीतों को एक नया मोड़ देना चाहा है। उन्हें अभी सफलता नहीं मिली। इस असफलता के कारणों में हमारे संस्कार एवं अति परिचय या अभ्यास से बनी हुई हमारी धारणा भी है। 'निराला' के ये

अन्य

प्रयोग हिन्दी में आकर इतने नवीन हो गए हैं कि हमारी चेतना उनके इस स्वरूप को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हैं। इन प्रयोगों में से कुछ के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

(क) कजली

"काले काले बादल आये, न आये वीर जवाहर लाल
कैसें कैसे नाग मंडलाये, न आये वीर जवाहर लाल
बिजली फनके मन की कौंधी,
कर दी सीधी खोपड़ी औंधी,
सर पर सर सर करते धाये न आये वीर जवाहर लाल॥"[2]

(ख) गजल

१. 'सतरंगिनी'
२. 'बेला' (१९४३ ई०)

"बीन की झंकार कैसी बस गई मन में हमारे,
धुल गई आंखें जगत की खुल गये रविचन्द्र तारे ॥"[१]

(ग) ग्राम्य लय

"युवक जनों की है जान, खून की होली जो खेली।
पाया है लोगों में मान, खून की होली जो खेली।
रंग गये जैसे पलाश, कुसुम किंशुक के सुहाये,
कोकनद के पाये प्राण, खून की होली जो खेली।"[२]

(घ) साधारण गीतों की लय

खुल गये डाल के फूल, रंग गये मुख,
विहग के, धूल मग की हुई विमल सुख,
शरण में मरण का मिट गया महा दुख,
मिला आनन्द पथ-पाथ, संसृति तजी,
नाथ, तुमने गहा हाथ, वीणा बजी।

इस गीत की लय कुछ इस गीत की लय पर है :—

खिदमते मुल्क में जो कि मर जायेंगे
नाम दुनियाँ में अपना वो कर जायेंगे
ये न पूछो कि मर कर किधर जायेंगे
वो जिधर भेज देगा, उधर जायेंगे ....आदि

किन्तु भावनाओं की जो सरलता, भाषा का जो अक्षुण प्रवाह, शैली की जो ऋजुता, अनुभूतियों की जो सरलता एवं सहजता, भावनाओं की जो सुलझ और भाषा की जो मस्ती इन पंक्तियों में है वह 'निराला' की पांचों पंक्तियों में से किसी एक में भी नहीं। निराला की पंक्तियों में यदि किसी को ये गुण दिखाई पड़ सकते हैं तो निश्चय ही वह व्यक्ति हिन्दी प्रदेश की जनता का प्रतिनिधि न होगा। यही बात (क) और (ख) वाले उद्धरणों में भी है।

हमारी जो धारणा अब तक बन पाई है उसके अनुसार 'कजली' में 'कर दी सीधी खोपड़ी औंधी' के लिए कोई स्थान नहीं है। गजलों में ऐसी तत्सम शब्दावली का प्रयोग सुना भी नहीं था। इसमें उर्दू का प्रवाह एवं लोच नहीं है। रूढ़िवादी मस्तिष्क ही नहीं, बल्कि प्रगतिशील मस्तिष्क भी इन्हें देखकर चौंक उठेगा। सामान्य चेतना को ये ग्राह्य नहीं। झूले झूलती हुई कोई भी ग्राम बाला यह कजली न गा सकेगी और न कोई सरस हृदय इससे रससिक्त हो सकेगा। जनता की कसौटी या साहित्यिकों की कसौटी—दोनों में से किसी—पर यह प्रयोग सफल सिद्ध नहीं होते। ये हिन्दी के किसी नये प्रयोग के प्रेरणास्रोत बन सकें, तो वह बात दूसरी है। 'निराला' की कुछ गजलें कुछ गनीमत हैं। उनकी कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

१. 'अणिमा' (१९४३ ई०)
२. 'नये पत्ते' (१९४६ ई०)

'बिगड़ कर बनते और बनकर बिगड़ते एक युग बीता !
परी और शाम रहने दे, शराब और जाम रहने दे !
× × ×
भेद कुल खुल जाय, वह सूरत हमारे दिल में है,
देश को मिल जाय जो पूंजी तुम्हारी मिल में है।"[१]

एक और बात उल्लेखनीय है। वह प्रवृत्ति बिल्कुल नवीन नहीं है। छायावाद युग के पहले श्रीधर पाठक ने लिखा था :—

"कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला सुमंजु वीणा बजा रही है।
सुरों के संगीत की-सी कैसी सुरीली गुंजार आ रही है।
हरेक स्वर में नवीनता है, हरेक पद में प्रवीनता है,
निराली लय है औ' लीनता है, अलाप अद्भुत मिला रही है।"[२]

इस प्रकार प्रसाद ने भी लिखा था :—

"विमल इंदु की विशाल किरणें प्रकाश तेरा बता रही हैं।
अनादि तेरी अनन्त माया जगत को लीला दिखा रही हैं।"[२]

इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि उर्दू के बह्र संस्कृतनिष्ठ भाषा, हिन्दी की साहित्यिक शैली और उसके असाधारण भावों की अभिव्यक्ति के लिये नहीं हैं। यदि उनके प्रवाह, माधुर्य और चमत्कार की चाह है तो साधारण जनता की प्रवृत्तियों को परखना पड़ेगा और अपनी भाषा, शैली एवं भाव में उनके अनुकूल कुछ परिवर्तन करना होगा।

काव्य रूप

आधुनिक हिन्दी काव्य प्रधानतया तीन रूपों में मिलता है :—१—मुक्तक काव्य, २—गीति काव्य, और ३—प्रबंध काव्य। इन तीनों रूपों का काव्य अनेक शैलियों में लिखा गया है।

मुक्तक

मुक्तक के विषय में श्रीकृष्ण लाल ने लिखा है :—

"काव्य रूप की दृष्टि से मुक्तक में न तो किसी वस्तु का वर्णन ही होता है न वह गेय ही है। यह जीवन के किसी एक पक्ष का अथवा किसी एक दृश्य का या प्रकृति के किसी पक्ष विशेष का चित्र मात्र होता है, पूरे जीवन का चित्र नहीं होता।"[३]

आधुनिक काल में कुछ कवितायें ऐसी लिखी गई हैं जिनके विषय में रीतिकाल

---

१. 'नया साहित्य' का 'निराला अंक'
२. सुधीन्द्र : 'हिन्दी कविता का क्रांतियुग'
३. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' (पृष्ठ ९२)

की यह उक्ति कि 'आगे के सुकवि मानिहैं तौ कविताई न तौ राधिका कन्हाई सुमिरन कौ बहानो है' सही घटती है। ब्रजभाषा के कवियों में इनकी संख्या अधिक है। भ्रमर दूत वाले प्रसंग, द्रौपदी-चीर-हरण, एवं अभिमन्यु-वध, आदि प्रसंगों पर उक्ति-वैचित्र्य, वाग्वैदग्ध्य, और आलंकारिकता से पूर्ण कवितायें लिख कर श्रीकृष्ण की भक्ति एवं मोक्ष प्राप्त करने की आशा या विश्वास, या ऐसे ही दृष्टिकोणों को लेकर ऐसे काव्य की रचना करने वाली बात आजकल समझ में न आने वाली बातों में से है। लोकरंजन, लोकसंग्रह, या विशुद्ध चित्रण उनमें होता नहीं। बहुत-कुछ सोचने-विचारने के बाद यही मालूम होता है कि ऐसे काव्य का उद्देश्य चमत्कारपूर्ण उक्तियों, व्यंग्य, वक्रोक्तियों एवं अलंकारों, आदि का प्रदर्शन ही होता है। रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का निम्न-लिखित कवित्त देखिए :—

"मोहन-विथा की कथा आपहू सुनावैं ऊधौ !
मोहन-विथा की कथा हमहूँ सुनावैं हैं।
हम ब्रजचंद्र बिना हैं परी महातम मैं
अपने महातम मैं आप अकुलावैं हैं।
हम-तुम दोऊ एक, देखौ टुक टारि टेक,
अन्तर जौ नेक सो बिबेक कै बतावै हैं।
हम गुन गावैं निगुनी ह्वै सुगुनी के नीके,
आप गुनी ह्वै कै निगुनी के गुन गावैं हैं।"[१]

मुक्तक की उपर्युक्त शैली में शब्द-शक्ति का चमत्कार है। उसकी दूसरी शैली में कल्पना शक्ति का वह चमत्कार देखने को मिलता है जिसमें उपमा, उत्प्रेक्षा, आदि के रूपों में अप्रस्तुतों की योजना की जाती है। सुमित्रानन्दन पंत के 'पल्लव' में इस शैली के मुक्तक काफी मिल जायेंगे। 'अप्सरा', आदि कवितायें इसी प्रकार की हैं। 'स्याही का बूंद' में भी कल्पना-शक्ति का अच्छा प्रदर्शन है! बच्चन की 'मधुशाला' की प्रत्येक रुबाई मुक्तक की इसी शैली के उदाहरण में प्रस्तुत की जा सकती है :—

"मैं मदिरालय के अंदर हूँ, मेरे हाथों में प्याला,
प्याले में मदिरालय विंबित करने वाली है हाला,
इस उधेड़-बुन में ही मेरा सारा जीवन बीत गया—
मैं मधुशाला के अन्दर या मेरे अन्दर मधुशाला !"

× × ×

"मेंहदी-रंजित मृदुल हथेली में माणिक मधु का प्याला,
अंगूरी अवगुंठन डाले स्वर्ण-वर्ण-साकी बाला,
पाग बैंजनी, जामा नीला, डाट डटे पीने वाले,

---

१. 'आधुनिक ब्रजभाषा काव्य'

इंद्र धनुष से होड़ रही ले आज रँगीली मधुशाला।"

× × ×

मुक्तकों की तीसरी शैली में हमें अन्योक्तियाँ मिलती हैं। इनमें किसी वस्तु पर मानवीय भावनाओं एवं सिद्धांतों का आरोप कर दिया जाता है और तब उसका इस प्रकार वर्णन या चित्रण किया जाता है कि वह वर्णन उस वस्तु विशेष का न रह कर मनुष्य का हो जाय। कोयले को दलित वर्ग का प्रतीक मान कर उसका जिस प्रकार चित्रण केदारनाथ अग्रवाल ने किया है उसका उल्लेख किया जा चुका है। 'सतरंगिनी' (१९४५ ई०) की 'नागिन' वाली कविता में नागिन के माध्यम से नारी की शक्ति और उसके प्रभाव का चित्रण बच्चन ने किया है। अन्योक्तियों का विकसित रूप हमें रूपकों में मिलता है। यह हिन्दी के मुक्तकों का सुन्दरतम विकास है। 'अशोक वन' नामक कविता के अन्दर पन्त ने हनुमान को जीवन-चेतना के चिर ज्वलंत प्रतीक के रूप में उपस्थित किया है :—

हे पावक-वाहक धन्य-धन्य !
तुम धूमकेतु से शिखा पुच्छ, तुम उल्का से टूटे अनन्य !
....
युग-युग का कर्दम कलुष जला,
गत रीति-नीति के अंग गला,
तुम रक्ष प्रजा के लिये बने
जीवन-चेतना-शिखा वरेण्य !

इसी प्रकार 'स्वर्ण किरण' नामक पुस्तक में पंत ने प्रतीकों का अथक प्रयोग किया है। 'रजतातप' आत्म-निर्माण का, 'इंद्र धनुष' जीवन-निर्माण का, 'अरुण ज्वाला' नव चेतना का, 'स्वर्ण निर्झर' सौन्दर्य-चेतना का, 'स्वर्णिम पराग' मन का, 'ऊषा' मनः स्वर्ण का, 'हरीतिमा' प्राण का, 'नीलाधार' विश्व-यमुना का, एवं 'स्वर्णोदय' जीवन-सौन्दर्य का प्रतीक है। 'मृत्युंजय' कविता में उसने ईश्वर को 'युग-युग के समष्टिगत जीवन के केन्द्रगत, चिर विकासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ' माना है। सीता को पृथ्वी के गर्भ में निद्रित चित्-शक्तिमय जीवन की प्रेरणा माना है।

मुक्तकों की चौथी शैली में मानव जीवन के विविध पक्षों एवं उसके भविष्य की अवतारणा होती है। इनमें बुद्धि की प्रधानता होती है। बातें सीधे-सादे ढंग से कही जाती हैं। काव्य के उपकरण के रूप में कल्पना, अलंकार, चित्रभाषा, आदि का आश्रय नहीं लिया जाता। इसीलिये काव्य-पारखी ऐसी रचनाओं में काव्य-कला का ह्रास पाते हैं। सुमित्रानन्दन पंत की 'ग्राम्या', 'युगवाणी', आदि की बहुत-सी कवितायें मुक्तक का यही स्वरूप सामने लाती हैं। इसके उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं।

मुक्तकों की पाँचवीं शैली में हमें हास्य प्रधान वे रचनायें मिलती हैं जिनमें कथात्मकता, आदि नहीं होती। हास्य की सामग्री समाज एवं मानव जीवन के अन्दर

से मिलती है। हमारे कुछ विचार या हमारी कुछ अवस्थाएं या व्यवस्थाएं ऐसी होती हैं जो हमारे व्यक्तिगत जीवन को कुछ हानि नहीं पहुँचातीं किन्तु यदि उन पर विचार किया जाय तो वे उचित नहीं लगतीं। ऐसे स्थलों से हास्य की सामग्री चुनी जा सकती है। असंगतियाँ या विद्रूपमयी असामान्यतायें भी हास्य के विषयों में से हैं। उदाहरण के लिये बहुत अधिक मोटा होना, बहुत अधिक भोजन करना, बात करते समय हकलाना, आदि पर हास्य रस की कवितायें लिखी गई हैं। हास्य का एक दूसरा स्वरूप हमें पैरोडी में मिलता है। किसी बहुत प्रसिद्ध कविता को लेकर उसकी शैली और उसके स्वरूप को वैसा ही रखते हुए एकाध शब्द को परिवर्तित करके इस प्रकार लिखा जाय कि विषय की गंभीरता समाप्त हो जाय और कविता में हमें हँसाने वाली शक्ति आ जाय, तो उसे पैरोडी कहेंगे। हास्य प्रधान रचनाओं में स्थायित्व प्रायः कम रहता है। 'आज', 'संसार' आदि पत्रों के साप्ताहिकों में, पत्र-पत्रिकाओं के होलिकांकों में या समय-समय निकलने वाली फुटकर कविताओं में हमारा हास्य प्रधान काव्य बिखरा है। चोंच, बेधड़क, बेढब, आदि कवि हास्य प्रधान कविताओं के लिये प्रसिद्ध हैं। संयम न रख पाने से हास्य प्रधान कविताएं कभी-कभी अश्लील हो जाती हैं। हास्य की निम्नलिखित रचनाए देखिए :—

"लीडर-प्लीडर, भांड़, कवि, मेम्बर अरु अखबार
विज्ञापन के बल चलत ये सब बोलनहार
तुलसी बड़ बड़ करत ही रोब जमत चहुं ओर
नाम करन कौ अस्त्र है खूब मचावहु शोर
तुलसी जैसा सोर्स हो तैसी मिलै सहाय
बिन इंटरव्यू बेधड़क सुघर पोस्ट मिल जाय "[१]

....

"मैं तो असीम बन गया नहीं है सीमा
गंगा की पावनता में नहीं उलझता
विस्की के प्याले में कब दोष समझता
है मेरे लिये सुधा क्या और गरल क्या
जैसे खोये का लड्डू वैसा कीमा
मैं तो असीम बन गया नहीं है सीमा "[२]

किन्तु व्यंग्य हास्य से अधिक शक्तिशाली एवं प्रभावपूर्ण होता है। व्यंग्य रचना में बुद्धितत्त्व की प्रधानता होती है। निराला के व्यंग्यों का उल्लेख किया जा चुका है। 'मास्को डायलाग्स', 'रानी और कानी', आदि उल्लेखनीय हैं। 'तार सप्तक' के पृष्ठ ३६ पर भारतभूषण अग्रवाल की एक व्यंग्य कविता देखिये :—

१. 'बेधड़क' बनारसी के दोहे : ३० नवम्बर, १९४४ ई० का 'साप्ताहिक संसार'
२. 'बेढब' बनारसी : १० फरवरी, १९४६ ई० का 'देशदूत'

अहिंसा
(व्यंग्य)

खाना खाकर कमरे में बिस्तर पर लेटा
सोच रहा था मैं मन ही मन; 'हिटलर बेटा
बड़ा मूर्ख है, जो लड़ता है तुच्छ छुद्र मिट्टी के कारण
क्षणभंगुर ही तो है रे! यह सब वैभव धन!
अंत लगेगा हाथ न कुछ, दो दिन का मेला
लिखूं एक खत हो जा गांधी जी का चेला
वे तुझको बतलायेंगे आत्मा की सत्ता
होगी प्रकट अहिंसा की तब पूर्ण महत्ता
कुछ भी तो है नहीं धरा दुनिया के अन्दर'
× × ×
छत पर से पत्नी चिल्लाई, "दौड़ो बंदर"

जीवन के दो पक्ष होते हैं :—१. सैद्धान्तिक और, २. व्यावहारिक। दोनों में अनुरूपता हो, तभी कल्याण हो सकता है। गांधी जी का अहिंसा सिद्धांत व्यावहारिक दृष्टि से हमारे जीवन के लिये बेकार-सा है। उपर्युक्त कविता की अंतिम पंक्ति उसकी अन्य नौ पंक्तियों के भाव-गांभीर्य को हास्यास्पद बना देती है और इस प्रकार व्यंग्य निखर उठता है।

गीतिकाव्य

छायावाद की कविता पर विचार करते समय गीतिकाव्य की प्रधान विशेषताओं का उल्लेख किया जा चुका है। मुक्तक रचनाओं में स्वर-लय, भाव-लय एवं वातावरण-लय, कोमल-मधुर एवं चित्रात्मक भाषा, सौन्दर्य-चेतना, मानवीयकरण, चिंतनात्मकता, लोक-जीवन की वैयक्तिक अनुभूतियाँ, दृष्टिकोण की नवोनता, एवं सूक्ष्म की अनुभूति, भावुकता—इन सब ने मिल कर गीति काव्य का स्वरूप ले लिया है। इस गीति काव्य के स्वरूप और उसकी भावना पर हिन्दी प्रदेश के लोक-गीतों, अपने प्राचीन काव्य, एवं अन्य भाषाओं की प्रवृत्तियों का ज्ञात एवं अज्ञात रूप से प्रभाव पड़ा है। चिन्तन, कल्पना और कलात्मकता ने इसे आधुनिक स्वरूप प्रदान किया है।

गीति काव्य का सब से अधिक महत्त्वपूर्ण भाग अध्यांतरिक गीतियों का है।

प्रकार
अध्यांतरिक
गीति

अंग्रेजी में इसे सब्जेक्टिव लिरिक कहते हैं। इसमें कवि का अपना व्यक्तित्व प्रधान रहता है। कवि की व्यक्तिगत अनुभूति एवं उसकी अपनी आंतरिक प्रेरणा अर्थात् उसका अपना हृदय ही इन कविताओं के पीछे रहता है। इस विषय में श्रीकृष्ण लाल ने लिखा है :—

"अध्यांतरिक गीति काव्य कवि की अंतः प्रवृत्ति और चित्तवृत्ति का काव्य है जो उसकी प्रकृति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है।"[१]

इसका प्रथम स्वरूप हमें वहाँ मिलता है जहाँ कवि अपने अनुभव और भाव अपने ही ऊपर ढाल कर लिखते हैं। आधुनिक युग में इस प्रकार के गीतों का ही प्राधान्य है।

अन्तर्मुखी अनुभूतियों की व्यंजना की दृष्टि से महादेवी और बच्चन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विषय की दृष्टि से ये कवि दो विभिन्न विचारधाराओं की कविता का प्रतिनिधित्व करते हैं। दोनों ने प्रधानतः गीत ही लिखे हैं। महादेवी छायावाद के गीति लेखकों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस शैली के लेखक निर्गुण ब्रह्म के उस रूप की उपासना करते हैं जिसका संबंध भक्त की शृंगार भावना से होता है। महादेवी और रामकुमार वर्मा के गीत ऐसे ही हैं। सभी छायावादी कवियों ने इस प्रकार के गीत लिखे हैं। निराला, आदि के कुछ गीतों में अध्यात्म का स्वर कुछ अधिक प्रखर हो उठा है। बच्चन उन कवियों का प्रतिनिधित्त्व करते हैं जो लौकिक शृंगार की मिलन-विरह की अनुभूतियों की अवतारणा साहस के साथ करते हैं। इन लोगों ने अपनी अनुभूतियों को अध्यात्म के रंग में नहीं रँगा है।

द्वितीय शैली में उन भावनाओं की व्यंजना होती है जो किसी वस्तु या दृश्य को देखने पर कवि के अन्दर उठती हैं। इन्हीं के एक अन्य रूप की कविताओं को अंग्रेजी में 'ओड्स' कहा गया है। श्री कृष्ण लाल ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' में इन्हें संबोध गीति कहा है। पंत, प्रसाद और निराला की अधिकांश कवितायें सुन्दर संबोध गीतियाँ ही हैं। 'अज्ञेय' की 'जनाह्वान' ('तार सप्तक' पृ० ७७), भारत भूषण अग्रवाल की 'मसूरी के प्रति' ('तार सप्तक' पृ० ३५), और 'अपने कवि से' (तारसप्तक पृ० ३३), आदि कवितायें इसी शैली की हैं। 'दिनकर' की 'हिमालय के प्रति' कविता उच्चकोटि के संबोध गीति है। प्रकृति-दर्शन से उठे हुए भाव इस शैली में भी अभिव्यक्त होते हैं। प्रकृति, अध्यात्म, और मानवीयता प्रायः इन गीतों में मुखरित होती रहती है। मानव के हर्ष, शोक, आदि प्रकृति के स्वरूपों में विभिन्नता उत्पन्न कर दिया करते हैं। निराला का 'सखि, वसन्त आया', आदि गीत ऐसे ही हैं।

संबोध गीति

संबोध गीतियों का एक अन्य स्वरूप उन कविताओं में मिलता है जिनमें कवि की वर्ण्य वस्तु अपने आप अपने संबंध की बातें कहती है। इन बातों में उसका सौंदर्य, उसका उद्देश्य, उसके विचार, आदि रहते हैं। यह सब होती तो कवि की ही भावनायें हैं किन्तु वह कहलवाता है उस वस्तु विशेष से। बच्चन ने 'मधुबाला' में 'प्याले' से उसकी जीवन—गाथा कहलाई है :—

> जो रस ले कर आया भू पर जीवन-आतप ले गया छीन,
> खो गया पूर्व, गुण, रंग, रूप हो जग की ज्वाला के अधीन,
> मैं चिल्लाया, 'क्यों ले मेरी मृदुता करती मुझको कठोर ?'
> लपटें बोलीं, 'चुप, बजा ठोंक लेगी तुमको जगती प्रवीण';
> यह लो मीना-बाजार लगा, होता है मेरा क्रय-विक्रय।

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य (पृष्ठ ११८)

मिट्टी का तन, मस्ती का मन, क्षण भर जीवन, मेरा परिचय ।।
मुझको न सके ले धन-कुबेर दिखला कर अपना ठाठ-बाट,
मुझको न सके ले नृपति मोल, दे माल-खजाना, राज-पाट,
अमरों ने अमृत दिखलाया, दिखलाया अपना अमर लोक,
ठुकराया मैंने दोनों को रख कर अपना उन्नत ललाट;
बिक, मगर, गया मैं बिना मोल जब आया मानव सरस-हृदय ।
मिट्टी का तन, मस्ती का मन, क्षण भर जीवन, मेरा परिचय ।।

इसी प्रकार सियाराम शरण गुप्त के 'दूर्वादल' (१९२९ ई०) की 'घट' शीर्षक कविता में घट ने अपनी कहानी अपनी ही जबानी कही है :—

कुटिल कंकड़ों की कर्कश रज
मल-मल कर सारे तन में,
किस निर्मम निर्दय ने मुझको
बाँधा है इस बंधन में ?
फाँसी-सी है पड़ी गले में
नीचे गिरता जाता हूँ,
बार-बार इस अंध कूप में
इधर-उधर टकराता हूँ...............इत्यादि

अध्यान्तर गीति काव्य की तृतीय शैली में कवि अपने को किसी दूसरे व्यक्ति, वस्तु अथवा प्रसंग में रख कर हृदय की भावनाओं की व्यंजना करता है। ऐसा करने से कवि की भावनायें व्यापक स्वरूप धारण कर लेती हैं। 'जीवन के गान' (१९४१ ई०) में 'फूल का हार' शीर्षक कविता में अपने को फूल मान कर अपनी भावनाओं को बड़ी ही सुन्दरता से प्रकट किया है :—

भावना-विपर्यय

था उठा इठला अकिंचन जब ज्वलित कर स्नेह बाती,
था भरा सौरभ इसी अपराध में थी छेद छाती,
दूसरों के हित हृदय में मैं पिरोये पतार हूँ।
आज तो मैं भी हृदय का हार हूँ ।।

इसी प्रकार नरेंद्र ने 'पलाश वन' (१९४० ई०) में लिखा है :—

थे भ्रमरावलि-सी वेणी में बंध जाने को लालायित जो
सुरभित मेरा ही स्नेह, सुमुखि, निशिगंधा के उन फूलों में,
साड़ी का पल्ला थाम तुम्हें जो बरबस खींच लिया करते
मेरी ही तो उर-आकांक्षा हो उठी ढीठ उन शूलों में ।

इन कृतियों में अपने समाज की किसी वर्ग विशेष से संबंधित भावनाओं की अभिव्यक्ति की जाती है। ये भावनायें यद्यपि किसी वर्ग की किसी विशेष मनोवृत्ति या किसी विशेष दशा से ही संबंध रखती हैं, किन्तु इनका लक्ष्य होता है समाज के

वृहत्तर भाग का कल्याण। राष्ट्रीय गीतियाँ देशभक्तों की भावनाओं को ले कर लिखी जाती थीं और वे होती थीं सारे देश के लिये। किसानों और

वर्ग गीत

मजदूरों से संबंध रखने वाली गीतियाँ, यद्यपि वर्ग विशेष से संबंध रखती हैं, किन्तु वे हमारे समाज के बहुत बड़े भाग के लिये हैं। मार्चिंग' गीतियाँ इसी श्रेणी में आती हैं। दिनकर की 'दिगंबरि' कविता के कुछ छंद देखिए:—

थकी बेड़ी कफ़स की हाथ में सौ बार बोली,
हृदय पर झनझनाती टूट कर तलवार बोली।
कलेजा मौत ने जब-जब टटोला इम्तिहाँ में,
जमाने को तरुण की टोलियाँ ललकार कर बोलीं।

सुभद्रा कुमारी चौहान की 'वीरों का कैसा हो वसंत, 'नवीन' का 'नंगे भूखों का यह गाना', आदि गीतियाँ इसी श्रेणी की हैं। संपूर्णानन्द श्रीवास्तव द्वारा संपादित 'जय हिंद' (१९४६ ई०) कविता पुस्तक में ऐसी बहुत सी कवितायें हैं। आजाद हिंद फौज के सिपाहियों के छूटने पर शिवसिंह 'सरोज' ने लिखा था :—

कभी हँसा है अगर हृदय भर परवशता में हिंदुस्तान,
तीस जनवरी छयालीस का तो वह दिन है मधुर महान।
जब संध्या ने रंजित आंखों में भर कर मोहन मुस्कान,
कहा निशा से छूट गये आजाद फौज के नये जवान।

किसी की मृत्यु पर लिखी जाने वाली गीतियाँ शोक गीतियों में आती हैं। १९४७ ई० में गांधीजी की मृत्यु पर अनेक कवियों ने शोक गीतियाँ लिखी हैं। 'दिनकर' ने इस घटना पर जो कविता लिखी है उसे शोक गीति न कह कर प्रलाप गीत कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि कवि ने दुख में अपनी भावनाओं का संतुलन खो दिया है और उसकी कल्पना स्वर्ग और आकाश को भी झुका देने पर उतारू हो गई है। निराला की 'सरोज स्मृति' कविता हिन्दी की सुन्दरतम शोक गीति है। 'नये पत्ते' (१९४६ ई०) में 'तिलांजलि' शीर्षक कविता रणजित सीताराम पंडित की मृत्यु पर लिखी गई है। शोक गीतियों में इसका अच्छा स्थान है। प्रसाद का 'आंसू' शोक गीतियों में माना जा सकता है। सुभद्रा कुमारी चौहान की 'जलियाँ वाला बाग में वसंत' शीर्षक कविता को राष्ट्रीय शोक गीतियों में माना जा सकता है। रवींद्र नाथ टैगोर के मरने पर महादेवी वर्मा ने एक सुंदर शोक गीति की रचना की थी। उसकी कुछ पंक्तियाँ देखिए:—

जो क्षितिज के पार पहुँचे, ओ विहग वह लय मिलाओ
भर दिशायें शून्य छलका कर, सुमन साँसें लुटाओ,
दीन अब चातक न बोले, वात घायल-सी न डोले,
बढ़ अलक्षित तीर छू ले धीर-सागर आज हौले,

अब चला गायक धरा का हँस अमर पथ में अकेला ,
ध्वनित अंतिम चाप से उसकी विदा बेला ,
अमर वेला !
विदा वेला !
अर्चना-सी आरती सी यह विदा वेला !
यह विदा वेला !

गीत काव्य के अन्य छोटे-मोटे भेद और भी हो सकते हैं; जैसे, व्यंग्य गीति, पत्र गीति, आदि। किन्तु ऐसी रचनाएं बहुत कम मिलती हैं। इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

शैली की दृष्टि से गीतियों के तीन प्रधान भेद किये जा सकते हैं :—१. वर्णनात्मक, २. उद्‌बोधनात्मक, और ३. विचारात्मक। वर्णनात्मक में कभी-कभी कथाप्रसंगों की प्रधानता रहती है। इस प्रकार की रचनायें प्रायः आख्यानक गीतियों में आती हैं जिनका वर्णन आगे किया जायगा। कभी-कभी दृश्यों की भी प्रधानता हो जाती है। ये दृश्य प्रकृति के भी हो सकते हैं और मानव जीवन के भी। मानव जीवन के चित्र कभी समाज से लिये जाते हैं और कभी मानस की विभिन्न अवस्थाओं से। अध्यांतरिक गीतियों के प्रथम स्वरूप की रचनायें इसी शैली में भी आ सकती हैं। मानव समाज से जो चित्र लिये जाते हैं उनमें व्यंग्य की भी प्रधानता हो सकती हैं। निराला की 'रानी और कानी' शीर्षक कविता इसी प्रकार की व्यंग्य गीति है। एक कानी लड़की है। उसकी माँ उसे रानी कह कर पुकारती है। उसे बहुत प्यार भी करती है। रानी कानी ही नहीं, कुरूपा भी है। उसका सर गंजा है। चेचक के बड़े-बड़े दाग भी हैं। रानी बढ़ती है। माँ का दिल बैठता जाता है। उसके दिल में एक चोर घुसा है। पड़ोसिनें कहती हैं कि अधिक आयु की लड़की को घर पर बिठाये नहीं रक्खा जा सकता। रानी और रानी की माँ, दोनों इस बात को महसूस करती हैं। स्पष्ट है कि इसमें व्यक्ति के प्यार पर सामाजिक परिस्थितियों का जो प्रभाव पड़ता है उस पर व्यंग्य किया गया है। इस चित्र में मार्मिकता है। हृदय पक्ष काफी सशक्त है। उद्‌बोधनात्मक शैली में भावावेश की आकुल व्यंजना रहती है। युद्ध के समय लिखी गई कवितायें, राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये देश के तरुण हृदयों को संबोधित कर के लिखी गई कवितायें, एवं क्रांति के लिये प्रयत्न करने, एवं सब-कुछ स्वाहा करने के लिये उद्यत रहने के विचार वाली कवितायें प्रायः उद्‌बोधनात्मक शैली में ही लिखी जाती हैं। इन कविताओं का शाश्वत महत्व नहीं होता। शिवसिंह 'सरोज' की 'आनन्द भवन' (१९४४ ई०) शीर्षक कविता इसी प्रकार की है। विचारात्मक शैली की कवितायें गीति श्रेणी में प्रायः नहीं आतीं। इसका कारण यह है कि गीति काव्य के लिये हृदय पक्ष की प्रधानता आवश्यक है। विचारात्मक कविताओं में बुद्धि पक्ष की ही प्रधानता होती है। कवि जहाँ दोनों का समुचित समन्वय कर ले वहाँ विचारात्मक शैली की गीतियाँ

शैली की दृष्टि से तीन प्रधान भेद

मिल सकेंगी। ऐसा प्रायः हो नहीं पाता। 'पल्लव', 'गुंजन' और 'युगांत' के बाद पन्त की गीति-कला में ह्रास इसीलिये माना जाता है। विचार-गीतियां 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' में मिलती है। इन गीतियों में भाषा की कोमलता, प्रकृति के सुंदर चित्र एवं कवि की उदात्त एवं सूक्ष्म भावना मिल कर गीति का वातावरण उपस्थित करती हैं। 'स्वर्ण किरण' की 'हरीतिमा', आदि कवितायें इसी श्रेणी की हैं।

प्रबंध काव्य

इसके तीन प्रधान भेद हैं:—१. आख्यानक गीति, २. खंड काव्य, और ३. महाकाव्य।

आख्यानक गीतियों की विशेषता यह होती है कि उनमें एक कहानी रहती है। इस कहानी में जीवन के सभी पक्षों की प्रधानता नहीं होती। आख्यानक गीतियां किसी एक प्रधान दृष्टिकोण को ले कर लिखी जाती हैं और कहानी की रूपरेखा में उसी दृष्टिकोण के अनुसार स्थलों एवं चित्रणों को महत्त्व दिया जाता है। आख्यानक गीतियों का प्रभाव बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है। जीवन अनेक भावों का मिला हुआ रूप है। प्रेम, घृणा, करुणा, आदि ऐसे ही भाव हैं। आख्यानक काव्य को इन्हीं से प्रेरणा मिलती है। उसमें इन्हीं में से किसी एक को प्रधानता होती है। आख्यानक गीतियों में काव्य कला का उत्कृष्टतम रूप तो नहीं होता, किन्तु ओज और प्रवाह अपने उत्कृष्टतम रूप में उपस्थित रहते हैं। सरलता आख्यानक गीति का प्राण है। आगे चल कर इन आख्यानक गीतियों में साहित्यिक गुणों का भी समावेश हुआ। इन साहित्यिक गुणों में गीति तत्त्व, नाटकीयता, स्वाभाविक अलंकार, भावानुकूल भाषा और वातावरण उल्लेखनीय है। सुभद्राकुमारी चौहान की 'झांसी की रानी' (१९२६ ई०) हिन्दी की सुन्दर आख्यानक गीति मानी गई है। छायावाद युग शैली प्रधान था। इस युग में कवियों ने जैसी शैली अपनाई थी उसका परिणाम यह हुआ कि कविता का सम्पूर्ण अर्थ प्रायः उच्च श्रेणी के पाठक भी नहीं समझ पाते थे। ऐसी शैली में काव्य रचना इस छायावादी युग की काव्य प्रतिभा का विकास था। प्रगतिवादी अभी भाषा और शैली को सरल और सर्व सुगम करने के प्रयत्न में लगे हैं। निराला के मुक्त छंद ने भी आख्यानक गीति के विकास में बाधा पहुँचाई है। ऐसी स्थिति में उच्च कोटि का आख्यानक काव्य हिन्दी में इन दोनों युगों में नहीं लिखा जा सका। 'झांसी की रानी' वाली लोकप्रियता शिवसिंह 'सरोज' की 'आनन्द भवन', दिनकर की 'हिमालय के प्रति', माखन लाल चतुर्वेदी की 'कैदी' और 'कोकिला', आदि को भी नहीं मिली। श्याम नारायण पांडेय की 'जौहर' (१९४५ ई०) और सोहन लाल द्विवेदी के 'भैरवी' में संकलित 'प्रताप' विषयक कविता एवं इस प्रकार की अन्य फुटकर रचनायें आख्यानक गीतियों में मानी जा सकती हैं।

आख्यानक गीति

खंड काव्य

आधुनिक काल में खंड काव्य की रचना महाकाव्यों की अपेक्षा अधिक हुई है। इन खंड काव्यों में जीवन के किसी एक भाग का चित्रण होता है। किसी एक रस की प्रधानता रहती है किन्तु अन्य रस भी लाये जा सकते हैं। प्रकृति एवं मानव स्वभाव के कई स्वरूपों को उपस्थित किया जा सकता है। कथानक प्रसिद्ध भी हो सकता है और अप्रसिद्ध भी। प्रायः एक ही छंद का प्रयोग किया जाता है। भाषा में आख्यानक गीतियों के गुणों का भी समावेश रहता है और सभी साहित्यिक गुणों का भी। कथानक में उलझन नहीं होती। प्राचीन काल की वीरता एवं वातावरण का चित्रण करना खंड काव्यों का उद्देश्य होता है। कवि चाहे तो अपने खंड काव्य का उद्देश्य उपयोगितावादी अर्थात् पाठकों के चरित्र का उत्थान, आदि भी बना सकता है। यदि न चाहे तो कोई मजबूरी भी नहीं। प्रसंगों की नाटकीयता खंड काव्यों को भी सुन्दर बना देती है। उक्ति वैचित्र्य और चरित्र गांभीर्य भी पाया जाता है। गीतिमत्ता और अध्यांतरिक दृष्टिकोण भी आधुनिक खंड काव्यों में मिलने लगा है। कल्पना का समुचित समावेश भी किया जाता है। सियारामशरण गुप्त की 'आर्द्रा' (१९२८ ई०) में संकलित 'एक फूल की चाह', पन्त की 'ग्रंथि', मैथिली शरण गुप्त की 'अजित' (१९४७ ई०) आदि, रामकुमार वर्मा की 'चित्तौर की चिता' (१९२९ ई०), 'रत्नाकर' की 'उद्धव शतक' (१९३१ ई०); जय शंकर प्रसाद की 'लहर' (१९३५ ई०) में संकलित 'शेर सिंह का आत्म समर्पण' और 'प्रलय की छाया में', आदि रचनायें आधुनिक काल के खंड काव्यों में मानी जा सकती हैं।

सामान्य प्रवृत्तियाँ

आधुनिक काल के इन खंड काव्यों को दो प्रधान वर्गों में बांटा जा सकता है। पहले वर्ग में वे खंड काव्य आते हैं जिनकी शैली में छायावाद का कम से कम प्रभाव पड़ा है। इतिवृत्तात्मकता मौजूद है। गीतिमत्ता एवं अध्यांतरिक तत्त्व प्रधान नहीं हो पाये हैं। मैथिली शरण गुप्त के खंड काव्य और 'रत्नाकर' का 'उद्धव शतक', आदि इसी वर्ग में आते है।

द्विवेदी युग की प्रवृत्तियों के

दूसरे वर्ग में वे खंड काव्य आते हैं जिन पर छायावादी शैली का पूरा पूरा प्रभाव है। इनमें छायावादी भाषा, कल्पनायें, उद्भावनायें, उपमायें, शैली एवं चित्रण, आदि की ही प्रधानता मिलती है। द्विवेदी युग की प्रवृत्तियां प्रायः नहीं हैं। प्रसाद और पंत के खंड काव्य इसी वर्ग में आते हैं। इनमें कथात्मकता की जगह भावात्मकता और कल्पनात्मकता की अधिकता रहती है। इनमें अमूर्त्त रेखाओं के द्वारा चरित्र चित्रण होता है। ये खंड काव्य आख्यानक गीतियों के अधिकाधिक

छायावादी प्रवृत्तियों के

समीप हैं। ये प्रायः मुक्त छंद में लिखे जाते हैं। 'ग्रंथि' अतुकांत छंदों में लिखा गया है। ये खंड काव्य उतने ही दुरूह होते हैं जितनी छायावादी कविता। इनमें गीति काव्य के प्रायः सभी तत्त्व मिलते हैं। यही कारण है कि वे खंड काव्य सामान्य पाठकों के निकट नहीं पहुंच पाते। रामकुमार वर्मा के खंड काव्यों में दोनों युगों की शैलियों की विशेषतायें मिलती हैं।

महाकाव्य

महाकाव्यों और खंड काव्यों में प्रधान अंतर यह होता है कि जहां खंड काव्य जीवन के एक अंग एवं उसके एक पक्ष पर ही आधारित होते हैं वहां महाकाव्य का आधार होता है सम्पूर्ण जीवन। जीवन को उसकी सम्पूर्ण संकुलता के साथ उपस्थित करना महाकाव्य का उद्देश्य होता है। किन्तु सभी दृष्टियों से जीवन के सभी भागों को देखना संभव नहीं। प्राचीन काल के महाकाव्य भी मानव जीवन के एक ही स्वरूप को ले पाते थे। 'रामचरितमानस' में मानव समाज के एक ही वर्ग के व्यक्तियों का चित्रण है। यह वर्ग समाज का शीर्ष वर्ग है। प्रधानता राम और रावण के संघर्ष की है और यह न भूलना चाहिये कि राम और रावण, दोनों उस युग की दो सर्वश्रेष्ठ शक्तियों के प्रतीक हैं और दोनों ही राजा हैं। ऋषियों का चित्रण प्रधान नहीं है, और सामान्य मानव तो है ही नहीं। अस्तु, महाकवि एक दृष्टि विशेष से जीवन और समाज के जितने पक्षों को देख सकता है, देखने का प्रयत्न करता है। प्राचीन काल के महाकवि अपने महाकाव्य के लिये राजाओं, देवताओं अथवा एतिहासिक घटनाओं से सामग्री चुनते थे और मैथिली शरण गुप्त के 'साकेत' (१९३२ ई०), 'यशोधरा' (१९३३ ई०), गुरु भक्ति सिंह के 'नूरजहां' (१९३५ ई०), प्रसाद के 'कामायनी' (१९३७ ई०), हरदयालु सिंह के 'दैत्यवंश' (१९४० ई०), द्वारका प्रसाद मिश्र के 'कृष्णायन' (१९४७ ई०), और 'दिनकर' के 'कुरुक्षेत्र' (१९४७ ई०), आदि के विषय भी वहीं से लिये गये हैं। सामान्य जनता की सामान्य प्रवृत्तियों को लेकर या सामान्य जनता के ही किसी प्रतीक को ले कर कोई भी श्रेष्ठ महाकाव्य हिन्दी में अब तक नहीं लिखा गया।

सामान्य विशेषताएँ

इसी प्रसंग में एक बात और भी उल्लेखनीय है। 'विचार धारा' में धीरेंद्र वर्मा ने इसकी ओर इशारा किया है। महाकाव्य लिखने के लिये कवि प्रायः प्राचीन काल या मध्यकाल से हो अपना चरित्र नायक चुनते हैं। आज के युग का कवि आज के युग के महाकाव्य भी में आज के युग की उपेक्षा कर जाता है। गांधी, सुभाष, आदि ऐसे अनेक मनीषियों के चरित्रों पर महाकाव्य लिखा जा सकता है। संभव है कि कवि यह समझता हो कि अति परिचय के कारण ऐसे आख्यान जनता को प्रभावित नहीं कर सकते!

आज के महा-मानव क्यों नहीं ?

आज का महाकवि आज के मानव को अपने महाकाव्य का विषय न बनाये, यह तो हो सकता है, किन्तु वह आज की प्रधान विचारधारा नहीं छोड़ सकता। इसीलिये आज के सभी महाकाव्यों में आज की बौद्धिकता प्रधान रूप से आ ही गई है। १९२६ ई० से लेकर १९४७ ई० का हिन्दी-साहित्य एक संघर्ष-युग का हिन्दी-साहित्य है। भारतवासी अपनी स्वाधीनता के लिये तड़प रहे थे। आन्दोलन पर आन्दोलन हो रहे थे। ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि यह आधुनिक हिन्दी-साहित्य दो महायुद्धों के बीच का हिन्दी-साहित्य है। इन युद्धों से मानव की आत्मा त्रस्त हो गई थी। ये ही युद्ध मानव की सभ्यता और संस्कृति को किसी भयानक गर्त्त की ओर ढकेले लिये जा रहे हैं। अस्तु, हिन्दी के कवि के मस्तिष्क में एक ओर भारत के शौर्य, गौरव और उसकी स्वाधीनता का प्रश्न था और दूसरी ओर महायुद्धों का। मोहन लाल महतो 'वियोगी' का 'आर्यावर्त' और 'दिनकर' का 'कुरुक्षेत्र' इन्हीं दोनों चिन्तनाओं के द्योतक हैं। 'दिनकर' का 'कुरुक्षेत्र' प्रधानतया युद्ध और बौद्धिकता की प्रधानता की समस्याओं को लेकर चला है। युद्ध के बाद की विभीषिका का चित्र, युद्ध के कारणों, उनके शमन के उपाय, सहनशीलता एवं प्रतिशोध के औचित्य एवं अनौचित्य, आदि पर 'कुरुक्षेत्र' के अन्दर बड़ी प्रभावपूर्ण शैली में विचार किया गया है। मानव की एकांगी उन्नति पर विचार करता हुआ कवि कहता है:—

आधुनिक विचार धारा

"यह प्रगति निस्सीम ! नर का यह अपूर्व विकास!
चरण-तल भूगोल ! मुट्ठी में निखिल आकाश !
किन्तु, है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष,
छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश;
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्योहार,
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।"[१]

बौद्धिकता के इस प्रयोग का तात्पर्य यह नहीं है कि श्रद्धा या आस्तिकता का तिरस्कार कर ही दिया जाय। समन्वय का मार्ग बड़ा सुन्दर और कल्याणकारी होता है। प्रसाद ने 'कामायनी' में आज के युग को बुद्धि और श्रद्धा के ज्ञान और कर्म के इसी समन्वय का संदेश देने का प्रयत्न किया है। चूंकि आज का युग बुद्धि प्रधान है इसीलिये 'कामायनी' में श्रद्धा का पक्ष कुछ अधिक उभर आया है। 'साकेत' के कवि ने कैकेयी और उर्मिला के चरित्र को, जो इस महाकाव्य की उल्लेखनीय विशेषता है, जो स्वरूप दिया है, उसमें मानवीयता की रेखायें उभरी हैं। कैकेयी के व्यक्तित्व को इतना महत्त्व केवल श्रद्धा के बल पर नहीं दिया जा सकता था। इसी प्रकार बलदेव प्रसाद मिश्र के 'साकेत संत' (१९४७ ई०) में गांधीवादी विचारधारा

---

१. 'कुरुक्षेत्र'

की प्रधानता है। इसमें अभिव्यक्त निम्नलिखित विचार निश्चित रूप से आधुनिक युग के हैं :—

"जनार्दन को जनता में लखो' यही है सब धर्मों का सार
योग्यता भर सब ही श्रम करें और आवश्यकता पर प्राप्ति
हृदय से होगा जब तक नहीं प्रेम का क्रियाशील शुचि योग
जगत के कर्मक्षेत्र में कभी न आगे बढ़ पावेंगे लोग

आज के महाकाव्यों पर आज की काव्य शैली का भी प्रभाव पड़ा है। चित्रात्मक भाषा, प्रतीक प्रयोग, लाक्षणिक प्रयोग, मानवीयकरण, मूर्त्त का अमूर्त्त और अमूर्त्त का मूर्त्त चित्रण, अन्तर्मुखी दृष्टिकोण, चित्रात्मक शैली, सौंदर्य-दृष्टि की प्रधानता, भाव चित्रों में कोमलता, एवं माधुर्य, आदि आज के महाकाव्यों में भी मिल जाते हैं। गीतिशैली का भी प्रयोग मिलता है। इस संबंध में दो उदाहरण पर्याप्त होंगे।

आधुनिक काव्य की शैली

मैथिली शरण गुप्त का 'साकेत' महाकाव्य की प्राचीन मान्यताओं को अधिक नहीं छोड़ सका है किन्तु उसके नवम् सर्ग का कलेवर गीतों से ही निर्मित हुआ है। इन गीतों की अनुभूतियां व्यक्तिगत और अन्तर्मुखी हैं। करुणा की प्रधानता है। 'दोनों ओर प्रेम पलता है' एवं 'रुदन का हँसना ही तो गान', आदि गीतों में छायावादी काव्य की अनेक विशेषतायें मिल जायँगी। आधुनिक युग का दूसरा महाकाव्य 'कामायनी' है। यह महाकाव्य छायावादी शैली की सब से बड़ी देन है। इसे छायावाद का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि भी कहा जा सकता है। इसमें छायावाद की समस्त विशेषतायें और समस्त कमियां हैं। 'श्रद्धा' सर्ग से कुछ पंक्तियां लीजिए :—

कौन तुम संसृति जल-निधि तीर, तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप प्रभा की धारा से अभिषेक ?
मधुर विश्रांत और एकांत जगत का सुलझा हुआ रहस्य,
एक करुणामय सुन्दर मौन और चंचल मन का आलस्य !

महाकाव्यत्व में इसके कारण कुछ कमी आ गई है। छायावादी शैली विशेष रूप से गीतियों के ही उपयुक्त हैं। महाकाव्य में उसका उपयोग हुआ है, तो सबसे बड़ी कमी यह आ गई है कि वर्णन का प्रभाव और कथा सूत्र की अखंडता नष्ट हो गई है। गीतिशैली के कारण इसमें वह सुविधा नहीं रह गई है कि वार्तालाप स्वाभाविक रूप से आ सके। कथासूत्र जोड़ने के लिये पाठक को अपनी ओर से कल्पना करनी पड़ती है। प्रतीक का प्रयोग भाषा में ही नहीं बल्कि महाकाव्य की संपूर्ण कथा को लेकर भी किया गया है। 'कामायनी' के पात्रों का अपना व्यक्तित्व भी है और वे मानव की विभिन्न प्रवृत्तियों के प्रतीक भी हैं। अस्तु, सारा महाकाव्य एक रूपक की तरह सामने आता है और, तब जैसा इस तरह के प्रयत्नों में प्रायः होता है, दोनों पक्षों का समचित निर्वाह नहीं हो सका। इसमें जीवन की विविधता नहीं है।

आज के महाकाव्य; महाकाव्य की प्राचीन कसौटी की उपेक्षा करके आगे बढ़ आये हैं। रूप और शैली में पर्याप्त परिवर्तन हो चला है। दृष्टिकोण पूर्णतः नवीन नहीं हो सका है और न काव्य की कथावस्तु नए युग से ली जाती है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि नवीनता का स्वरूप अभी अस्थिर है। हमारे जीवन की भांति हमारे महाकाव्य भी प्राचीनता और नवीनता के बीच में हैं किन्तु हमारी विचारधारा की ही भांति उनमें भी कुछ नवीन विचार आ रहे हैं। दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' इसका प्रमाण है। आशा है कि आगे चल कर कोई ऐसा महाकाव्य भी लिखा जायगा जिसकी कथावस्तु भी आधुनिक जीवन से ली गई हो और जिस तक एक न एक दृष्टि से सब की पहुँच हो।

नवीनता की ओर

उपसंहार

उपयोगी साहित्य

उपयोगी साहित्य का संबंध कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, समालोचना, साहित्यिक निबंध, एवं साहित्य के इतिहास, आदि से बिल्कुल नहीं। इसमें संस्मरण, जीवन चरित्र, आत्म चरित्र, भूगोल, विज्ञान आदि, उपयोगी विषयों की गणना होती है। ऐसी पुस्तकों में भाषा एवं पद-लालित्य पर साहित्यिक दृष्टि से अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। विचारों की अभिव्यक्ति में लाक्षणिकता एवं ध्वन्यात्मकता, आदि की कोई चिन्ता नहीं की जाती। व्याकरण सम्मत भाषा में सीधे-सादे ढंग से तथ्यों का उल्लेख किया जाता है। सुस्पष्टता इसकी सबसे प्रमुख विशेषता होती है। विषय, यथासंभव उसका पूर्ण विवेचन एवं उपयोगिता पर ही लेखक और पाठक का ध्यान जाता है। इस अध्याय के इस छोटे से भाग में उन सब का सम्यक विवेचन असंभव है। प्रत्येक विषय एवं विषय के अंश स्वतंत्र थीसिस के विषय हैं। उनका न्यूनातिन्यून अंश भी किसी व्यक्ति के जीवन व्यापी अध्ययन का दुर्लभ लक्ष्य हो सकता है। यहां इन विषयों की सभी पुस्तकों का एवं उनके सभी लेखकों को नामों का उल्लेख असंभव एवं अनुपयोगी दोनों हैं।

स्वरूप और परिचय

इनमें से कुछ विषय ऐसे हैं जिनपर प्राचीन काल में हमारे यहाँ बड़ा ही महत्त्वपूर्ण साहित्य उपस्थित किया जा चुका है। उस समय उन विषयों पर हमारी अपनी खोजें थीं और हमारे अपने निष्कर्ष थे। फिर एक वह समय आया जब भारतीय मस्तिष्क का स्वतंत्र चिन्तन समाप्त हो गया। उसने पीछे देखना और देखते रहना ही आरम्भ किया। आज भी उन पुस्तकों की टीकाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। आज के युग में उन विषयों पर पश्चिम से जो प्रकाश पड़ रहा है, कभी-कभी उसका भी उपयोग कर लिया जाता है। धर्म, दर्शन, ज्योतिष, औषधि विज्ञान या चिकित्साशास्त्र, स्वास्थ्य और सुरक्षा, आदि ऐसे ही विषय हैं।

कुछ विषय ऐसे हैं जिनका साहित्य हमारे यहां नहीं था। यदि किसी प्रकार यह सिद्ध भी कर दिया जाय कि था तो वह इतना महत्त्वहीन था कि आज उसका होना या न होना हमारे लिए बिल्कुल बराबर है। उन विषयों के लिए हमें पूर्णरूप से पश्चिम की शरण लेनी पड़ती है। विज्ञान, राजनीति, मनोविज्ञान, आदि विषय ऐसे ही हैं।

कुछ विषय आधुनिक युग के अपने हैं। प्राचीन काल में न वे भारत में थे और न संसार के किसी अन्य देश में हो। इतिहास, भूगोल, यात्राएं, संस्मरण, खेल-कूद, इत्यादि विषयों की गणना इनमें की जाती है।

हिन्दी में उपर्युक्त सभी विषयों पर पुस्तकें लिखी गई हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त की 'हिन्दी पुस्तक साहित्य' नामक पुस्तक में १९४२ ई० तक छपी हुई ऐसी सभी पुस्तकों

जन-रुचि की कसौटी

का उल्लेख किया गया है। ये पुस्तकें पहले कम लिखी भी जाती थीं और कम छपतीं भी थीं। नीचे कुछ आंकड़े दिये जा रहे हैं। उनसे विभिन्न प्रकार की पुस्तकों के छपने की संख्या मालूम हो जायगी और इस प्रकार हिन्दी के पाठकों की मनोवृत्ति का पता भी लग जायगा। बात यह है कि पुस्तकों के संबंध में पाठकों की मनोवृत्ति का सब से सही अन्दाज़ पुस्तक विक्रेताओं और पुस्तक प्रकाशकों को होता है। ये लोग जानते हैं कि जनता किस प्रकार की चीज़ अधिक पढ़ना चाहती है। इस अनुमान के अनुसार ही प्रकाशक पुस्तकें छापते हैं। इस प्रकार पुस्तकों के छपने की संख्या से जनता की मनोवृत्ति का पता लग सकता है। यदि बिक्री की संख्या मालूम हो सकती तो यह अनुमान और भी सही-सही किया जा सकता था। अब बिक्री की संख्या का अनुमान संस्करणों से ही करना पड़ेगा।

१९४६ ई० में प्रकाशित पुस्तकों के छपने की कुछ संख्यायें।

१	२	३	४	५	६
क्रम सं०	पुस्तक	लेखक	संस्करण	सं०	पुस्तक का विषय
१.	खाद	मुख्त्यार सिंह	पांचवां	५००	कृषि शास्त्र
२.	घंटा	पांडेय बेचन शर्मा	दूसरा	५००	साहित्य
३.	फलों की टोकरी	टैगोर	पहला	५००	साहित्य
४.	जच्चा और बच्चा	जगन्नाथ कपूर	पहला	५००	जीवन-विज्ञान या प्रजननशास्त्र
५.	नेत्र रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा	रामचरण महेन्द्र	पहला	२००	स्वास्थ्य-रक्षा
६.	चंद्रकान्ता संतति	देवकी नंदन खत्री	तेईसवाँ	१०००	जासूसी उपन्यास
७.	जीवन यज्ञ	रामनाथ 'सुमन'	पहला	१२५०	निबंध
८.	नल-दमयन्ती	रामजी शर्मा 'शंकर'	पांचवां	१०००	कथा
९.	बंगाल का काल	'बच्चन'	पहला	२०००	कविता
१०.	संगीत अमरसिंह राठौर	श्रीकृष्ण खत्री	चौथा	४०००	नौटंकी
११.	ईश्वर प्रार्थना	?	चौथा	८०००	प्रार्थना
१२.	सरल राज्य शासन	नर्मदा प्रसाद मिश्र	दसवां	८०००	नागरिक शास्त्र
१३.	श्रीकृष्ण अवतार	लक्ष्मीनारायण गर्ग	दूसरा	५०००	सामान्यतः गाने की धार्मिक पुस्तक

ये आंकड़े दिखलाते हैं कि :—

(अ) हिन्दी में सबसे अधिक बिक्री नौटंकी की पुस्तक की हुई है (नं० १०)। इस प्रकार की पुस्तक के लिये किसी की ओर से कोई जबरदस्ती नहीं है। न नरक का डर है और न स्वर्ग की लालसा। न कोर्स की पुस्तक की तरह इसके पढ़ने की कोई मजबूरी ही है। हमारा विचार है कि यह हिन्दी की सामान्यतम जनता की वास्तविक रुचि है।

कुछ निष्कर्ष

(आ) उतनी ही बिक्री धर्म के नाम पर लिखी गई पुस्तक (नं० ११ और नं० १३) और विद्यार्थियों के लिये लिखी गई कोर्स की किताब की हुई है (नं० १२ और नं० ७)। ईश्वर-प्रार्थना में पुण्य प्राप्त करने का लोभ है और 'सरल राज्य शासन' में सार्टीफिकेट प्राप्त करने का। इन पुस्तकों के मूल्य भी कम हैं।

तात्पर्य यह है कि हिन्दी प्रदेश की गरीब और सामान्य मस्तिष्क वाली जनता की मनोवृत्ति सब से अधिक ऐसी ही पुस्तकों की ओर है।

(इ) इसके बाद बिक्री कविता की पुस्तक की हुई है (नं० ९)। पाठक जानते ही होंगे कि बच्चन की कविता की भाषा-शैली सीधी होती है। उसके पढ़ने और समझने के लिये बहुत दिमाग लड़ाने की जरूरत नहीं पड़ती। इस पुस्तक का दाम (अ) और (आ) की पुस्तकों से तो कुछ अधिक किन्तु सामान्यत: हिन्दी जनता की पहुँच के अन्दर ही है।

(ई) उसके बाद कथा (नं० ८) और जासूसी उपन्यास के पुस्तकों की बिक्री हुई है। यह हिन्दी की साधारणत: अच्छी पढ़ी-लिखी कही जाने वाली जनता की अभिरुचि है।

(उ) गम्भीर साहित्य (नं० २ और नं० ३), ज्ञान-विज्ञान (नं० ४) स्वास्थ्य-रक्षा (नं० ५) और जीवन के व्यावहारिक अंगों (नं० १) पर लिखी गई पुस्तकों की बिक्री सबसे कम हुई है। रोगों के ऊपर लिखी गई पुस्तक का इतना स्वागत होगा कि प्रथम संस्करण में ही वह केवल दो सौ छापी गई।

(ऊ) ध्यान देने की बात यह है कि जहां (उ) वर्ग की पुस्तकों की संख्या उनके पहले, दूसरे या पाँचवें संस्करण में पांच सौ और दो सौ है वहाँ तेईसवें संस्करण तक में जासूसी उपन्यास एक हजार की संख्या में छपा है। 'जच्चा और बच्चा' पहले संस्करण में पांच सौ छपी और नौटंकी की किताब चौथे संस्करण में भी चार हजार, ईश्वर प्रार्थना की किताब आठ हजार और पाँच हजार और कोर्स की किताब दसवें संस्करण में भी आठ हजार।

प्राय: लोग कहते हैं कि हिन्दी में अच्छी किताबें नहीं हैं। यदि कोई हिन्दी को अपना कर ऐसा कहे तब तो ठीक है क्योंकि तब उसके कहने के पीछे सम्भवत: अपनी विपन्नता के प्रति क्षोभ और उसकी समृद्धि करने के प्रयत्न की भावना छिपी होगी।

प्रगति के मूल्यांकन के लिये सहानुभूति पूर्ण दृष्टि की आवश्यकता

किन्तु जब हिन्दी प्रदेश का कोई व्यक्ति ऐसा कहता है जो हिन्दी को अपना नहीं समझता तब ऐसा लगता है कि इस व्यक्ति को मतिभ्रम हो गया है। यह दूसरे के धन का चटोरा होकर अपनी चीज को हीन दृष्टि से देख रहा है। इसकी विचारधारा में सहानुभूति जिनपर हिन्दी नहीं। यह इतना नहीं सोच सकता कि हिन्दी कोई व्यक्ति। नहीं हिन्दी बोलने वाले ही जब प्रयत्न कर। के लिखेंगे तभी हिन्दी में अच्छी पु स्तकें आयेंगी। के भविष्य का दारोमदार है वे ही जब ऐसी बातें कहते हैं तब क्षोभ होता है। सहानुभूतिपूर्वक तथा परिस्थितियों पर विचार करके यदि सोचा जाय तो हिन्दी में जो कुछ अभी तक हुआ है वह किसी भी भाषा के लिये अभिमान का कारण हो सकता है हमें अपनी प्रगति पर दुख नहीं, गर्व है। हमारी प्रगति हमारी क्रियाशीलता, जीवनी शक्ति और सतत् जागरूकता का सबूत है। इतना अवश्य है कि इस भावना के कारण प्रयत्न में शिथिलता नहीं आनी चाहिये। कारण यह है कि गर्व की यह भावना प्रतिकूल परिस्थितियों में होने वाली प्रगति पर हैं, न कि जितना कुछ लिखा गया है उसके प्रकार, परिमाण और कोटि की उच्चता के कारण पैदा होने वाले संतोष के कारण। सच पूछिये तो, हिन्दी में जो कुछ हुआ है वह नहीं के बराबर है। छोटी कक्षाओं के विद्यार्थियों के द्वारा किये जाने वाले उन कार्यों के बराबर है जो बड़ी कक्षाओं में उन्हीं के द्वारा किए जाने वाले कार्यों की भूमिका स्वरूप होते हैं।

हिन्दी में आधुनिक युग का सूत्रपात भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र के व्यक्तित्व से हुआ था। सबसे पहले उन्होंने हिन्दी वालों का ध्यान नये-नये विषयों की ओर खींचा था।

परिस्थितियों की प्रतिकूलता

इसके पहले जीवन के उपयोगी विषय केवल व्यवहार के विषय थे। पुस्तक रूप में उनके छपाने की बात कदाचित् कल्पनातीत थी। काम थोड़ा-बहुत चलता रहा। महाबीर प्रसाद द्विवेदी ने भी इस कार्य का बीड़ा उठाया था। फिर भी इस काम में गति नहीं आई। इसका प्रधान कारण यह था कि उस समय तक हिन्दी गद्य का प्रौढ़ रूप सामने नहीं आया था। द्विवेदी-वर्ग ने यह कार्य बहुत-कुछ कर दिया था। उसी के बाद से ही इस कार्य में तेजी आई। अतएव हिन्दी में उपयोगी साहित्य के लिखने का कार्य वास्तविक दृष्टि से महाबीर प्रसाद द्विवेदी के बाद से ही प्रारम्भ हुआ। इतने अल्प काल में जो कुछ हुआ वह कम नहीं है।

उच्चकोटि की पुस्तकों के लिखने-लिखाने में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जिनका हाथ रहता है वे हैं : १. पाठक, और २. लेखक। पाठक वर्ग प्रायः दो प्रकार का होता है। पहला है विद्यार्थी वर्ग और दूसरा विद्वानों का वर्ग। विद्वान पाठकों के वर्ग से ही उच्च-कोटि के लेखक पैदा होते हैं। हिन्दी में इन तीनों की ही स्थिति बड़ी दयनीय थी।

(१) अ—विद्यार्थी वर्ग। पाश्चात्य प्रणाली पर पढ़ाये जाने वाले पाश्चात्य देश

के ये वैज्ञानिक उपयोगी विषय जिस समय हिन्दी प्रदेश के विद्यार्थियों को पढ़ाये जाने लगे तब शायद यह स्वप्न में भी नहीं सोचा गया था कि इन्हें कभी हिन्दी में पढ़ाये जाने का विचार भी उठेगा। पढ़ाई का मतलब यह होता था कि जल्दी से जल्दी अंग्रेज़ी लिखना, बोलना और पढ़ना आ जाय। अतएव सबसे पहले अंग्रेज़ी भाषा पर जोर दिया जाता था। फिर अंग्रेज़ी में अंग्रेज़ों के द्वारा लिखी गई पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं। दसवें दर्जे तक पहुँचते-पहुँचते सभी विषयों को अंग्रेज़ी में लिखना, पढ़ना और समझना होता था। इंटरमीडिएट और बी० ए०, आदि ऊँची कक्षाओं में क्रियात्मक रूप से वही परिस्थिति आज भी है। बी० ए० और एम० ए० में पढ़ाने के लिये जो पुस्तकें लिखी जायँगी, निश्चय ही वे उच्चकोटि की होंगी। विद्यार्थियों को जब अंग्रेज़ी में ही लिखना-पढ़ना आवश्यक था तब कोई हिन्दी में लिखता भी तो क्यों! इस प्रकार उच्चकोटि की पुस्तकों के लिखे जाने की एक प्रधान प्रेरणा से हिन्दी बराबर वंचित रही। हिन्दी और उच्चकक्षायें दो बिल्कुल अलग चीजें थीं।

विद्यार्थी वर्ग की मनोवृत्ति

एक बार प्रयाग विश्वविद्यालय के अध्यापक और सुविख्यात साहित्यिक डॉ० रामकुमार वर्मा ने कहा था कि एक दिन था, जब विश्वविद्यालय में हिन्दी के पढ़ाने का ढंग यह था कि, कल्पना कीजिये कि 'कबिरा खड़ा बजार में सब की लेय बलाय' का अर्थ समझाना है, तो इसे यों समझाया जायगा कि कबीर स्टैंडिंग इन दि मार्केट विशेज़ दी वेलफेयर आफ आल। यदि अर्थ समझाते समय कभी भूल कर हिन्दी के शब्द निकल आते थे तो विद्यार्थी वर्ग 'समझ में नहीं आया' कहने की जगह मजाक उड़ाने के लिये यह कहता था कि 'मस्तिष्क में प्रविष्ट नहीं हुआ'। और, कदाचित् इसके कहने की तो आवश्यकता ही नहीं है कि इस दिन के पहले एक दिन वह भी था जब एम०ए० में हिन्दी पढ़ाई ही नहीं जाती थी। अभी बहुत दिन नहीं बीते कि एम० ए० में दो चार ही विद्यार्थी हिन्दी पढ़ने आते थे। जब स्वयं हिन्दी साहित्य की यह दशा थी तब हिन्दी में अन्य विषयों के लिखे जाने की बात ही क्या!

पारिभाषिक शब्दावली

अन्य विषयों के साथ एक कठिनाई और भी थी। जब शुरू से आखिर तक सब चीजें अंग्रेज़ी में पढ़ाई जाती थीं तब ज़बान पर भी अंग्रेज़ी ही चढ़ जाती थी। इस तथ्य के महत्त्व का पता तब लगा जब शिक्षा का माध्यम हिन्दी होने लगा। हाई स्कूल और इंटरमीडिएट तक के अध्यापक हिन्दी की अपेक्षा अंग्रेज़ी में पढ़ाने में अधिक सहूलियत महसूस करते थे। पठन-पाठन की परम्परा की दिशा भी यही थी। पारिभाषिक शब्दावलियां एक तो मिलती ही नहीं थीं, फिर प्रयत्न करके यदि कुछ शब्द बना भी लिये जाते थे तो वे पढ़ने-पढ़ाने वाले के मुंह में ऐसे लगते थे जैसे किसी देहाती के मुंह में अंग्रेज़ी के कठिन शब्द। आज भी लोग 'सपोज़ करो कि अ ब स एक ट्रेंगिल है तो प्रूव करना है कि इसके तीनों ऐंगिल्स का सम दो राइट ऐंगिल्स के बराबर है, या 'एकनामिक्स एक ऐसा

सबजेक्ट है जिसकी यूटिलिटी डे-टु-डे लाइफ़ में रियलाइज़ की जा सकती है' कहने में आसानी महसूस करते हैं। पारिभाषिक शब्दावली बनाने वाले भी शब्दों को बिना उत्तर या दक्खिन की ओर मोड़े सीधे पश्चिम से पूरब की ओर कर लेना चाहते हैं। अंग्रेज़ी से संस्कृत हो उनका ध्येय है। वहां व्यावहारिक हिन्दी के लिये कोई गुंजाइश नहीं। परिणामतः हिन्दी अंग्रेज़ी से भी कठिन हो जाती है; और लोग इसकी ओर से मुंह फेरे रहते हैं! 'कोर्ट' के लिये 'कचहरी' नहीं, 'न्यायालय' पसंद किया जा रहा है।

अब रह जाते हैं दो वर्ग—सुशिक्षित पाठक वर्ग और उच्चकोटि के लेखकों का वर्ग। उपर्युक्त परिस्थिति में हिन्दी के लिये ये दोनों भी स्वप्न हैं। हमारे यहां उच्च-कोटि की शिक्षा का अर्थ हिन्दी लिखना-पढ़ना नहीं, अंग्रेजी जानना-समझना है।

उच्च कक्षाओं के विद्यार्थी ही प्रायः उच्चकोटि के पाठक होते हैं और उच्चकोटि के लेखक भी निकलते हैं। पुस्तकें लिखता भी तो कौन, और वे लिखी जातीं भी तो क्यों? हिन्दी के पुस्तकों की व्यावहारिक उपयोगिता थी ही नहीं। उपयोगी विषयों की दृष्टि से वे विद्यार्थियों के काम की थीं नहीं। जनता भी उन्हें छूती नहीं थी। कारण यह था कि भारत की जनता में पढ़े-लिखे लोगों की संख्या बीस प्रतिशत से भी कम थी। ये बीस प्रतिशत लोग अपना वास्ता अंग्रेज़ी की पुस्तकों से रखते थे। चाहने पर ये ही लोग पुस्तकें लिखते थे। सो, जब पढ़ा अंग्रेज़ी में, और गुना अंग्रेज़ी में, तब हिन्दी में लिखना असंभव था भी। शेष अस्सी प्रतिशत जनता निर्धनता के कारण पुस्तकें खरीद कर पढ़ नहीं सकती थी। मोह और अंधविश्वास के कारण तो कभी-कभी पढ़ना-लिखना ठीक भी नहीं समझा जाता था! 'मेरा बेटा स्कूल में मारा न जाय ले भले ही हल जोता करे और 'लड़के ने जब-जब दसवें दर्जे की परीक्षा देने के लिये तैयारी की तब-तब वह बीमार पड़ गया, तो क्या अब तन्दुरुस्त लड़के को बीमार होना है जो फिर तैयारी करे?—ऐसे वाक्य आज भी हिन्दी प्रदेश की ग्रामीण जनता में कभी-कभी सुनाई पड़ जाते हैं। रूढ़ियों और परम्पराओं से परिचालित जीवन के लिये पुस्तकों में लिखी वैज्ञानिक बातें बेकार होती हैं। अतएव हिन्दी प्रदेश की ग्रामीण जनता में आज भी बीमारी भगवान की नाराजगी होती है। उसके लिये दवा की जरूरत नहीं। जब भगवान खुश होंगे, तब बीमारी आप से आप छूट जायगी! ऐसी जनता के लिए पुस्तकें और उनकी बातें बेकार होती हैं। समझदार और पढ़ी-लिखी जनता अपना काम अंग्रेज़ी से चला लेती है, यद्यपि हमारा अनुभव है कि प्रायः पढ़ी-लिखी जनता का भी अधिकांश जीवन रूढ़ियों, विश्वासों और अंधविश्वासों से ही परिचालित होता है। उदाहरण के लिये यज्ञोपवीत, विवाह आदि अवसरों पर निबाही जाने वाली रीतियों को देख लीजिये।

इस साहित्य के निर्माण की बाधाएँ और उनकी व्यावहारिक निरर्थकता

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी में परिस्थितियां उपयोगी साहित्य के निर्माण

के बिल्कुल प्रतिकूल थीं। न तो पुस्तकों के पढ़ने वाले थे और न लिखने वाले। वे न तो विद्यार्थियों के लिये उपयोगी थीं और न साधारण लोगों के लिये। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी हिन्दी के लेखकों ने कितने बहुमुखी साहित्य का निर्माण कितने कम वर्षों में किया है, इसका अनुमान इस अध्याय की अब तक की लिखी गई बातों से आसानी से किया जा सकता है। हिन्दी वालों के सम्मुख दो उद्देश्य थे। एक तो उन्हें अपने अन्दर की आकुल स्फूर्ति को काम करने के लिये क्षेत्र खोजना था और दूसरे उन्हें दूसरों को अपनी क्रियाशीलता का प्रमाण भी देना था। दिखाना यह था कि हम सो नहीं रहे हैं। परिस्थितियां ही हमारे प्रतिकूल हैं वरना हम एक बार सब तरफ सब कुछ करने के लिये तैयार ही नहीं बैठे हैं बल्कि अपनी ओर हमने से काम शुरू भी कर दिया है। साथ ही, हमें दूसरों को यह भी बताना था कि यद्यपि हमारे पास 'हनुमान चालीसा' भी है किन्तु हमारे पास वे चीज़ें भी हैं जिनके वास्तविक मूल्यांकन के लिये विद्वानों और खोज करने वाले विद्यार्थियों की आवश्यकता है। हिन्दी दुर्बल नहीं; हिन्दी निर्धन नहीं। वह परिस्थितियों में पिसी हुई है। जनता का स्टैंडर्ड ऊँचा होना चाहिये या स्टैंडर्ड जनता को बदलना चाहिये। हिन्दी अपने को ऊँचा उठा लेगी और बदल लेगी। उसमें इतना सामर्थ्य है—कम से कम उसके आज तक का इतिहास तो यही सिद्ध करता है।

हिन्दी की प्रगति और उसका सामर्थ्य

बाल-साहित्य

बालक समाज के बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग होते हैं। अतएव जहां समाज के अन्य अंगों पर और अन्य अंगों के लिये साहित्य का निर्माण होता है वहां बच्चों पर और बच्चों के लिये भी साहित्य लिखा जाना चाहिये। अंग्रेजी साहित्य में ऐसा साहित्य काफी और काफी अच्छी कोटि का है। विषय, शैली, आदि कई दृष्टियों से वहां विविध प्रकार का बाल साहित्य लिखा गया है। वहां बच्चों की श्रेणियां निर्धारित कर दी गई हैं और प्रत्येक श्रेणी के बच्चों की बुद्धि, उनके सामर्थ्य, उनकी अवस्था, उनकी रुचि और उनके मनोविज्ञान आदि को ध्यान में रखकर बाल साहित्य का निर्माण किया गया है। हिन्दी में यह साहित्य लगभग नया ही है। परिस्थिति, परम्परा और सामर्थ्य इस साहित्य के अनुकूल नहीं थे। अतएव उतनी उच्च कोटि का और उतनी विविधता से पूर्ण बाल साहित्य हिन्दी में नहीं लिखा जा सकता और नहीं लिखा गया। जो-कुछ लिखा जा सका है वह हिन्दी वालों की सतर्कता एवं जागरुकता का द्योतक है। हमारे यहां इस प्रकार का जो साहित्य लिखा गया है उसके पीछे मूल रूप से यही भावना थी कि जो-कुछ लिखा जाय वह ऐसी भाषा में लिखा जाय कि मामूली तरह से कोशिश करने पर बच्चे उसे समझ जायँ। इस बात का भी प्रयत्न होता था कि वे चीज़ें इस ढंग से लिखी जायं कि उनमें बच्चों की दिलचस्पी एवं उत्सुकता

महत्त्व और कोटि

आवश्यकतानुसार बनी रहे। इस बात का भी प्रयत्न होता था कि उनके द्वारा बच्चों को नीति एवं चरित्र निर्माण की शिक्षा भी अप्रकाश्य रूप से मिलती रहे।

प्राय: साहित्य के निम्नलिखित अंगों पर हमारे यहां बच्चों के लिये पुस्तकें लिखी गई हैं :—

(१) कविता—ईश्वरी प्रसाद शर्मा की 'चना चबैना' (१९२५ ई०), विद्याभूषण 'विभु' की 'गोबर गणेश' (१९२८ ई०), श्रीनाथ सिंह की 'पिपिहरी' (१९३५ ई०) और 'बाल भारती' (१९४० ई०), शम्भुदयाल सक्सेना की 'पालना' (१९३२ ई०), सोहनलाल द्विवेदी की 'दूध बताशा' (१९३४ ई०), ब्रजभूषण प्रसाद की 'खेल खिलौना' (१९२५ ई०), रामलोचन शरण की 'चमचम' (१९२८ ई०), श्री नारायण चतुर्वेदी की 'शतदलकमल' (१९३० ई०) और 'रत्नदीप' (१९३६ ई०), लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदो की 'भैंसासिह' (१९३४ई०) आदि, पुस्तकें कविता में छपी हैं। हर दयाल चतुर्वेदी की 'जादूगर' (१९४३ ई०), सोहनलाल द्विवेदी की 'शिशु भारती' और 'बांसुरी', आदि पुस्तकें भी उल्लेखनीय हैं। बच्चों के लिये राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भी ऐसी पुस्तकें लिखी गई हैं।

(२) कहानी—इस विषय पर हमारे यहां बहुत अधिक पुस्तकें लिखी गई हैं। इसका प्रमुख कारण बाल मनोविज्ञान है। यह एक मानी हुई बात है कि बच्चों को जितनी दिलचस्पी कहानियों के सुनने में होती है उतनी और किसी में नहीं होती। इन कहानियों में खुल्लमखुल्ला उपदेश नहीं दिया जाता। तह में कहीं वह चीज़ छिपी रहती है। उत्सुकता, आश्चर्य, हास्य, विचित्रता, आदि तत्त्वों को लेकर ये कहानियां लिखी गई हैं। जहूर बख्श की 'मजेदार कहानियां' (१९२६ ई०), 'मनोरंजक कहानियां' (१९२५ ई०), 'मीठी कहानियां (१९२६ ई०), 'हवाई कहानियां' (१९२९ ई०) आदि, गणेश राम मिश्र की 'खटपट शर्मा' और 'लम्बीनाक' (१९३३ ई०), 'अदल-बदल' (१९३९ ई०), आनन्द कुमार की 'जादू की कहानियां' (१९२२ ई०), 'राक्षसों की कहानियां' (१९३३ ई०), 'इतिहासों की कहानियां' और 'बलभद्दर' (१९३४ ई०) आदि, रामचन्द्र प्रदीप' की 'परीदेश', 'सोने का हंस', 'जादू का हंस', 'सोने का तोता', (१९३२ ई० में छपी), परिपूर्णानन्द वर्मा की 'निठल्लूराम की कहानी', बैजनाथ केडिया की 'देखो और हंसो' (१९३३ ई०), 'सवा तीस मार खां' (१९३३ ई०), 'अकड़ बेग खां' (१९३६ ई०), 'मीठी-मीठी कहानियां', 'चोखी-चोखी कहानियां' आदि अनेक पुस्तकें, और राम नरेश त्रिपाठी की 'बुढ़िया, बुढ़िया, किसे खाऊँ' (१९४१ई०), 'चटक मटक की गाड़ी', 'पकड़ पुछकटे को', 'तीन सुनहले बाल',

'तीन मेमने', आदि अनेक पुस्तकें छपी हैं। भूपनारायण दीक्षित, राम लोचन शरण, सुदर्शन, सुदर्शनाचार्य, विद्याभूषण सिंह, प्रेमचन्द, 'व्यथित हृदय', शंभू दयाल सक्सेना, अमृत लाल दूबे, 'अशोक', डी० आर० शर्मा०, आत्मा राम देवकर, नर्मदा प्रसाद मिश्र, आदि लेखकों ने भी सुन्दर पुस्तकें लिखी हैं। इन काल्पनिक कहानियों में जीवन चरित्र एवं इसी तरह की अन्य बातें भी उपस्थित की गई हैं; जैसे—रामनाथ 'सुमन' की 'हमारे नेता' (१९४२ ई०), इलाचंद जोशी की 'ऐतिहासिक कथाएं' (१९४२ ई०), परिपूर्णानन्द वर्मा की 'संयुक्त प्रांत की कुछ विभूतियां' (१९४१ ई०), राजेन्द्र सिंह गौड़ की 'विश्व की महिलाएं' (१९४० ई०), 'व्यथित हृदय' की 'नेताओं का बचपन', चतुरसेन शास्त्री की 'राजपूत बच्चे' (१९३७ ई०), श्रीनाथ सिंह की 'आविष्कारों की कथा' (१९३३ ई०), आदि पुस्तकें।

नाटक—बच्चों के लिये नाटक की पुस्तकें बहुत कम लिखी गई हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'बाल नाट्यशाला' या 'श्रीकृष्ण सुदामा', आदि कुछ पुस्तकों तक ही संतोष करना पड़ता है। बड़े-बड़े नाटकों को बच्चे उतने चाव से पढ़ेंगे भी नहीं। हमारे यहां सिनेमा के आगे नाटक के अभिनय को कोई पूछता ही नहीं और बच्चों का मस्तिष्क इतना विकसित होता नहीं कि वे पढ़-सुन कर अभिनय की कल्पना कर लें। एकांकी नाटक अवश्य बच्चों के उपयुक्त जान पड़ते हैं।

उपन्यास—कहानी की अपेक्षा उपन्यास बाल मनोविज्ञान के कुछ कम अनुकूल है। उपन्यास में कहानी ही की तरह कथा तत्व रहता तो है किन्तु उपन्यास इतना बड़ा और इतना परिपूर्ण होता है कि बच्चों की अविकसित चेतना उसके बिखरे हुए सूत्रों में संबंध स्थापित नहीं कर पाती। परिणामतः बच्चे उपन्यासों में उतने नहीं रम सकते हैं जितने कहानियों में। फिर भी कुछ सीधे-सादे उपन्यास बच्चों के लिये लिखे गये हैं। उनमें से कुछ ये हैं :—बैजनाथ केडिया का 'काने की करतूत' (१९३३ ई०), लक्ष्मण प्रसाद भारद्वाज के 'बाल जयद्रथ बध', 'बाल महाभारत', 'बाल-शकुन्तला', 'महारानी पद्मिनी', 'सावित्री सत्यवान', आदि देवी दयाल कुलश्रेष्ठ का 'दोस्त की दुलहिन' (१९४४ ई०), नर्मदा प्रसाद के 'छू मंतर की पोथी' और 'गंजी खोपड़ी' (दोनों सन् १९४४ ई० में)। प्रेमचन्द का 'सेवा सदन' और 'गोदान' तथा वृन्दावन लाल वर्मा की 'झांसी की रानी-लक्ष्मी बाई' को संक्षिप्त करके बच्चों के योग्य कर दिया गया है। इन्हें बच्चों के लिए कम, दसवें या बारहवें दर्जे तक के विद्यार्थियों के लिये अधिक, कह सकते हैं।

विज्ञान—विज्ञान की कुछ करामातों को भी सीधे-सादे रूप में कहानियों की तरह लिख कर बच्चों के या छोटे दर्जे के विद्यार्थियों के पढ़ने के योग्य कर दिया गया है। ऐसी पुस्तकों की संख्या अधिक होनी चाहिये किन्तु हम लोगों के दुर्भाग्य से है कम। इनमें से कुछ पुस्तकों के नाम ये हैं :—रामदास गौड़ और शालिग्राम भार्गव की 'विज्ञान प्रवेशिका' (१९२४ ई०), जगतपति चतुर्वेदी की 'समुद्र पर विजय' (१९२९ ई०), 'वायुयान' (१९३४ ई०)., 'आप की करामात' (१९४१ ई०), वायु के चमत्कार' (१९४१ ई०), वायु पर विजय' १९३१ ई०), भगवती प्रसाद बाजपेई की 'आकाश पाताल की बातें' (१९३२ ई०), कन्हैयालाल दीक्षित की 'विचित्र जी वजन्तु', सुदर्शन की विज्ञान वाटिका', 'व्यक्ति हृदय' की 'जीव जन्तुओं की कहानियां' (१९३७ ई०), श्याम नारायण कपूर की 'विज्ञान की कहानियां' (१९३७ ई०), शंभूनाथ शुक्ल की 'गुब्बारे में पांच सप्ताह' (१९३८ ई०), सन्त प्रसाद टंडन की 'प्रारंभिक जीव विज्ञान' (१९४० ई०) आदि।

भ्रमण—भ्रमण संबंधी कुछ बातें भी कहानियों के ही रुप में बच्चों के लिए लिखी गई हैं। जगपति चतुर्वेदी की 'भौगोलिक कहानियाँ' (१९२८ ई०), कृपानाथ मिश्र की 'बालकों का योरप' (१९३१ ई०), श्रीनाथ सिंह की 'परदेश की सैर' (१९३२ ई०), ठाकुर दत्त मिश्र की 'अनजान देश में ? (१९३६ ई०), 'प्रसिद्ध यात्राओं की कथा' (१९३६ ई०), और ध्रुव यात्रा' (१९३७ ई०), रामदास गौड़ की 'हमारे गांवों की कहानी' (१९३८ ई०), गीजू भाई बंधेका की 'गांव में' (१९४१ ई०) और रमेश वर्मा की 'गांव की बातें' (१९४१ ई०) आदि पुस्तकों का संबंध भ्रमण संबंधी बातों से ही है।

संस्कृत-कथाएं—'सांस्कृतिक कथाओं' से तात्पर्य केवल उन कथाओं या पुस्तकों से है जो धर्म या पुराण, आदि पर ही आधारित हैं। यहां इस शब्द का प्रयोग संस्कृत के व्यापक अर्थ में नहीं किया गया है। इस तरह की कुछ पुस्तकें ये हैं:—शिवपूजन सहाय की 'अर्जुन' (१९२६ ई०), जहूर बख्श की 'देवी पार्वती' (१९२७ ई०) और 'देवी सती' (१९२८ ई०), विश्वनाथ विद्यालंकार की 'बाल सत्यार्थ प्रकाश' (१९३० ई०), डी० टी० शाह की 'भरत बाहुबलि', 'महामंत्री उद्यन', 'मुनि श्री हरिकेश', 'प्रभु महावीर के 'दश शावक' (चारों १९३४ ई० में) 'सती मयण रेहा', 'सेवा मूर्ति नदी वेण', 'श्री गौतम स्वामी' (तीनों १९३९ ई० में), और 'श्री स्थूली भद्र' (१९३९ ई०), शंकर दत्तात्रेय देव की 'उपनिषदों की कथाएं' (१९३९ ई०), केशव देव शर्मा की 'भगवान राम की

कथा' (१९४० ई०), प्रेमचंद की 'राम चर्चा' (१९४१ ई०), आदि।

अन्य—स्वाध्याय मंडल औंध, सितारा, से श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा प्रकाशित छोटी-छोटी पुस्तकें; जैसे, 'संध्योपासन', 'ब्रह्मचर्य', 'बालकों की धर्म शिक्षा' 'सूर्य भेदन का व्यायाम' आदि भी बालकों के लिये बहुत उपयोगी हैं।

(आ) डा० इबादुर रहमान खां द्वारा १९४१ ई० में संपादित कला-कौशल की पुस्तकें; जैसे, 'कताई', 'मिट्टी के काम' 'खेती और बागबानी', 'मधुमक्खी पालन', आदि भी बच्चों के काम की हैं।

(इ) स्काउटिंग, आदि पर प्रकाशित पुस्तकें; जैसे, श्रीराम बाजपेई, आदि की पुस्तकों, कैंप फायर, आदि में गाये जाने वाली प्रार्थनाओं या इसी प्रकार की अन्य बातों से संबंधित पुस्तकों का संबंध भी छोटी उम्र के बालकों से ही हैं।

(ई) इन छोटी-मोटी पुस्तकों के अतिरिक्त 'खिलौना', 'बाल सखा', आदि मासिक पत्रिकाओं में तथा हिन्दी के साप्ताहिकों में बच्चों के लिये जो स्तम्भ होते हैं उनमें बच्चों के लिये छपी हुई बहुत-सी ऐसी सुन्दर सामग्री पड़ी हुई है जिसका यदि निष्पक्ष दृष्टि से संकलन एवं संपादन किया जाय तो हमारे बाल साहित्य की कमी थोड़ी-सी और पूरी हो सकती है।

(उ) बाल साहित्य के विभिन्न अंगों के विस्तार के अनुपात का कुछ अनुमान इससे हो सकता है कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन में संग्रहीत पुस्तकों के एक दो-तीन वर्ष पुराने सूचीपत्र में बाल साहित्य की पुस्तकों की संख्या मैंने यों नोट की थी :—

गद्य—५४५ पुस्तकें (ये पुस्तकें कहानियों की हैं)

पद्य—१०५ पुस्तकें

अन्य—(१) २५ पुस्तकें (ये चुटकुले, आदि पर हैं)

(२) ८३ पुस्तकें (ये बालोपदेश तथा शिक्षा, आदि पर हैं)

इससे केवल इतना ही सोचा जा सकता है कि हिन्दी में बाल साहित्य से संबंध रखने वाली पुस्तकें गद्य-पद्य, आदि में किस अनुपात से छप रही हैं। यह भी हो सकता है कि पुस्तकें छपें और उनमें से कुछ सम्मेलन में न मंगाई जायं। इससे संख्या में कुछ अंतर पड़ सकता है। किन्तु अनुपात के अनुमान में कोई विशेष अन्तर न पड़ेगा।

अनुवादित साहित्य

विपन्न साहित्य की समृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है संपन्न साहित्य की अच्छी, अच्छी पुस्तकों का अध्ययन, मनन और अनुवाद। बीसवीं शताब्दी के प्रथम पचीस वर्षों

पूर्व परिस्थिति

में बंगला और अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य प्रांतीय एवं विदेशी भाषाओं की बहुमूल्य पुस्तकों का यथाशक्ति अनुवाद किया गया था। इन अनुवादों ने उस समय अँधेरे में भटकने वाले हिन्दी के साहित्यिकों को रास्ता दिखलाया था। उस समय अनुवाद के रास्ते में सबसे बड़ी कठिनाई हिन्दी भाषा की दरिद्रता थी। वस्तुस्थिति तो यह है कि उस समय भाषा का कोई रूप ही स्थिर न हो सका था। वह कभी ब्रजभाषा की ओर झुक जाती थी और कभी खड़ी बोली की विशुद्धता की ओर। प्रयोगों में अस्थिरता थी। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के युग की तो बात ही क्या करें, यह सबको विदित है कि महाबीर प्रसाद द्विवेदी तक को भाषा की शुद्धता के लिये अथक और अनवरत परिश्रम करना पड़ा था। उस समय यह कठिनाई ललित साहित्य अर्थात् कविता, कहानी, आदि तथा अन्य सीधी-सादी एवं हल्की-फुल्की चीजों एवं सरल तथा सुस्पष्ट विचारधाराओं की अभिव्यक्ति में भी सामने आती थी।

किन्तु अब समय बदल गया है। हिन्दी के कुछ स्वनाम धन्य साहित्यिकों के अध्यवसाय के फलस्वरूप हिन्दी भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति की वृद्धि हुई है। उसमें कुछ प्रौढ़ता आई है। किन्तु इसके साथ ही साथ समय भी बदल गया है। परिस्थितियां बदली हैं। परिणामस्वरूप लोगों की आवश्यकताओं और विचारधाराओं में भी परिवर्तन हो गया है। ज्यों-ज्यों हिन्दी का क्षेत्र बढ़ता गया और ज्यों-ज्यों उसका महत्त्व बढ़ता गया त्यों-त्यों उसके स्वरूप के विषय में भिन्न-भिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न विचार सामने आये। इस युग में हिन्दी भाषा की परिस्थिति को हम निम्नलिखित कुछ तथ्यों में आँक सकते हैं।

वर्तमान परिस्थिति

पहली बात तो यह है कि भाषा के स्वरूप की पहले वाली अस्थिरता थोड़ी-बहुत अब तक चली आई है। उदाहरण के लिये 'चाहिये' शब्द को ले लीजिये। यह 'चाहिये' और 'चाहिए' दोनों तरह से लिखा जाता है और इसके किसी भी रूप को उच्च कक्षाओं तक में गलत नहीं काटा जाता। इसी तरह और भी समझ लीजिये। यह चीज इसलिये चली आई कि किसी एक नियम का जोर-जबरदस्ती के साथ पालन कराने वाला कोई नहीं था। इसी प्रकार व्याकरण की दृष्टि से भी थोड़ी-बहुत अस्थिरता बनी रही; जैसे, 'आत्मा' को स्त्रीलिंग के रूप में देखने वालों के साथ-साथ पुंलिंग के रूप में भी देखने वाले भी मौजूद हैं।

१—अस्थिरता

पहले हिन्दी वालों की आवश्यकता प्रायः कविताओं, कहानियों और नाटकों, आदि तक ही सीमित थी। अब जीवन के अन्य महत्त्वपूर्ण एवं गंभीर उपयोगी विषयों के अध्ययन-मनन की आवश्यकता पड़ी। अध्ययन में सूक्ष्मता और व्यापकता की आवश्यकता का भी अनुभव हुआ। अंग्रजी, आदि सम्पन्न भाषाओं में प्रत्येक विषय पर सूक्ष्म, व्यापक एवं गंभीर

२—आवश्यकता

दृष्टि से लिखी गई पुस्तकें हैं। भूगोल, विज्ञान, काष्ठ-शिल्प, आदि पाठ्य विषयों की तो बात ही क्या, भूत, आदि पर भी सैंकड़ों पुस्तकें हैं। विद्यार्थियों की तो बात ही क्या, हिन्दी से सहानुभूति रखने वाले अच्छे-अच्छे पढ़े-लिखे लोग भी हिन्दी में ऐसे साहित्य के अनुवाद की आवश्यकता महसूस करने लगे। चूंकि यह आवश्यकता इतनी अधिक नहीं थी कि उसके बिना हमारी जिन्दगी ही न चल सके इसलिये इस ओर अधिक काम न हो सका। जिसको पढ़ना होता था वह मूल पुस्तक अंग्रेजी ही में पढ़ लेता था; और अपने मध्यदेश में ऐसे पढ़ने वाले बहुत कम हैं जिन्हें पढ़ने की जरूर तो हो लेकिन जो अंग्रेजी न जानते हों।

हमारे अध्ययन काल की राजनीति के एक गंदे भाग ने हमारी भाषा का बड़ा अहित किया है। उर्दू और हिन्दी के संघर्ष और इस संघर्ष को मिटाने के लिये पैदा होने वाली समझौते की भावना ने हमारी भाषा को जो रूप देना चाहा था अर्थात् तथाकथित 'हिन्दुस्तानी', उसने हमारी भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति को कुछ ऐसा विच्छृंखल कर दिया है जिसका ज्वलंत उदाहरण जवाहर लाल नेहरू की प्रसिद्ध पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' का 'हिंदुस्तान की कहानी' के शीर्षक से किया गया अनुवाद है। इस गड़बड़ी का कुछ अनुमान इस शीर्षक से ही किया जा सकता है जिसमें 'डिस्कवरी' का अनुवाद 'कहानी' किया गया है। भाषा के हिन्दुस्तानीकरण के व्यावहारिक रूप पर प्रकाश डालते हुए सम्पूर्णानन्द ने लिखा है कि वहाँ 'सोसाइटी' का अनुवाद 'समाज' कर के 'सोशल' का अनुवाद 'समाजी' किया गया है! इसी प्रकार अनेक ऊटपटांग अनुवादों का उल्लेख उन्होंने किया है। भाषा की इस विच्छृंखलता के कारण भी हमारे यहाँ प्रौढ़ अनुवाद अधिक न हो सके।

३-स्वरूप संबंधी विवाद

अनुवादों के मार्ग में एक और कठिनाई अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों एवं व्यवहार में आये हुए पदों के अनुवाद के अभाव के कारण है। इन शब्दों का निर्माण किस सिद्धांत विशेष के अनुसार हो, इस पर भी विद्वानों में मतभेद है, और इन विभिन्न पक्षवालों में से किसी के पास इतना अधिकार है नहीं कि उसकी बात सब लोग बिना मीन-मेष किये मान लें। अतः इन व्यक्तिगत एवं गोष्ठीगत प्रयत्नों ने अपनी-अपनी डफली और अपने-अपने राग का रूप धारण कर लिया है। पता नहीं कि आगे चल कर किसकी बात मान्य होगी। इन अनिश्चित परिस्थितियों में बड़ी-बड़ी एवं उच्चकोटि की पुस्तकों के अनुवाद यदि असंभव नहीं तो, कठिन अवश्य हैं।

४-पारिभाषिक शब्दावली

ऊपर बतलाई गई अथवा वैसी ही कुछ अन्य कठिनाइयों के कारण हमारे यहाँ हिन्दी में अनुवादों का व्याहारिक स्वरूप कमोबेश कुछ यह है कि यथासंभव उन्हीं पुस्तकों का अनुवाद अधिक हुआ है जो या तो विद्यार्थियों के काम की हों या धार्मिक अथवा ऐसी ही किसी अन्य महत्त्वपूर्ण दृष्टि से किसी वर्ग विशेष—जैसे पुरोहित आदि—के काम की हों या सामान्य जनता

अनुवादों का यावहारिक रूप

की सबसे प्यारी चाह के बहुत अधिक अनुकूल हों, इत्यादि। इन अनुवादों की भाषा और शैली, आदि कुछ इस ढंग की होती है कि उसे समझने में बहुत अधिक परिश्रम न करना पड़े। सरलता, स्पष्टता, और सीधापन इन अनुवादों की विशेषता होती है। भाषा में, जहाँ तक संभव होता है, संस्कृत के तत्सम शब्द रक्खे जाते हैं। इसके पश्चात् उन शब्दों को बे हिचक ले लिया जाता है जो हिन्दी भाषा भाषी जनता के अपने हो गये हैं। भाषा की मर्यादा का ध्यान अवश्य रक्खा जाता है अर्थात् यह कि कोई ऐसा शब्द न आ जाय जो बिल्कुल असंगत एवं अटपटा लगे। तात्पर्य यह है कि भाषा को यथासंभव ग्राम्यदोष से मुक्त रक्खा जाता है। यदि मूल पुस्तक में अभिव्यक्ति बहुत टेढ़े-मेढ़े ढंग से हुई यानी बहुत अधिक साहित्यिकता लिये हुई या बहुत अधिक सूक्ष्मता हुई तब प्रयत्न यह किया जाता है कि इस ढंग से अनुवाद हो कि मूल की विचार धारा सुरक्षित रहे। इस प्रयत्न में वाक्य निर्वाह, पद-निर्वाह आदि का कम ध्यान रक्खा जाता है। क्रम बदल सकता है, वाक्य एक के स्थान पर कई हो सकते हैं, आदि। कभी-कभी तो पाठकों की क्षमता का अनुमान करके बहुत-कुछ छोड़ भी दिया जाता है। रामेश्वर प्रसाद श्रीवास्तव ने १९३० ई० के लगभग टामस हार्डी की प्रसिद्ध पुस्तक 'टेस ऑफ डर्बरविला' का हिन्दी अनुवाद इसी प्रकार किया था। दुर्भाग्य से वह पुस्तक अभी तक नहीं छप पाई। चार वर्ष हुए उस पुस्तक की पांडुलिपि मैंने देखी थी। इन्हीं सीमाओं के भीतर रह कर हिन्दी वालों ने अनुवाद प्रस्तुत किये हैं। कभी तो अनुवादकों ने ऐसे अनुवाद उपस्थित किये हैं कि वे पढ़ने में वातावरण के अतिरिक्त अन्य दृष्टियों से मौलिक ग्रंथों का सा आनन्द देते हैं। डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने 'हिन्दी पुस्तक साहित्य' में १९४२ ई० तक किये गये अनुवादित साहित्य का वर्गीकरण सहित उल्लेख किया है। उससे ज्ञात होता है कि हिन्दी में संस्कृत प्राकृत बंगला, फारसी, उर्दू, अंग्रेजी, आदि भाषाओं से काव्य, कहानियाँ, नाटक, उपन्यास, समाज संबंधी, ज्ञान-विज्ञान संबंधी, शरीर रक्षा, उपयोगी कला, धर्मशास्त्र, देश दर्शन, जीवन चरित्र, इतिहास, आदि विषयों की पुस्तकों के अनुवाद उपस्थित किये गये है। प्रायः सभी प्रसिद्ध लेखकों की सुप्रसिद्ध पुस्तकें अनुवादित हो चुकी हैं। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक की पुस्तकों पर अनुवाद के लिये दृष्टि डाली गई है।

संपादित साहित्य

स्व० श्यामसुन्दर दास और नागरी प्रचारिणी सभा के अथक प्रयत्नों द्वारा हिन्दी की अनेक प्राचीन और मध्ययुगीन पुंस्तकों का पता लगा। कभी-कभी एक ही पुस्तक की अनेक प्रतियों का भी पता चला। उपर्युक्त प्रयास का एक सुन्दर फल यह भी हुआ था कि हिन्दी के अनुरागियों में अपने इस बिखरे हुए साहित्य को प्राप्त करने की लालसा पैदा हुई। अतएव हिन्दी के विद्वान और अनुरागी सदैव इस प्रयत्न में रहने लगे कि जिस नई पुस्तक का भी पता लगे उसे या उसकी सही-सही प्रतिलिपि प्राप्त की जाय। इधर

आवश्यकता

विश्वविद्यालयों की एम० ए० और बी० ए० की कक्षाओं में हिन्दी पढ़ाई जाने लगी। इन कक्षाओं के लिये पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकता पड़ी। तब प्रयत्न इस बात का किया जाने लगा कि प्राप्त पुस्तकों में से जो उच्च कोटि की हों उनके पाठ को सुधार कर उन्हें प्रकाशित किया जाय जिससे विद्यार्थी उन्हें पढ़ें। साथ ही साथ समय की प्रगति के अनुसार हिन्दी का क्षेत्र बढ़ा। विद्वानों का ध्यान इस ओर गया। हमें अन्य साहित्य वालों के समक्ष अपने साहित्य की उच्च कोटि की पुस्तकों को रखना था। हमारे यहाँ पुस्तकें लिखने और उनके पाठ को सुरक्षित रखने का रिवाज न था। किसी ने मूल की एक प्रति कर ली और वह उसकी अपनी चीज हो गई। शेष जन समूह उसे सुन-सुन कर याद करता था। इससे उच्चकोटि का साहित्य हमारे जीवन का अनिवार्य अंग हो तो गया किन्तु ऐसा मौखिक साहित्य प्रदेश विशेष एवं व्यक्ति विशेष की बुद्धि और सामर्थ्य के अनुसार थोड़ा-बहुत बदल जाया करता है। फिर, प्रतिलिपि करने वाले से भी गलती हो जाना असंभव नहीं। धार्मिक साहित्यिकों के शिष्यगण अपनी रचनाएं गुरू को समर्पित करके उनके नाम से प्रसिद्ध करवाना एक प्रकार की गुरू-दक्षिणा समझते थे। इन सब कारणों से पुस्तकों के पाठ में बहुत अन्तर आ गया। शताब्दियों के पश्चात् जब आज उनकी आवश्यक्ता पड़ी और उनके मूल रूप की खोज हुई तब जिज्ञासुओं के सामन एक विकट समस्या आ गई।

संपादन विधि
१—प्राचीन पद्य

अतएव संपादन का एक मुख्य ध्येय हो गया पाठ-सुधार। यह इस प्रकार किया जाता था कि पुस्तक विशेष की जितनी भी प्रतियां प्राप्त हो सकती थीं उन्हें प्राप्त करने का यथासंभव प्रयत्न होता था। सब को प्राप्त करके एक-एक चौपाई एवं एक-एक पद को सब प्रतियों में देखा जाता था। उनमें जो अन्तर होता था उसे ध्यान में रख कर प्रसंग, कवि की परिस्थितियों के अनुसार बनने वाले उसके मनोविज्ञान, उस कवि के समस्त साहित्य के अनुसार निश्चित होने वाली उसकी प्रतिभा के स्तर एवं कोटि, शक्ति एवं सामर्थ्य, तथा कवि के निवास स्थान की बोली और भाषा विज्ञान के तत्त्वों को ध्यान में रख कर अनुमान किया जाता था कि अमुक शब्द या पद का कौन-सा रूप स्वयं कवि ने अपनाया होगा। समस्त पुस्तक पर इस ढंग से विचार कर के उसके पाठ, आदि को ठीक किया जाता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार का संपादन बहुत-कुछ संपादक की अपनी योग्यता पर निर्भर रहता है। इसी ढंग से प्राचीन पुस्तकों एवं प्रदेश विशेष में बिखरे हुए लोक गीत, आदि का संपादन होता है। रामकुमार वर्मा का 'संत कबीर' (१९३७ ई०), श्यामसुन्दर दास का 'कबीर ग्रंथावली' (१९२८ ई०), हरि नारायण शर्मा का 'सुन्दर ग्रंथावली' (१९३६ ई०), रामकिशोर श्रीवास्तव का 'हिंदी लोक गीत' (१९४६ ई०), शिवनन्दन ठाकुर का 'महाकवि विद्यापति' (१९४१ ई०), उमाशंकर शुक्ल का 'कवित्त रत्नाकर' (द्वितीय संस्करण) (१९३७ ई०,) 'नन्ददास' (दो भाग) (१९४३ ई०) 'पीतांबर दत्त' बड़थ्वाल का

'गोरखबानी' (१९४३ ई०), इत्यादि संपादित ग्रंथ इसी शैली पर हैं।

यह संपादन-कार्य केवल काव्यग्रंथों तक ही नहीं सीमित है। यह ठीक है कि संपादन अधिकतर काव्य ग्रंथों का ही हुआ है किन्तु इसका कारण यह है कि हमारे

२—गद्य

यहाँ पहले कविताएं ही अधिक लिखी जाती थीं, कवि का ही अधिक मान होता था और कविताओं का ही अधिक प्रचार होता था। इससे यह कदापि न समझ लेना चाहिये कि काव्य ग्रंथ के अतिरिक्त और किसी ग्रंथ का संपादन हुआ ही नहीं था। १९३४ ई० में रामकुमार वर्मा ने 'गोरा बादल की कथा' का संपादन किया था। सब से महत्त्वपूर्ण सम्पादन बनारसीदास जैन की 'अर्द्ध कथा' का हुआ है। यह आत्मकथा हमारे साहित्य की अब तक की खोज के अनुसार हिन्दी की पहली आत्म कथा है। इसका संपादन रामचरित मानस के सुप्रसिद्ध संपादक माता प्रसाद गुप्त ने किया है। चौरासी वैष्णवों और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ताओं का संपादन भी इसी प्रकार करने का प्रयास किया गया है।

नवीन साहित्य का भी संपादन होता है। यह संपादन गद्य और पद्य दोनों दिशाओं में हुआ है। इसे वस्तुतः संपादन न कह कर संकलन कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

नवीन गद्य-पद्य

इसमें प्रायः होता यह है कि संपादक या संकलनकर्ता किसी अमुक दृष्टिकोण से या तो विभिन्न लेखकों द्वारा लेख लिखवाता है या उस विशेष दृष्टिकोण के अन्दर आ सकने वाले पूर्व लिखित लेखों का संचयन करता है। आवश्यकतानुसार उनमें से कुछ घटा भी देता है। फिर अध्ययन या आकलन की गंभीरता, सूक्ष्मता, वैज्ञानिकता एवं शैली की विविधता के अनुसार पाठकों या संपूर्ण मनुष्य मात्र की रुचि या मनोविज्ञान को ध्यान में रखते हुए उनका क्रम निर्धारित करके उन्हें छपवाता है। इसके लिये लेखकों की अनुमति आवश्यक होती है। इस प्रकार संपादित पुस्तकों में से कुछ ये हैं :—

केशव प्रसाद मिश्र और पद्म नारायण आचार्य का 'रसायन' (१९४३ ई०), प्रभाकर माचवे का 'जैनेन्द्र के विचार' (१९३७ ई०), प्रभाकरेश्वर उपाध्याय का 'प्रेमघन सर्वस्व' (१९३९ ई०), उदय नारायण तिवारी और भागीरथ प्रसाद दीक्षित का 'वीर काव्य संग्रह' (१९३९ ई०), मोती लाल मेनारिया का 'डिंगल में वीर रस' (१९४० ई०), नगेन्द्र तथा वात्स्यायन का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (१९४६ ई०), और सोमनाथ गुप्त का 'हिन्दी आलोचनाएं' (१९४४ ई०), इत्यादि। किसी विशेष उत्सव या किसी महान व्यक्ति के ऊपर लिखाये गये लेख इसी प्रकार संपादित होते हैं; जैसे, गौरीशंकर हीरा चंद ओझा द्वारा संपादित 'कोशोत्सव स्मारक संग्रह' (१९२९ ई०), इत्यादि।

पत्र-पत्रिकाएँ

इस काल में पत्र-पत्रिकाओं की अभूतपूर्व उन्नति हुई है। इस उन्नति के पीछे हिन्दी जनता की जागृति थी। सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना और दिन प्रति दिन

परिस्थितियां या पृष्ठिभूमि

बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना तथा राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के कारण पत्र-पत्रिकाएं हिन्दी में बढ़ती ही गईं। कांग्रेस के आन्दोलनों ने जनता में यह जागृति पैदा की थी। दिन प्रति दिन जनता में देशभक्ति की भावना प्रबल होती गई। अपने धर्म, अपनी जाति, अपनी संस्कृति-सभ्यता, अपनी भाषा, आदि के प्रति हिन्दी वाले अपने कर्तव्यों का अनुभव करने लगे। इतिहास के प्रेमी जानते हैं कि उस समय आये दिन हड़तालें होती थीं। असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन, कौसिलें और असेम्बलियों के चुनाव, व्यक्तिगत सत्याग्रह, १९४२ ई० की क्रांति, आदि ने देश के प्रत्येक अंग पर अपना प्रभाव डाला था। इस प्रकार १९२७ ई०, १९३० ई०, १९३२ ई०, १९३५ ई०, १९४२ ई०, १९४७ ई०, के वर्ष भारतीय जनजीवन के लिये बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार, आदि राजनीतिक सुधारों का भी इस प्रगति एवं चेतना में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। मिस मेयो की 'मदर इंडिया' का विरोध सारे देश ने एक स्वर से किया था। इन सब बातों के लिये पत्र-पत्रिकायें अनिवार्य थीं। सोचा कि बिना उनके ये बातें जनता तक पहुँच ही नहीं सकती थीं। जनता भी अपनी आवाज़ पत्र-पत्रिकाओं के बिना सरकार या अपने नेताओं तक पहुँचा नहीं सकती थी। १९४२ ई० में क्रान्ति के लिये देश तैयार नहीं था। इस बात को नेताओं तक पहुँचाना है। अस्तु बालकृष्ण शर्मा ने उस वर्ष 'प्रताप' में इसी विषय पर लेखमाला प्रकाशित करा दी। कांग्रेस की बुलेटिनें जनता तक जाती थीं। भिन्न-भिन्न पार्टियों के विचार जनता के बीच प्रायः इन्हीं पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा ही पहुँच सकते थे। अतएव इन परिस्थितियों में हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की खूब उन्नति हुई।

कुछ आंकड़े

१९३६–३७ ई० तक यू० पी० में हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का विकास किस गति से हुआ, इसे समझने के लिये नीचे कुछ संख्यायें दी जा रही हैं :—

वर्ष	संख्या
१९२६–२७ ई०	२३७
१९२७–२८ ई०	२६६
१९२८–२९ ई०	२७०
१९२९–३० ई०	२५३
१९३०–३१ ई०	२५३
१९३१–३२ ई०	२२९
१९३२–३३ ई०	२१९
१९३३–३४ ई०	२३३
१९३४–३५ ई०	२२९
१९३५–३६ ई०	२१९
१९३६–३७ ई०	३२९

हिन्दी समाचार पत्रों के पाठकों की संख्या भी प्रायः बढ़ती ही गई। कुछ आंकड़े देखिये :—

१९२२ ई० में २१५१२४
१९३१ ई० में ३३५४३८
१९३६ ई० में ३२४८८०

१९३६ ई० की संख्या का घटना परिवर्तित प्रवृत्ति के कारण नहीं, किसी सामयिक कारण से है।

साप्ताहिकों में उस समय कानपूर का 'प्रताप' सब से अधिक बिकता था। मासिकों में इलाहाबाद का 'चांद' और लखनऊ की 'माधुरी' खूब देखी-पढ़ी जाती थी।

उल्लेखनीय पत्र-पत्रिकायें

१९२८ ई० तक 'सरस्वती' की प्रधानता रही। उस समय मासिकों की संख्या सबसे अधिक, साप्ताहिकों की उससे कम, और दैनिकों की सब से कम थी। किन्तु दैनिकों की प्रतियां सबसे अधिक छपती थीं, साप्ताहिकों की उससे कम और मासिकों की सब से कम। १९२८ ई० के बाद मासिकों ने प्रधानतः साहित्य को ही अपना क्षेत्र बना लिया और दैनिकों ने राजनीति को। साप्ताहिक उभयनिष्ठ थे। उनमें साहित्य और राजनीति दोनों पर सामग्री रहती थी। न्यूनाधिक यही क्रम आज तक चला आ रहा है।

'कल्याण' (१९२६ ई०), 'खिलौना' (१९२७ ई०), 'वीणा' (१९२७ ई०), 'बालक' (१९२७ ई०), 'सुधा' (१९२७ ई०), 'विशाल भारत' (१९२८ ई०), 'त्यागभूमि' (१९२८ ई०), 'हंस' (१९३० ई०), 'संगीत' (१९३० ई०), 'गंगा' (१९३० ई०), 'रंगभूमि' (१९३१ ई०), 'विश्वमित्र' (१९३३ ई०), और 'माया' (१९३४ ई०) हिन्दी के अच्छे मासिक थे। १९३० ई० में 'भारत' का प्रकाशन हुआ। आगे चलकर (१९३३ ई०) में यह अर्धसाप्ताहिक हो गया फिर दैनिक हुआ और इतवार को साप्ताहिक विशेषांक में साप्ताहिकों की भी कुछ सामग्री देने लगा। १९३१ ई० में निम्नलिखित दैनिक पत्र निकले:— 'विश्वमित्र' (कलकत्ता), 'लोकमान्य' (कलकत्ता), 'स्वाधीन भारत' (बंबई), 'स्वतंत्र' (कलकत्ता), 'भारतमित्र' (कलकत्ता), 'अर्जुन' (देहली), 'लोकमत' (जबलपूर), 'वर्तमान' (कानपूर), 'आज' (बनारस) और 'हिन्दी मिलाप' (लाहौर)। गांधी जी का 'हिन्दी नव जीवन' भी हिन्दी के पत्रों में प्रमुख है। १९३८ ई० में समाजवादी पत्र 'विप्लव' निकला। फिर इस पर प्रतिबंध लगे। तब यह विप्लव ट्रैक्ट के नाम से निकला। प्रतिबंध हटने पर यह फिर 'विप्लव' हो गया। 'जनता' भी एक सुन्दर साप्ताहिक था। 'मौजी' हास्यरस प्रधान मासिक था। 'जीवन साहित्य', 'रूपाभ' और 'आरती' भी प्रमुख पत्र थे। १९३९–४५ ई० के युद्ध में 'नवीन भारत' का मूल्य एक पैसा मात्र था। इनके अतिरिक्त कुछ महत्त्वपूर्ण पत्रों के और नाम देखिये :—

'सन्देश' (१९४१ ई०), 'कांग्रेस', 'ताजे तार', 'हिन्दुस्तान' (दैनिक), 'नवराष्ट्र'

(बंबई), 'लोकायुध' (बंबई), 'संघर्ष' (लखनऊ), 'लोकमत' (जयपूर) और अग्रगामी' (काशी)। इन प्रधान दैनिकों के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण मासिक भी निकले:–'मधुर जीवन' (१९३७ ई०), 'आदर्श महिला' (१९३६ ई०), 'साहित्य संदेश' (१९३८ ई०), 'नोकझोंक' (१९३८ ई०), 'कमल' (१९३९ ई०), 'साधना' (१९३९ ई०), 'रानी' (१९३९ ई०), 'मराल' (१९३९ ई०), 'आरती' (१९४० ई०) ौर 'तरुण' (१९४० ई०)। 'सब की बोली' (वर्धा), 'अखंड ज्योति' (आगरा), काश' (जयपूर), 'व्यावहारिक वेद्रांत' (लखनऊ), 'चित्र प्रकाश' (कलकत्ता), मेल मिलाप' (पटना) और 'रंग मंच' (प्रयाग) महत्त्वपूर्ण मासिकों में से हैं। ये सब १९३७ ई० के लगभग निकले हैं। 'श्री सारदा', 'छायावाद', 'झरना', 'सरिता', 'अलबेला' और 'तरंग' (काशी) के नाम भी उल्लेखनीय हैं। 'नव ज्योति', 'राजस्थान', 'योगी', 'दरबार', 'कर्मवीर', 'स्वराज्य', 'आवाज', 'जीवन', 'सूत्रधार', 'सिद्धान्त', 'देशदूत', 'संगम', 'नवयुग', आदि साप्ताहिकों के नाम उल्लेखनीय हैं। १९३९-४५ ई० में जब महायुद्ध हो रहा था, भारत में हिन्दी की इन पत्र-पत्रिकाओं पर खूब कड़े-कड़े प्रतिबंध लगे। उस समय 'भारतीय समाचार'-जैसे कुछ पत्र ही फल-फूल पाये। दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्रिकाओं के अतिरिक्त पाक्षिक और त्रैमासिक पत्रिकाएँ भी हैं। पाक्षिक में टीकमगढ़ के 'मधुकर' का नाम उल्लेखनीय हैं। त्रैमासिकों में 'पारिजात', 'हिन्दी अनुशीलन', 'साहित्य परिचय' प्रमुख हैं। महायुद्ध के बाद निकले हुए मासिकों में 'हिमालय', 'प्रतीक', 'युगवाणी' और 'नया साहित्य' उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त कालेजों और यूनिवर्सिटियों की हिन्दी मैगजीनें भी कभी-कभी बड़ी महत्त्वपूर्ण होती हैं। उन्हें भी पत्र-पत्रिकाओं में समझना चाहिये।

विषय की दृष्टि से इन पत्र-पत्रिकाओं को निम्नलिखित वर्गों में बांटा जा सकता है :—

विषय विभाजन

१. विज्ञान की दृष्टि से :—'विज्ञान' (प्रयाग, १९४५ ई०), आदि;

२. नारी पत्रिकाएँ:—'जननी' (प्रयाग १९४५ ई०) 'रानी' (कलकत्ता, १९३९ ई०), 'दीदी' (प्रयाग) और 'भारती' (१९४० ई०), आदि;

३. राष्ट्रभाषा संबंधी:—'राष्ट्रभाषा' (वर्धा, १९४० ई०), 'कौमी बोली' (वर्धा), 'नयाहिन्द' (प्रयाग), आदि;

४. आलोचना संबंधी:—'साहित्य संदेश' (आगरा, १९३९ ई०), आदि;

५. शिक्षा संबंधी:—'शिक्षा सुधा' (धनौरा), 'हिन्दी शिक्षण पत्रिका' (बड़ौदा, १९३३ ई०), 'शिक्षा संदेश' (अलवर, १९४१ ई०), 'भारतीय शिक्षण पत्रिका', आदि;

६. साहित्य सम्बन्धीः—'नया साहित्य' (१९४५ ई०), 'हिन्दी' (काशी, १९४२ ई०), 'विशाल भारत', 'लोक जीवन', 'वीणा', 'अग्रदूत', 'नव-निर्माण', 'सरिता', संगम', 'आजकल', 'अशोक', 'विश्ववाणी', 'केसरी', 'चांद, 'छाया', 'ज्योति', 'जीवनसखा', 'तरुण', 'सरस्वती', 'माधुरी', 'ब्रजभारती', 'जीवन-साहित्य', इत्यादि;

७. स्काउटिंग संबंधीः—'सेवा' (प्रयाग);

८. औषधि संबंधीः—'सुधानिधि', 'धन्वंतरि', 'आरोग्य', 'स्वास्थ्य', इत्यादि;

९. बाल संबंधीः—'हुंकार' (लखनऊ), 'कुमार', 'विनोद', 'नवनीत रत्न', 'हमारे बालक', 'बालहित', 'बालसखा', 'बालक', 'किशोर', इत्यादि;

१०. हिन्दी प्रचार संबंधीः—'हिन्दी प्रचार पत्रिका', 'हिन्दी विद्यापीठ पत्रिका', 'सम्मेलन पत्रिका', 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', आदि;

११. जाति संबंधीः—'क्षात्र धर्म संदेश', 'क्षत्रिय मित्र', 'यादवेश', 'सांध्यजीवन', 'विश्वबंधु', इत्यादि;

१२. दर्शन संबंधीः—'अनिकेत', (जैन दर्शन), 'जिन वाणी', आदि;

१३. कहानी संबंधीः—'अरुण', 'माया', 'रसीली कहानियां', 'मनोहर कहानियां' 'छाया', 'कहानी', 'सजनी', 'साजन', आदि;

१४. चित्रपट संबंधीः—'चित्र प्रकाश', 'कुंकुम', 'रंगभूमि', इत्यादि;

१५. ग्राम सुधार संबंधीः—'लोक जीवन', 'ग्राम सुधार' आदि ;

१६. ज्योतिष संबंधीः—'श्री स्वाध्याय';

१७. व्यवसाय संबंधीः—'बेकार सखा', 'उद्यम', आदि;

१८. आर्यसमाज संबंधीः—'आर्यबंधु', 'आर्यमित्र', आदि;

१९. जीवन संबंधीः—'सात्विक जीवन', आदि;

२०. धर्म संबंधीः—'कल्याण' (गोरखपूर १९२६ ई०), 'धर्मदूत', आदि; और

२१. तुलसीदास संबंधीः—'मानस मणि', 'भक्ति', आदि।[1]

जहाँ इतनी अधिक पत्र-पत्रिकायें हों वहाँ संपादकों के नाम देने की बात कठिन है। फिर भी कुछ महत्त्वपूर्ण नामों के उल्लेख कर देने में कोई हानि नहीं। महाबीर प्रसाद द्विवेदी, पदुम लाल पन्नालाल बख्शी, उमेशचन्द्र शुक्ल, गणेश शंकर विद्यार्थी, हरिशंकर विद्यार्थी, बाबूराव विष्णु पराड़कर, कमलापति त्रिपाठी, वेंकटेश नारायण तिवारी, लक्ष्मी नारायण गर्दे, इलाचंद जोशी, शंकर दयालु श्रीवास्तव, माखन लाल चतुर्वेदी, बनारसी दास चतुर्वेदी, श्रीराम शर्मा, अनन्त मराल शास्त्री, यशपाल, हरिशंकर शर्मा, क्षितीन्द्र मोहन मित्र, विजय वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, बलभद्र प्रसाद मिश्र, देवी प्रसाद शुक्ल, रूप नारायण पांडेय,

संपादक गण

---

१. डॉ० रामरतन भटनागर की प्रकाशित थीसिस से पत्र-पत्रिकाओं संबंधी ये आँकड़े सधन्यवाद उद्धृत किये जा रहे हैं—लेखक

अज्ञेय, ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल', आदि नाम उन हजारों संपादकों में से कुछ हैं जिन्होंने खून-पसीना एक करके हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं को उस स्तर पर पहुँचाया है जहां वे आज हैं।

इसी सिलसिले में हिन्दी की उन पत्र-पत्रिकाओं का उल्लेख कर देना भी उचित होगा जो हिन्दी प्रदेश से हजारों लाखों मील दूर भारत के बाहर विदेशों में छपती

विदेशों में हिन्दी की पत्र-पत्रिकायें

हैं या छपती थीं। 'अफ्रीका में गांधी जी ने अपने पत्र 'इंडियन ओपीनियन' में हिन्दी विभाग रक्खा था। जैसे यूनिवर्सिटी या कालेज की मैगजीनों में एक भाग हिन्दी का रहा करता है कुछ उसी प्रकार यह विभागांक के रूप में था। दक्षिण अफ्रीका में ही स्वामी भवानी दयाल सन्यासी ने 'धर्मवीर' और 'हिन्दी' का संपादन किया था। अब ये बंद हो गई हैं।

मारिशस में 'मारिशस इंडियन टाइम्स' में कुछ सामग्री हिन्दी की भी रहती थी। इसके अतिरिक्त 'आर्यवीर', 'आर्य पत्रिका', और 'सनातन धर्मांक' भी हिन्दी की ही चीजें थीं।

सुवा के 'फ़ीजी समाचार' में हिन्दी और अंग्रेजी साथ-साथ रहती थी। 'वैदिक-संदेश' और 'सनातन धर्म' वहां निकले किन्तु कुछ दिनों के बाद बन्द हो गये। 'शांति-दूत' व 'राजदूत' बहुत सामान्यस्तर के पत्र हैं। फीजी से ही 'तारा' नामक सौ पृष्ठों का पत्रिका निकलती है। नान्दा से 'दीनबंधु' का प्रकाशन होता है।

विदेशों की इन पत्र-पत्रिकाओं को कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता होगा, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। अभी इनकी संख्या कम, प्रसार संकुचित और क्षेत्र सीमित है। सम्मान भी जो कुछ मिलता होगा, मालूम ही है। अब स्वतंत्र देश की राष्ट्रभाषा के रूप में, संभव है, इनके दिन पलटें। विदेशों में जहां-जहां हिन्दी पढ़ाने का प्रबंध हो रहा है, वहाँ-वहाँ से तो काफी आशा की जा सकती है।

कार्य और कमियाँ

इन पत्र-पत्रिकाओं ने बहुत से काम किये हैं; जैसे :—

१. नवीन लेखकों को प्रकाश में लाना,
२. हिन्दी के प्रचार और प्रसार के कार्य में सहयोग देना,
३. समय-समय पर उठने वाली समस्याओं पर जनता की राय जानने की सुविधा और मार्ग देना,
४. सद्साहित्य की व्याख्या और प्रचार (रिव्यू, आदि के द्वारा),
५. विश्व साहित्य की कहानियों, आदि को अनुवाद के द्वारा जनता तक पहुँचाना,
६. छोटे-छोटे लेखों के द्वारा विभिन्न विषयों की उपयोगी सामग्री जनता तक पहुँचाना, और
७. आलोचना तथा निबंध साहित्य को प्रोत्साहन देना, इत्यादि !

किन्तु इन पत्र-पत्रिकाओं से संतोष नहीं होता क्योंकि :—

१. अंग्रेज़ी की पत्र-पत्रिकायें कला और कोटि, विषय और सामग्री एवं विविधता और बहुलता की दृष्टि से हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।
२. हिन्दी के संपादक की स्वतंत्र सत्ता एवं मर्यादा नहीं। वह सरकार और पत्र के मालिक के विरुद्ध उंगली उठाने का भी साहस नहीं रखता।
३. इस गुलामी ने उसके दिमाग को सड़ा दिया है। वह बेई-मानियाँ करता और कराता है। कुछ न होते हुए भी अपने को सब-कुछ समझता है।
४. उसका मस्तिष्क क्षुद्र स्वार्थ और सीमित अहं को छोड़ नहीं पाता और शोषित होकर भी वह शोषण करने का प्रयत्न करता है।
५. केवल साहित्य एवं पत्रकारिता का अवलम्ब लेकर रह सकने की इच्छा करने वाला, एवं आत्म सम्मान रखने वाला ईमानदार लेखक मिट जाता है या टूट जाता है।
६. हिन्दी प्रेस सुविकसित नहीं है। कार्यकर्त्ता शिक्षित या ट्रेंड नहीं है।
७. सरकार की दृष्टि में अपने लिये महत्त्वपूर्ण स्थान न बना सकीं।

सिंहावलोकन

हिन्दी साहित्य को समृद्धि साहित्य नहीं कहा जा सकता। दो-चार-दस उच्चकोटि की पुस्तकों के बल पर किसी साहित्य को धनी समझ लेना भूल है। काव्य के क्षेत्र में विशेष रूप से ब्रजभाषा और अवधी भाषा की दृष्टि से हमारे पास अवश्य कुछ बहुमूल्य पुस्तकें हैं किन्तु उनकी बहुमूल्यता का कारण उनकी संख्या नहीं, उनमें से कुछ की कोटि है। उनमें भी विविधता और विचित्रता कम है। साहित्य के अन्य अंगों में हिन्दी में वैसी और उतनी पुस्तकें नहीं हैं। उपयोगी साहित्य विशेष रूप से दरिद्र है। हिन्दी के किसी अच्छे पुस्तकालय में यदि कोई विद्वान पुरुष चला जाय और साहित्य के विभिन्न अंगों वाली विभिन्न अलमारियों से पंद्रह-पंद्रह या बीस-बीस अच्छी पुस्तकें गंभीरतापूर्वक पढ़ ले, तो मेरा अनुमान है कि वह हिन्दी साहित्य के विभिन्न अंगों की लगभग सभी प्रवृत्तियों को जान जायगा।

हिन्दी साहित्य की पूंजी

हिन्दी साहित्य हिन्दी भाषा-भाषी जनता एवं हिन्दी प्रदेश के जीवन और उसकी मनो-वृत्तियों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाला साहित्य है। हिन्दी जनता अभी भावना

हिन्दी जनता का जीवन

प्रधान अवस्था में है। उसका जीवन बुद्धि से नहीं, विश्वास, कभी-कभी अंधविश्वास, श्रद्धा, आदि से परिचालित होता है। हिन्दी जनता को अपने गये-बीते समय की बातों से उतना ही मोह है जितना शायद बंदरिया को अपने मरे हुए बच्चों से होता है। साथ ही साथ उसके जीवन में नवीनता अनिवार्य रूप से आती रहती है। वह इसको रोक भी नहीं सकती। अतएव वह प्राचीन को नये चश्मे से और नवीन को प्राचीन चश्मे से देख कर दोनों में शायद समन्वय स्थापित करना चाहती है। वह प्राचीन बातों एवं धार्मिक तत्त्वों को आधुनिक युग की वैज्ञानिक व्याख्या देना चाहती है। हिन्दी जनता के जीवन में विचित्रता और विविधता का भी अभाव है। मुँह-पेट भरने के लिये जो जिस काम में लगा है इस में कोल्हू के बैल की ही तरह प्राय: वह अपनी दिनचर्या को एक घेरे तक सीमित रक्खे है। उस कार्य विशेष को छोड़ कर उसकी अन्य कोई रुचि नहीं शौक या दिलचस्पी की कोई आदत (hobby) नहीं। अपवादों को मैं कुछ नहीं कह रहा हूँ। अवकाश काल को महज गपशप में बिता देना या जन्म, विवाह एवं त्यौहार, आदि के अवसर पर थोड़ा हँस-बोल लेना ही हमारा मनोरंजन है। और, लगभग इसी तरह का हमारा हिन्दी साहित्य है।

उसका प्रतिनिधित्व करने वाला हिन्दी साहित्य

हिन्दी में साहित्य के उस अंग पर सब से अधिक पुस्तकें लिखी गई हैं जिसके लिये बुद्धि की कम और भावना की बहुत अधिक आवश्यकता पड़ती है। भक्ति प्रधान गीतों, कविताओं एवं ईश्वर प्रार्थनाओं से संबंध रखने वाली पुस्तकें ही अधिक छपती और हिन्दी जनता में खपती हैं। उच्चकोटि के निबंध, समालोचना एवं उपयोगी साहित्य पर बहुत कम साहित्य मिलता है। विश्वास का यह हाल है कि पौराणिक कथाओं, ईश्वर, जीव, प्रकृति, ब्रह्म, माया और इनके पारस्परिक संबंध—रहस्यवाद—भक्ति आदि की ही प्रधानता है। अंधविश्वास की यह अवस्था है कि जिसको मनुष्य की तरह चित्रित करने जा रहे हैं उसे भी चूंकि अभी तक ईश्वर माना गया है इसलिये पहले ईश्वर के रूप में देखा जायगा और उसकी प्रार्थना, इत्यादि भी होगी। शुभ एवं अशुभ गणों एवं वर्णों पर आज भी लोगों का विश्वास है। बीते हुए समय की बातों से हिन्दी साहित्य को इतना मोह है कि भारत के राष्ट्रीय आन्दोलनों पर प्राचीन कथाओं का सहारा लिये बिना लिखा हुआ उच्चकोटि का महाकाव्य शायद ही मिल सके। प्रकाशित साहित्य में से लगभग तीन चौथाई प्राचीन विश्वासों, आदर्शों, ऐतिहासिक एवं पौराणिक महापुरुषों के क्रिया-कलापों के वर्णनों एवं चित्रणों से भरा है। साथ ही, प्रगतिवाद, की जिसमें व्यावहारिक रूप से जीवन की यथार्थ परिस्थितियों का नग्नतम चित्रण होता है और जो निश्चय ही भारतीय परम्परा की चीज नहीं है, आती हुई प्रवृत्ति एवं उसके सुस्थिर रूप को भी हिन्दी वाले अपनाते चले जा रहे हैं। द्वारका प्रसाद शुक्ल ने सत्याग्रह की बात, जेल की बात,

आदि को कृष्ण युग, में भी दिखलाने का प्रयत्न किया है। सद्गुरु शरण अवस्थी ने उसे प्रह्लाद के युग में भी देखा है, गोविन्ददास ने राम और कृष्ण के कार्यों की नवीन वैज्ञानिक व्याख्या करने का प्रयास किया है तथा लक्ष्मी नारायण मिश्र ने अपने 'नारद की वाणी' में प्राचीन काल के संघर्ष को सांस्कृतिक संघर्ष के रूप में देखा है। रामदास गौड़ ने रामचरित मानस की धार्मिक कथाओं को एक राजनैतिक कथा के रूप में भी समझने का प्रयास दिया है। अपनी असमर्थता में भी इतने अधिक विषयों को अपनाने का प्रयत्न करने वाला साहित्य हिन्दी प्रदेश की उस जागृत चेतना, क्रियाशीलता एवं उन्नति की ओर बढ़ने के अथक प्रयत्नों का प्रतिनिधित्व करता है उसके जो आर्यसमाज, जैसे सामाजिक सुधार के आन्दोलनों और इंडियन नेशनल कांग्रेस के राजनैतिक आन्दोलनों से स्पष्ट है। हिन्दी जनता के जीवन की ही तरह हिन्दी साहित्य में भी विविधता एवं विचित्रता का अभाव है। विषयों के अन्दर न तो बहुत अधिक धाराएँ हैं और न उन धाराओं चलने वाली पुस्तक रूपी नौकाओं में अधिक निजी विशेषताएँ ही। बहुत कम लेखक और पुस्तकें ऐसी हैं जिनकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। शेष उन्हीं के अनुकरण पर लिखी गई हैं। इसका प्रधान कारण है लेखकों में मौलिकता का प्रायः अभाव। लेखकों ने यह प्रयत्न अवश्य किया है कि वे एक से अधिक विषयों पर लिखें। जयशंकर प्रसाद की चतुर्मुखी प्रतिभा की नकल करने की कोशिश की गई है, किन्तु विचारधारा की बहुलता का प्रायः अभाव है। शैली में विभिन्नता कम पाई जायगी। इस साहित्य में अभिव्यक्त जीवन के अन्दर विचित्रता और विविधता नहीं है। कविता की तो बात ही क्या, कथा साहित्य में भी व्यापक दृष्टिकोण से देखने पर जीवन के अनेक रूप देखने को नहीं मिलते। यहाँ एक विशेष वर्ग के मस्तिष्क, मन और जीवन की अनेकानेक अवस्थाओं का चित्रण है। सुसंस्कृत और सध्यम वर्ग की जीवनधारा की ही झाँकियाँ मिलती हैं। इस प्रकार हिन्दी साहित्य हिन्दी जनता के जीवन की प्रवृत्तियों का प्रतिनिधिन्त्व बहुत अधिक सीमा तक करता है।

जनता के आगे भी चलने वाला साहित्य

हिन्दी साहित्य हिन्दी जनता के जीवन की प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हुए भी उससे कुछ आगे है। यह ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार शहर का जीवन देहात के जोवन से आगे है। देहात के पुराने साहित्यिक ब्रजभाषा में लिखी हुई घनाक्षरियों को ही कविता का सर्वस्व मानते हैं। जब हम लोग खड़ी बोली के गीतों एवं मुक्त छंदों को भी कविता कहते हैं, तब उनकी समझ में नहीं आता कि हम क्या कह रहे हैं। वहाँ यह भी समझा जाता है कि कविता ही साहित्य है और कवि ही साहित्यिक। वहाँ हिन्दी के सफल साहित्यिक एवं योग्य विद्यार्थी होने की एकमात्र कसौटी है रामचरितमानस का टेढ़ा-मेढ़ा अर्थ बता सकना एवं कबीर की उलटवासियों या सूर के दृष्टिकूटो को समझा सकना। और, हिन्दी साहित्य इतना आगे बढ़ चला है कि सूर के तथाकथित दृष्टिकूटो को सूर का लिखा मानने में भी संदेह किया जाने लगा है।

प्राचीन कथाओं एवं पौराणिक गाथाओं की नई व्याख्या करने वाले प्रायः पूज्यपाद विद्वान लेखक भी सत्यनारायण बाबा की कथा, विवाह की रीतियों-रस्मों, राम और कृष्ण के ईश्वरत्व एवं यज्ञोपवीत के वर्तमान स्वरूप पर विश्वास ही नहीं करते बल्कि जीवन से उसे चिपकाये भी रहना चाहते हैं। हिन्दी जनता का बौद्धिक स्तर हिन्दी साहित्य के बौद्धिक स्तर से कहीं पीछे है। लगता है कि हिन्दी साहित्य आगे बढ़ा जा रहा है और हिन्दी जनता उसका साथ नहीं दे पा रही है। हिन्दी साहित्य को समझने के पहले हिन्दी प्रदेश के ही मस्तिष्क को भी कई वर्षों तक हिन्दी साहित्य के ढंग पर सोचनें-समझने का अभ्यास करना पड़ेगा

चतुर तरुण सा साहित्य

अपने अध्ययन काल के हिन्दी साहित्य में हम पाते हैं कि यह उस नवयुवक की तरह है जिसके शरीर में नवस्फूर्ति है, जिसका आवरण नवीन है, जो कभी-कभी पुरानी बोली बोलता है किन्तु नई बोली बोलने का बराबर प्रयास करता हैं, जो पुराने रीति-रिवाओं को मानता-जानता है, किन्तु नई रोशनी को अपनाने के लिये सदैव तैयार रहता है, जिसकी आत्मा नवीनता और प्राचीनता के बीच भटका करती है, जिसको पुराने पर पूरी आस्था नही, किन्तु जो नये को पूरी तरह अपना नहीं पाता, और जो सीखने-समझने एवं समृद्ध होने के प्रयत्न में यह-वह, सब-कुछ, करता- धरता रहता है। अध्ययन की पिछली बातों से यह पूरी तरह स्पष्ट है।

प्रयास काल

१९०० ई० से १९२५ ई० तक के हिन्दी साहित्य को हम आधुनिक हिन्दी साहित्य का भूमिका काल या प्रयोग काल या निर्माण काल कह सकते हैं क्योंकि उस समय हिन्दी की खड़ी बोली को साहित्यिक भाषा का रूप दिया गया, उसकी अभिव्यंजना शक्ति को यथासंभव बढ़ाने का प्रयत्न किया गया और उसमें नये-नये प्रयोग किये गये। सच कहें तो, आधुनिक हिन्दी साहित्य का बीजारोपण, इसके वर्तमान स्वरूप का निर्माण, तभी से हुआ। १९२६ ई० से १९४७ ई० तक के हिन्दी साहित्य को हम आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रयास काल, विकास काल या उसकी तरुणावस्था कह सकते हैं क्योंकि इस युग में हिन्दी को विकसित करने का प्रयास किया गया है। यह प्रयास उसकी तरुणाई का ही द्योतक है।

भावष्य की ओर संकेत

अनुवादित साहित्य

समय की गति को देखते हुए ऐसा लगता है कि आगे के दस या पन्द्रह वर्षों के अन्दर हिन्दी में अनुवादों की भरमार रहेगी। देश-विदेश की उच्च कोटि की साहित्यिक पुस्तकों का सुन्दर से सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया जायगा। यह अनुवाद केवल ललित साहित्य तक ही सीमित न रहेगा। लगता तो यह है कि ललित साहित्य में से केवल उन्हीं का अनुवाद होगा जिनकी बहुत अधिक जरूरत होगी। अब यह बात दूसरी है कि 'माया' एवं 'मनोहर कहानियां'-जैसी पत्रिकाएं सामान्य पढ़ी-लिखी जनता की

ओछी भूख मिटाने के लिये गुदगुदी लगाने वाली विदेशी कहानियों के अनुवाद छापती रहें। किन्तु जो स्थायी साहित्य होगा उसमें अध्ययन के कारण, क्योंकि अब हिन्दी को विद्वानों का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त होगा, ललित साहित्य की अच्छी से अच्छी पुस्तकों का अनुवाद होगा। पुस्तकों का अनुवाद करने में अनुवादक को विषय-प्रतिपादन, आदि के बारे में जो ज्ञान प्राप्त होगा उसके कारण उच्चकोटि की मौलिक पुस्तकें भी निकलेंगी। अधिकाधिक अनुवाद उपयोगी साहित्य का, विशेष रूप से उन विषयों का जिनकी पढ़ाई एम० ए० और बी० ए० की कक्षाओं में होती है, होगा।

पारिभाषिक शब्दावलियां

पारिभाषिक शब्दावलियों वाली समस्या कुछ दिनों में हल हो जायगी। लगता यह है कि पारिभाषिक शब्दावलियों में से अधिकांश का निर्माण संस्कृत के सहारे होगा। कुछ शब्द संस्कृत से लिये जायंगे। जो शब्द संस्कृत साहित्य में न मिलेंगे, जैसे भौतिक विज्ञान, आदि विषयों से संबंध रखने वाले शब्द, उनका अनुवाद संस्कृत की शब्दनिर्माण-पद्धति, अर्थात् धातु के साथ उपसर्ग, परसर्ग, प्रत्यय, आदि लगा कर शब्दों के बनाये जाने वाले ढंग पर होगा। कुछ दिनों तक इन नवीन शब्दावलियों के साथ-साथ अंग्रेजी, आदि की आजकल प्रचलित शब्दावलियों के मूल रूप रोमन और नागरी दोनों लिपियों मे दिये जायेंगे। इन शब्दों के गढ़े जाने वाले हिन्दुस्तानी रूप प्रायः न अपनाये जायंगे।

शब्द संबंधी नीति उदार

ललित साहित्य की भाषा में भी परिवर्तन होगा। संस्कृत की संधि-समास-युक्त तत्सम शब्दावली का मोह बिल्कुल छूट जायेगा। कविता, आदि की उस भाषा का, जिसमें कारक-चिन्हों और क्रियाओं का प्रयोग कम से कम किया जाता है, प्रयोग कम से कम हो जायगा। भाषा की इसी शैली ने हिन्दी साहित्य को जनता से बहुत हद तक दूर कर रक्खा है। यद्यपि प्रारंभिक उर्दू और जन-साधारण की हिन्दी में कोई विशेष अन्तर न था किन्तु समय के फेर एवं साम्प्रदायिकता के कटु विष ने उन्हें एक दूसरे से पृथक कर दिया है। हिन्दी सँस्कृत की ओर बढ़ चली, उर्दू फारसी-अरबी, आदि की ओर। उभयनिष्ठ तत्त्व में जनता के अन्दर प्रचलित और उसके द्वारा अपनाये गये कुछ वे शब्द थे जिन्हें उर्दू वाले उर्दू के और हिन्दी वाले हिन्दी के समझते थे। उर्दू-हिन्दी भाषाओं और उनकी शैलियों को मिलाने का प्रयत्न नहीं होता था। बहुत अधिक हो गया तो, उर्दू वालों ने हिन्दी और हिन्दी वाली ने उर्दू में चीजें लिख डालीं। वह युग बीता और उर्दू में हिन्दी के शब्द और हिन्दी में उर्दू के शब्द प्रयुक्त होने लगे। अब प्रवृत्ति यह दिखलाई पड़ रही है कि दोनों की शैलियों में भी एकरूपता आ जायगी। अन्तर केवल लिपि का रह जायगा। यह एक अजीब किन्तु गौरवपूर्ण

बात होगी कि एक ही भाषा दो लिपियों में प्रचलित हो। कह नहीं सकते कि संसार में कोई ऐसी अन्य भाषा है या नहीं ! कुछ दिनों के बाद यह लिपि-भेद भी मिट जायगा। यही भाषा जन साधारण की भाषा के अधिक निकट होगी। उसी की भाषा का सुन्दर, साहित्यिक एवं उदात्त रूप ही हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्ति का माध्यम होगा। शब्द को अपनाने में उदारता दिखलाई जायगी। हिन्दी भाषा-भाषी जनता के व्यवहार में आने वाले संस्कृत के तत्सम, तद्भव, देश तथा अंग्रेजी, फारसी, आदि अनेक भाषाओं के शब्द उदारतापूर्वक अपनाये जायें। सुदूर भविष्य में लिपि कदाचित् नागरी ही रहेगी। उसमें थोड़े बहुत परिवर्तन की संभावना अवश्य है।

कविता का धुंधला भविष्य

कविता का सम्मान अपेक्षाकृत कम हो जायगा। वह जनता के दिन प्रतिदिन के जीवन की आवश्यक वस्तु न रह जायगी। बैठे-बैठाये समय के लिये, विवाह शादी के अवसर पर या सम्मेलनों के अधिवेशनों में एक प्रोग्राम कवि-सम्मेलन का भी रहेगा, इसमें कोई संदेह नहीं। इसी प्रकार पत्र-पत्रिकाओं में भी चटनी-मसाले के तौर पर, यानी एक गंभीर लेख पढ़ने के बाद शायद मन बहलाने के लिये कुछ कविताएं अवश्य छपेंगी। किन्तु उनके लिये बहुत अधिक चिन्ता न तो संपादकगण करेंगे और न पाठक गण। कविता प्रायः सजावट या दिखावे की चीज़ हो कर रह जायगी। कवि शायद कपि रूप नारद हो कर रह जायगा। कवि और कविता की कमी न रहेगी। सांस्कृतिक संघर्ष के इस युग में सब तुलसीदास बनना चाहेंगे। सब अपने को सशक्त विद्रोही एवं क्रांतिकारी समझेंगे। सम्भव है कि कुछ कविगण भक्ति के भाँग में भी मस्त रहें। महत्त्वहीन कवि और कविताओं की भरमार रहेगी। इसी में दो-चार उज्ज्वल रत्न भी छिपे रहेंगे। काव्य का स्थान संभवतः कथा साहित्य ले लेगा।

पत्र-पत्रिकाएं

पत्र-पत्रिकाओं की धूम रहेगी। ये बहुत निकलेंगी और बहुत प्रकार की निकलेंगी। शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ इनका प्रचार भी बढ़ेगा। विद्वान लेखकों और समझदार पाठकों की बढ़ती हुई संख्या के साथ-साथ इन पत्र-पत्रिकाओं का स्तर दिन प्रति दिन ऊंचा होता जायगा। संपादकों की नीति में भी सम्भवतः उदारता और सच्चाई आयेगी। सब सुख से उन्नति करेंगे। प्रत्येक विषय का अपना-अपना पत्र होगा और संभवतः उन पत्रों का अपना-अपना क्षेत्र भी रहे। तब उनका अपना-अपना महत्त्व भी होगा जो किसी से कम न होगा। परिणाम शायद यह होगा कि तब कोई भी पत्रिका गत युग की 'सरस्वती' या 'माधुरी' की तरह समस्त हिन्दी प्रदेश का सम्मान अकेले ही न पा सकेगी। उसमें बहुतों का भाग रहेगा।

राजभाषा का पद हिन्दी में शायद बहुत अधिक परिवर्तन ला देगा। बहुत कुछ संभव है कि उसका राजभाषा वाला स्वरूप उसके साहित्यिक स्वरूप से बिल्कुल भिन्न हो जाय। अंकों को रोमन लिपि में लिखने वाली बात की

राजभाषा का पद और परिवर्तन

भारतीय विधान सभा द्वारा स्वीकृति कुछ इसी दिशा की ओर संकेत कर रही है। संभव है कि ऐसा न भी हो। हिन्दी के शब्द भंडार में, स्वरूप में, वाक्य-निर्माण में, उसमें लिखे जाने वाले साहित्य के अन्दर अभिव्यक्ति होने वाले जीवन के स्वरूपों में बहुत अधिक विचित्रता एवं विविधता आयेगी। टाइप की सुविधा के कारण हिन्दी के कुछ अक्षरों के रूप भी शायद बदल जायं।

यह बहुमुखी परिवर्तन हिन्दी के लिये हितकर होगा। भिन्न-भिन्न क्षेत्र और कोटि के विद्वानों का सहयोग हिन्दी साहित्य को समृद्धि प्रदान करेगा। उसमें बहुरूपता आयेगी। जीवन की विविधता रहेगी। नई-नई प्रेरणाएं और नवीन स्फूर्तियां हिन्दी साहित्य को अंधेरे कुएं से निकालेंगी। रूढ़ियों से ऊपर उठायेंगी और उसको सजीव बनायेंगी। हिन्दी में नई शक्ति आयेगी। संसार एक नये और समृद्ध साहित्य का दर्शन करेगा। जनता का जीवनस्तर ऊंचा होगा और उसके साथ ही साथ हिन्दी साहित्य भी ऊपर उठेगा। हमें हिन्दी का भविष्य ऐसा ही सुनहरा दिखाई पड़ रहा है।

सुनहरा भविष्य

——o——

परिशिष्ट-क

डाक्ट्रेट की डिगरियाँ

(कालक्रमानुसार)

	विषय	लेखक	विश्वविद्यालय	वर्ष	डिग्री
१.	अवधी का विकास	बाबूराम सक्सेना	प्रयाग	१९३१ ई०	डी० लिट०
२.	कबीर तथा उनके अनुयायी	एफ़० ई० के	लन्दन		,,
३.	हिन्दी काव्य में निर्गुण धारा	पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल	बनारस	१९३२ ई०	,,
४.	सूरदास का धार्मिक काव्य	जनार्दन मिश्र	कोनिग्स-बर्ग	१९३४ ई०	पीएच०डी०
५.	ला लांग ब्रिज (ब्रजभाषा)	धीरेन्द्र वर्मा	पेरिस	१९३६ ई०	डी० लिट०
६.	हिन्दी काव्य शास्त्र का विकास	रामशंकर शुक्ल 'रसाल'	प्रयाग	१९३७ ई०	,,
७.	तुलसी-दर्शन	बलदेव प्रसाद	नागपूर	१९३९ ई०	,,
८.	रामचरित मानस में तुलसीदास की कला का विश्लेषण	हरिहरनाथ हुक्कू	आगरा	,,	,,
९.	आधुनिक हिन्दी साहित्य	इन्द्रनाथ मदन	पंजाब	,,	पीएच०डी०
१०.	तुलसीदास——जीवन और कृतियों का समा-लोचनात्मक अध्ययन	माताप्रसाद गुप्त	प्रयाग	१९४० ई०	डी० लिट०
११.	आधुनिक हिन्दी काव्य का विकास	केसरीनारायण शुक्ल	बनारस	,,	,,
१२.	आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०-१९००ई०)	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	प्रयाग	,,	डी०फ़िल०
१३.	हिन्दी साहित्य का आ-लोचनात्मक इतिहास	रामकुमार वर्मा	नागपूर	,,	पीएच०डी०

	विषय	लेखक	विश्वविद्यालय	वर्ष	डिग्री
१४.	आधुनिक हिन्दी साहित्य (१९००-१९२५ई०)	श्रीकृष्ण लाल	प्रयाग	१९४१ ई०	डी०फ़िल०
१५.	मलिक मुहम्मद जायसी कृत पद्मावती का सटीक संपादन और अनुवाद (१६ वीं शताब्दी की हिन्दी भाषा—अवधी—का अध्ययन)	लक्ष्मीधर	लन्दन	,,	पीएच०डी०
१६.	प्रसाद का नाट्य साहित्य	जगन्नाथ प्रसाद शर्मा	बनारस	१९४३ ई०	डी०लिट०
१७.	आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में रस-सिद्धांत का समालोचनात्मक अध्ययन	छैलबिहारी गुप्त 'राकेश'	प्रयाग	,,	डी०फिल०
१८.	बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति और विकास	नलिनीमोहन सान्याल	कलकत्ता	,,	पीएच०डी०
१९.	भोजपुरी का विकास	उदयनारायण तिवारी	प्रयाग	१९४५ ई०	डी०लिट०
२०.	हिन्दी अर्थ विचार	हरदेव बाहरी	,,	,,	,,
२१.	हिन्दी के अष्टछाप कवियों का अध्ययन	दीनदयाल गुप्त	,,	,,	,,
२२.	हिन्दी साहित्य और उसकी सांस्कृतिक पीठिका (१७५७-१८५७ई०)	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	,,	,,	,,
२३.	हिन्दी शब्द शास्त्र	जानकीनाथ सिंह 'मनोज'	,,	?	डी०फ़िल०
२४.	सूरदास	ब्रजेश्वर वर्मा	,,	१९४५ ई०	,,
२५.	हिन्दी काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ (प्रारंभ से १६७५ई० तक)	ब्रजमोहन गुप्त	,,	१९४६ ई०	,,
२६.	हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य	पृथ्वीनाथ कुलश्रेष्ठ	,,	१९४७ ई०	,,

परिशिष्ट—ख

मंगला प्रसाद पारितोषिक विजेता

क्र० सं०	नाम	पुस्तक	सन ईसवी
१.	पद्मसिंह शर्मा	बिहारी सतसई	१९२२
२.	गौरी शंकर हीराचंद ओझा	प्राचीन लिपिमाला	१९२५
३.	प्रो० सुधाकर	मनोविज्ञान	१९२५
४.	त्रिलोकी नाथ वर्मा	हमारे शरीर की रचना	१९२६
५.	वियोगी हरि	वीर सतसई	१९२७-२८
६.	सत्यकेतु विद्यालंकार	मौर्य साम्राज्य का इतिहास	१९२९
७.	गंगा प्रसाद उपाध्याय	आस्तिकवाद	१९३०
८.	गोरख प्रसाद	फ़ोटोग्राफी की शिक्षा	१९३१
९.	मुकुन्द स्वरूप	स्वास्थ विज्ञान	१९३२
१०.	जयचंद्र विद्यालंकार	भारतीय इतिहास की रूपरेखा	१९३३
११.	चंद्रावती लखन पाल	शिक्षा मनोविज्ञान	१९३४
१२.	रामदास गौड़	विज्ञान हस्तामलक	१९३५
१३.	अयोध्यासिंह उपाध्याय	प्रिय प्रवास	१९३६
१४.	मथिली शरण गुप्त	साकेत	१९३७
१५.	रामचंद्र शुक्ल	चिन्तामणि	१९३८
१६.	वासुदेव उपाध्याय	गुप्त साम्राज्य का इतिहास	१९३९
१७.	सम्पूर्णानन्द	समाजवाद	१९४०
१८.	बलदेव उपाध्याय	भारतीय दर्शन	१९४१
१९.	महाबीर प्रसाद श्रीवास्तव	सूर्यसिद्धांत का विज्ञान भाष्य	१९४२
२०.	शंकर लाल गुप्त	क्षय रोग	१९४३
२१.	महादेवी वर्मा	रश्मि, नीरजा और आधुनिक कवि	१९४४
२२.	हजारी प्रसाद द्विवेदी	कबीर	१९४५
२३.	रघुबीर सिंह जी	मालवा में युगान्तर	१९४६
२४.	कमलापति त्रिपाठी शास्त्री	बापू और मानवता	१९४७
२५.	सम्पूर्णानन्द	चिद्‌विलास	१९४८

परिशिष्ट—ग

सेक्सरिया महिला पारितोषिक

क्र० सं०	नाम	पुस्तक	सन् ईसवी
१.	सुभद्राकुमारी चौहान	मुकुल	१९३१
२.	,,	बिखरे मोती	१९३२
३.	चंद्रावती लखन पाल	स्त्रियों की स्थिति	१९३३
४.	महादेवी वर्मा	नीरजा	१९३४
५.	रामकुमारी चौहान	निःश्वास	१९३५
६.	दिनेश नंदिनी चोरड़्या	शबनम	१९३६
७.	सूर्यदेवी दीक्षित विदुषी 'उषा'	निर्झरिणी	१९३७
८.	तोरनदेवी शुक्ल 'लली'	जागृति	१९३९
९.	सुमित्रा कुमारी सिनहा	विहाग	१९४०
१०.	तारादेवी पांडे	आभा	१९४१
११.	चंद्रावती ऋषभ जैन	नींव की ईंट	१९४२
१२.	चंद्रकिरण सौनरिक्सा	आदमखोर	१९४६
१३.	शान्ति एम०ए०	रेखा	१९४७

परिशिष्ट— घ

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापतियों की सूची

क्र० संख्या	वर्ष	सभापति	स्थान
१.	१९१० ई०	मदन मोहन मालवीय	काशी
२.	१९११ ई०	गोविन्द नारायण मिश्र	प्रयाग
३.	१९१२ ई०	बद्री नारायण चौधरी 'प्रेमघन'	कलकत्ता
४.	१९१३ ई०	महात्मा मुंशी राम	भागलपूर
५.	१९१४ ई०	श्रीधर पाठक	लखनऊ
६.	१९१५ ई०	श्याम सुन्दर दास	प्रयाग
७.	१९१६ ई०	पं० रामावतार शर्मा	जबलपूर
८.	१९१७ ई०	महात्मा गांधी	इंदौर
९.	१९१९ ई०	मदन मोहन मालवीय	बंबई
१०.	१९२० ई०	विष्णुदत्त शुक्ल	पटना
११.	१९२० ई०	भगवान दास	कलकत्ता
१२.	१९२१ ई०	जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी	लाहौर
१३.	१९२२ ई०	पुरुषोत्तम दास टंडन	कानपूर
१४.	१९२३ ई०	अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	दिल्ली
१५.	१९२४ ई०	माधव राव सप्रे	देहरादून
१६.	१९२५ ई०	अमृतलाल चक्रवर्ती	वृन्दावन
१७.	१९२६ ई०	गौरीशंकर हीराचंद ओझा	भरतपूर
१८.	१९२८ ई०	पद्मसिंह शर्मा	मुजफ्फरपू
१९.	१९२९ ई०	गणेश शंकर विद्यार्थी	गोरखपूर
२०.	१९३० ई०	जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'	कलकत्ता
२१.	१९३१ ई०	किशोरी लाल गोस्वामी	झाँसी
२२.	१९३२ ई०	श्याम बिहारी मिश्र	ग्वालियर
२३.	१९३३ ई०	सयाजी राव गायकवाड़	दिल्ली
२४.	१९३५ ई०	महात्मा गांधी	इंदौर
२५.	१९३६ ई०	राजेन्द्र प्रसाद	नागपूर
२६.	१९३७ ई०	जमुना लाल बजाज	मद्रास
२७.	१९३८ ई०	बाबू राव विष्णु पराड़कर	शिमला
२८.	१९३९ ई०	अंबिका प्रसाद बाजपेई	काशी
२९.	१९४० ई०	संपूर्णानन्द	पूना
३०.	१९४१ ई०	अमरनाथ झा	अबोहर
३१.	१९४३ ई०	माखनलाल चतुर्वेदी	हरिद्वार
३२.	१९४४ ई०	गोस्वामी गणेश दत्त	जयपूर
३३.	१९४५ ई०	कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी	उदयपूर
३४.	१९४६ ई०	वियोगी हरि	करांची
३५.	१९४७ ई०	राहुल सांकृत्यायन	बंबई

प्रयाग विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद् के अन्य प्रकाशन

डॉ० माताप्रसाद गुप्त

तुलसीदास—तृतीय एवं परिवर्द्धित संस्करण, पृष्ठ-संख्या ५६०, चित्र-संख्या १२, मूल्य ८)। यह ग्रंथ लेखक के डी० लिट्० थीसिस का परिवर्द्धित हिन्दी रूपांतर है। तुलसीदास सम्बन्धी नवीनतम प्रामाणिक सामग्री के लिए यह ग्रंथ हिन्दी अध्यापकों तथा उच्च कक्षा के हिन्दी विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य है।

तुलसी—पृष्ठ संख्या १६०, मू० २) इस पुस्तिका में तुलसी-विषयक अध्ययन सुगम और सर्व-ग्राह्य रूप में रखा गया है जो सभी के लिए उपयोगी होगा।

अर्द्धकथा—मूल लेखक बनारसीदास जैन, पृष्ठ-संख्या ७२, मूल्य १)। साहित्य की रूढ़ियों से मुक्त, प्रयासरहित पर सजीव शैली में सं० १६९८ में लिखी गई हिन्दी की यह पहली आत्मकथा सभी के लिए पठनीय है।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त तथा श्री अगरचंद नाहटा

वीसल देव रास—मूल लेखक नरपति नाल्ह, पृष्ठ-संख्या ३२०, मूल्य ३॥)। प्रस्तुत संस्करण पंद्रह प्राचीन प्रतियों की सहायता से वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है, और कृति का प्राचीनतम पाठ उपस्थित करता है।

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

आधुनिक हिन्दी साहित्य—(१८५०-१९०० ई०) तृतीय संस्करण ६)। यह ग्रंथ लेखक के डी० फिल्० के लिए स्वीकृत थीसिस का हिन्दी रूपान्तर और आधुनिक हिन्दी साहित्य की लगभग एक शताब्दी का प्रथम विस्तृत वैज्ञानिक अध्ययन है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—पृष्ठ-संख्या ५१६, मूल्य ८)। यह ग्रंथ लेखक के डी० लिट् के लिए स्वीकृत थीसिस के आधार पर लिखा गया है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए यह महत्वपूर्ण कृति अत्यन्त उपादेय है।

पं० उमाशंकर शुक्ल

कवित्त रत्नाकर—मूल लेखक सेनापति, तृतीय संस्करण, पृष्ठ-संख्या २५३, मूल्य ३॥)। विस्तृत समलोचनात्मक भूमिका और टिप्पणी के साथ सेनापति की इस रचना का संपादन अनेक प्राचीन प्रतियों की सहायता से हुआ है।

डॉ० श्रीकृष्ण लाल

आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—(१९००-१९२५ ई०) तृतीय संस्करण, पृष्ठ-संख्या ४१४, मूल्य ६)। यह ग्रंथ लेखक के डी० फिल्० थीसिस का हिंदी रूपान्तर है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास का क्रमबद्ध, सूक्ष्म तथा आलोचनात्मक अध्ययन इस ग्रंथ में हिन्दी पाठकों को प्रथम बार प्राप्त होगा

डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा

सूरदास—द्वितीय संस्करण, पृष्ठ-संख्या ५९३, मूल्य ८)। यह ग्रंथ लेखक का डी० फिल्० का थीसिस है, और महाकवि सूरदास की जीवनी तथा काव्य का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है।

डॉ० कामील बुल्के

राम-कथा—प्रथम संस्करण, पृष्ठ-संख्या ५३२, मूल्य ८)। यह ग्रंथ लेखक का डी० फ़िल्० के लिए स्वीकृत थीसिस है। लेखक ने राम-कथा की उत्पत्ति और विकास के संबन्ध में देशी-विदेशी किसी भी सामग्री को छोड़ा नहीं है।

मिलने का पता—कोषाध्यक्ष, हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद यूनीवर्सिटी